सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ



सम्पादक-मण्डल

प्रो० गुलाबराय — श्री बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन'

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी — श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार



सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

सहकारी सम्पादक

श्री महेन्द्र चतुर्वेदी



सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति, नई दिल्ली ।

प्रकाशक

सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति, नई दिल्ली ।

मूल्य, १२)

मुद्रक

युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली–८

अनुक्रमणिका

नाट्य-सिद्धान्त

भारतीय नाट्य-साहित्य

प्रादेशिक भाषाओं का नाट्य-साहित्य



निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन-ग्रन्थ का अग होते हुए भी स्वतत्र और अपने आप में सम्पूर्ण है। जीवन की गति-विधि के साथ आधुनिक युग मे अभिनन्दन की प्रणाली भी बदल गई है। अभिनन्दन की आधुनिक प्रणाली वास्तव में यही है कि सस्तुत्य व्यक्ति के जीवन-कार्य का प्रसार और सवर्धन किया जाये। साहित्य के क्षेत्र मे सेठ गोविन्ददास की साधना और सिद्धि नाटक ही है, इसलिए उनका सस्तवन करने का सबसे उत्तम विधि है नाट्य-साहित्य की सवर्धना। 'भारतीय नाट्य-साहित्य' की रचना अथवा सघटना की, संक्षेप मे, यही पृष्ठभूमि है।

इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं—१ नाट्य-सिद्धान्त पाश्चात्य, पौरस्त्य; २ नाट्य-साहित्य: प्राचीन, अर्वाचीन (हिन्दी), एवं ३ प्रादेशिक भाषाओं का नाट्य-साहित्य। इस प्रकार भारतीय नाट्य-साहित्य के समन्वित अध्ययन का कदाचित् यह पहला प्रयत्न है—हम प्रयत्न का ही दावा करते हैं, उपलब्धि का नही।

नाट्य-सिद्धान्त

संस्कृत-नाटक तथा अभिनय

—डा० वी० राघवन

'नाट्य' शब्द में अर्थत. नृत्य तथा नाटक दोनो ही समाविष्ट रहते हैं। उभय अर्थों से यह तथ्य भी सूचित होता है कि नाटक—जैसा कि भरत का विचार है—सगीत, नृत्य, कार्य-व्यापार तथा कविता की एक सर्वतोमुखी कला है। भरत-नाट्य न केवल प्राचान भारतीय प्रतिभा की इतनी उत्कृष्ट निष्पत्ति है जितनी कि साँची-शिल्प अथवा अजन्ता-चित्र, अपितु विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार परवर्ती कलाओ की नीव भी है। प्राचीन भारत की उच्चतम साहित्यिक रचनाओ, कालिदास एव शूद्रक की कृतियो, के मूल मे यही है। देश की अनेक जीवित प्रादेशिक तथा लौकिक नृत्य-नाट्य-परम्पराओ का रसास्वाद करने के लिए इसकी प्रविधि को हृदयगम करना आवश्यक है। इसकी आश्चर्यजनक सामर्थ्य को इससे श्रेष्ठ रीति से प्रत्यक्ष नही किया जा सकता कि इसकी प्रविधि एव मूल वृत्ति ने सम्पूर्ण पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी जम्बू द्वीप मे प्रसार प्राप्त किया और उसे एक सास्कृतिक जाति के रूप मे सघटित होने में सहायता दी, जो कि सौभाग्यवश अभी तक सुरक्षित है।

प्राचीन साहित्यिक प्रमाणो से इस कला की प्राचीनता एवम् स्थानीय विकास स्पष्ट है। 'ऋग्वेद' में इसके अनेक निर्देश उपलब्ध होते हैं जिनमें उषा का आलोक-सिद्ध नर्तकी के रूप में किया गया सुन्दर वर्णन सर्वाधिक अवलोकनीय है। ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी तक अभिनय-कला पर्याप्त मात्रा में विकसित हो चुकी थी, क्योकि महान् वैयाकरण पाणिनी का कथन है कि शिलालिन तथा कृशास्व नामक दो लेखकों ने उस समय तक इस कला को नट-सूत्रो के कारिका-युक्त पाठ के रूप मे शब्दवद्ध कर दिया था।

महाकाव्य—जिसका ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दी में कौटिल्य को ज्ञान था—और बौद्ध-साहित्य इस कला की लोक-प्रियता को स्पष्ट करते हैं। हमारे पास 'वासवदत्ता नाट्य-धारा' नामक एक विशेष प्रकार के नाटक के अपखण्ड भी वर्त्तमान हैं, जो उद्धरणो के रूप में अवशिष्ट हैं। इसे उसी समय के लगभग मौर्य राज-कवि तथा मन्त्री सुबन्धु ने लिखा था और इसमे उसने एक अन्तर्ग्रंथित नाटक-माला द्वारा अपनी मूल कथावस्तु का, जो राज्य-सभा के षड्यन्त्रो को चित्रित करती है, विकास किया और राजा उदयन तथा वासवदत्ता की कथा का उपयोग किया है। ईसा-पूर्व द्वितीय

शताब्दी के मध्य में वैयाकरण पतजलि इस कला से सम्बद्ध अनेक वस्तुओ जैसे रग-मच, सगीत, श्लोको, नटो, वलि-बन्धन और कस-वध की मूल कथाओ और यहाँ तक कि रस-सिद्धान्त तथा भावात्मक प्रत्युत्तर का भी उल्लेख करते हैं। तक्षशिला के 'भीर माउण्ट' नामक स्थान पर खोदी गई एक आयताकार पक्वमृत गुटिका, जो पूर्व-मौर्य-काल की समझी जाती है, भरत द्वारा अपने 'नाट्य-शास्त्र' के १०८ कारणो में वर्णित स्थितियो में से एक का चित्रण करती है। जॉन्स्टन के अनुसार—जिन्होने अश्वघोप की कविताओ का पुनस्सम्पादन किया है—यह बौद्ध कवि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में विद्यमान था। उनके नाटको के अपखण्ड, जो मध्य एशिया की खुदाइयों में खोज द्वारा प्राप्त हुए हैं, और उनमें दृष्टिगत होने वाली विकास एवम् पूर्णता कीस्थिति सस्कृत-नाटको के विकास के दीर्घ समय को, जो ईसा-पूर्व कतिपय शताब्दियों तक प्रसरित है, प्रमाणित करती है।

पाणिनी द्वारा उल्लिखित नट-सूत्रो के उपरान्त नट-कला के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत कृतियो की उद्‌भावना हुई। इसका ज्ञान हमें भारतीय नाट्य-कला का वर्णन करने वाले सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ, भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र', से होता है। यह कृति, जिसका समय प्राय ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी एव द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य निश्चित किया गया है, अपने में अपनी पूर्ववर्ती कृतियो के सूत्रबद्ध और दीर्घ गद्य-खण्डो तथा नट-परम्परा में प्रचलित कठगत श्लोको का सन्निवेश किए हुए हैं। इस कृति में दृष्टिगत होने वाली प्रस्तुत कला के शास्त्यन की अवस्था भी इस प्रकार की है कि उसके विकास की अनेक शताब्दियो का पूर्वानुमान करना पडता है।

इस कला के सृजन की अवस्थाओं तथा पद्धिकाओं को अनुरेखित किया जा सकता है। 'नाट्य-शास्त्र' में भरत सूचित करते हैं कि नाट्य-कला का सृजन ऋग्वेद से वाच्य अथवा गेय शब्द (कथोपकथन), सामवेद से सगीत, यजुर्वेद से अनुकरण तथा अथर्ववेद से रस लेकर हुआ था। कीथ के समान आधुनिक इतिहासकार वैदिक वलि से सम्बद्ध कल्प में, जहाँ कर्त्ता—जिसे विशिष्ट वस्त्र धारण करने होते हैं, विशिष्ट सगीत का गान करना होता है और एक विशेप कार्य-पद्धति को सम्पन्न करना होता है अथवा एक घटना का अधिनियमन करना होता है—नट तथा नाट्य-व्यापार द्वारा गृहीत समस्त क्रियाओ को करता है, भारतीय नाटक के धार्मिक मूलोद्भव का भी अनुमान करेंगे। भरत के अनुसार इस प्रकार पुन प्रस्तुत की जाने वाली प्राचीन कथाओ में से एक देवताओ की राक्षसो पर विजय—समुद्र-मन्थन—की कथा का अनुकरण है। इस शौर्यपूर्ण कार्य के साथ-साथ एक प्रचलित कथा भी थी, जिसका उल्लेख करना भी भरत नही भूले।

प्राचीन काल में उच्च वर्ग के लोगो के हास्यजनक अनुकरण से युक्त एक हास्यजनक प्रहसन होता था जिसमें निम्नतर स्तर के सामाजिक भाग लेते थे। नाटक इस लोकप्रिय स्रोत से भी विकसित हुआ। जब महान् राष्ट्रीय उत्सव मनाए जाते थे तब ये दोनो पक्ष—एक ओर से धार्मिक तथा शौर्यपूर्ण एवं दूसरी ओर से लोकप्रिय और हास्यात्मक—एक सामान्य घटना-स्थल की ओर उन्मुख होते थे। प्राचीन भारत के इस प्रकार के उत्सवो मे सर्वाधिक महान् उत्सव इन्द्र के ध्वज-दण्ड का था, जिसे 'इन्द्रध्वज-महा' अथवा 'शक्र-महा' कहते थे। भरत का ग्रन्थ इसी उत्सव को प्रथम नाटक का सूत्र मान कर प्रारम्भ होता है। कालान्तर में जब नाटक मुख्य हो गया तब उत्सव सकुचित होकर पूर्व-रंग के रूप में इन्द्र के ध्वज-दण्ड और उसके सहवर्ती संगीत तथा नृत्य का प्रतिनिधित्व करने वाले 'जर्जर' वंश-वल्ली की अर्चना से युक्त प्रारम्भिक सस्कार के रूप मे नाटक में लीन हो गया। तमिल नृत्य-परम्परा में यह दण्ड 'तलइक्कोल' के रूप मे अवशिष्ट है जो नर्तकी तथा उसकी उच्च योग्यता-प्राप्ति का चिह्न है और इण्डोनेशिया में किसी नाटक के प्रारम्भ होने से पूर्व लगाया गया वृक्ष अथवा पौधा आज तक इन्द्र के ध्वज-दण्ड का द्योतन करता है। यद्यपि 'पूर्व-रग' की संज्ञा से अभिहित प्रारम्भिक संगीत तथा नृत्य का प्रतिरूप लोकप्रिय रंगमच तथा कथाकली मे भी प्राप्त होता है, किन्तु इसका अपेक्षाकृत पूर्ण स्वरूप इण्डोनेशिया के नाट्य-गृह में ही उपलब्ध होता है।

यह खोज भी रोचक है कि प्रस्तुत कला के विभिन्न अंग किन अवस्थाओ में परस्पर संगठित हुए तथा किस प्रकार उनके अल्प-विकसित रूपो से पूर्ण विकसित रूप उद्भूत हुए। 'नट' शब्द का अर्थ व्यायाम भी है और वैदिक साहित्य में हमें अन्त्येष्टि क्रिया के नृत्य तथा नाटक से सम्बद्ध होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

दाह-क्रिया-विधियो की समाप्ति पर हमारे पूर्वज नृत्य अथवा शारीरिक व्यायाम तथा नृति और हास द्वारा मनोरंजन के लिए चले जाते थे। हमें ज्ञात है कि वाली में नाटको का अभिनय उस ऋतु में किया जाता है जब पूर्वजो की आत्माओ का उनके पूर्व-गृहो मे आने का अनुमान होता है। उन गृहो को 'गैलोएजन' कहते हैं और वे कुछ-कुछ हमारे महालय-पक्ष के समान होते हैं। ऐसे अवसरो पर शारीरिक व्यायाम, कुश्ती तथा असि-चालन आदि के प्रदर्शन हुआ करते थे। भरत-ग्रन्थ के विद्यार्थियो को ज्ञात है कि भरत द्वारा वर्णित अनुकरण के अनेक संस्थानो, गतियो एव कार्य-प्रणालियो में १०८ करण हैं जिनमे से अनेक नट-विषयक प्रकृति के हैं और उनका निष्पादन कठिन है, कुछ वे हैं जिन्हे वृत्तियाँ, न्याय अथवा प्रतिकार कहते हैं और कुछ शस्त्र-ग्रहण तथा संचालन के सस्थानो एवम् गतियो तथा पूर्वाभिनय के स्थानो का निर्देश करते हैं। 'रंग' शब्द क्रीडा-क्षेत्र तथा नाटकीय रगमंच, दोनो के लिए प्रचलित है। वाली के नृत्यो मे

अब भी शस्त्र-ग्रहण तथा द्वन्द्व-युद्ध से सम्बद्ध नृत्य हैं। भरत ने कारणों के उद्देश्यो में नट-सम्बन्धी प्रयोग का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। उन्ही का कथन है कि मूलत नाटक की प्रारम्भिक क्रियाएँ सरल होती थीं, किन्तु कालान्तर में अभिनय को अधिक समृद्ध तथा आकर्षक बनाने के लिए शिव-सम्बन्धी कथानक में ताण्डव को उसके समस्त कारणों सहित सयुक्त कर दिया गया। सर्वप्रथम अभिनीत किए गए कथानक 'देवताओ और राक्षसों का युद्ध' जैसे पूर्णत पुरुष-सम्बन्धी शौर्यपूर्ण पौराणिक आख्यान थे। भरत का कथन है कि इस (प्रकार के) नाटक की सफलता पर इसमें अतिरिक्त सौन्दर्य तथा रमणीयता की सृष्टि के लिए स्त्री-पात्रों, प्रेम-कथानक एवम् सगीत तथा नृत्य-कलाओ का भी समावेश कर दिया गया है।

भरत द्वारा वर्णित नाटकीय अभिव्यक्ति के प्रकारो अथवा शैलियों की पूर्व-निर्दिष्ट वृत्तियो में से एक को 'भारती' कहते हैं। भारती अभिव्यजना की मौखिक प्रणाली का नाम है। नाटक में वे समग्र स्थल, जहाँ कथोपकथन प्रमुख होता है और नाटक के वे समस्त निदर्शन जो एकमात्र मौखिक माध्यम से विकसित होते हैं, भारती वृत्ति के उद्‌भावक होते हैं। भरत द्वारा वर्णित दस प्रकार के नाटकों में से तीन का सम्बन्ध इस मौखिक समूह से है—स्वगत-भाषण, जिसे 'भाण' कहते हैं, 'प्रहसन' और 'वीथि', जिसमें दो व्यक्तियो का शाब्दिक वाग्विनिमय रहता है। पतजलि ने अपने 'महाभाष्य' में दो प्रकार के अभिनय का उल्लेख किया है—एक ग्रन्थिको का जो किसी ग्रन्थ पर आधृत रहता था और दूसरा शोभानिको क जो क्रिया पर आधारित था। प्रथम (अभिनय) एक प्रकार का मौखिक पाठ था जैसे कि महाकाव्य के प्राचीन निपाठ अथवा उत्तरवर्ती कत्यको के प्रदर्शन होते थे। द्वितीय (प्रकार का अभिनय) शब्द सहयोग के बिना ही कथा-वस्तु को प्रस्तुत करता था। सगीत के सम्बन्ध में भरत ने एक कथा दी है कि किस प्रकार असुरो का सहयोग प्राप्त किया गया और किस प्रकार उन्होंने नाटक को यान्त्रिक सगीत की सज्जा प्रदान की। यह इन विभिन्न प्रकारो अथवा तत्त्वो के एकीभाव का ही परिणाम है कि शनै शनै पुरुष तथा नारी-कलाकारों, कथोपकथन, अनुकरण, सगीत तथा नृत्य से युक्त होकर नाटक ने पूर्ण विकसित रूप प्राप्त कर लिया।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, भरत ने दस प्रकार के नाटको अथवा रूपको का उल्लेख किया है। ये दस प्रकार जिन्हे 'दश-रूपक' कहते हैं दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं—प्रमुख प्रकार तथा गौण प्रकार अथवा पूर्ण निदर्शन तथा अपूर्ण निदर्शन। एक अन्य दृष्टिकोण से ये दस प्रकार 'शौर्यपूर्ण' तथा 'सामाजिक' के दो वर्गों में विभक्त किए जाते हैं। इस समय दस में से दो प्रकार-निदर्शन मुख्य हैं—'नाटक', जिनमें शौर्य-प्रवृत्ति अपनी पूर्णता को पहुँच जाती है, और 'प्रकरण' जिसमें

सामाजिक प्रवृत्ति अपने विकास का पूर्ण क्षेत्र प्राप्त करती है। शौर्यपूर्ण (नाटक) के अपेक्षाकृत निम्न प्रकारो में समवकार, डिम, व्यायोग, अक तथा ईहामृग हैं और सामाजिक वर्ग के लघुतर प्रकारो में प्रहसन, भाण तथा वीथि हैं। शौर्यात्मिक वर्ग देवताओं अथवा महाकाव्य-नायको के कार्यों, युद्धो तथा उनके परिणामो का चित्रण करता है, जिसके प्रकार सम्भवत अब भी जावा और बाली में नाटकीय वाडियो में अवशिष्ट हैं। सामाजिक वर्ग सामान्य मनुष्यों के जीवन तथा प्रेम-कार्यों का चित्रण करता है। पहला हमारे समक्ष दैवी उदाहरण प्रस्तुत करता है जब कि दूसरा विश्व के लिए एक दर्पण का कार्य करता है।

संस्कृत-नाटक के प्रकारो का अन्तत. शौर्यात्मिक तथा सामाजिक नामक दो विशेषताओ के अनुसार वर्गीकरण उसे यूनानी रगमच के किंचित् समीप ला देता है, जिसके त्रासदी (ट्रैजडी) तथा कामदी (कॉमेडी) नामक दो प्रकार हैं। पश्चिम के प्राच्य-विदो ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि सस्कृत-नाटक का विकास यूनानी प्रभाव के अधीन हुआ था। यूनानी प्रभाव का प्राचुर्य ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में था, किन्तु, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, सस्कृत-नाटक का विकास बहुत पहले हो चुका था।

भारतीय रंगमंच पर नाट्य-रूपो की विविधता पहले से ही थी, जो (उस समय) यूनान में अनुपलब्ध थी। 'त्रासदी' यूनानी नाटको का सर्वोत्कृष्ट रूप था और सस्कृत-रगमच पर यूनानी त्रासदी जैसी किसी वस्तु का कदापि विकास नही हुआ। वस्तुत इसके सिद्धान्त रगमच पर किसी की मृत्यु अथवा मृत्यु के साथ किसी नाटक के अन्त का निषेध करते थे। सस्कृत-रगमच में यूनानी रगमच के समान कोई गायक-वृन्द नही होता था और यूनानी सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य सकलन-त्रय के सिद्धान्त से देश-काल में के सकलन भारतीय सिद्धान्त तथा व्यवहार द्वारा पूर्ण निश्चिन्त होकर छोड दिए गए थे। भारतीय नाटक यूनानी नाटक की अपेक्षा अत्यधिक विशाल भी था। यूनानी रगमच का भारतीय रगमच के विविध रूपो से—जिनका भरत ने कुछ विशदता से वर्णन किया है—कोई साम्य नही है। भरत के—जिनका ग्रन्थ अरस्तू के 'पोयटिक्स' तथा रिटॉरिक्स' के सम्मिलित रूप से भी अधिक पूर्ण है—पूर्ण रस-सिद्धान्त के समक्ष, त्रास, करुणा तथा विरेचन के यूनानी सिद्धान्त हेय से हैं। पर्दे के लिए प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द से तथा रगमच पर आने वाले राजकीय अनुचरो मे यवन स्त्रियो की उपस्थिति से भी कुछ प्रमाण खोजे गए हैं। (इनमें से) अन्तिम तो नितान्त व्यर्थ है। यदि हमारे पास पर्दे के लिए 'पटी', 'तिरस्करिणी', 'प्रतिशिरा' तथा यहाँ तक कि 'यमनिका' आदि देशीय यथा युक्तियुक्त नाम न होते तो प्रथम युक्ति में कुछ शक्ति हो सकती थी। इन

सब की अपेक्षा भारतीय नाटक के अधिक महत्वपूर्ण विशिष्ट अग वे हैं जिनका यूनानी नाटको में अभाव है—सस्कृत-नाटको में प्रयुक्त सस्कृत तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतो का बहुभाषीय माध्यम। सिलवेन लेवी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि सस्कृत-नाटक पश्चिमी भारत में शको के प्रभाव में विकसित हुए हैं। उनके आधारभूत प्रमाण नितान्त सार-शून्य थे। कीथ के अनुसार सस्कृत-नाटको का उद्भव तथा विकास स्वदेशीय ही है। निस्सन्देह शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटक से सर्वथा भिन्न है।

सस्कृत में नाटक प्रस्तावना के साथ प्रारम्भ होता है जिसमें सूत्रधार और उसका कोई सहयोगी सम्भाषण करते हैं और कवि (नाटककार) तथा नाटक का परिचय प्रस्तुत करते हैं। कथावस्तु का आयोजन परिच्छेदो में किया जाता है जिन्हे अक कहते हैं और जिनकी सीमा चार से लेकर दस तक होती है। अक में दृश्य-परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उनमें दृश्यो के विभाजन का सकेत नही किया जाता। अको में एक नैरन्तरिक कार्य-कलाप होता है जो एक दिन की अवधि से अधिक का नही होता। अको में उच्चतर अथवा निम्नतर चरित्रो का एक प्रस्तावनात्मक दृश्य हो सकता है। इसका प्रयोजन कथा-वस्तु में एकसूत्रता अथवा नैरन्तर्य की स्थापना करना, दर्शको को कथा-वस्तु का बोध कराना और उन घटनाओ के विषय में सूचना देना अथवा वर्तालाप कराना होता है जो रगमच पर प्रमुख अको में प्रदर्शित न किए जा सकते हो। पूर्व-निर्देश के अभाव में कोई पात्र मच पर अवतरित नही हो सकता। नाटक की मूल वस्तु में गद्य तथा पद्य शैलियो का मिश्रण होता है। पद्य का प्रयोग उस स्थान पर होता है जब किसी आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति अथवा उच्च प्रभाव (की सृष्टि) की आवश्यकता होती है।

गद्य और पद्य के मिश्रण की भाँति साहित्यिक तथा लौकिक भाषाओ का भी मिश्रण होता है। उच्चवशीय तथा शिक्षित पुरुष-पात्र सस्कृत बोलते हैं और निम्नतर श्रेणी के पात्र, स्त्री-पात्र तथा साधारण सभासद् प्राकृत बोलते हैं जो निम्न (श्रेणी के) पात्रो की सख्या तथा प्रकृति के अनुसार कभी-कभी विभिन्न प्रकार की होती है। कार्य सक्षिप्त अवधि का भी हो सकता है अथवा वर्षों तक फैला हुआ भी हो सकता है और इसी प्रकार एक विशिष्ट स्थान पर भी घटित हो सकता है अथवा विभिन्न स्थानो तक भी उसका प्रसार हो सकता है। कथा-वस्तु प्रसिद्ध महाकाव्यो से ली जा सकती है अथवा कल्पित या मिश्रित भी हो सकती है। कथा-वस्तु के प्रख्यात होने पर भी नाटककार उसे अपने नाटक के भाव तथा प्रयोजन के उपयुक्त नया रूप दे सकता है, क्योकि सस्कृत-नाटक में मधुर चरित्र तथा दर्शको के अन्तस्तल पर मधुर भावात्मक प्रभाव उपस्थित करने का प्रयास किया जाता है। नाटक का अन्त सुखमय होना चाहिए।

इन दृष्टिकोणों तथा अपने निर्धारित भाव के अनुसार नाटककार अपनी मूल-वस्तु के अवयवों, कथा-वस्तु, चरित्र और रस की योजना करता था। वह कथा की उन घटनाओं को जो उसके कथानक के लिए आवश्यक होती थी अथवा उसके मुख्य भाव के विरुद्ध होती थी परित्यक्त अथवा पुनर्निर्मित करता था। यही वह अपने पात्रों के चारित्रिक गुणों के विषय में करता था। परम्परा-प्राप्त व्यक्तित्व में से वह अपने स्वय के चरित्रों का सृजन कर लेता था। कथा-वस्तु तथा चरित्र-चित्रण, जो पश्चिमी नाटकों में सर्वस्व होते हैं, भारतीय नाट्य-कला में रस से गौण होते थे और उसके साधन माने जाते थे। इसका यह तात्पर्य नही है कि कथानक एव चरित्र-चित्रण उपेक्षित थे। भरत का कथानक-निर्माण की प्रविधि का नियमपूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार की आलोचना का निराकरण करेगा।

किसी भी कार्य की तीन मुख्य अवस्थाएँ होती हैं—प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त। एक वस्तु लक्ष्य होती है, उसके लिए कार्य प्रारम्भ किया जाता है, प्रयास होते हैं तथा निरन्तर चलते हैं, विघ्न समाप्ति के लिए साधक सहायता खोजी जाती है और अन्त में फल की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रसंग में भरत कार्य का दो रीतियों से वर्गीकरण करते हैं—कार्य के तत्त्व तथा कार्य की अवस्थाएँ, जिनमें से दोनों पाँच-पाँच हैं। कार्य के पाँच तत्त्व अथवा अर्थ-प्रकृतियाँ हैं—बीज; विन्दु, प्रधान उपाख्यान (पताका)—उदाहरणार्थ रामायण की कथा में राम द्वारा सुग्रीव की मित्रता प्राप्त करना; गौण उपाख्यान (प्रकरी)—यथा विभीषण की मित्रता; और प्रयोजन। पाँच अवस्थाएँ हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। जब ये सयुक्त रूप से कार्य करती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ये प्रारम्भ, उन्नति, विकास, विराम तथा परिणाम नामक पाँच ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं जिनमें से हो कर कथानक अग्रसर होता है। इसी प्रकार चारित्रिक विशेषताओं का भी वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरणार्थ केवल नायक के ही चार मुख्य भेद उपस्थित किए गए हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर ललित तथा धीर प्रशान्त। राम के समान महाकाव्योचित नायक प्रथम (धीरोदात्त) के अन्तर्गत आते हैं, राक्षस तथा भयकर पात्र धीरोद्धत के अन्तर्गत आते हैं, उदयन जैसे प्रेमी धीर-ललित के अन्तर्गत आते हैं और ब्राह्मण, मन्त्री, व्यापारी तथा उनके समान अन्य पात्र, यथा 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त, अन्तिम (धीर प्रशान्त) के अन्तर्गत आते हैं। इसके अतिरिक्त आयु, भावात्मक स्थिति तथा प्रकृति के अनुसार पुरुषों तथा स्त्रियों का अध्ययन तथा विस्तृत वर्गीकरण किया जाता था। इन समस्त विभाजनों द्वारा भरत का अभिप्राय यह था कि विभिन्न भूमिकाओं में कार्य करने वाले पात्रों को उन चरित्रों की प्रकृति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जिनका प्रतिनिधित्व उन्हें करना हो। भारतीय पौराणिक प्रसिद्धियों, साहित्य, मूर्ति-कला तथा चित्र-कला

के समान ही भारतीय नाटक में भी प्रकृति के विचारों तथा अगों का मानवीकरण होता था और वह उन्हे नाटक-रूपी व्यक्ति का भाग बना लेता था।

जैसा कि पहले कहा गया है—कथानक तथा चरित्र-चित्रण का अपना स्थान है—परन्तु नाटक की आत्मा रस अर्थात् भाव-निरूपण और दर्शक के हृदय में उस का उद्रेक है, जिससे वह अपना पूर्ण तादात्म्य कर सके और अपने मानस को निर्मल शुचिता में निमग्न कर सके अथवा उसका हृदय विश्रान्ति में लीन हो सके। रस की दो स्थितियाँ हैं—एक तो वीर, शृगार, हास्य, अद्भुत आदि रस जो नाटक की मूल-वस्तु के अगो का स्वरूप धारण कर लेते हैं और दूसरे रसज्ञ दर्शको के हृदय के वे अन्तिम बीजातीत कल्याणपरक अनुभव जो नाटक में इन भावों के प्रत्यक्ष दर्शन के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होते हैं, उन पर हावी रहते हैं, उन्हें अपनी आत्मा के तत्सम्बद्ध तारो का स्पर्श करने की अनुमति देते हैं, और इस प्रकार आत्मा को हृदय की उल्लासपूर्ण जागृतावस्था में लीन कर देते हैं। मूल-वस्तु के रसो में से शृगार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शान्त आदि आठ-नौ अथवा कुछ अन्य भी मान्य हैं। दर्शक पर मधुर प्रभाव डालने के लिए ही नाटककार द्वारा कथा के अननुगत तत्त्व और चरित्रगत सघर्ष कल्पित किए जाते हैं। नाटक का प्रयोजन सघर्षों का शमन करना है, उन्हे बढाना और नाटक के अन्त में दर्शक को प्रेक्षागृह में प्रविष्ट होने से पूर्व की अपेक्षा अधिक उद्विग्न अवस्था में छोड देना नही है। संस्कृत-नाटककार द्वारा दुख अथवा अत्याचार और पीडा का पूर्ण परित्याग नही कर दिया जाता, क्योकि वह इन्हे करुण रस के अन्तर्गत तथा प्रतिनायक के रूप में ग्रहण कर लेता है। जिस जीवन-दृष्टि से उसकी प्रतिभा का विकास होता है, उसके अनुसार उसे विश्वास रहता है कि दुख ही सृजन का अन्त नही है, जैसे कि 'कादम्बरी' की जटिल कथा-वस्तु में उसने अपने पात्र-युग्मो को पूर्णत सयुक्त करने के लिए अनेक जन्मों तथा मृत्युओ की योजना की है। प्रसगत यह भी कहा जा सकता है कि रगमच पर दुख के अभिनय से कोई कैसे आनन्द प्राप्त कर लेता है, इस विवादास्पद प्रश्न का सस्कृत के रस-सिद्धान्त के पास अपना विशिष्ट समाधान है। सस्कृत रसाचार्य के अनुसार उतनी महत्त्व की वस्तु आनन्द नही है जितनी अन्तर्लयन अर्थात् आवेश, जो सत्त्व के बाहुल्य के द्वारा प्राप्त किया जाता है। कलात्मक निरूपण सत्व-गुण का पूर्ण परिपाक प्रस्तुत करता है जो मानसिक अशान्ति (चिन्ता) के कारण-रूप रजो-गुण को अभिभूत कर लेता है। यह तब तक है जब तक कला सत्व-गुण की सृष्टि अधिकाधिक मात्रा में करने में सहायक होती है, जिसके द्वारा निवृत्ति तथा शुचिता की प्राप्ति होती है। और अनिर्वचनीय आत्मा की एक झलक, चाहे वह कितनी ही क्षणिक हो, प्राप्त हो जाती

है, तथा हमारे द्वारा कला का एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधना के रूप में मूल्यांकन किया जाता है।

कथानक के प्रस्तुतीकरण तथा नाटक के निर्देशन में भरत का रगमंच कलात्मक मूल्य तथा सौन्दर्य का प्रदर्शन करता है जिसकी ओर आज, जब कि आधुनिक नाटक तथा सिनेमा के समाघात से हमारे विचार परिवर्तित हो गए हैं, ध्यान देना आवश्यक है। कथा की अनेक अवस्थाओं तथा घटनाओ में से सस्कृत-नाटक विशिष्ट चयन करता है और प्रमुख अक में केवल उन्ही भागो अथवा कार्यों को प्रस्तुत करता है, जो भव्य एव उदात्त होते है और भावात्मक सम्भावनाओं से युक्त होते हैं। कथा के वे भाग जो प्रलम्बित, कठिन, अरोचक अथवा कार्य-सम्भावनाओ से वहीन होते हैं, सक्षिप्त कर दिये जाते हैं अथवा विष्कम्भक में उनका सकेत मात्र दे दिया जाता है। रगमच पर भोजन, शयन, वस्त्र-धारण तथा चुम्बन जैसे समस्त तुच्छ तथा अभद्र व्यापार निपिद्ध हैं क्योकि किसी पात्र पर किसी घटना अथवा वृत्तान्त के प्रभाव का चित्रण करना कला के लिए अपेक्षाकृत अधिक उचित है, अत. भरत युद्ध तथा अग्नि के वास्तविक दृश्यो के चित्रण का परित्याग कर देते हैं जो दर्शको में अल्प-विकसित बुद्धि वालो को प्रसन्न कर सकते हैं, किन्तु उन अधीतजनो को नही जो शुद्ध कलात्मक प्रभाव के तत्त्वो की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरणार्थ भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' में आधुनिक रगमच का शिल्पकार लावणक एक तम्बुओ का नगर वनाएगा और उसे दर्शको के नेत्रो के समक्ष भस्मीभूत करेगा, किन्तु भास वास्तव में सजीव-वर्णन द्वारा वासवदत्ता को प्रज्वलन की सूचना देते हैं और रानी पर उसके भावात्मक प्रभाव को हमारे समक्ष चित्रित करते हैं। टालस्टाय ने कहा है कि जब सकट के परिणामस्वरूप किसी पात्र को रुदन अथवा दु ख के प्रकटीकरण के लिए विवश किया जाता है, तब भाव एक हृदय से दूसरे हृदय में—पात्र से दर्शक के मन में—सक्रमण कर जाता है, किन्तु यदि नाटककार अथवा निर्देशक रगमंच पर किसी कन्या का वध करा देता है, प्रकाश को बुझा देता है और नेपथ्य में सगीत का प्रबन्ध कर देता है तो (दर्शक पर) कोई रसात्मक प्रभाव नही पडता। अब हम भरतकालीन रगमच की निर्देशन-कला के प्रश्न पर आते हैं।

सस्कृत-नाटक यथार्थवाद के तत्त्वो से शून्य नही है। भरत ने वारम्वार लोक को प्रमाण कहा है, उसमें चरित्रो का अध्ययन है और यथोचित विविध भाषाओ का प्रयोग भी है। भरत का रूप-सज्जा-वर्णन अत्यन्त परिष्कृत है और उचित वेश-भूषा के शुद्ध ज्ञान के सम्बन्ध में वहाँ देश के विभिन्न भागो, व्यक्तियो, उनकी वेशभूषा की रीतियो एव प्रकारो, केश-रचना-विधि, आभूषणो आदि का विस्तृत अध्ययन उपलब्ध होता है। किन्तु भरत ने अनुभव किया कि नाट्य-कला तथा रगमंच पर अभिनय की

अपनी सीमाएँ हैं और इस अनुभव पर आधृत किसी प्रविधि का निर्माण करना इसकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है कि रगमचीय वस्तुओ, यन्त्रो, दृश्यों, भवनों, विद्युत आदि के माध्यम से रगमच पर प्राकृतिक स्थितियो के पुनरुत्पादन के असम्भव प्रयास किए जाएँ, जो आधुनिक विज्ञान एव यन्त्र-कौशल के युग में रगमच पर सरलता से हावी हो सकते हैं और नाटक तथा पात्रो को नगण्य बना सकते हैं। कुमारस्वामी ने इस विषय में समस्त पूर्वीय रगमचो—सस्कृत, जावाई, चीनी और जापानी—में साम्य की ओर सकेत करते हुए कहा है, **"वे समस्त वस्तुएँ जो रगमंच के लिए आवश्यक नहीं हैं उसके प्रभाव को क्षीण कर देती हैं।"**

—(रूपम् ७, १९२१ नोट्स आन दी जावानीस थियेटर)

अन्तत नाटक एक भ्रम है और कोई रगमचीय यन्त्रो का चाहे कितना ही प्रयोग क्यो न करे, उसे माया-जगत में ही क्रीडा करनी पडती है। किन्तु यदि कोई वाह्य तथा भ्रमगत सहायताओ का परित्याग करने का साहस करता है और अपने निजी आन्तरिक कार्य-स्रोतो का आधार लेता है तो वह स्वय ही कला की श्रेष्ठता को वल प्रदान करता है। इस प्रकार जटिल रगमचीय निर्देशो का परित्याग मूल वस्तु में कविता, वातावरण एवम् शक्ति का सयोजन कर देता है जिनमें दृश्य का वर्णन अथवा अनुभव की अभिव्यक्ति होती है तथा जो गायन अथवा पाठ के समय पात्रो अथवा दर्शको को स्वयम् दृश्य की अपेक्षा अधिक स्थायी रूप से प्रभावित करती हैं। सस्कृत-नाटक में दृश्यात्मक विधान उतना नही हुआ करता था, रगमचीय तत्त्वो का योग कम से कम था। परिस्थिति को भाषण तथा कथोपकथन के निर्देशो द्वारा और गीतो द्वारा, ग्रहण किया जाता था। हाँ, कथा-वस्तु में प्राय उपलब्ध सक्षिप्त रगमच-निर्देशो का, जिन्हे 'परिक्रम्य' कहते हैं, कोई भी स्मरण कर सकता है। यह निर्देश कक्ष्या-विभाग नामक रूढि से सम्बद्ध है जिसके अनुसार रगमच के कुछ भाग पर्वत, उद्यान, नदी-तट आदि कुछ दृश्यो के प्रतिनिधि-रूप समझे जाते थे और जब कोई पात्र परिक्रमा करता था तब वह (ऐसे) विभिन्न स्थानो पर आता था जिन्हें सजग नाटककार दर्शक के अभिज्ञान के लिए कथोपकथन अथवा वर्णनानुच्छेद द्वारा निर्दिष्ट कर देता था। इसी प्रकार अश्व, रथ आदि रगमच पर नही लाये जाते, किन्तु उनके लिए आगिक अभिनय तथा चित्राभिनय द्वारा उपयुक्त रचनात्मक क्रियाएँ प्रस्तुत की जाती थी जो उचित रूप में सम्पादित होने पर आश्चर्यजनक रीति से सफल प्रभाव उत्पन्न करती थी। इस प्रकार आगिक अभिनय द्वारा व्यक्ति अश्व अथवा रथ पर आरोहण कर उनका सचालन कर सकता है, नौका-विहार कर सकता है, शस्त्र-ग्रहण तथा सचालन कर सकता है अथवा पत्थर फेंक सकता है। उदाहरणार्थ यह स्मरणीय है कि 'शकुन्तला' में 'नाट्येन

अवतारयति' शीर्षक संक्षिप्त रंगमंच-निर्देश पर दुष्यन्त रथ से उतरने का नाट्य करता है। इसी प्रकार शकुन्तला पात्रो से (अनुपस्थित) पौधो को जल देती है और (उसकी) सखियाँ अनुपस्थित पौधो तथा वृक्षों से पुष्प तोडती हैं। उपर्युक्त हस्त-अभिनय तथा आगिक अभिनय किस उल्लेखनीय सफल रीति से अनुकरण-कार्य करते हैं इसे आज भी 'कथाकली' में देखा जा सकता है—जहाँ यह कथा आती है कि जब एक समीपवर्ती श्वान पर चाक्यार ने पत्थर फेंकने का अभिनय किया तब वह यथार्थतः एक टाँग से लँगडाता और क्रन्दन करता हुआ दौड़ा, या पेकिंग-ऑपेरा में जहाँ दो मनुष्य समभूमि पर उद्वेलित जल में छोडी गई नौका मे विहार (का अभिनय) करते हैं—जहाँ पूर्णतः वस्त्राभूषित रमणियाँ लज्जाशीलता तथा शरीरागो के सचालन द्वारा स्नानावसर की निर्वस्त्रता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करती हैं।

अभिनय की भाँति कथा-वस्तु का पद्यात्मक रूप भी नाट्यधर्मी का एक भाग है जिसमें बाद में ध्वन्यग तथा यान्त्रिक सगीत ने भी सहायता प्रदान की। एक विस्तृत वादन-दल पृष्ठ-स्थित रहता था और तार तथा तबले भावो एवम् अनुभवो को प्रवर्धित करते रहते थे। पात्रो के लिए विभिन्न शैलियो की गतियाँ थीं जो उनकी प्रकृति, आयु तथा भावात्मक अवस्था के अनुसार निर्धारित की जाती थी और ज्यो ही कोई विशेष पात्र विवशत प्रवेश करता था अथवा भावात्मक दबाव के कारण अन्दर झपटता था त्यो ही मृदग अथवा वीणा पर उत्पन्न की गईं संकेतात्मक ध्वनियाँ स्थिति को प्रबुद्ध कर देती थी। मृदग सदैव प्रमुख होता था। कथाकली में चेण्डई को देखिए। यह नाटक का मूल प्रतीक था, इसे 'मालविकाग्निमित्र' में देखा जा सकता है जहाँ इसकी ध्वनि नृत्य तथा चतुर-वाणी, के प्रारम्भ के लिए सकेत का कार्य करती है और जहाँ जब किसी अजीब-सी बात की अभिव्यक्ति करनी हो तो कहा जाता है—'बिना नगाड़े का नाटक।'

ध्वन्यग सगीत की दृष्टि से 'ध्रुव' नामक गीत थे जिन्हे रगमंच के सगीतज्ञो द्वारा नाटक के उपयुक्त बना लिया जाता था। इस प्रकार के पाँच ध्रुव थे—प्रवेश तथा प्रस्थान के ध्रुव जो दर्शकों को प्रवेश अथवा प्रस्थान करने वाले पात्र, स्थिति-विस्तार और पात्र के प्रवेश अथवा प्रस्थान की अवस्थाओ की सूचना देते थे और तीन अन्य ध्रुव जिनका प्रयोग पात्र के अंक-स्थित होने पर होता था। एक तो सन्दर्भ में परिवर्तन की सूचना देता था, एक स्थिति को और भी अधिक भासमन्त बनाता था और पाँचवाँ तब गाया जाता था जब नाटकाभिनय में पर्याप्त विलम्ब अथवा अन्तर होता था। जो गीत प्राकृत उपभाषाओ मे प्रतीकात्मक पद्धति में होते थे वे रगमच के सगीतज्ञो द्वारा नाटक के पद्यो तथा स्थितियो के आधार पर निर्मित कर

लिए जाते थे और इनका सामान्य परिचय कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के प्रगीतात्मक चतुर्थ अक के रगमचीय रूपान्तर से हो सकता है जो कुछ पाडुलिपियों में सुरक्षित है। जब किसी दृश्य अथवा भाव की पृष्ठभूमि के रूप में यदा-कदा किसी विशिष्ट मूर्च्छनायुक्त प्रभाव की आवश्यकता होती थी तब ऐसे गीत गाए जाते थे जिनमें केवल सगीतात्मकता मुख्य होती थी अथवा वशी-जैसे वाद्यों का उपयोग किया जाता था। भरत ने सप्त स्वरों तथा रसो में प्राप्त हो सकने वाले सहज सम्बन्ध को तथा जातियो अथवा सगीत-प्रणालियो को—जो नाटक की विशिष्ट भावात्मक स्थितियो के लिए सन्नद्ध की जा सकती थी—प्रस्तुत किया है। कश्यप नामक लेखक ने नाटक में प्रयोग के लिए राग-रस-योजनाओ को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। वस्तुत हम प्राचीन सगीत को नाट्य-परिचारक के रूप में अधिक जानते हैं और 'सगीत' शब्द मुख्यत गायन एव वादन के साहाय्य से सचालित रगमचीय कला के लिए प्रयुक्त होता था।

प्राचीन भारत में नृत्य-नाटक की यही शैली थी जिसने कालिदास और श्री हर्ष को उत्पन्न किया था, यही नाट्यधर्मी अथवा आदर्शात्मक एव कलात्मक प्रविधि थी जिसने सस्कृत-नाटक को कविता, सगीत एव नृत्य-शवलित सर्वतोमुखी कला बना दिया जो भारतीय रगमच की प्रमुख विशेषता है। देश के समस्त अवशिष्ट प्रान्तीय रूपो में इसी प्रकार का निरूपण हमे मिलता है। यह इस प्रकार की मिश्रित कला है जो व्यक्ति को सभी पूर्वीय देशों में, जहाँ-जहाँ अतीत में भारतीय सभ्यता का प्रसार हुआ, दृष्टिगत होती है। भरत ने इस प्रकार की सृष्टि को अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ और कलात्मक मान कर 'आभ्यन्तर' कहा है और दूसरी प्राकृतिक सृष्टि को, जिससे आज हम भली-भाँति परिचित हैं, हीन अथवा अल्प कलात्मक मान कर 'वाह्य' कहा है।

रगमचीय अभिनयो की अनुपूरक श्रेणी में, जो भरत के परवर्ती युग में परिचित तथा नियमबद्ध थी, हम इस क्रियाशील नृत्य-नाटक शैली को अधिक प्रचलित देखते हैं। ये 'उपरूपक'—जिनके वीस प्रकार थे—लोक-रूपो से ग्रहण किए गये थे और ये लौकिक सस्कृत-रगमच तथा देशी भाषा-रूपो के बीच की कडी हैं। इसमें से कुछ सगीतात्मक हैं जिनका गायन, नर्तन तथा मुद्राओ में व्याख्या होती है और कुछ नृत्य-रचनाओ के बहुत अधिक समीप है। ये सस्कृत-रगमच की आधारभूत समृद्धि, विभिन्नता एव विकास-शक्ति को स्पष्ट करती हैं।

स्वय नाटक के क्षेत्र में सर्वाधिक अवलोकनीय विकास 'नाटिका' नामक नवीन रीति का विकास है जिसमें शौर्यात्मक 'नाटक' तथा सामाजिक 'प्रकरण' के तत्त्व सम्मिलित रहते थे। इसके उदाहरण कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र' तथा उसके प्रभाव में लिखे गये अनेक परवर्ती नाटक हैं।

साहित्यिक कलाकारो की दृष्टि से हम संस्कृत-नाटको के क्षेत्र में प्राप्त कुछ उल्लेखनीय बातो पर दृष्टिपात कर सकते हैं। निस्सदेह कालिदास कविता की भाँति यहाँ भा सर्वश्रेष्ठ ठहरते हैं। उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'शकुन्तला' ने विश्वव्यापी प्रसिद्धि प्राप्त की है। इसमे कालिदास ने सभी कवियो एवम् नाटको को प्रथम मिलन के प्रेम का एक आदर्श प्रदान किया है जो वियोग-वह्नि में पवित्र होता है और पुन. अमर मिलन में संघानित हो जाता है—जिसमें वालक संयोजक-ग्रन्थि का कार्य करता है। यह नाटक इस लिए भी अनुपम है कि इसमे कवि मानव-हृदय तथा प्रकृति के मध्य अभेद स्थापित करता है और लताओ तथा मृगो को भी नाटकीय पात्र बना देता है। अपने 'विक्रमोर्वशी' में कवि ने प्रेमी पर, जो अपनी प्रेयसी के विरह मे विक्षिप्त की भाँति बातें करता है, प्रकृति के प्रभाव को प्रदर्शित किया है। अपने 'मालविकाग्नि-मित्र' के रूप में, जो नृत्य आदि की रम्य प्रेरणा से युक्त एक अपेक्षाकृत सक्षिप्त सभा-नाटक है, उन्होने एक विशिष्ट उपरोपित प्रकार प्रदान किया जिसे 'नाटिका' कहते हैं और जिसका एक के बाद एक कवि अनुकरण करते गये। कालिदास के पूर्व समर्थ नाटककार भास, सौमिल्ल एव कविपुत्र हो चुके थे, जिनकी कृतियाँ प्राय नष्ट हो चुकी हैं। इनमें से हमारे समक्ष केवल भास द्वारा प्रणीत तेरह नाटक ही हैं जिनमे 'स्वप्न-वासवदत्ता' प्रामाणिक प्रतीत होता है। महान् प्रेमी उदयन एवम् वासवदत्ता की कथा पर आधृत यह नाटक कोमल एवम् कठिन स्थितियो और महान् प्रेम के सर्वथा उपयुक्त शौर्यपूर्ण बलिदान के कुशल चित्रण द्वारा अपने समर्थ कृती का परिचय देता है। ईसा की सातवी शताब्दी में भवभूति, जिन्होंने कालिदास के चरण-चिह्नो पर चलते हुए प्रेम की अपार्थिव प्रकृति की घोषणा की, राम के जीवन की उत्तरकालीन घटनाओं पर लिखे गए अपने नाटक में करुणा का चित्रण करने में उनसे (कालिदास से) भी आगे बढ गये—भवभूति, जो अभिव्यजना में अपेक्षाकृत अधिक उत्स्यन्दी एवम् विशद भी थे, ध्वनि एव तात्पर्य मे समनुरूपता स्थापित करने और उन्नत तथा भक्ति-मिश्रित भय के प्रेरक एवम् भयानक तथा वीभत्स दृश्यो को उद्भावित करने में इतने समर्थ थे जितना संस्कृत में अन्य कोई कृती नही हुआ। राजा हर्षवर्धन ने कालिदास की प्रणाली पर दो नाटिकाएँ उपस्थित की है। इनमें से 'रत्नावली' नटो को प्रिय थी, किन्तु वस्तुत इस महान् नाटककार की उल्लेखनीय कृति 'नागानन्द' है जो एक प्रचलित बौद्ध-कथा को लेकर लिखी गई है जिसमें नायक एक निर्धन नाग की रक्षा के लिए अपना जीवन अर्पित कर देता है। इस नाटक ने शान्त रस को एक उपयुक्त रस के रूप मे मान्यता प्रदान करने के लिए मार्ग प्रशस्त बनाया। जहाँ उपर्युक्त नाटको में मूल-वस्तु महाकाव्यगत नरेशो अथवा उसी प्रकार के कीर्तिवान् राज-पात्रो से सम्बद्ध रहती थी वहाँ 'प्रकरण' नामक नाट्य-वर्ग में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य सामा-

जिक तथ्यो का उल्लेख होता था। इनमें शूद्रक का 'मृच्छकटिक' सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इस नाटक में कथागत-ग्रौत्सुक्य एव रसाकर्षण में परस्पर समनुरूपता है। इसमें मुख्य एवम् गौण सभी चरित्रो का ऐश्वर्य वर्तमान है और सब को वैयक्तिकता, कविता एव प्रगीतात्मकता के माध्यम से चित्रित किया गया है। इनके साथ उत्साहपूर्ण कार्य भी सयुक्त है और सस्कृत में केवल यही एक ऐसा नाटक है जिसमें शुद्ध हास्य एवम् चातुर्य का व्यापक मिश्रण हुआ है। अपनी दानशीलता के कारण निर्धन हुए एक सदय ब्राह्मण के एक धनी वेश्या से प्रेम की कथा के साथ-साथ इसमें राज्य-सत्ता बदल डालने की भी कथा है और यदि नाटक से किसी का तात्पर्य रगमच के लिए पूर्ण उपयुक्त कृति से है तो शूद्रक की कृति निस्सदेह सस्कृत-नाटक के सम्पूर्ण क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ ठहरती है। शूद्रक के चरण-चिह्नो पर चलते हुए भवभूति ने अपनी सामाजिक कारुणिक-कामदी 'मालतीमाधव' की रचना की। इसमें कुछ प्रति की गई है, किन्तु इसमें एक ऐसा अद्वितीय अक है जिसमें कवि जलते हुए पैशाचिक श्मशानघाट को हताश प्रेम का दृश्य बना देता है। हमारी सर्वश्रेष्ठ नाटकीय कृतियो में 'पुष्पदूषितका' भी उल्लेखनीय है जिसमें एक निर्दोष स्त्री पर कतिपय परिस्थितिजन्य प्रमाणो के आधार पर अनास्था का सन्देह किया जाता है और उसके पति की अनुपस्थिति में उसे कानून को अपने हाथो में लेने वाले श्वसुर द्वारा गर्भावस्था में निष्कासित कर दिया जाता है। ऐतिहासिक नाटको के क्षेत्र में विशाखदत्त द्वारा प्रणीत 'मुद्राराक्षस' एवम् 'देवी चन्द्रगुप्त'—जो क्रमश मौर्यवशी चन्द्रगुप्त तथा गुप्तवशी चन्द्रगुप्त पर लिखे गये हैं—नामक दोनो महत्वपूर्ण कृतियों की भी चर्चा की जानी चाहिए। 'मुद्राराक्षस' में नाटककार स्पष्ट शैली, जटिल कथावस्तु, सातति कार्य और अशिथिल गति पर पूर्ण आधिपत्य रखता है। इसमें वह एक ऐसी कथा-वस्तु की योजना करता है जो प्रेम मे (शृगार रस से) सर्वथा शून्य है, किन्तु आदर्श मैत्री के—जो विश्वासघात की अपेक्षा नाश को श्रेयस्कर मानती है—चित्रण में जो सस्कृत-नाटक के सम्पूर्ण क्षेत्र में अनन्य है। 'देवी चन्द्रगुप्त', जो दुर्भाग्यवश अभी तक अप्राप्य है, सस्कृत-नाटक के लिए एक अपूर्व और साहसिक कथावस्तु—नायक द्वारा एक रानी का रूप धारण करना, शत्रु-वध, अपने अग्रज की रानी से प्रेम और अन्तत अग्रज का वध तथा राज्य और रानी को ले लेना—प्रस्तुत करता है। सस्कृत में नाटकीय प्रतिभा की अन्य उल्लेखनीय अभिव्यजनाओ में तीन अन्य श्रेणियों और उनसे सम्बद्ध नाटको की चर्चा करनी शेष है. सातवीं शताब्दी में वर्तमान काची के पल्लव-नरेश महेन्द्र विक्रम द्वारा रचित 'मत्तविलास' और 'भगवदज्जुकीय' नामक प्रहसन। इनमें से दूसरा प्रहसन योगी के पर-काया-प्रवेश के अद्भुत कार्य के आधार पर लिखित है और उसमें मौलिकता है। यम का दूत एक भूल कर बैठता है और परिणाम-स्वरूप एक महात्मा एक वेश्या के शरीर में प्रविष्ट होकर दार्शनिक बाते करने लगता है तथा

वेश्या की आत्मा उसके शरीर मे प्रविष्ट करा दी जाती है और महात्मा का शरीर हाव-भावो का प्रयोग करने लगता है। शृगार रस के स्वगत-भाषणो में शूद्रक, वररुचि, ईश्वरदत्त तथा श्यामिलक द्वारा रचित हास्य और यथार्थ तत्त्वो से पुष्ट चार प्राचीन भाण प्राप्त होते हैं। तृतीय उल्लेखनीय श्रेणी उन रूपको अथवा दार्शनिक नाटको की है जिनमें अमूर्त अवधारणाएँ—गुण, दोष और विचार-प्रणालियाँ—पात्रो के रूप में अकित हैं। इस श्रेणी के नाटक का सूत्रपात तुर्फान् की खुदाई मे उपलब्ध अश्वघोष की रचनाओ के अशो मे प्राप्त होता है, नवी शताब्दी के काश्मीरी तार्किक-कवि जयन्त का आगमडम्बर यह उदात्त सन्देश प्रदान करता है कि सब धर्मों का शुद्ध हृदय से अनुसरण सत्य-अन्वेषण के उपयुक्त मार्गों का निर्माण करता है और ग्यारहवी शताब्दी के कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय' अतीव प्रतिभा, शक्ति एवम् रस के साथ वेदान्त-दर्शन का चित्रण करता है।

भारतीय सस्कृति के इतिहास में सस्कृत-नाटक और उससे उत्पन्न देशी भाषाओ के स्वरूपों ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया था। ये लोगो को शताब्दियो तक निरन्तर आत्मिक, धार्मिक एवम् आदर्शात्मक सस्कृति की शक्तियो को समेकित करने की प्रेरणा देते रहे हैं। इसी दृष्टिकोण को लेकर वे जनता के समक्ष उत्सवो में और देवालयो में अभिनीत किए जाते थे। जहाँ सस्कृत के सौन्दर्योद्भावको के अनुसार रसानुभूति नाटक का मुख्य उद्देश्य है वहाँ उन्होने यह भी कहा है कि कला का द्वितीय लक्ष्य मनुष्य को शिक्षा प्रदान करना है जिससे वह अपने समक्ष उपस्थित किये गये नायको का अनुकरण करे, राम के समान कार्य करे और रावण द्वारा प्रवर्तित पथ का त्याग करे—विशेषत· शौर्यात्मक नाटक लोगों के समक्ष एक महान् एवम् उदात्त आत्मा का आदर्श उपस्थित करते थे जो बुराई से युद्ध करती थी और विजयी होती थी। सामाजिक 'प्रकरण' में भी सच्चे प्रेम की विजय, चरित्र तथा पवित्रता का चित्रण किया जाता था। प्रहसनो और स्वगत-भाषणो में समाज के परजीवी तथा दम्भी जनों पर प्रभविष्णु व्यंग्य करते हुए उनके कपट का भडाफोड किया जाता था। महाकाव्यगत तथ्य-कथन के साथ-साथ नाटक सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में जनता मे प्रौढ-शिक्षा प्रसार का भार भी उठाता रहा है और यदि 'मृच्छकटिक' के विनीत गाडीवान चेट की भाँति कोई भी सामान्य भारतीय सामान्यत. मूल्यों का वास्तविक ज्ञान रखता है और शिक्षा के अतिरिक्त शुद्ध सस्कृति के परीक्षणों में कदापि असफल नही रहता है तो इसका श्रेय बहुत-कुछ भारतीय नाटक को है। किन्तु, जैसा ऊपर कहा गया है, भारतीय सिद्धान्तानुसार नाटक का सामयिक प्रयोग आनुषगिक है। 'नाट्य-शास्त्र' के प्रारम्भिक परिच्छेद में भरत द्वारा वर्णित एक महत्वपूर्ण कथानक मिलता है—जब देवो की असुरो पर विजय की कथा का अभिनय किया गया तब असुरो

ने कोलाहल करते हुए कहा कि यह सब देवताओ के प्रति पक्षपात है और वे उसका विकास नही होने देंगे। ब्रह्मा ने दैत्यो को यह कह कर शान्त किया कि नाटक का लक्ष्य किसी एक पक्ष की स्तुति करना अथवा निन्दा करना नही है, अपितु सब के गुण-दोषों को उपस्थित करना है, तीनो लोको के अनुभवो एवम् कार्यों का प्रतिनिधित्व करना है, उसमें किसी एक प्रकार की कथावस्तु के प्रति पक्षपात नही दिखाया जा सकता और वह प्रत्येक क्रिया, गुण, क्रीडा, लाभ, दुख, प्रसन्नता, युद्ध, प्रेम आदि को प्रस्तुत करता है। यदि प्रत्येक क्रिया प्रदर्शित की जाएगी और प्रत्येक व्यक्ति इससे अपनी रुचि के अनुसार सन्तोष प्राप्त करेगा तो इस सम्पूर्ण कला का जनता पर उपयोगी तथा शिक्षात्मक प्रभाव होगा और मुख्यत जो कुछ यह है उसके अतिरिक्त भी यह शान्ति तथा मनोरजन का साधन बनेगा।

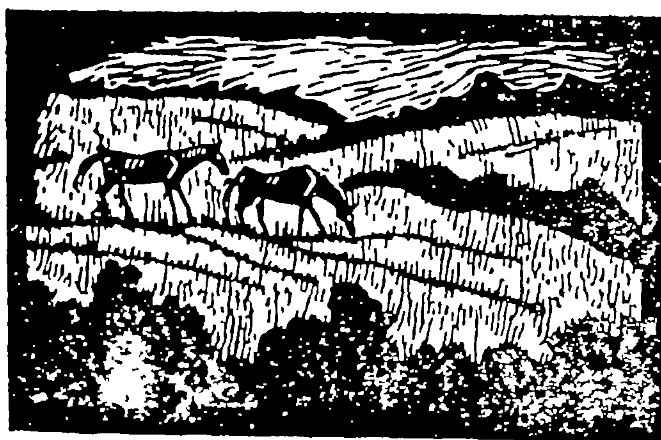
अब यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि सस्कृत नाटक, जिसका इतना कलात्मक भावन किया गया था और जो प्राचीन समय में मनोरजन का महत्वपूर्ण साधन था, क्यो और किस प्रकार क्षीण हो गया ? इसका प्रमुख कारण भाषायी तथा साहित्यिक है। मध्यकालीन भारतीय-आर्य भाषाओ तथा तदनन्तर आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओ के विकास के परिणाम-स्वरूप साहित्य की रचनात्मक प्रतिभा उस ओर प्रवृत हुई। इसके साथ-साथ देशी भाषाओं के रगमचो के विकास ने, जो सस्कृत-नाटक के प्रसगो एव प्रविधि से युक्त थे किन्तु जिनमें सामान्य भाषा का प्रयोग रहता था, मूल सस्कृत भाषा को अनावश्यक बना दिया। मूलत गायन तथा नृत्य के लिए रचित रचनाओं का विकास, उदाहरणार्थ जयदेव का 'गीत-गोविन्द' जो विकसित नाटक के सम्पूर्ण अभिनय तथा नृत्य से युक्त है, दूसरी ऐसी परिस्थिति थी जिसने जनता द्वारा खोजे गए नैरन्तरिक कला-रूप सस्कृत-नाटक को लुप्त कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सस्कृत-नाटक के आगामी निदर्शन लेखक के काव्यमय अथवा साहित्यिक उपहारो के अधिकाधिक प्रदर्शन-मात्र हो कर रह गए।

तथापि इसकी अवनति का दोष इसकी समाज एवम् जीवन को प्रतिबिम्बित करने की असफलता पर आरोपित नही किया जा सकता क्योकि उस तत्त्व को आत्मसात् करने वाली स्थानीय भाषाओ में भी नाटकों का कोई वैसा आकस्मिक विकास नही हुआ। वास्तव में सस्कृत में जितनी प्रचुर नाट्य-प्रतिभा मौजूद है, उसके समकक्ष अभी भी कोई भारतीय भाषा नही आ सकी है। आज न केवल भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, विशाखदत्त और महेन्द्रविक्रम को ही रगमच पर पुन उत्पन्न करने की आवश्यकता है, अपितु भरत का उत्कृष्ट तथा व्यापक ग्रन्थ भी आज रगमच के किसी भी अध्येता द्वारा चाहे वह लेखक हो अथवा अभिनेता, उपेक्षित नहीं

किया जा सकता। पूर्व-वर्णन के अनुसार कथा-वस्तु के निर्माण और प्रसंगो के प्रस्तुतीकरण में सस्कृत-नाटक की कुछ निश्चित प्रणालियाँ एवम् लक्ष्य हैं जो अध्येता को आज भी बहुत ज्ञान दे सकते हैं। मुख्यत: सृजन में यदि हमें आदर्श प्रविधि पर आधृत एक भिन्न भारतीय शैली का विकास करना हो, जो बाह्य यान्त्रिक सहायता की अपेक्षा आन्तरिक कलात्मक साधनो पर अपेक्षाकृत अधिक आवृत रहे; और अपने रंगमंच को केवल पश्चिमी रंगमच का अनुकरण-मात्र न होने देना हो तो हमें भरत और कालिदास का गहन अध्ययन कर उनके द्वारा प्रकल्पित तथा प्रयुक्त नाट्य के 'धर्मी' तथा 'साम्य' को हृदयगम करना होगा। ऐसा करने पर हम एक ही प्रयत्न में नाटक, नृत्य तथा संगीत की तीन कलाओ को पुनर्जीवित कर सकेंगे।

इस प्रकार के पुनर्निर्माण में हमें केवल तभी सफलता प्राप्त हो सकती है जब भारत के विभिन्न भागो में जीवित नृत्य-नाट्य-परम्पराओ का दोहरा समन्वय कर हम उन्हें बृहत्तर भारत की नाट्य-परम्पराओ से समन्वित करें। जब कि विस्तृत प्रगीतात्मक अभिनय को कत्थक और भरत-नाट्य मे खोजा जा सकता है तब सर्वाधिक सहायता हम भारत में अभी तक जीवित नाटकीय स्वरूप 'कथाकली' से प्राप्त कर सकते हैं। प्रसगवश इस पर ध्यान दिया जा सकता है कि समस्त भारत में मालाबार के 'कुटियाट्टम' में, जो अभी तक वहाँ प्रचलित है, अब भी सस्कृत-नाटक के अभिनय का परम्परागत स्वरूप जीवित है। प्राचीन रंगमचीय प्रविधि का बृहदाश, जो भारतवर्ष में या तो नष्ट हो गया है अथवा क्षीण हो गया है, पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रेक्षागृहो में विद्यमान है जब भारत के सांस्कृतिक नेतृत्व की विजय-वेला में समूचे पूर्व में भारतीय महाकाव्यो, कला और नाटको का प्रसार था। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त उत्तर-पूर्वी एशिया मे सभ्यता का विकास पूर्णत: दोनो भारतीय महाकाव्यो और उन पर आवृत नृत्य-नाट्यो के आधार पर हुआ है। नाटक के लिए रक्षित संगीत-प्रणाली और वातावरण-सृष्टि तथा भावो के स्वराकन के लिए आयोजित वाद्य-रचनाओ को हम जावा निवासियो के 'गैमेलान' और बाली-निवासियो के 'वायंग्स' में पायेंगे। जावा और बाली से हमें भरत द्वारा उल्लिखित पशु-गतियो को भी लेना है। अंग-निक्षेप (चेष्टा) तथा सगीत द्वारा प्रस्तुत चीन के उच्च कोटि के नाटको में केवल विविध पात्रो के उपयुक्त सूक्ष्मत. विधिवद्ध गीत-प्रणाली ही नहीं, अपितु हमारे आंगिक तथा चित्र-अभिनय का भी पर्याप्त अश सुरक्षित है। ये तथा इनके अतिरिक्त जापान का 'नोह', थाईलैंड का 'खोन', लओस का 'रामायण-नृत्य', कम्बोडिया का 'वैले', वर्मा का 'पौ' और कैंडी-नृत्य हमारे देश से बाहर हमारे लिए भरत के 'नाट्य-शास्त्र' के परिच्छेदो तथा छाया-नाट्य और कठपुतली के खेलो की रक्षा किये हुए हैं, जो अब हमारे देश के बड़े भाग में प्रचलित

नही हैं। सुदूर पूर्व के इन प्रत्यादानो में सर्वाधिक महत्वपूर्ण छोटी अवस्था से ही प्रारम्भ किए गए वे व्यायाम हैं जो इस कला के लिए आधार-स्वरूप है और जहाँ हमें पुन वडे अवरोध का सामना करना पडता है। आज जब हम भ्रमण करते और अपनी सस्कृति एवम् कलाओ का सुयोजित पुनर्निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र हैं तब उत्तर-पूर्वी एशिया की नृत्य-नाट्य परम्पराओ के अनुसधान के लिए एक प्रशस्त योजना प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया है। भारत और इन देशो के बीच ये ही लोकप्रिय और सवल वधन हैं। अन्त में मैं जावा के रगमच के विषय में कुमारस्वामी का एक उद्धरण देना चाहता हूँ "सम्भवत भारत, इडोनेशिया तथा सुदूर पूर्व में आज भी जीवित प्राचीन नाट्य-रूपों के तुलनात्मक सर्वेक्षण से अधिक मनोरजक और ज्ञान-वर्धक और कोई अध्ययन नही हो सकता। इस प्रकार का विस्तृत सर्वेक्षण न केवल उन क्षेत्रो के सास्कृतिक सम्वन्धो पर वल देगा जो एक समय गाढ बन्धन में आवद्ध थे और न केवल विविक्त रूपो के महत्त्व को स्पष्ट करेगा, अपितु उनकी विविधता इस प्रकार की है और अभिनेताओं का निष्पादन इतना अधिक कुशल है तथा यह शिल्प-कौशल एकान्तत महाकाव्य तथा यथार्थ नाटकीय सामग्री में इतना निरन्तर प्रयुक्त हुआ है कि इस प्रकार की कृति यूरोपीय रगमच की साधारणता तथा अज्ञान पर कुछ प्रकाश डालने के लिए भी भली-भाँति पर्याप्त हो सकती है जहाँ रगमचीय एव प्रतिनिधान-कला नाट्य एव सूक्ष्म-कला को अभिभूत कर चुकी है।"



संस्कृत नाट्य-शास्त्र में रूपक का स्वरूप तथा भेद-प्रभेद

—डा० गोविन्द त्रिगुणायत

संस्कृत आचार्यों ने इन्द्रिय सन्निकर्ष के आधार पर काव्य के दो भेद किए हैं—दृश्य और श्रव्य। नट द्वारा अंग-विक्षेप, भाव-भगिमाओ और उच्चारण-सौष्ठव के सहारे अभिव्यक्त रसपूर्ण जीवन प्रत्यय चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रधान होने के कारण दृश्य, और कवि की वाणी द्वारा अभिव्यक्त उसके अनुभव श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से अनुभूय होने के कारण श्रव्य काव्य के अभिधान से प्रसिद्ध हो गए हैं। रूपक का सम्बन्ध काव्य की पहली विधा से है।

रूपक शब्द 'रूप' धातु में णवुल प्रत्यय जोडने से व्युत्पन्न हुआ है। साहित्य[1] में यह नाट्य का वाचक माना जाता है। कही-कही रूपक के स्थान पर केवल रूप शब्द का प्रयोग भी मिलता है। वास्तव मे प्रत्यय-भेद के अतिरिक्त दोनो में कोई मौलिक अन्तर नही है। नाट्य के अर्थ में इन शब्दो का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। यह कहना कि इन शब्दों में अभिनय के अर्थ का समावेश नवी या दसवी शताब्दी के आस-पास हुआ युक्तियुक्त[2] नही है। यदि हम ऋग्वेद[3] सहिता, तैत्तरीयब्राह्मण,[4] थेरगाथा,[5] मिलिन्दप्रश्न,[6] अशोक के शिलालेख[7] आदि में प्रयुक्त इन शब्दो को, अर्थ के विवादग्रस्त होने के कारण अभिनय के अर्थ से पूर्ण सम्बद्ध स्वीकार न भी करें तो भी नाट्य-शास्त्र के प्रमाण के आधार पर इनकी प्राचीनता

---

१. रूपक शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं। देखिए 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' मोनियर विलियम्स, पृष्ठ ८४।

२. देखिए मांकड लिखित 'टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा', पृष्ठ ३१ कराची (१९३६)।

३. देखिए 'ऋग्वेद संहिता' ६।४६।१८ । यहाँ रूप शब्द का अर्थ भेष बदलना है।

४. इसका संकेत मोनियर विलियम्स ने दिया है—'संस्कृत इंगलिस डिक्शनरी' पृष्ठ ८८४।

५. देखिए इसका संकेत 'संस्कृत ड्रामा' कीथ-लिखित—पृष्ठ ५४। यहाँ 'रूपकम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

६. देखिए 'मिलिन्दप्रश्न' (मिलिन्दपह्न) पृष्ठ ३४४ 'टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा' से उद्धृत।

७. 'टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा' मांकड पृष्ठ २७।

निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है। नाट्य-शास्त्र में कई स्थलो[1] पर स्पष्ट रूप से 'दशरूप' शब्द का प्रयोग नाट्य की दस विधाओ[2] के अर्थ में किया गया है। नाट्य-शास्त्र का समय ई० पू० पहली शताब्दी से तीसरी शताब्दी ईसवी निश्चित किया गया है।[3] इससे स्पष्ट है कि रूपकशब्द नाट्य के अर्थ में ईसवी शताब्दी पूर्व से ही प्रचलित है।

× × ×

रूपक या रूप की स्वरूप-व्याख्या के पूर्व हमें नाट्य, नृत्य, और नृत्त शब्दो की विवेचना करनी पडेगी क्योकि ये तीनो शब्द रूपक के विकास की प्रथम तीन भूमिकाओ के द्योतक हैं। इनको समझे बिना हम रूपक और उसके भेद-प्रभेदों के वास्तविक रूप को नही समझ सकते।

'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानो में बडा मतभेद है। नाट्य-दर्पण[4] के रचयिता रामचन्द्र के मतानुसार यह शब्द 'नाट्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। किन्तु यह मत सर्वमान्य न हो सका क्योकि पाणिनि ने नाट्य की उत्पत्ति 'नट्' धातु से मानी है।[5] पाणिनि का मत ही प्रतिष्ठित समझा जाता है। यहाँ पर हम थोडा-सा सकेत विद्वानो की उन आनुमानिक क्रीडाओ की ओर कर देना चाहते हैं जो नट् धातु का आधार लेकर की गई हैं। वैबर[6] साहब ने नट्-धातु को 'नृत्' धातु का प्राकृत-रूप माना है। मोनियर[7] विलियम्स ने अपने कोष में इसी मत का समर्थन किया है। कुछ दूसरे विद्वानों का कहना है कि नट्-धातु 'नृत्' का प्राकृत-रूप तो नही है किन्तु इसका जन्म नृत् की अपेक्षा बहुत बाद में हुआ था। इस मत के समर्थको में श्री माकड और डॉ० चन्द्रभानु गुप्त[8] अग्रगण्य हैं। उनका कहना है कि नृत् धातु का प्रयोग हमे ऋग्वेद तक में मिलता है। किन्तु नट्-धातु पाणिनि से पहले कही भी

---

१. नाट्य-शास्त्र (निर्णय सागर) १९४३ पृष्ठ २८६ पर लिखा है 'दशरूप विधानेतु पाठ्य योज्य प्रयोक्तभि'

२. देखिए उपर्युक्त 'दशरूप विधानेतु' की अभिनवगुप्त-कृत व्याख्या।

३. देखिए 'साहित्य दर्पण आफ विश्वनाथ' में काणे साहब की भूमिका पृष्ठ ४० तृतीय सस्करण।

४. देखिए रामचन्द्र लिखित 'नाट्य-दर्पण' पृष्ठ २८ (जी० ओ० सी०)।

५. पाणिनि ४।३।१२९।

६ 'ए हिस्ट्री आफ इडियन लिटरेचर' वेबर-लिखित, तीसरा सस्करण पृष्ठ १९७.

७ 'सस्कृत इगलिश डिक्शनरी' मोनियर विलियम्स—पृष्ठ ५२५

८ देखिए—'टाइप्स आफ सस्कृत ड्रामा' पृष्ठ ७ और देखिए 'दि इडियन थियेटर' डा० चन्द्रभान गुप्त लिखित अध्याय ९ पृष्ठ १३६.

प्रयुक्त नही मिलती है। उनका यह तर्क श्रमसाध्य खोजों पर आधारित नही है। मुझे ऋग्वेद में नट्-धातु का प्रयोग भी मिला है।[1] अत. श्री माकड का मत निराकृत हो जाता है। वास्तव में नट् और नृत्त ये दोनो धातुएँ ऋग्वेद-काल से ही स्वतन्त्र और निरपेक्ष-रूप से प्रचलित हैं। इसीलिए पाणिनि[2] में इनका उल्लेख अलग-अलग किया है। यह हो सकता है कि इन दोनो के अर्थों मे समय-समय पर विविध भाषा-वैज्ञानिक कारणो से परिवर्त्तन होता रहा हो। ऋग्वेद में ये दोनो भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त मिलती हैं।[3] वेदोत्तर-काल मे ये सम्भवत. समानार्थक होगई थी। वाद में नट्-धातु के अर्थ का और अधिक विस्तार हुआ। उसमें नृत्-धातु के अर्थ के साथ-साथ अभिनय का अर्थ भी सम्बद्ध हो गया। इस वात का प्रमाण हमे 'नाट्य-सर्वस्व दीपिका'[4] और 'सिद्धान्त[5] कौमुदी' नामक ग्रन्थो से मिलता है। इन दोनों ग्रन्थो में नट्-धातु का अर्थ गात्र-विक्षेपण और अभिनय दोनों ही लिया गया है। आगे चलकर नट्-धातु केवल अभिनय मात्र की वाचक रह गई। गात्र-विक्षेपण के अर्थ में केवल नृत्-धातु का ही प्रयोग प्रचलित हो गया। नाट्य-शब्द अभिनयार्थक नट्-धातु से वना हैं और 'नृत्य' तथा 'नृत्त' ये दोनो शब्द गात्र-विक्षेपणार्थक 'नृत्' धातु से व्युत्पन्न हुए हैं।

नाट्य, नृत्य और नृत्त इन तीनो की विस्तृत व्याख्या हमे शारदातनय-विरचित 'भावप्रकाशम्',[6] विद्यानाथ लिखित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण',[7] निश्शक शार्ङ्गदेव प्रणीत 'सगीतरत्नाकर',[8] नामक ग्रन्थो में मिलती है। इनके अतिरिक्त मन्दारमरन्द चम्पू,[9]

---

१. देखिए—'ऋग्वेद' ७।१०४।२३.
२. पाणिनि ४।३।१२९.
३. सायण ने नट्-धातु का अर्थ 'व्याप्नोति' किया है और नृत् हिलने-डुलने के अर्थ में आई है। देखिए 'सायण भाष्य' १०।१८।३, नृत् के अर्थ के लिए और नट् के अर्थ के लिए ४।१०५।२३ की टीका।
४. देखिए 'टाइप्स आफ़ संस्कृत ड्रामा' पृष्ठ ८.
५. सिद्धान्त कौमुदी' के तिडन्त प्रकरण में इस प्रकार लिखा है—'नट नृत्तौ। इत्थमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्रायं विवेकः। पूर्वं पठितस्य नाट्यमर्थः। यत्कारिष नटव्यपदेशः।"
६. 'भावप्रकाशम्'—शारदातनय पृष्ठ १८१
७ विद्यानाथ लिखित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' (बाम्बे संस्कृत सिरीज) पृष्ठ १०१
८. 'संगीतरत्नाकर' का सातवां अध्याय देखिए।
९. देखिए 'मन्दारमरन्द चम्पू' कृष्णशर्मन् लिखित पृष्ठ ५९ (काव्य-माला सिरीज)

नाट्यदर्पण,[1] सिद्धान्त-कौमुदी[2] आदि ग्रन्थो में भी इन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इन सभी ग्रन्थो में नाट्य-स्वरूप के सम्बन्ध में कोई विशेष मतभेद नही दिखाई देता। किन्तु नृत्य और नृत्त के सम्बन्ध में सबकी अपनी-अपनी धारणाएँ अलग-अलग हैं। इन सभी ग्रन्थो में 'दशरूपकम्' की सबसे अधिक प्रतिष्ठा है। उसी के मत सर्वमान्य भी हैं। अतएव हम यहाँ पर उसी के आधार पर इन तीनों की स्वरूप-व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

दशरूपककार धनजय और उसके टीकाकार धनिक दोनो ने नाट्य के स्वरूप को सविस्तार समझाने की चेष्टा की है। धनजय ने अवस्था की अनुकृति को नाट्य कहा है।[3] आचार्य का अवस्था की अनुकृति से क्या अभिप्राय है इसको स्पष्ट करते हुए धनिक ने लिखा है "काव्य में जो नायक की धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाएं बतलाई गई हैं उनकी एकरूपता जब नट अभिनय के द्वारा प्राप्त कर लेता है, तब वही एकरूपता की प्राप्ति नाट्य कहलाती है। उसमें आगिक अभिनय के साथ सात्विक अभिनय भी होता है। उसका विषय रस है इसी लिए वह रसाश्रित कहलाता है।[4]

नृत्य नाट्य से भिन्न होता है। दोनो में विषय सम्बन्धी अन्तर है। नाट्य रसाश्रित होता है और नृत्य भावाश्रित।[5] नृत्य में काव्यत्व भी नही पाया जाता। उसमें सुनने की बात भी नही होती। इसी लिए प्रायः लोग कहा करते हैं कि नृत्य केवल देखने की वस्तु है। नृत्य में आगिक अभिनय की प्रधानता रहती है।[6] इसमें पदार्थ का अभिनय होता है, वाक्य का नही।[7] इसे लोग दैव-आविष्कृत मानते है।[8]

नृत्य से नृत्त भिन्न होता है। नृत्य में पदार्थ का अभिनय होता है किंतु नृत्त में किसी प्रकार का भी अभिनय नही होता। नृत्य और नृत्त में आधार-सम्बन्धी भेद

---

१. देखिए 'नाट्य-दर्पण'—रामचन्द्र। लिखित (जी० ओ० सी०)
२. देखिए 'सिद्धान्तकौमुदी' पृष्ठ १६६
३ देखिए 'दशरूपकम्' १-७। इसकी व्याख्या के लिए डा० गोविन्द त्रिगुणायात लिखित 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ५ द्रष्टव्य है।
४. 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ५।
५. देखिए 'दशरूपकम्' १।६।
६. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ६, ७।
७ देखिए धनजय लिखित 'दशरूपकम्' में १।६ की धनिक-कृत संस्कृत टीका।
८. वही।

है। नृत्य का आधार भाव होते हैं और नृत्त का ताल और लय।[1] यदि हम नाट्य, नृत्य और नृत्त इन तीनो पर तुलनात्मक रूप से विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि नृत्त, नृत्य ये नाट्य की ही दो प्रथम भूमिकाएँ हैं।

रूपक सामान्यतया नाट्य का पर्यायवाची माना जाता है। किन्तु यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो हमे नाट्य और रूपक में भी उसी प्रकार सूक्ष्म अन्तर दिखाई पड़ेगा जैसा कि नाट्य और नृत्य में मिलता है। दशरूपककार ने रूपक को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रूप का आरोप करने के कारण नाट्य को रूपक कहते हैं।[2] साहित्यदर्पणकार[3] ने दशरूपक के ही शब्द यत्किंचित परिवर्तन के साथ दोहराए हैं। नाट्य में अवस्थाओ की अनुकृति को महत्व दिया जाता है। किन्तु रूपक में अवस्थाओ की अनुकृति के साथ साथ रूप का आरोप भी होता है। वास्तव में अभिनय-कला का पूर्ण और सफल रूप हमें रूपक में ही मिलता है। यदि नाट्य को रूप के आरोप से विशिष्ट न किया जाय तो पूर्ण साधारणीकरण नही हो सकेगा। क्योंकि साधारणीकरण के लिए केवल अवस्थानुकृति ही आवश्यक नहीं होती, रूपानुकृति भी अपेक्षित होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नृत्त, नृत्य और नाट्य ये तीनो रूपक की प्रारम्भिक भूमिकाएँ हैं। अभिनय-कला का पूर्ण और चरम रूप हमें रूपक मे ही मिलता है।

सस्कृत साहित्य में हमें दो प्रकार की नाट्य-विधाएँ मिलती हैं—रूपक और उपरूपक। रूपक नाट्य के भेद कहे गए हैं[4] और उपरूपक नृत्य के।[5] रूपको की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। नाट्य-शास्त्र में दस रूपक गिनाए गए हैं।[6] नाम क्रमशः प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग हैं। उसमें अंक के लिए उत्सृष्टाक का अभिधान भी प्रयुक्त किया गया है।[7]

---

१. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ७।

२. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ५।

३. देखिए 'साहित्य दर्पण' में 'दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्' ३।६।

४. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' डा० गोविन्द त्रिगुणायत पृष्ठ ५ पर 'दशधैव रसाश्रयम' की व्याख्या।

५. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ६ पर धनिक कृत-नृत्य के स्वरूप की व्याख्या।

६. देखिए 'नाट्यशास्त्र' १८।२,३।

७. देखिए 'नाट्यशास्त्र' १८।८।

इनके अतिरिक्त भरत मुनि ने नाटक और प्रकरण के योग से नाटी की उत्पत्ति बतलाई है।[१] अग्निपुराण में हमें रूपक और उपरूपक सम्बन्धी भेद नहीं दिखाई पड़ता है। उसमें सत्ताईस नाटकों का उल्लेख किया गया है। उनमें दस रूपक और सत्रह उपरूपक सन्निविष्ट हैं।[२] दशरूपककार ने भरत के अनुकरण पर रूपक के दस भेद माने हैं।[३] 'काव्यानुशासन' और 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थों में रूपकों की संख्या दस से बढ़ाकर बारह कर दी गई है।[४] 'काव्यानुशासनकार' ने नाट्य के दस भेदों में नाटिका और सट्टक दो प्रकार और जोड़ दिए हैं। 'नाट्यदर्पण' में हमें सट्टक के स्थान पर प्रकरण का उल्लेख मिलता है। 'भावप्रकाशम्' में दशरूपक और नाट्य-शास्त्र मे परिगणित रूपक के दस भेदों को ही मान्यता दी गई है।[५] इस ग्रन्थ में नाटिका का उद्भव नाटक और प्रकरण के योग से माना गया है। साहित्यदर्पण में रूपक के नाट्य-शास्त्र वाले दस भेद ही स्वीकार किए गए हैं। विश्वनाथ ने नाटिका की गणना उपरूपकों में की है।[६] इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत नाट्य-शास्त्र में रूपकों की संख्या के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। किन्तु एक बात बहुत स्पष्ट है, वह यह कि नाट्य-शास्त्र और दशरूपक में वर्णित रूपकों के दस भेद प्राय सभी को मान्य हैं। अतएव यहाँ पर हम उन्हीं दशरूपकों का वर्णन करेंगे। उनके नाम नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, वीथी, समवकार, व्यायोग, अंक और ईहामृग हैं।[७]

नाटक का नाम रूपकों में सर्वप्रथम लिया जाता है क्योंकि प्रकरणादि अन्य रूपकों के लक्षण नाटक के आधार पर ही निर्धारित किए गए हैं[८]। इसके अतिरिक्त रूपक के प्राणभूत तत्त्व रस की पूर्ण प्रतिष्ठा भी इसी में पाई जाती है[९]। सभवत. इन्हीं कारणों से किसी ने 'काव्येषु नाटक श्रेष्ठम्' लिख डाला है। दशरूपककार धनंजय ने नाटक की विशेषताओं का विश्लेषण छह दृष्टियों से किया है—प्रारम्भिक

---

१. देखिए 'नाट्य-शास्त्र' १८।१०६।

२ देखिए 'अग्निपुराण' अध्याय ३३८ श्लोक १ से लेकर ४ तक।

३. देखिए 'दशरूपक' १।८।

४. देखिए हेमचन्द्र—लिखित 'काव्यानुशासन' पृष्ठ ३१७।

५ देखिए नाट्य-दर्पण' रामचन्द्र और गुणचन्द्र लिखित पृष्ठ २६ (जी० ओ० एस०)।

६ देखिए 'साहित्यदर्पण' ६।५५७

७ देखिए 'दशरूपक' १।८ 'नाट्यशास्त्र' १८।२

८ देखिए 'हिन्दी दशरूपक' में ३।१ की व्याख्या।

९ वही।

विधान और वृत्ति, कथावस्तु, नायक, रस, वर्ज्य दृश्य और अंक। दशरूपककार ने नाटक के प्रारम्भिक विधानो का वर्णन इस प्रकार किया है—"नाटक में सबसे पहले सूत्रधार के द्वारा पूर्व-रग का विधान होना चाहिए। सूत्रधार के चले जाने पर उसीके सदृश दूसरे नट के द्वारा स्थापना, ग्रामुख या प्रस्तावना की जानी चाहिए। स्थापक को चाहिए कि दिव्य वस्तु की दिव्य होकर, मर्त्य की मर्त्य होकर तथा मिश्र वस्तु की दोनो में से किसी एक का रूप धारण कर स्थापना का विधान करे। स्थापना वस्तु, बीज, मुख अथवा पात्र इनमें से किसी एक की सूचना देने वाली होनी चाहिए। पुनश्च किसी ऋतु का आश्रय लेकर भारती वृत्ति से सन्निबद्ध रगस्थल को आमोदित करने वाले श्लोको का पाठ करे। इस प्रारम्भिक दृश्य में वीथ्यगो अथवा आमुखागो की योजना भी की जानी चाहिए। आमुख का विधान करते समय सूत्रधार नटी, मारिष या विदूषक से अपने सलाप के मध्य कथा का संकेत कर देता है।" आमुख-स्थापना या प्रस्थापना के भी तीन प्रकार होते हैं, उनके नाम क्रमशः कथोद्घात, प्रवृत्तक, प्रयोगातिशय हैं। जहाँ सूत्रधार के इतिवृत्त से सबधित उसी के वाक्य या अर्थो को लेकर किसी पात्र का प्रवेश कराया जाता है, वहाँ कथोद्घात नामक आमुखाग माना जाता है। प्रवृत्तक वहाँ पर होता है, जहाँ काल की समानता को लेकर श्लेष से किसी पात्र के आगमन की सूचना दी जाती है। प्रयोगातिशय में सूत्रधार इन शब्दो को कहते हुए कि 'यह वह है' किसी पात्र का प्रवेश कराता है। आमुख के यह अंग वीथी के भी अंग माने जाते हैं।[1]

नाटक की कथा-वस्तु का चुनाव इतिहास से ही किया जाना चाहिए[2]। चुनाव करते समय कवि का कर्त्तव्य होता है कि वह मूल कथा के उन अशो का जो रस अथवा नायक के विरोध में पडते हैं या तो परिहार कर दे या फिर उनमें आवश्यक परिष्कार कर दे[3]। वस्तु का विन्यास कार्यावस्थाओ, अर्थ-प्रकृतियो और सधियो के अनुरूप किया जाना चाहिए[4]। कथा के बीच में विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपको का भी नियोजन होना चाहिए[5]।

नाटक के नायक का धीरोदात्त आदि गुणो से विशिष्ट होना नितान्त आवश्यक होता है। धनजय के अनुसार वह प्रतापशाली, कीर्ति की इच्छा करने वाला,

१. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ १४०-१४१
२. देखिए 'दशरूपकम्' ३।२३
३. देखिए 'दशरूपकम् ३।२४, २५
४. देखिए 'हिन्दी 'दशरूपक' पृष्ठ १५१ व १५२
५. वही पृष्ठ

वेदत्रयी का ज्ञाता और रक्षक, उच्चवंश वाला कोई राजर्षि अथवा दैवी पुरुष होना चाहिए।[1]

नाटक का प्राण रस होता है। उसमें वीर या शृंगार को अंगी-रूप में तथा अन्य रसों की अंग के रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए[2]। इसमें निर्वहण संधि में अद्भुत रस का होना आवश्यक समझा जाता है[3]।

नाटक में रंगमंच पर कुछ बातों का प्रदर्शन वर्जित माना गया है। प्रमुख वर्जित दृश्य दूर का मार्ग, वध, युद्ध, राज्य और देश-विप्लव, घेरा डालना, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन और वस्त्र-ग्रहण आदि माने गए हैं[4]। अधिकारी नायक का वध तो रंगमंच पर किसी भी प्रकार नहीं दिखाना चाहिए[5]। आवश्यक का परित्याग भी नहीं करना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़ जाय तो दैवकार्य या पितृकार्य आदि वर्जित दृश्य दिखाए भी जा सकते हैं[6]।

नाटक पाँच अंक से दस अंक तक का हो सकता है। पाँच अंकों का नाटक छोटा कहा जाता है और दस अंकों का बड़ा[7]। एक अंक में एक ही दिन एक ही प्रयोजन से किए गए कार्यों का प्रदर्शन होना चाहिए[8]। प्रत्येक अंक का नायक से संबंधित होना भी आवश्यक होता है[9]। नायक के अतिरिक्त एक अंक में दो या तीन पात्र और भी हो सकते हैं। किन्तु इन पात्रों का अंक के अंत में निकल जाना आवश्यक होता है[10]। अंक में पताका-स्थानकों का भी समावेश करना चाहिए[11]। इसमें बिन्दु की अवस्थिति तथा बीज का परामर्श भी होना चाहिए[12]। संक्षेप में, दशरूपक के अनुसार नाटक के लक्षण यही हैं।

---

१ देखिए 'दशरूपकम्' ३।२४
२. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३३
३. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३४
४. देखिए 'दशरूपकम् ३।३४, ३५,
५ देखिए 'दशरूपकम्' ३।३६
६. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३६ की धनिक-कृत टीका
७ देखिए 'दशरूपकम्' ३।३८ 'साहित्य दर्पण' में दस अंक के नाटक को महानाटक कहा गया है। सा० द० ६।५२७.
८ देखिए 'दशरूपकम्' ३।३६, ३७.
९ देखिए 'दशरूपकम्' ३।३०.
१० देखिए 'दशरूपकम्' ३।३६, ३७.
११ देखिए 'दशरूपकम्' ३।३७, ३८.
१२ देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ १५४.

नाट्य-शास्त्र के अन्य ग्रंथों में भी नाटक के स्वरूप का विवेचन किया गया है। यहाँ पर हम उन ग्रंथो में दी गई नाटक सबधी उन बातो का सकेत कर देना चाहते हैं जो दशरूपक में वर्णित विशेषताओ से या तो भिन्न हैं या अधिक। नाट्य-शास्त्र में नायक के लिए 'दिव्याश्रयोपेतम्' का विशेषण प्रयुक्त किया गया है[1]। अभिनव गुप्त ने उसका अर्थ दैवी पुरुष किया है। काव्यानुशासनकार ने अभिनव गुप्त का खडन करते हुए लिखा है कि 'दिव्याश्रयोपेतम्' से आचार्य का अभिप्राय दैवी पुरुष से न था। उन्होने इसका प्रयोग दैवी सहायता के अर्थ में किया था। नाटक का नायक वास्तव मे मनुष्य ही होना चाहिए। नायिका उर्वशी आदि मनुष्येतर स्त्री भी हो सकती है[2]। नायक की दृष्टि से नाट्यदर्पणकार का मत भी विचारणीय है। उसका कहना है कि नायक का क्षत्रिय होना आवश्यक है। चाहे वह नृपेतर ही क्यो न हो[3]। भावप्रकाशकार का मत अन्य आचार्यों से भिन्न है। उसने सुबन्धु का आश्रय लेते हुए लिखा है कि नाटक के पाँच भेद होते हैं—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित और समग्र। पूर्ण नामक प्रकार का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि उसमें पाँचो सन्धियो की योजना की जाती है। सधियो के नाम भी उसने नए दिए हैं। वे क्रमश. न्यास, समुद्भेद, बीज दर्शन और अनुदिष्ट सहार हैं। इसी प्रकार अन्य नाटक प्रकारो के लक्षण भी इस ग्रंथ में अपने ढग पर ही गिनाए गए हैं[4]। विस्तार-भय से यहाँ पर उन सबका उल्लेख नही किया जा रहा है। नाटक के सबध में साहित्य-दर्पण की भी एक बात उल्लेखनीय है वह है अकों के क्रम-विन्यास की। उसके अनुसार नाटक के अंको का क्रम-विन्यास गोपुच्छ शैली पर होना चाहिए। क्रमश: अको का छोटा होते जाना ही गोपुच्छ शैली है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक के सबध में हमे दो परम्पराएँ मिलती हैं। एक परम्परा भरतमुनि की है और दूसरी सुबन्धु की। भरत-मुनि की परम्परा का पोषण अधिकाश आचार्यों ने किया है। सुबन्धु की परम्परा उसके नाट्य-शास्त्र संबधी ग्रंथ के साथ ही लुप्त हो गई है। 'काव्यानुशासन' नामक ग्रंथ में उसका थोडा-बहुत आभास मिलता है। भरतमुनि की परम्परा के अनुरूप सस्कृत मे बहुत से सफल नाटक मिलते हैं। उदाहरण रूप मे अभिज्ञान शाकुन्तलम्, उत्तररामचरित आदिका उल्लेख किया जा सकता है।

प्रकरण की रूपरेखा नाटक से भिन्न होती है। धनजय के अनुसार प्रकरण की कथा-वस्तु कवि-कल्पित होनी चाहिए। उसका नायक मत्री, ब्राह्मण या वैश्य भी हो

१. देखिए 'नाट्य-शास्त्र' १८।१०
२. देखिए 'काव्यानुशासन' हेमचन्द्र-लिखित पृष्ठ ३१७.
३. देखिए 'नाट्य-दर्पण' रामचन्द्र-लिखित
४. देखिए 'भावप्रकाशम्' शारदातनय-विरचित पृष्ठ २२३.

सकता है। उसका धीर प्रशान्त होना भी आवश्यक होता है। उसकी प्रयोजन-सिद्धि आपत्तियो से बाधित चित्रित की जानी चाहिए। उसकी प्रकृति धर्म-प्रिय होनी चाहिए। प्रकरण की नायिकाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं—कुल-वधू और वेश्या। दोनो की योजना एक साथ भी की जा सकती है। इसी आधार पर धनजय ने प्रकरण के तीन भेद माने हैं कुलवधू-प्रधान, वेश्या-प्रधान, और उभय-प्रधान। शेष बातो में प्रकरण नाटक के सदृश ही होता है[1]। नाट्य-शास्त्र की प्रकरण सबधी उपर्युक्त सभी बातें मान्य हैं। उसमें अको का विधान और कर दिया गया है। उसके अनुसार प्रकरण में पाँच से दस अक तक हो सकते हैं[2]। नाट्यदर्पणकार ने नायक के सबध में दशरूपक और नाट्य-शास्त्र दोनो से भिन्न मत प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार प्रकरण का नायक धीर प्रशान्त ही नहीं धीरोदात्त भी हो सकता है[3]। नाट्यदर्पण में नायिका के सबध में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार नायिका नीच जाति की भी हो सकती है[4]। प्रकरण के भेदो के सबन्ध में भी मतभेद है। काव्यानुशासन[5] और 'नाट्यदर्पण'[6] नामक ग्रथो में प्रकरण के तीन भेदों के स्थान पर सात भेद गिनाए गए हैं। विस्तार-भय से यहाँ पर उनका उल्लेख नही किया जा रहा है। मृच्छकटिक[7] प्रकरण का सुन्दर उदाहरण माना जाता है।

अब भाण नामक रूपक पर विचार कर लेना चाहते हैं। इसमें विट् (एक कला-पारगत व्यक्ति) द्वारा किसी एक ऐसे धूर्त चरित्र का जिससे या तो उसका स्वय साक्षात्कार हुआ हो या उसके सम्बन्ध में उसने किसी दूसरे से सुना हो वर्णन किया जाता है। यहाँ सम्बोधन, उक्ति, प्रत्युक्ति आदि में वीर रस-द्योतक शौर्य आदि और शृगार रस सूचक सौभाग्य आदि का सन्निवेश आकाश-भाषित से किया जाता है। इसका कारण विट् के अतिरिक्त दूसरे पात्र का न होना है। इसमें अधिकतर भारती वृत्ति का ही आश्रय लिया जाता है। सध्यङ्गो से युक्त सधियो की योजना भी इसकी प्रधान विशेषता है। इसकी वस्तु भी कल्पित होती है। उसमें लास्य के दसो अगों

१. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३९, ४०, ४१, ४२, तथा धनिक-कृत इनकी टीका का हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी दशरूपक' में।
२ देखिए नाट्य-शास्त्र' १८-९३ से १०५ तक।
३. देखिए 'नाट्य-दर्पण' रामचन्द्र-विरचित, पृष्ठ १७७
४. वही।
५. देखिए 'टाइप्स आफ सस्कृत ड्रामा' पृष्ठ ५३
६. वही।
७ 'रसार्णव सुधाकर' नामक ग्रन्थ में मृच्छकटिक को मिश्र प्रकरण का सुन्दर उदाहरण बताया गया है।

की प्रतिष्ठा भी रहती है।[१] नाट्य-शास्त्र में धूर्त्त चरित्र के आधार पर भाण के दो भेद किए हैं[२]— आत्माभूतशसी · वह जिसमे नायक अपने अनुभवो का वर्णन करता है, और परसश्रय-वर्णन विशेष · वह जिसमें दूसरे के अनुभवो का वर्णन किया जाता है। नाट्य-शास्त्र से यह भी ध्वनि निकलती है कि भाण एकाकी रूपक है।[३] 'काव्यानुशासन' में भाण के सम्बन्ध में एक बात और कही गई है। उसके अनुसार इसकी रचना साधारण लोगो के लिए हुआ करती है।[४] 'नाट्यदर्पण' में भाण के रस-पक्ष पर विशेष विचार किया गया है। उसके अनुसार भाण शृगार-रस-प्रधान होता है और वीर तथा हास्य गौण होते हैं।[५] भाव-प्रकाशनकार ने उसमे केवल शृगार का होना ही आवश्यक माना है।[६] उसके अनुसार उसमें अन्य रस नही होने चाहिए। साहित्यदर्पण के अनुसार भाण के उदाहरण-रूप में लीला-मधुर नामक रचना ली जा सकती है।[७]

प्रहसन भाण से मिलता-जुलता होता है। मिलता-जुलता कहने का आशय यह है कि प्रहसन और भाण दोनो में वस्तु, सन्धि, सध्यग और लास्य आदि एक जैसे होते हैं। नाट्य-शास्त्र में इसके दो भेद माने गए हैं—शुद्ध और सकीर्ण।[८] साहित्यदर्पणकार[९] ने सकीर्ण प्रहसन में दो अकों का होना बतलाया है। रसार्णव सुधाकर[१०] का मत सब से अलग है। उसके अनुसार भाण में दस तत्त्व प्रधान होते हैं। उनके नाम क्रमशः अवगलित, अवस्कन्द, व्यवहार, विप्रलम, उपपत्ति, अनृत, विभ्राति, भय, गद्गद्वाक् और प्रलाप हैं। यहाँ पर स्थानाभाव के कारण इन सवकी व्याख्या नही हो सकती। इनके लिए मूल ग्रन्थ देखना चाहिए।

---

१. 'दशरूपकम्' ३।४६, ५०, ५१ लास्य के दस अंगों का वर्णन 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ १५८ पर देखिए
२. 'नाट्य-शास्त्र' ३।१५६,६०
३. 'नाट्य-शास्त्र' ३।१६१ में 'एकांगो बहुचेष्ट सततं कार्योबुधैर्भाणः' में एकाग के स्थान पर एकांक होना चाहिए।
४. 'नाट्य-दर्पण'—रामचन्द्र, पृष्ठ १२७
५. उसी ग्रंथ में पृष्ठ १३२ पर यह भी लिखा है कि उसमें सभी रस समान भाव से रहते हैं।
६. 'भावप्रकाशम्' पृष्ठ २४४
७. 'साहित्य दर्पण' ६।५३० के नीचे गद्य भाग देखिए।
८. 'नाट्य-शास्त्र' १८।१४६, १५०
९. 'साहित्य-दर्पण' ६।५५५
१० 'रसार्णव सुधाकर' शिगभूपाल-लिखित (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज)

दशरूपको में से एक रूपक डिम भी है। काव्यानुशासन के अनुसार डिम के लिए डिम्व और विद्रोह नामक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं[1]—डिम का अर्थ होता है सघात, सघात के अर्थ होते एक तो घात व प्रतिघात और दूसरा समूह। मैं समूह-परक अर्थ लेने के पक्ष में हूँ। इसमे नायको के क्रिया-सघात का प्रदर्शन किया जाता है, इसीलिए इसे डिम कहते हैं। डिम में प्रस्तावना आदि बातें नाटक के सदृश ही होती हैं। इसका इतिवृत्त प्रसिद्ध होता हैं। कैशिकी को छोडकर उसमें शेष सभी वृत्तियाँ उपनिवद्ध रहती हैं। देव, गधर्व, यक्ष, राक्षस और महासर्प आदि इसके नेता होते हैं। इसमें भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह अत्यन्त उद्धत पात्र नियोजित किये जाते हैं। शृगार और हास्य को छोडकर शेष ६ रसो की प्रतिष्ठा होती है। इसमें माया, इन्द्रजाल, सगम, क्रोध, उद्भ्राति इत्यादि चेष्टाएँ, सूर्य, चन्द्र, उपराग आदि घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। इसमें चार अक होते हैं। विमर्श को छोडकर शेप सभी सन्धियाँ भी रहती हैं। नाट्य-शास्त्र[2] में भी डिम के लगभग यही लक्षण वतलाए गए हैं। अन्य नाट्याचार्यों ने भी उनका समर्थन किया है। भरत मुनि के अनुसार त्रिपुरदाह नामक नाटक आदर्श डिम का उदाहरण है।

वीथी नामक नाट्य-रूप भी कम प्रसिद्ध नही है। वीथी का अर्थ है मार्ग या पक्ति। इसमें सध्यगो की पक्ति रहती है इसीलिए इसे वीथी कहा जाता है। इसमें अकों की सख्या भाण के समान ही मानी गई है। इसमें शृगार रस का पूर्ण परिपाक न हो सकने के कारण उसकी सूचना दी जाती है। अन्य रसो का स्पर्श भी रहता है। शृगार रस के औचित्य विधान के लिए कैशिकी वृत्ति की योजना की जाती है। इसमें सधियो के अग भाण के सदृश ही नियोजित किये जाते हैं। प्रस्तावना के वतालाए हुए उद्घापक इत्यादि अगों की निवन्धना भी होती है। इसमें पात्र दो से अधिक नहीं होते।[3] नाट्य-शास्त्र में भी वीथी के प्राय ये ही सव लक्षण वतलाए गए हैं। उसमें इतना और स्पष्ट कर दिया गया है कि वीथी में तेरह वीथ्यगो की योजना अवश्य की जानी चाहिए।[4] मालविका नामक रचना वीथी का उदाहरण मानी जाती है।

समवकार भी एक रूपक है। इसमें कई नायको के प्रयोजन एक साथ समवकीर्ण रहते हैं, इसीलिए इसे समवकार कहते हैं। नाटक के सदृश इसमें भी आमुख

---

१ 'काव्यानुशासन'—हेमचन्द्र, पृष्ठ ३२२

२. 'नाट्य शास्त्र' में डिम के लक्षण देखिए १८।१३५ से लेकर १४०

३. 'दशरूपकम्' ३।६८, ६९

४ 'नाट्य-शास्त्र' १८। १५५, १५६

आदि का विधान रहता है। उसका इतिवृत्त पौराणिक देवताओ तथा राक्षसो से सम्बन्धित होता है। विमर्श संधि को छोडकर शेष सभी सन्धियो की योजना की जाती है। वृत्तियों मे कैशिकी का प्रयोग प्रधान रहता है। इसमें धीरोदात्तादि गुण-सम्पन्न बारह नायक होते हैं। उनके फल भी पृथक्-पृथक् होते हैं। उनमें वीर रस की प्रधानता होती है। इसमें अक केवल तीन ही रहते हैं। तीन कपट,[1] तीन शृगार,[2] और तीन विद्रवो[3] की योजना के कारण समवकार अन्य रूपकों से बिल्कुल भिन्न होता है। इसमें सन्धियो का नियोजन भी एक विशेष क्रम से किया जाता है। पहले अंक में मुख और प्रतिमुख इन दो सधियो से युक्त बारह नाडियो का होना आवश्यक समझा जाता है। दूसरे अक में चार और तीसरे अंक में दो नाडियो की योजना की जाती है। इसमें वीथ्यगो का सन्निवेश भी रहता है। दशरूपक के अनुसार समवकार के लक्षण यही हैं।[4] दशरूपककार ने नाट्य-शास्त्र का ही अनुगमन किया है। अतएव दोनों के लक्षणो में कोई परस्पर मतभेद नही है। भावप्रकाशम् और साहित्यदर्पण[5] में सधियों के नियोजन का क्रम कुछ और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। उनके अनुसार पहले में दो, दूसरे में तीन और तीसरे में विमर्श को छोडकर शेष सभी सधियो की योजना की जाती है।

व्यायोग उस रूपक को कहते हैं जिसका इतिवृत्त प्रख्यात हो और नायक धीरोदात्त हो। इसमें गर्भ और विमर्श इन दो सन्धियो को छोडकर शेष तीन सन्धियो की योजना की जाती है। डिमके सदृश इसमें रस भी प्रदीप्त रहते हैं। इसमें स्त्री-निमित्तक संग्राम दिखाने की प्रथा नहीं है। यह एकांकी रूपक है। इसमे केवल एक दिन की घटनाए ही चित्रित की जाती हैं।[6] नाट्य-शास्त्र के अनुसार इसका नायक कोई दैवी पुरुष या राजा होना चाहिए।[7] काव्यानुशासन से यह भी पता चलता है कि इसमें नायिकाएँ नहीं होतीं।[8] यदि स्त्री पात्रो को लाना ही चाहें तो दो-एक दासियो की अवतारणा की जा सकती है।[9]

---

१. तीन कपटों के नाम इस प्रकार हैं—वस्तुस्वभाव-कृत, देव-कृत और अरि-कृत—देखिए हिन्दी दशरूपक, पृष्ठ १६३

२. तीन धर्मो के नाम क्रमशः धर्म-शृंगार, अर्थ-शृंगार और काम-शृंगार हैं। देखिए वही ग्रन्थ।

३. तीन विद्रव इस प्रकार हैं—नगरोपरोध-कृत, युद्ध-कृत, वाताग्नि-कृत। देखिए वही।

४. 'दशरूपकम्' ३।६८, ६९

५. 'साहित्य-दर्पण' ६।५३२, ५३३

६. 'दशरूपकम' ३।६०,६१ ७. 'नाट्य-शास्त्र' १८।१३५, १३६, १३७

८. 'काव्यानुशासन' हेमचन्द्र, पृष्ठ ३२३ ९. वही।

अक नामक रूपक में कथावस्तु तो प्रख्यात ही होती है किंतु कवि अपनी कल्पना से उसको विस्तृत कर देता है। करुण रस की प्रधानता होती है। साधारण वर्ग के पात्र होते हैं, नायक भी कोई साधारण व्यक्ति ही बनाया जाता है। इसमें स्त्री पात्र भी कई होते हैं और उन स्त्री पात्रो का उसमें विलाप दिखलाया जाता है।[1]

ईहामृग नामक रूपक की कथा-वस्तु मिश्र अर्थात् प्रख्यात और कवि-कल्पित दोनो ही होती है। इसमें चार अंक और तीन सन्धियाँ होती हैं। नायक और प्रति-नायक दोनो की कल्पना उसमें की जाती है। एक मनुष्य होता है और दूसरा दैवी पुरुष। दोनों ही व्यक्ति इतिहास-प्रसिद्ध होते हैं। प्रतिनायक का धीरोदात्त होना आवश्यक होता है। कार्य-ज्ञान के उलट फेर से अनुचित कार्य किया करता है। कभी-कभी न चाहने वाली दिव्य स्त्री के अपहरण इत्यादि के द्वारा चाहने वाले नायक का शृंगाराभास भी कुछ-कुछ प्रदर्शित करना चाहिए। किसी बहुत बड़ी उत्तेजना की स्थिति को लाकर किसी बहाने से युद्ध का टल जाना भी दिखाना चाहिए। महात्मा के वध की स्थिति उत्पन्न करके भी उसका वध न करवाना सफल कलाकार का लक्षण होता है।[2] सक्षेप में दशरूपको के लक्षण वर्णित किए गए अब उपरूपको पर विचार करेगे।

उपरूपक नृत्य के भेद माने जाते हैं। इन उपरूपको का वर्णन न तो नाट्य-शास्त्र मे मिलता है और न दशरूपक में ही। दशरूपक के टीकाकार धनिक ने प्रसग-वश केवल सात उपरूपकों का निर्देश किया है[3]। उनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं— डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य। कीथ के अनुसार नाट्य-शास्त्र में भी लगभग पन्द्रह उपरूपको का यत्किंचित परिवर्त्तन के साथ वर्णन मिलता है।[4] हाल का मत भी कीथ से मिलता जुलता है। उसने लिखा है कि नाट्य-शास्त्र में हमें बहुत से ऐसे पारिभाषिक शब्द मिलते हैं जिनका विकास बाद में रूपको के अभिधान से हो गया है।[5] उपरूपको के नामों का सर्वप्रथम उल्लेख हमें अग्नि-पुराण में मिलता है।[6] किन्तु इसमें केवल सत्रह भेदों के नाम ही दिए गए हैं।[7]

---

१. 'दशरूपकम्' १८।७०, ७१
२. 'दशरूपकम' ३।७२, ७३, ७४, ७५
१. देखिए 'दशरूपकम्' १।६ की धनिक-कृत टीका
४. देखिए कीथ-कृत संस्कृत ड्रामा ३४६
५ 'दशरूपकम्' हाल—पृष्ठ ६
६ 'अग्निपुराण' ३२८ अध्याय
७ वही

इनके स्वरूप की व्याख्या भी नही की गई है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—तोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लोप्यक और प्रेक्षण। भावप्रकाशम् में वीस उपरूपको का उल्लेख किया गया है। उनके नाम हैं क्रमश तोटक, नाटिका, गोष्ठी, सलाप, शिल्पक, डोम्वी, श्रीगदित, भाणी, काव्य, प्रेक्षणक, सट्टकम, नाट्यरासकम, रासक, उल्लोप्यक, हल्लीश, दुर्म्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली और पारिजातक। इनमें से उन्नीस के स्वरूप की व्याख्या तो इस ग्रन्थ में की गई है किन्तु सट्टक की व्याख्या करना किसी कारण से ग्रन्थकार भूल गया है। नाट्यदर्पण[1] में केवल चौदह उपरूपक ही मिलते हैं उनके नाम क्रमश सट्टक, श्रीगदितम्, दुर्मीलिता, गोष्ठी, हल्लीशक, नर्त्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाणक, और भाणिका हैं। साहित्य-दर्पणकार[2] ने केवल अठारह उपरूपक ही माने हैं। आजकल उसी का मत प्रचलित है। उसके द्वारा गिनाए गए उपरूपको के नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, तोटक (त्रोतक), गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षणकम्, रासकम्, संलापकम्, श्रीगदितम्, शिल्पकम्, विलासिका या विनायिका, दुर्मल्लिका, प्रकणिका, हल्लीश और भाणिका। उपरूपक सम्बन्धी उपर्युक्त उल्लेखो को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रकट होगा कि उपरूपको की सख्या बीस से भी अधिक थी। 'भावप्रकाशम्' में जो वीस उपरूपक गिनाए गए हैं उनमें अग्निपुराण का कर्ण नाट्यदर्पण का नर्त्तनक, साहित्यदर्पण का विलासिका, और अभिनवगुप्त द्वारा संकेतित तीन प्रकार सम्मिलित नही हैं। 'भावप्रकाशम्' की सूची में यदि ये छह और जोड़ दिए जाएँ तो उपरूपको की संख्या छब्बीस हो जायेगी। विस्तार- भय से यहाँ प्रसिद्ध उपरूपको की स्वरूप-व्याख्या ही की जा रही है।

भरतमुनि ने नाटिका का उल्लेख 'नाटी' नाम से किया है। उनके मतानुसार नाटी की उत्पत्ति नाटक और प्रकरण के योग से हुई है। साहित्यदर्पण में इसे स्वतन्त्र उपरूपक माना गया है। इसमें स्त्री पात्रो की वहुलता होती है, चार अक होते हैं, और साग-मधुर लास्यो का विधान रहता है। यह शृगार–प्रधान रचना होती है, इसमें राजा ही नायक हो सकता है, क्रोध, सन्धि और दभ आदि भावो का चित्रण किया जाता है। कोई सुलक्षणा स्त्री इसकी नायिका होती है।[3] अभिनवगुप्त ने भरतमुनि

---

१. 'नाटय-दर्पण' पृष्ठ २१३

२. 'साहित्यदर्पण' में ६।५५२ से लेकर ६।५७६ तक (ईसवी १९३४ कलकत्ता जीवानंद विद्यासागर)

३. 'नाटय-शास्त्र' (जी० ओ० एस०) भाग २ पृष्ठ ४३५, ४३६।

के नाटिका सम्बन्धी लक्षणो की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आचार्य के मतानुसार नाटिका में दो नायिकाएँ होती हैं। एक स्वकीया 'देवी' होती है और दूसरी कोई उच्च कुल की सुन्दरी होनी है। क्रोध, प्रसादन और दम्भादि से देवी (पटरानी) का सकेत किया गया है, और रति-सभोगादि से दूसरी नायिका का। दशरूपककार ने भरतकृत लक्षणों का ही विस्तार किया है। उसमें लिखा है कि नाटिका में कथा-वस्तु तो नाटक से लेनी चाहिए और नायक प्रकरण से। अपने लक्षणों से वह शृगार-रस परिपूरित होनी चाहिए। नाटिका एक अक से लेकर चार अक तक की हो सकती है। उसमें-स्त्री पात्रो की अधिकता रहती है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग आवश्यक समझा जाता है। इसमें दो नायिकाएं दिखाई जाती हैं—एक ज्येष्ठा और दूसरी मुग्धा। ज्येष्ठा नायक की विवाहिता रानी होती है। वह स्वभाव से प्रगल्भ, गम्भीर और मानिनी होती है। नायक उसके आधीन होता है। वह अपनी दूसरी प्रेमिका से (जो कि मुग्धा नायिका होती है) उसकी इच्छा के बिना समागम भी नही कर सकता। इसीलिए नायक को मुग्धा नायिका से मिलने में थोडी कठिनता रहती है। यह मुग्धा नायिका दिव्य और परमसुन्दरी होती है। अन्त पुर में सगीत आदि कलाओं का अभ्यास करते हुए वह नायक को हर समय श्रुतिगोचर और दृष्टिगोचर होती रहती है जिससे नायक का अनुराग उसके प्रति दिन-प्रतिदिन बढता जाता है।[1] भावप्रकाश-कार ने नाटिका में विदूषक का होना भी वतलाया है। सस्कृत साहित्य में प्रियदर्शिका, विद्धशालभजिका आदि नाटिकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

नाटिका के सदृश ही प्रकरणिका भी होती है। दोनो में अन्तर केवल इतना है कि नाटिका में राजकीय प्रणय का वर्णन होता है और प्रकरणिका में व्यापारियो के प्रेम का। प्रकरणिका के शेप लक्षण नाटिका के सदृश ही होते हैं।[2]

त्रोटक कुछ आचर्यों के द्वारा नाटक का ही एक भेद माना गया है। जब नाटक में लौकिक और अलौकिक तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है तथा विदूषक का अभाव रहता है तब उसे त्रोटक कहते हैं।[3] साहित्यदर्पणकार 'भावप्रकाशम्' के लेखक के इस मत से कि त्रोटक में विदूषक नही होना चाहिए, सहमत नही हैं। उनके अनुसार त्रोटक में विदूषक का होना परमावश्यक होता है।[4] भावप्रकाशकार के

१. 'दशरूपकम्' ३।४३, ४४, ४५।
२ 'नाटघदर्पण' रामचन्द्र और गुणचन्द्र लिखित पृष्ठ १२२
३ 'भावप्रकाशम्' पृष्ठ २३८।४-१४
४. 'साहित्यदर्पण' जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित (१९३४ कलकत्ता) ६।५५८

अनुसार इसमें नौ अंक तक हो सकते हैं[1]। मेनका, नहुष, विक्रमोर्वशीयम् आदि सफल त्रोटक हैं।[2]

भावप्रकाशकार ने सट्टक को भी नाटक का ही एक प्रकार माना है। नाटक का यह प्रकार नृत्य पर आधारित कहा गया है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियाँ प्रधान रहती हैं। सधियाँ इसमें नही होती हैं। मागधी, शौरसेनी प्राकृतो का प्रयोग किया जाता है। इसमें अक नही होते हैं, किन्तु फिर भी यह चार भागो में विभाजित किया जाता है।[3]

भाण और भाणिका ये दोनो उपरूपक परस्पर मिलते-जुलते हैं। दोनो में केवल इतना अन्तर होता है कि एक तो स्वरूप और स्वभाव से उद्धत और दूसरा मसृण होता है।[4] भाण की कथावस्तु हरिहर, भवानी, स्कन्द और प्रमथाधिप से सम्बन्धित होती है। क्रिया-व्यापार का वेग इसमें वडा तीव्र रहता है। इसमें राजा की प्रशस्तियाँ भी रहती हैं और सगीत का प्राधान्य भी रहता है।

'भावप्रकाशम्' में डोम्वी या डोम्विका का उल्लेख किया गया है। इसमें एक अंक होता है, कैशिकी वृत्ति होती है, वीर या शृगार का परिपाक दिखाया जाता है।[5] कुछ लोग डोम्वी को भाणिका का ही दूसरा नाम मानते हैं।[6] अधिकाश आचार्यों ने इन्हे अलग-अलग माना है।[7]

रासक की स्वरूप व्याख्या भी 'भावप्रकाशम्' मे विस्तार से की गई है। उसके अनुसार उसमें एक अंक, सुश्लिष्ट नादी, पाँच पात्र, तीन सधियाँ, कई भाषाएँ, कैशिकी और भारती वृत्तियाँ, सभी वीथ्यंग, प्रसिद्ध नायक और नायिकाएँ आदि का होना आवश्यक होता है।[8] भावप्रकाशम् के इन सभी लक्षणो को साहित्यदर्पणकार ने भी

१. 'भाव-प्रकाशम्' पृष्ठ २३४।४-१४

२. वही

३. 'भावप्रकाशम्' पृष्ठ २६६

४. अभिनवगुप्त की नाट्य-शास्त्र की टीका देखिए 'टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा' पृष्ठ १०५.

५. 'टाइप्स आफ़ संस्कृत ड्रामा', पृष्ठ १०८

६. वही पृष्ठ १०६

७. वही पष्ठ १०६

८. 'भावप्रकाशम्' पृष्ठ २६५.

मान्यता दी है।[1]

नाट्यरासक की कुछ अपनी अलग विशेषताएँ होती हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार उसमें एक अक, बहुताल-लय-स्थिति, उदात्त नायक, उपनायक, शृगार और हास्य रसों, वासकसज्जा नायिका और लास्यागो का नियोजन रहता है।

ऊपर हम सट्टक, भाण, भाणिका, डोम्बी, रासक, नाट्यरासक आदि प्रसिद्ध उपरूपको का स्पष्टीकरण कर आये हैं। सस्कृत नाट्य-शास्त्र में इनके अतिरिक्त गोष्ठी, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षण, श्रीगदितम्, विलासिका नामक कुछ अप्रसिद्ध एकाकी रूपकों का उल्लेख भी पाया जाता है। गोष्ठी[2] में नौ-दस सामान्य पुरुषो और पाँच-छह सामान्य स्त्रियों की भाव-भगिमाएँ चित्रित की जाती हैं। उल्लाप्य[3] युद्ध-प्रधान होता है। पृष्ठभूमिक सगीत इसका प्रमुख लक्षण माना जाता है। काव्य[4] हास्यरस प्रधान होता है। द्विपादिका, भग्नताल आदि विविध प्रकार की सगीत-विधाओ का इसमें विधान रहता है। प्रेक्षण[5] में सूत्रधार नहीं रहता। नान्दी और प्ररोचना नेपथ्य के पीछे से विहित की जाती है। श्रीगदित[6] की कथा में सर्वत्र श्री शब्द का प्रयोग रहता है। कुछ लोगो के अनुसार उसमें श्री को गाते हुए भी प्रदर्शित किया जाता है। हल्लीश[7] कैशिकी वृत्ति तथा नृत्य और सगीत से सम्पन्न होता है।

प्रस्थानक[8] दो अको का उपरूपक होता है। घनिक के अनुसार यह नृत्य का एक प्रकार मात्र है। इसका नायक कोई दास या हीन व्यक्ति होता है। सलापक में एक से लेकर चार अक तक होते हैं। शिल्पक[9] रस-प्रधान चार अको का उपरूपक होता है। दुर्मल्लिका[10] में भी चार ही अक होते हैं। इन अको का विधान एक विशेप क्रम से किया जाता है। पहला अक तीन नाडियो का, दूसरा पाँच नाडियों का, तीसरा छह नाडियों का और चौथा दस नाडियो का होता है। प्रसिद्ध उपरूपक इतने ही हैं। शेष उपरूपक न तो बहुत प्रसिद्ध ही हैं और न सस्कृत साहित्य में उनके उदाहरण

---

१. 'साहित्यदर्पण' जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, ६।५५६
२. 'साहित्यदर्पण' ६।५५९.
३. 'साहित्यदर्पण' ६।५६३.
४. 'साहित्यदर्पण' ६।५६४.
५. 'साहित्यदर्पण' ६।५६५.
६. 'साहित्यदर्पण' ६।५६८, ५६९.
७ 'साहित्यदर्पण' ६।५७४.
८ 'साहित्यदर्पण' ६।५६२.
९. 'साहित्यदर्पण' ६।५७
१०. 'साहित्यदर्पण' ६।५७२.

ही मिलते हैं। इस कारण से हम यहाँ पर उन सब के स्वरूप की व्याख्या नही कर रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत नाट्य-शास्त्र में रूपक तथा उनके भेद-प्रभेदों का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है। उपर्युक्त भेद-प्रभेदो को देखने के पश्चात् स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय नाट्य-कला एकागी नही है। वह न तो केवल आदर्श-प्रधान ही है और न केवल यथार्थ-मूलक ही। आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय जितने रमणीय रूप में हमें यहाँ दिखाई पडता है उतना शायद ही किसी अन्य कला में दिखाई पड़े। उसमें हमें सम्पूर्ण जीवन की, सम्पूर्ण मानवों की हृदय-गाथा प्रतिबिम्बित मिलती है। सच तो यह है कि समृद्धता, स्वाभाविकता, सजीवता आदि सभी दृष्टियो से विश्व में वह बेजोड है।



संस्कृत नाट्य-शास्त्र में कथा-वस्तु का विवेचन

—प्रो० बलदेव उपाध्याय

(१)

संस्कृत नाट्य-शास्त्र में कथा-वस्तु के स्वरूप तथा महत्त्व का विवेचन बडी सूक्ष्मता के साथ किया गया है। नाटक की रचना केवल किसी क्षणिक भावना की तृप्ति के उद्देश्य से नही की जाती, प्रत्युत उसका प्रयोजन नितान्त गम्भीर, व्यापक तथा सार्वभौम होता है। 'नाट्य' का स्वरूप ही है—लोकवृत्तानुकरण अर्थात् ससार में विद्यमान चरित्र तथा वृत्तान्त का अनुकरण। फलत उसका नाना भावो से सम्पन्न तथा नाना अवस्थान्तरात्मक होना स्वाभाविक है। भारतीय आचार्य नाटक के इतिवृत्त को किसी सीमित चहारदीवारी के भीतर बन्द करने के पक्षपाती नही हैं। नाटक का दरवाजा प्रत्येक कथा-वस्तु के प्रवेश करने के लिए सदा खुला रहता है। आधुनिक पाश्चात्य नाटको की कथा-वस्तु से इसकी तुलना करने पर इस विलय का महत्त्व स्वत हृदयगम हो सकता है। प्रगतिशील नाटको की कथा-वस्तु एकाकार होती है। वह किसी धनी-मानी अधिकारी के द्वारा पदाक्रान्त तथा उत्पीडित मानव की कहानी होती है। यही स्वर प्रत्यक्षत या अनुमानत प्रत्येक पाश्चात्य नाटक के कथानक में गूँजता हुआ सुनाई पडता है, परन्तु भारत में नाटक का आदर्श महान् है तथा महनीय है। वह किसी वर्ग की स्वार्थमूलक प्रवृत्तियो को अग्रसर करने का साधन नहीं है, प्रत्युत उसका प्रभाव भारतीय समाज के प्रत्येक स्तर पर समान-भावेन पडता है। वह मानव-जीवन की शाश्वत प्रवृत्तियो को स्पर्श करने वाला एक सार्वभौम साधन है। भरत के नाट्य-शास्त्र का गम्भीर अनुशीलन हमें इसी तथ्य पर हठात् पहुँचाता है—

एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

नाट्य-शास्त्र १।११०

नाटक लोक के स्वभाव का अनुकरण है और लोक का स्वभाव एकरस नही होता। वह सुख तथा दुःख का अनमिल घोल है जिसमें कभी सुख अपनी नितान्त आह्लादकता के कारण चित्त को आकृष्ट करता है, तो कभी दुःख अपने विषादमय बाणों के द्वारा मानव-हृदय को वेधता है। संस्कृत नाटक की कथा-वस्तु दोनो को अपना

आधारपीठ बनाती है। इसलिए संस्कृत नाटककारो पर दोषारोपण करना कि वे केवल मानव-जीवन के सुखमय चित्रो के ही आलेख्यकर्ता थे और इसीलिए वे जीवन के सच्चे व्याख्याता न थे एकदम अज्ञानमूलक है, इस भ्रान्त धारणा का निराकरण नितान्त श्रेयस्कर है।

सुखान्त होना संस्कृत नाटक की अव्यावहारिकता का चिह्न नही है। भारतीय नाटक नाट्य-शास्त्रीय विधि-विधानो का पालन करता हुआ जीवन का एकागी चित्रण प्रस्तुत नही करता, वह भारतीय जीवन का पूर्ण तथा सार्वभौम चित्रण करता है। संस्कृत के नाटको मे दु ख का, मानवीय क्लेश तथा कमजोरियो का चित्रण होता है, परन्तु कहाँ ? नाटक के आदि में अथवा मध्य में, पर्यवसान मे नही। भवभूति के उत्तररामचरित से बढकर मानव-क्लेश, वेदना तथा परिताप और पश्चात्ताप का चित्रण करने वाला दूसरा नाटक नही हो सकता। अन्त में सुखपर्यवसायी होने पर भी वह राम और सीता जैसे मान्य व्यक्तियो के दु खद जीवन की विषम परिस्थिति की वेदनामयी अभिव्यक्ति है। संस्कृत का नाटककार भरत के आदेशो का अक्षरश. पालन करता है और भरत का आदेश है कि सुखदु खात्मक लोक-दशा का चित्रण नाटक में नितान्त आवश्यक होता है—

अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा
नाना पुरुष संचारा नाटके सम्भवेदिह ॥

—भरत नाट्य-शास्त्र २१।१२१

इसीलिए कथावस्तु में सर्वभाव, सर्वरस, सर्वकर्मो की प्रवृत्तियो तथा नाना अवस्थाओ का सविधान आवश्यक माना गया है—

सर्वभावै· सर्वरसैः सर्वकर्मप्रवृत्तिभि: ।
नानावस्थानन्तरोपेतं नाटकं संविधीयते ॥

—वही, २१।१२६

(२)

दर्शको के हृदय में रस का उन्मेष, रस का उन्मीलन सिद्ध करना भारतीय नाटककार का चरम लक्ष्य होता है और इसी लिए वह पश्चिमी नाट्यकारो की भांति 'व्यापार' को नाटक का सर्वस्व नही मानता। इस तथ्य को हृदयंगम करना संस्कृत नाटको की कथा-वस्तु के विवेचन के लिए नितान्त आवश्यक है। भारतीय ललित कला का उद्देश्य यह नही रहता कि वह अपनी चिन्तित वस्तुओ के रूप तथा आकृति को यथार्थरूपेण अंकित करे, प्रत्युत वह दर्शको के हृदय पर आध्यात्मिक भावना, सौंदर्य की कमनीय छाप डालने में ही अपने को कृतार्थ समझती है। नाटक की कथा-वस्तु

चुनने तथा सजाने का यही उद्देश्य कवि के सामने रहता है। इसीलिए कथा-वस्तु को उदात्तता के ऊपर प्रतिष्ठित होना चाहिए, क्षुद्रता के लिए यहाँ कोई स्थान नही। रामायण तथा महाभारत को कथा-वस्तु के लिए उपजीव्य होने का रहस्य इसी तथ्य में अन्तर्निहित होता है। ये दोनो काव्य भारतीय दृष्टि से ही उदात्त, उन्नत तथा औदार्यपूर्ण नही हैं, प्रत्युत मानवता की दृष्टि से भी इनके कथानको का महत्त्व नितान्त उच्च है। रामायणीय नाटको की कथा-वस्तु की एकरूपता के विषय में 'प्रसन्न राघव' के कर्ता जयदेव का यह प्रतिनिधि उत्तर सचमुच मार्मिक तथा सत्य है। रामकथा का आश्रयण कवियो के प्रतिभा-दारिद्रय का सूचक नही हैं, प्रत्युत मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र के महनीय गुणों का यह अवगुण है —

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः ॥

(प्रसन्नराघव की प्रस्तावना)

'औदात्य' की कसौटी

'उदात्तता' की यह कसौटी नाटकों के ही लिए नहीं होती, प्रत्युत उन 'प्रकरणों' के लिए भी जहाँ नाटककार कथा-वस्तु के चुनाव में अपनी कमनीय कल्पना का पूर्ण साम्राज्य पाता है। इस प्रकार 'कथा-वस्तु' को रस-निर्भर बनाने में कवि के लिए दो आवश्यक साधन होते हैं . औदात्य और औचित्य।

नाटकीय कथा-वस्तु के विवेचन के अवसर पर उसका 'औदात्य' कभी नहीं भुलाया जा सकता। नाटक में शृंगार अथवा वीर रस का प्राधान्य रहता है और इसी लिए प्रेम अथवा युद्ध का वर्णन कथानकों में होता है। प्रेम की उदात्तता पर आग्रह होना स्वाभाविक है। संस्कृत का नाटककर्ता केवल मनोरंजन के लिए अपने रूपको का प्रणयन नही करता, प्रत्युत समाज से स्पर्श करने वाली घटनाओं का चित्रण कर उसके स्तर को उदात्त बनाने की भावना से भी प्रेरित होता है और यही औदात्य का महत्त्व आता है। 'प्रहसन' तथा 'भाण' में हास्य रस का पुट रहता है, परन्तु यहाँ क्षुद्रता, हीनता या छिछोरेपन के लिए महनीय प्रहसनों में स्थान नहीं होता। वस्तु की रचना में प्राचीनता की दुहाई नही दी जाती, बल्कि कवि की प्रौढ प्रतिभा के लिए पूरा मदान खाली रहता है परन्तु उसमें एक ही अंकुश होता है और वह है औदात्य तथा औचित्य का। 'धर्माविरुद्ध काम' भगवान् की एक भव्य विभूति है और इसीलिए संस्कृत की कथा-वस्तु काम के पल्लवन में धर्म से संघर्ष को सहन नही कर सकती। पुरुषार्थत्रयी में धर्म का स्थान सबसे ऊँचा माना ही जाता है और इसीलिए

अर्थ और काम दोनों के धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित कर चलने की व्यवस्था हमारे आचार्यों को अभीष्ट है। अर्थकामी चित्रण कथा-वस्तु में मिलता है, परन्तु धर्म की मर्यादा का उल्लघन करके नही, प्रत्युत धर्म के नियन्त्रण में रह कर ही। इसलिए संस्कृत में आधुनिक प्रकार के 'समस्या नाटकों' का अभाव है, परन्तु उसमें शाश्वत समस्याओं के सुलझाने का खुल कर प्रयत्न है।

(३)

कथावस्तु में औचित्य

औदात्य के अनन्तर औचित्य का महत्त्व समझना बड़ा जरूरी होता है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की युक्तिमत्ता के लिए भरत ने औचित्य को प्रधान सहायक माना है। नाटक तो कवि के हाथो 'औचित्य' निर्वाह का एक महनीय अस्त्र है जो अपनी उचितरूपता के कारण ही—कथा-वस्तु के साथ पात्र, भाव तथा भाषा के औचित्य के हेतु—दर्शकों के हृदय पर गहरी छाप डालता है। भरतमुनि का आदेश है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं हि पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥

(नाट्य-शास्त्र १४।६८)

कथा-वस्तु के लिए औचित्य का मण्डन प्रधान प्रसाधक होता है। ऐसी कोई कथा या उसका अंश जो नायक के चरित्र को गर्हणीय या निन्दनीय बनाने में हेतु बनाता है कथमपि ग्राह्य नही होता। धनंजय का आदेश है—

यत् तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्

—दशरूपक ३।२२

कथा-वस्तु मात्र में नायक या रस का विरोधी अंश या तो सर्वथा त्याज्य होता है अथवा उसकी अन्यथा प्रकल्पना होती है। ध्यान देने की बात है कि नाटककार 'इतिवृत्त', प्राचीन ऐतिहासिक कथानक, को पूर्णतया चित्रित कर (जैसा वह इतिहास में प्रसिद्ध होता है) अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करता, प्रत्युत वह उसके अनुचित अशो को काट-छांट कर उसे रसपेशल बना डालता है। इसलिए तो आनन्दवर्धन की यह गम्भीर उक्ति है:—

"काव्य प्रबन्ध की रचना करते समय कवि को सब प्रकार से रस-परतन्त्र होना चाहिये। इस विषय में यदि इतिवृत्त में रस की अनुकूल स्थिति न दीख पड़े, तो उसे तोड कर भी स्वतन्त्र रूप से रसानुकूल अन्य कथा की रचना करनी चाहिये। कवि के इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उसकी सिद्धि तो इतिहास से हो ही जाती है।"[1]

नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित् प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत् सिद्धे:॥

(जैसे मायुराज-कृत उदात्तराघव)

इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर अनेक राम-नाटकों में, कपट के द्वारा 'वालिवध' का राम के चरित्र पर लाञ्छन-रूप होने से एकदम परिहार ही कर दिया गया है। भवभूति के 'वीर-चरित' मे रावण के सहायक होने के कारण बालि मारा गया, इस प्रकार कथा में उचित परिवर्तन कर दिया गया है। निष्कर्ष यह है कि कथा-वस्तु की रसपेशलता तथा रस-निर्भरता के निमित्त उसे उदात्त तथा उचित बनाने का नाट्य-शास्त्रीय उपदेश गम्भीर तथा मौलिक है।

कथा-वस्तु की रसात्मिकता पर नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में विशेष ज़ोर दिया गया है अवश्य, परन्तु उसमें भी औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कथमपि न्याय्य नहीं होता। वस्तु तथा रस—इन दोनों में मजुल सामजस्य होना ही नाट्य-कला का उच्च आदर्श है। न तो रस का अतिरेक होना चाहिए जिससे वस्तु का दूरविच्छेद न हो जाय। रसातिरेक का फल वस्तु के एकान्त विच्छेद के ऊपर पडता है। यह एक छोर है जिसमे बचकर रहना नाटककार का मुख्य कर्तव्य होता है। और दूसरा छोर होता है वस्तु, अलकार, तथा नाट्य-लक्षणों के द्वारा रस का तिरोधान और इस छोर को भी छूना नाटक मे अभीष्ट नही होता। कवि के लिए नाटक में मध्यम मार्ग ही प्रशस्त होता है। उसे अपनी कथा वस्तु को रस, अलकार तथा नाट्य-लक्षणों से सजाकर स्निग्ध तथा सुन्दर बनाना पडता है, परन्तु कथा-वस्तु की ही मुख्यता होती है। वह तो काव्य का शरीर ही ठहरा। दीवाल के रहते चित्रकारी की साधना होती है। शरीर रहते ही अलकारो का प्रसाधन हृदयगम तथा साध्य होता है। उसी प्रकार कथा-वस्तु की सार्वभौम सत्ता का तिरस्कार या तिरोधान रस, अलकार, आदि के द्वारा कथमपि नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सस्कृत के आचार्यों ने कथा-वस्तु के सजाने तथा प्रसाधन के निमित्त मध्य-मार्ग को ही प्रशस्य माना है। धनञ्जय के इस मौलिक निरूपण का यही रहस्य है—

---

१ ध्वन्यालोक ३।१४ पर वृत्ति, पृष्ठ १४८ (निर्णयसागर)

न चाति रसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतांनयेत् ।
रसं वा न तिरोदध्याद् वस्त्वलंकारलक्षणैः ॥
—दशरूपक ।

कथा-वस्तु के प्रकार

कथा-वस्तु के दो प्रकार होते हैं—[१] **आधिकारिक** (मुख्य) तथा (२) प्रासंगिक (गौण) । 'अधिकार' का अर्थ है फल की स्वामिता (**अधिकारः फलस्वाम्यम्**) और अधिकारी से तात्पर्य है उस पात्र से जो उस फल को पाता है और उसके द्वारा सम्पन्न कथा-वस्तु 'आधिकारिक' नाम से अभिहित होती है (नाट्य-शास्त्र, अध्याय २१, श्लोक ३) । मुख्य कथा में योग देने वाली, सहायता करने वाली कथा 'प्रासगिक' कहलाती है—

कारणात् फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम्
परोपकरणार्थं तु कीर्त्यते ह्यानुषंगिकम् ॥
ना० शा० २१।५

'प्रासगिक' भी विस्तारदृष्ट्या दो प्रकार की होती है **पताका** जो कुछ विस्तृत हो तथा (२) **प्रकरी** जो बहुत ही छोटी हो । रामायणीय नाटक में सुग्रीव का वृत्तान्त मुख्य कथा का बहुत दूर तक अनुगमन करता है तथा सिद्धि में सहायता देता है और इसलिए वह '**पताका**' का उदाहरण माना जाता है । श्रमणा का लघु वृत्तान्त प्रकरी का दृष्टान्त है । कथा-वस्तु के विस्तार तथा निर्वाह के ऊपर ही नाट्यकर्ता की कला-सिद्धि मानी जाती है । एक अक के भीतर कितने काल की घटनाओंका प्रदर्शन अभीष्ट होता है ? भरतका मत' है कि पूरे दिनकी कथा एक अक में सम्पन्न न हो सके, तो अक का छेद कर के प्रवेशको के द्वारा उसका विधान करना चाहिए । अक छेद करके एक महीने में होने वाली या एक साल में होने वाली घटनाओं का प्रदर्शन करना चाहिए प्रवेशक आदि के द्वारा, परन्तु वर्ष से ऊपर की घटनाओं का निदर्शन कभी अभीष्ट नही माना जाता ।

जिस प्रकार वीज नाना उपकरणो से समृद्ध होकर फल के रूप में परिणत होता है उसी प्रकार कथा-वस्तु भी नाना उपकरणों तथा घटनाओ से समृद्ध होकर फल-

---

१ **दिवसावसान कार्यंयद्यंक नोपपद्यते सर्वम् ।**
अकच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद् विधातव्यम् ॥ २८
अङ्कच्छेदं कृत्वा मासकृतं वर्ष संचितं वापि
तत् सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥ २९
भरत अ० २१

उत्पादन में समर्थ होती है। इसीलिए वृत्त की पांच अवस्थाएँ मानी गई हैं —(१) प्रारम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्ति-सम्भव, (४) नियताप्ति तथा (५) फलयोग और बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पांच अर्थ-प्रकृतियां स्वीकृत की जाती हैं। इन दोनो के क्रमिक समन्वय से उत्पन्न नाटकीय कथा-भाग में पांच सन्धियां तथा उनके अवान्तर ६४ अग माने जाते हैं। सन्धियो के नाम तो प्रसिद्ध ही हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ (४) सावमर्श, (५) निर्वहण। 'नाटक' तथा 'प्रकरण' में इन समग्र सन्धियों की सत्ता विद्यमान रहती है, अन्य रूपको में यथासम्भव कम सन्धियां भी हो सकती हैं।

सस्कृत के नाट्य-शास्त्र में वर्णित कथा-वस्तु की रूपरेखा का यह एक सामान्य परिचय है।



संस्कृत नाट्य-शास्त्र में पंच-संधियाँ और अर्थ-प्रकृतियाँ

—डॉ० सत्यव्रतसिंह

सन्धि-पंचक: नाटक का रचनात्मक तत्त्व

संस्कृत नाट्य-शास्त्र में नाटक का जो रचनात्मक विश्लेषण है उसमें 'सन्धि-पचक' (पाँच संधियो) का ही महत्व सर्वोपरि है। नाटककार 'सन्धि-पञ्चक' की योजना करते हुए नाटक की रचना नही किया करता। नाटककार की कला नाटक की रूपरेखा आविष्कृत किया करती है और इस रूपरेखा में 'सन्धि-पञ्चक' की योजना स्वभावतः हुआ करती है। यह तो नाट्य-शास्त्रकारों की समीक्षा है जो नाट्य-कृति को पाँच सन्धियो के रूप में सश्लिष्ट और संघटित देखा करती है। 'सन्धि-पञ्चक' की कल्पना नाटक-निर्माण के सम्बन्ध में नाट्य-शास्त्रकारो की कल्पना है। इस कल्पना में यथार्थ किंवा आदर्शवादी दर्शनो की सृष्टि-विषयक कल्पनाओ का पर्याप्त हाथ है। यथार्थवादी दर्शन के अनुसार 'सन्धि-पञ्चक' का अस्तित्व वास्तविक सिद्ध होता है और आदर्शवादी दर्शन की दृष्टि में 'सन्धि-पञ्चक' को व्यावहारिक अस्तित्व मिल सकता है। 'सन्धि-पञ्चक' को वास्तविक मानने वाले भी नाट्य-शास्त्रकार हैं और व्यावहारिक मानने वाले भी। भरत-नाट्यशास्त्र मे दोनों प्रकार की सम्भावनाओ के सूत्र मिलते हैं। 'सन्धि-पचक को वास्तविक मानने वाले आचार्यों की परम्परा सम्भवतः अधिक प्राचीन है। भरत-नाट्यशास्त्र में 'सन्धि-पञ्चक' का निरूपण कोई नवीन सिद्धान्त नही अपितु प्राचीन मर्यादा का अनुसरण-सा लगता है। 'सन्धि-पञ्चक' की वास्तविक सत्ता के समर्थक आचार्यों में 'दशरूपक' के रचयिता आचार्य धनञ्जय और धनिक (८वी-९वी शताब्दी) विशेष उल्लेखनीय हैं और 'सन्धि-पञ्चक' को नाट्य-सृष्टि के नियामक, किंवा निर्धारक रस-रूप आत्म-तत्त्व का आभास मानने वाले आचार्यों में अभिनवगुप्तपादा (१०वी शताब्दी) का नाम कौन नहीं जानता?

नाटक और सन्धि-पञ्चक

चाहे जो भी दृष्टि हो, 'नाटक' और 'सन्धि-पञ्चक' का सम्बन्ध माना गया है। 'सन्धि-पञ्चक' क्या है? भरत-नाट्यशास्त्र के अनुसार 'सन्धि-पञ्चक' का यह स्वरूप है—

मुखं प्रतिमुखं चैव गर्भो विमर्श एव च ।
तथा निर्वहण चेति नाटके पञ्चसन्धयः ।।,

—नाट्य-शास्त्र १६ : ३७

—जिसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक 'नाटक' में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण नाम की पाँच सन्धियाँ रहा करती हैं। सन्धि-पञ्चक के उपर्युक्त नाम नाटक के रचनात्मक तत्त्वो में शरीरात्म-भाव की कल्पना को कुछ दूर तक तो प्रोत्साहित अवश्य करते हैं किन्तु अन्त तक नही जाने देते। मुख, प्रतिमुख और गर्भ तक ऐसा मालूम होता है जैसे नाटक-शरीर को प्राणि-शरीर के समान देखा जा सकता है किन्तु विमर्श और निर्वहण के सामने यह कल्पना रुक जाती है। अब मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण-रूप सन्धि-पञ्चक क्या है ? सम्भवत नैयायिको के प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूप पञ्चावयव परार्थानुमान-वाक्य के आधार पर नाट्याचार्यों की 'सन्धि-पञ्चक' कल्पना निकली है। समस्त नाटक एक प्रकार का परार्थानुमान-वाक्य है। 'कला अनुकृति है और कला की अनुभूति एक अलौकिक अनुमिति है'—यह प्राचीन कला-विषयक भारतीय सिद्धान्त सम्भवत 'सन्धि-पञ्चक' के अनुसन्धान के मूल में स्थित है। इस सिद्धान्त का प्रतिपक्ष यह सिद्धान्त कि 'कला अभिव्यक्ति है और कला की अनुभूति आत्मानन्द की अभिव्यक्ति है' 'सन्धि-पञ्चक' को मानता अवश्य है किन्तु इसे स्वतत्र नही अपितु रस-परतत्र देखा करता है।

अस्तु, सन्धि-पञ्चक की योजना का अभिप्राय नाटक की समस्त अर्थराशि को अङ्गाङ्गिभाव से परस्पर-सम्बद्ध बनाना है। नाटक को एक 'महावाक्य' कह सकते हैं और नाटक का अर्थ एक 'महावाक्यार्थ' हुआ करता है। जैसे किसी परार्थानुमान-वाक्य के अर्थ में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन रूप पचविध अशो का विश्लेपण किया जा सकता है वैसे ही महावाक्यार्थ-रूप नाटकार्थ में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण रूप अश-पञ्चक का निरूपण सम्भव है। नैयायिको की दृष्टि में 'प्रतिज्ञा' का जो स्थान और महत्व है वही नाट्य-शास्त्रकारों की दृष्टि में 'मुखसन्धि' का है। नैयायिको की 'प्रतिज्ञा' का अभिप्राय है 'साध्यनिर्देश'('साध्यनिर्देश' प्रतिज्ञा—न्यायसूत्र १. १ ३३)। जैसे कि 'शब्द अनित्य है' यह 'प्रतिज्ञा' है क्योकि यहाँ अनित्य 'शब्द' को अनित्यत्व-धर्म से विशिष्ट सिद्ध करने का उपक्रम किया जा रहा है। नाट्य-शास्त्रकारो की 'मुखसन्धि' भी नाटक का 'साध्यनिर्देश' ही है। किन्तु शब्द अनित्य है यह 'साध्यनिर्देश' और मुद्राराक्षस नाटक का प्रथमाङ्क-रूप 'साध्यनिर्देश' (मुखसन्धि) परस्पर इतने विलक्षण हैं कि जहाँ एक में कोई आनन्द नही वहाँ दूसरे में आनन्द-चमत्कार ही अन्तर्व्याप्त प्रतीत होता है। नैयायिको का 'प्रतिज्ञावाक्य' तो लोकगत

किंवा लोकसिद्ध विषयो का साध्यनिर्देश है किन्तु नाटककार का मुखसन्धियोजन-रूप जो साध्यनिर्देश है वह एक कलात्मक विषय –वस्तुतः रस–के अभिव्यञ्जन का उपक्रम है। इसी लिए आचार्य अभिनवगुप्त ने 'मुखसन्धि' की यह परिभाषा की है––

'प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्रास्वादः आपतितः तावान् मुखसन्धि, तदभिधायी च रूपकैकदेश:––(अभिनव भारती; तृतीय भागः पृष्ठ-२३)।

अर्थात् मुख्यत तो 'मुखसन्धि' का अभिप्राय उस रसभाव-सुन्दर अर्थ-राशि से है जिससे किसी रूपक का उपक्रम किया जाया करता है और उपचारत. वह रूपक-भाग भी 'मुखसन्धि' ही कहा जाता है जिनमें इस अर्थराशि का प्रतिपादन किया गया होता है।

'मुख' सन्धि और इसके वाद की सन्वि अर्थात् 'प्रतिमुख' सन्धि में वही सम्बन्ध रहा करता है जो कि 'प्रतिज्ञा' और 'हेतु' में न्याय-सम्मत माना गया है। 'प्रतिमुख-सन्धि' नाटक की वह अर्थराशि है जो 'मुखसन्धि' में उपन्यस्त अर्थराशि को युक्तियुक्त रूप से परिपुष्ट किया करती है। जैसे न्याय-शास्त्र की परिभाषा में 'हेतु' का अभिप्राय 'साध्य-साधन' माना गया है वैसे ही नाट्य-शास्त्र की परिभापा में 'प्रतिमुख' का अभिप्राय 'मुख' से आभिमुख्य अथवा आनुकूल्य बताया गया है। 'गर्भ' सन्धि को 'उदाहरण' अथवा 'दृष्टान्त' का प्रतिरूप मान सकते हैं। 'गर्भ सन्धि' में नाटक की वह अर्थराशि निहित रहा करती है जिसकी योजना नाटककार के नाट्य-कला-कौशल की एक परीक्षा हुआ करती है। जैसे नैयायिको को 'उदाहरण' देने मे सतर्क होना पडता है वैसे ही नाटककारो को भी 'गर्भसन्धि' की रचना में नायक और प्रतिनायक के परस्पर द्वन्द्व और इस द्वन्द्व में आशा-निराशा के अन्तर्द्वन्द्व के प्रकाशन करने और नाटक के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में पर्याप्ति रूप से सतर्क होना पडता है क्योकि बिना इसके नाटक के नाटकाभास में वदल जाने का डर निरन्तर बना रहता है।

'उदाहरण' के अनन्तर 'उपनय' का जो स्थान और महत्त्व न्याय-शास्त्र मे माना गया, 'गर्भ-सन्धि' के बाद 'विमर्श सन्धि' का भी वैसा ही स्थान और महत्त्व नाट्य-शास्त्र में निर्दिष्ट किया गया है। नाटक में 'विमर्श' सन्धि के रूप में वह अर्थ-राशि उपन्यस्त हुआ करती है जिसमें नायक नियतफल-प्राप्ति 'की अवस्था मे चित्रित रहा करता है। जहाँ गर्भसन्धि में आशा और निराशा का द्वन्द्व चलता दिखाया जाया करता है वहाँ विमर्श सन्धि में आशा की प्रवलता मे भी नैराश्य के आघात

की सभावना नायक के धैर्य-परीक्षण के सुअवसर के रूप में अवश्य अभिव्यक्त की जाया करती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तभी तो यह कहा है—

'···विमर्शं सन्निर्धनियतफलप्राप्त्यवस्थया उपाप्त., तत्र नियतत्वं सन्देहश्चेति किमेतत् ? अत्राहु तर्कानन्तरमपिहेत्वन्तरवशाद् बाधच्छलरूपता पराकरणे सशयो भवेत, किं न भवति। इहापि च—निमित्तबलात् कुतश्चित् सभावितमपि फल यदा वलवता प्रत्यूह्यते कारणानि च वलवन्ति भवन्ति तदा जनकविघातकयोस्तुल्यबल-त्वात् कथ न सदेह। तुल्यबलविरोधकविधीयमानवैधुर्यव्याधूननसन्धीयमानस्फार-फलावलोकनायां च पुरुषकारः सुतरामुद्धुरकन्धरो भवतीति तर्कानन्तरमत्र सशय. ततो निर्णय इत्येतदेवोचिततरम्।'

—अभिनव भारती, तृतीय भाग, पृष्ठ २७

नैयायिको का 'उपनय'-वाक्य भी 'हेतु' का 'पक्ष' में उपसहार किया करता है क्योकि विना ऐसा किये हेतु अथवा साधन की पक्ष-धर्मता स्पष्टतया नहीं स्थापित की जा सकती।

नाटक की अन्तिम सन्धि 'निर्वहण' अथवा 'उपसहृति' कही गयी है। यह सन्धि नाटक की वह अर्थ-राशि है जिसमें चारो सन्धियो की अर्थराशि समन्वित की गयी होती है। परार्थानुमान-वाक्य में 'निगमन' वाक्य की योजना का भी यही उद्देश्य है कि प्रतिज्ञात विषय का हेतु-निर्देश के साथ इसलिये पुन कथन हो जिसमें साध्य अथवा प्रतिज्ञात विषय के विपरीत किसी विषय की सिद्धि की सभावना सर्वथा उच्छिन्न हो जाय। जैसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन का प्रयोजन परार्थानुमान-वाक्य के अर्थ का सम्मिलित रूप से निष्पादन हुआ करता है वैसे ही मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण सन्धि का उद्देश्य नाटक-रूप महावाक्यार्थ का परस्पर सम्बद्ध रूप से निष्पादन ही है।

'सन्धि-पञ्चक' मे किसका सन्धान ?

'सन्धि' शब्द के अर्थ में दो वस्तुओं का सम्बन्ध अन्तर्निहित है। नाटक में कौन-सी दो वस्तुयें हैं जिनका सन्धान नाटककार का कर्त्तव्य है और जिस कर्त्तव्य का पालन 'सन्धि-पञ्चक' के रूप में देखा जाया करता है ? नाट्य-शास्त्रकारों ने यहाँ एक स्वर से यही कहा है कि 'अवस्था-पञ्चक' और 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' का परस्पर समन्वय 'सन्धि-पञ्चक' है। 'आरम्भ' और 'बीज' का समन्वय मुख सन्धि, 'यत्न' और 'बिन्दु' का सन्धान प्रतिमुख सन्धि, 'प्राप्त्याशा' और 'पताका' का सामञ्जस्य गर्भ सन्धि, 'नियताप्ति' और 'प्रकरी' का सम्बन्ध विमर्श सन्धि तथा 'फलागम' और 'कार्य' का सयोजन निर्वहण सन्धि है। दशरूपककार ने स्पष्ट कहा है—

"अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसंधयः ॥"

—दशरूपक १.२२

अर्थात् क्रमशः एक-एक 'अवस्था' का एक-एक 'अर्थ-प्रकृति' से समन्वय मुखादि सन्धि-पञ्चक की रूपरेखा का निर्माण है।

अवस्था और अर्थ-प्रकृति

भरत-नाट्य-शास्त्र में 'अवस्था' का अभिप्राय नाटक मे निबद्ध नायक के व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास है। नायक का व्यक्तित्व ही उसके सहायको अथवा विरोधियो के व्यक्तित्व का आधार हुआ करता है और इस दृष्टि से नाटककार अन्यान्य नाटक-चरितो के व्यक्तित्व का विकास इसीलिये किया करता है जिसमें नायक का व्यक्तित्व शतदल कमल की भाँति उन्मीलित हो उठे। जिसे नायक का 'व्यक्तित्व कहते हैं वह नायक की ज्ञान-इच्छा-क्रिया किंवा प्रयत्न-शक्तियो का सम्मिलित रूप हुआ करता है। वस्तुतः नाटक-निबद्ध समस्त व्यापार-परिस्पन्द (Dramatic action) नायक के व्यक्तित्व का वाह्य रूप है। इस व्यक्तित्व का ही विश्लेषण आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम की पाँच अवस्थाओ की कल्पना का कारण है। कोई भी नाटककार विना इस अवस्था - विश्लेषण के नाटक की रचना नही कर सकता। किन्तु केवल इन पाँच अवस्थाओ की योजना ही नाटक की रूप - रेखा के लिये पर्याप्त नही। ये अवस्थायें तो नाटक - जगत के निर्माण की पञ्चतन्मात्रायें हैं। इन के साथ पञ्चमहाभूतो की भाँति पाँच अर्थ-प्रकृतियों का भी सहयोग अपेक्षित है और तभी रस-भाव की अन्तर्नियामकता मे नाटक का आविर्भाव संभव है।

'अर्थ-प्रकृति' क्या है ?

'अर्थ-प्रकृति' की कल्पना भरत-नाट्यशास्त्र से प्राचीन है। भरत-नाट्य-शास्त्र में जिस रूप में 'अर्थ-प्रकृति' का निरूपण है उस से यही प्रतीत होता है कि भरत मुनि ने 'अर्थ-प्रकृति' की कल्पना को प्राचीन नाट्य-दर्शन से प्राप्त किया है। भरत मुनि ने अर्थ 'प्रकृति' का यह स्वरूप और प्रकार निर्दिष्ट किया है —

इतिवृत्ते यथावस्थाः पञ्चारम्भादिकाः स्मृताः ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च तथा बीजादिका अपि ॥
बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ॥

भरत-नाट्यशास्त्र : १९ - २०, २१

अर्थात् जैसे नाटक के इतिवृत्त में आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम की पाँच अवस्थाएँ उपनिबद्ध हुआ करती हैं वैसे ही बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य की पाँच अर्थ-प्रकृतियों की भी योजना स्वाभाविक है।

'अवस्था-पञ्चक' के सम्बन्ध में तो नाट्य-शास्त्रकारों में कोई मतभेद नहीं, किन्तु 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' के स्वरूप-निर्धारण में कई एक कल्पनायें की गयी हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने किसी नाट्याचार्य के मत का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि 'अर्थ-प्रकृति' का अभिप्राय 'अर्थ' की, समस्त रूपक के वाच्य की, 'प्रकृति' अथवा अवयव-कल्पना का है। इस मत का खण्डन करते हुए उनका कहना यह है कि यदि 'अर्थ-प्रकृति' को समस्त रूपकार्थ के अवयवभूत 'अर्थ-खण्ड' माना गया तब अर्थ-प्रकृति और पचसन्धि में अन्तर क्या रहा? जिसे समस्त रूपकार्थ कह सकते हैं वह इतिवृत्त के अतिरिक्त और क्या है? और 'सन्धि-पञ्चक' के अतिरिक्त इतिवृत्त के अवयव-खण्ड भी तो और कुछ नहीं! अर्थ-प्रकृति का अभिप्राय कुछ और होना चाहिये। 'अर्थ-प्रकृति' को रूपक के इतिवृत्त-रूप अर्थ में संयोजित 'प्रकृति' अथवा अवयव कल्पना मानना भी ठीक नहीं क्यों कि तब हमें केवल 'प्रकृति' कहना पर्याप्त है न कि 'अर्थ-प्रकृति'। भरत मुनि ने 'इतिवृत्त अर्थ प्रकृतय' कहा है। यदि 'इतिवृत्त' और 'अर्थ' समानार्थक हैं तब बीज, बिन्दु आदि को 'प्रकृति-पञ्चक' कहना उचित है न कि अर्थ-प्रकृति-पञ्चक।

'अर्थ-प्रकृति' का रहस्य क्या हो सकता है? 'अर्थ' का अभिप्राय इतिवृत्त-रूप रूपकवाच्यार्थ नहीं अपितु 'फल' है। इस प्रकार बीज, बिन्दु आदि को जो 'अर्थ-प्रकृति' कहा जाता है उस का यही तात्पर्य है कि ये पाँचों नाटक में अर्थ अथवा फल की 'प्रकृति' अथवा उपाय या साधन हैं।

अर्थप्रकृति-पञ्चक किस के फल के उपाय?

नाट्य-शास्त्रकारों ने 'अर्थ-प्रकृति' को जिस दृष्टि से 'फलोपाय' कहा है उस का स्पष्टीकरण नहीं किया है। किन्तु इस में भी एक सत्य छिपा है। कई दृष्टियों से 'अर्थ-प्रकृति' को 'फलोपाय' माना जा सकता है। 'अर्थ-प्रकृति' नाटककार की दृष्टि में भी 'फलोपाय' है जिस का विवेचन और विश्लेषण नाट्य-शास्त्र का काम है और नायक की दृष्टि से भी, जिसका विचार-विमर्श नाटककार का नाट्य-कौशल है। नायक के साथ नाटककार और नाटक-दर्शक के साधारणीकरण की धारणा का ही संभवत यह प्रभाव है कि नायक के बीजोक्षेप

अथवा नाटककार के बीजोक्षेप का स्पष्टीकरण संस्कृत नाट्य-शास्त्र में नही किया गया। जहाँ 'मुद्राराक्षस' (४.३) की यह उक्ति—

'कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्,
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।
कुर्वन् बुद्धया विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं,
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद् विधो वा॥'

इस बात की ओर सकेत करती है कि बीज, विन्दु आदि अर्थ-प्रकृतियो और आरम्भ आदि अवस्थाओ की समीचीन योजना नाटककार की नाट्य-कला का काम है, वहाँ 'नाट्य-दर्पण' की यह उक्ति—

'नेतुर्मुख्य फलं प्रति बीजाद्युपायन् प्रयोक्तुरवस्थाः प्रधानवृत्तविषये काय-वाङ्-मनसां व्यापाराः। **(नाट्यदर्पण, पृष्ठ ४८)**

यह निर्देश करती है कि बीज आदि फलोपाय (अर्थ-प्रकृति) का सम्बन्ध उसके प्रयोक्ता नायक से है। ऐसा लगता है जैसे अर्थशास्त्र की 'राज्यप्रकृति' की भाँति, नाट्य-शास्त्र ने 'अर्थप्रकृति' की कल्पना की है। राज्य जैसे 'सप्त-प्रकृति' हुआ करता है वैसे ही नाट्य 'पञ्चप्रकृति'। जैसे राज्य की सात प्रकृतियाँ स्वामी अथवा राजा के नियन्त्रण में अपना अस्तित्व रखा करती हैं वैसे ही नाटक की पांच अर्थ-प्रकृतियाँ नाटक की नियामकता में कार्यकर हुआ करती है।

नाटक का नायक वास्तविक जीवन का महापुरुष हुआ करता है। धर्म, अर्थ और काम मे से किसी फल की अभिलापा उसके व्यक्तित्व की मूल प्रेरणा हुआ करती है। अपने अथवा अपने सहायको के नानाविध कार्य-व्यापार अथवा अनुकूल भाग्य की प्रेरणा के रूप में वह अपने धर्मार्थ-काम रूप फल के लिये 'बीज' वोया करता है। किसी 'बीज' के आवाप मात्र से ही फल नही मिल जाता। जैसे किसी माली को बीज बोने के बाद समय-समय पर पानी डालना (विन्दु-निक्षेप अथवा जलविन्दु-निक्षेप करना) पडता है वैसे ही नाटक का नायक भी अपने धमार्थ-काम रूप फल के 'बीज' को 'विन्दु' के द्वारा अपने अथवा सहायको के व्यापार में, विघ्न-बाधाओ की मुठभेड के कारण, उग्रता अथवा शक्तिमत्ता के आधान के द्वारा सींचता रहा करता है। बीज के उपक्षेप किंवा विन्दु के निक्षेप की क्रिया नानाविध साधन-सामग्री की अपेक्षा करती है। नायक भी 'बीज' और 'विन्दु' को सफल किंवा कार्य-कर बनाने के लिये नाना प्रकार के साधनो की अपेक्षा करता है जो कि नाट्य-शास्त्र की परिभापा मे 'कार्य' (प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरीनायकै साध्ये प्रधान फल-

त्वेनाभिप्रेते वीजस्य प्रारम्भावस्थोत्क्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य सहकारी सपूर्णतादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-सामद्युपायलक्षणो द्रव्यगुणक्रिया प्रभृति सर्वोऽर्थश्चेतनै कार्यते फल-मिति कायम्—(नाट्यदर्पण, पृष्ठ ४७) कहे गये हैं। जैसे वृक्षारोपण में 'पताका' की स्थापना का प्रयोजन एक मागलिक कार्य में सामाजिक सहयोग और सद्भावना का निमन्त्रण है वैसे ही नाटक का नायक भी अपने महान् उद्योग में 'पताका' की स्थापना किया करते हैं वह उसके सहायको की सद्भावना और उसकी फल-सिद्धि में सहायको की सतत जागरूकता का आह्वान किया करती है। वृक्ष की रक्षा के लिये कभी-कभी छोटे-छोटे साधन भी आवश्यक हुआ करते हैं। नायक भी अपने धर्म अथवा अर्थ अथवा काम रूप वृक्ष की रक्षा के लिये ऐसे सहायको की अपेक्षा किया करता है जो छोटे होने पर भी महत्त्वपूर्ण हुआ करते हैं। नाट्यशाला की पारिभाषिकता में इन्हें 'प्रकरी' कहा करते हैं।

इन उपर्युक्त पांच अर्थ-प्रकृतियो अथवा फलोपायो में 'वीज, बिन्दु' और 'कार्य' तो अपने आप में अधिक महत्त्वपूर्ण है किन्तु, 'पताका' और 'प्रकरी' का महत्त्व नायक की जनप्रियता पर अवलम्बित है। अभिनवगुप्ताचार्य ने इन फलोपायो को 'जड' और 'चेतन' रूप में विभक्त किया है। 'वीज' और 'कार्य' तो अचेतन फलोपाय हैं और 'विन्दु', 'पताका' तथा 'प्रकरी' चेतन फलोपाय। इन चेतनात्मक और अचेतन-नात्मक फलोपायो का अनुसन्धान किवा प्रयोग नायक किया करता है और इसीलिये नाटककार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह भी इन्हे नायक के चरित्र-चित्रण मे यथास्थान किवा यथोचित रूप से चित्रित करे।

नाटक मे अर्थप्रकृति-योजना

जबकि नाटककार नायक द्वारा प्रयुक्त फलोपायो की नाटकीय योजना प्रारम्भ करता है तब उसका उद्देश्य लौकिक धर्मार्थ-काम की प्राप्त नही अपितु उस अलौकिक आनन्द का सहृदय हृदय में अभिव्यञ्जन हो जाया करता है जिसे 'रस' कहा करते हैं। **'नाट्य में जो कुछ है वह रस है—रसप्राणो ही नाट्यविधि'**—यही नाट्यशास्त्र-कारो की नाटक-सम्बन्धी मान्यता है। इस प्रकार वीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य रसनिष्पत्ति-रूप फल के उपाय बन जाते हैं। नायक ने—लोक-जीवन के किसी महापुरुष ने—अनुकूल भाग्य की प्रेरणा अथवा अपने पौरुष या अपने सहायको के अध्यवसाय के द्वारा अपने धर्मार्थ-काम रूप फल का जो 'वीज' वोया होगा वही जब नाटककार की कला द्वारा नाटक में निक्षिप्त किया जाया करता है तब नाना प्रकार के रस-भावो का अभिव्यञ्जन हो जाया करता है। लोक में नायक अथवा उसके सहायक का अपने-अपने अध्यवसाय आदि के रूप में वीज-निक्षेप किसी दर्शक के लिये

दु खद भी हो सकता है किन्तु नाट्य मे उपक्षिप्त यही 'वीज' चाहे वह भाग्य की अनुकूलता मात्र हो, नायक आदि का अध्यवसाय-रूप हो, नायक पर पडने वाले सकटो का निर्देश मात्र हो, सकटो की मुठभेड में नायको का अदम्य व्यक्तित्व-रूप हो, जैसा भी हो, एक मात्र विविध रस भावो का भावक अथवा व्यञ्जक वन जाया करता है। उदाहरण के लिये, 'मुद्राराक्षस' नाटक में नाटककार ने, चन्द्रगुप्त पर पडने वाले सकटो के निवारण के लिये, चाणक्य के महान् अध्यवसाय को जो वीज रूप में वोया है वह अमर्ष, आवेग, चिन्ता औत्सुक्य आदि-आदि भावो के रूप में सहृदय हृदय मे अंकुरित होते हुये वीर रस का निष्पादक वन रहा है। यहाँ कूट-लेख की योजना, गुप्तचरों की उन कूट चालो में नियुक्ति आदि घटनायें ही वीज की शाखा-प्रशाखा के रूप में निकल रही हैं और इनका जो अन्त सार है वह चाणक्य की महत्त्वाकाक्षा का उन्मेष-रूप है। मुद्राराक्षस के इतिवृत्त रूप शरीर की दृष्टि से यह सव प्रसग 'मुख सन्धि' है जिसमें वीरभावोत्सिक्त चाणक्य की राजनीतिक महत्त्वाकाक्षा के कृत्रिम विकास रूप मे, राक्षस द्वारा किये जा सकने वाले उन-उन आक्रमण के उन-उन प्रतिरोध उपायो के चिन्तन का रस-निर्भर 'वीज' वोया हुआ है। वही 'वीज' जहाँ चाणक्य नायक के राक्षस-वशीकार रूप फल का निदान है, वहाँ सहृदय सामाजिक के हृदय में वीर रस के अभिव्यञ्जन का भी निदान है।

विन्दु-निक्षेप का प्रयोजन उपक्षिप्त वीज का अंकुरण आदि हुआ करता है। 'विन्दु' के रूप मे नाटककार नायक के प्रयत्नो का अभिव्यञ्जन करता है और इसके प्रभाव में नाटक का इतिवृत्त एक विचित्रता से प्रवाहित हो उठता है। जैसे कि 'मुद्राराक्षस' में ही नाटककार ने चार-निवेदन (गुप्तचरो द्वारा उन-उन परिस्थितियो के परिज्ञान), मुद्रा-लाभ (राक्षस की अँगूठी का चाणक्य के हाथ पडना), कपटलेख-निष्पादन आदि वृत्तो की जो योजना की है वह वस्तुत विन्दु-निक्षेप ही है जिसकी सहायता से चाणक्य की महत्वाकांक्षा का 'वीज' उत्तरोत्तर उदीयमान किंवा समृद्ध होते दिखाई दे रहा है। इसी प्रकार यहाँ प्रतिनायक राक्षस द्वारा निक्षिप्त चाणक्य और चन्द्रगुप्त के परस्पर-भेद की योजना का जो 'वीज' नाटककार ने वोया है उसे भी चार-निवेदन, उत्तेजक प्रशस्ति-रचना आदि घटना-चक्र के विन्दु-निक्षेप से वडी कुशलता से सीचा है। विन्दु-सेक से परिपुष्ट यह 'वीज' सहृदय हृदय मे वीररस भाव के उद्घाटन की पर्याप्त सामर्थ्य रखता है

'विन्दु' के वाद 'कार्य' ही अर्थप्रकृति-योजना में अधिक महत्व रखता है। 'कार्य' का अभिप्राय उस अन्यान्य साधन-सामग्री की योजना है जो 'वीज' के उत्तरोत्तर विकास में सहायक हुआ करती है। 'साध्ये वीज सहकारी कार्यम्' (नाट्यदर्पण, पृष्ठ

४७)। कुछ नाट्यशास्त्रकार 'कार्य' का अभिप्राय धर्मार्थ-काम-रूप पुरुषार्थ मानते हैं। दशरूपककार ने ही स्पष्ट कहा है—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबंधि च।

—दशरूपक : १-१६

अर्थात् पृथक्-पृथक् अथवा परस्पर अनुषक्त धर्म, अर्थ और काम ही 'कार्य' है। किन्तु यह 'कार्य'-परिभाषा इस प्रकार की है जिसके देखते 'कार्य' को 'अर्थ-प्रकृति कहना असम्भव हो जाता है। 'कार्य' को भरत मुनि ने अर्थ-प्रकृतियो में स्थान दिया है। इसलिये, जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है, 'कार्य' का अभिप्राय धर्मार्थ-काम-रूप पुरुषार्थ नही अपितु उन २ नाटको में उपनिबद्ध जनपद, कोश, दुर्ग आदि का व्यापार-वैचित्र्य—वस्तुत एक शब्द में बीज—सहकारी साधन-समूह—ही है जिसके अभाव में किसी भी नायक की महत्वाकाक्षा उसके हृदय में ही उत्पन्न-विलीन दिखायी जा सकती है न कि कार्यकर अथवा सफल होते हुये चित्रित की जा सकती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—

'आरंभत इत्यारम्भशब्दवाच्यो द्रव्यगुणक्रियाप्रभृतिः सर्वोयं सहकारी कार्यमित्युच्यते, चेतनैः कार्यंते फलमिति व्युत्पत्त्या। तेन जनपद कोश दुर्गादिक व्यापार वैचित्र्य सामाद्युपायवर्गं इत्येतत् सर्वं कार्येऽन्तर्भवति।'

—अभिनव भारती, तृतीय भाग, पृष्ठ १६।

'मुद्राराक्षस' में ही साम, दाम, दण्ड आदि नीति-चिन्तन किंवा सैन्य-सनाह आदि घटनाओ की जो योजना है वह 'कार्य' रूप अर्थ-प्रकृति की ही योजना है। यह 'कार्य'-योजना सहृदय-हृदय में नीति-विषयक उत्साह के उद्बोधन का एक अत्यन्त आवश्यक निदान है।

इस प्रकार बीज, बिन्दु और कार्य-रूप तीन अर्थ-प्रकृतियाँ उन नाटको में अनिवार्य रूप से उपनिबद्ध रहा करती हैं जिनके नायक एकमात्र आत्म-पौरुष के धनी हुआ करते हैं, अपने पराक्रम का अदम्य आत्म-विश्वास रखा करते हैं और जिनका कार्य-सिद्धि उनके आत्मोत्साह की ही अपेक्षा किया करती है। 'मुद्राराक्षस' नाटक के नायक का ऐसा ही व्यक्तित्व है—'स्वपराक्रम बहुमानशाली' व्यक्तित्व—और इसीलिए इस नाटक में बीज, बिन्दु और कार्य की तीन अर्थ-प्रकृतियो की ही योजना है।

नाट्याचार्य भरत ने इसीलिये कहा है—

'एतेषां यस्य येनार्थो यतश्च गुण इष्यते।
तत्प्रधान तु कर्त्तव्य गुणभूतान्यत परम्॥'

—नाट्यशास्त्र १९-२७

अर्थात् 'नाटक' मे अवस्था-पञ्चक की भाँति अर्थप्रकृति-पञ्चक की योजना नही हुआ करती। 'अवस्था-पञ्चक' का तो अनिवार्यत नाटक में उपनिवन्ध हुआ करता है किन्तु 'अर्थ-पञ्चक' की अनिवार्य योजना आवश्यक नही। नायक के व्यक्तित्व की दृष्टि से उसके फलोपायो की योजना आवश्यक है। 'वीज' 'विन्दु' और 'कार्य' तो नायक मात्र के फलोपाय हैं किन्तु 'पताका' और 'प्रकरी' उन्ही नायको के फलोपाय रूप में उपनिवद्ध हो सकती हैं जो लोक-जीवन में जनप्रिय रह चुके हैं, जिनके धर्मार्थकाम-रूप पुरुषार्थ-लाभ मे जन-सहाय्य मिल चुका है और जिनका उत्कर्ष जन-जीवन पर स्थायी किंवा व्यापक प्रभाव डाल चुका है।

'पताका' और 'प्रकरी'—दोनो अर्थ-प्रकृतियाँ हैं। 'पताका' भरत-नाट्यशास्त्र में इस प्रकार प्रतिपादित है—

'यद्वृत्तं तु परार्थं स्यात् प्रधानस्योपकारकम्।
प्रधानवच्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिता॥'

—नाट्य-शास्त्र : १९-२४

और 'प्रकरी' इस प्रकार—

'फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थायैव केवलम्।
अनुवन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत्॥'

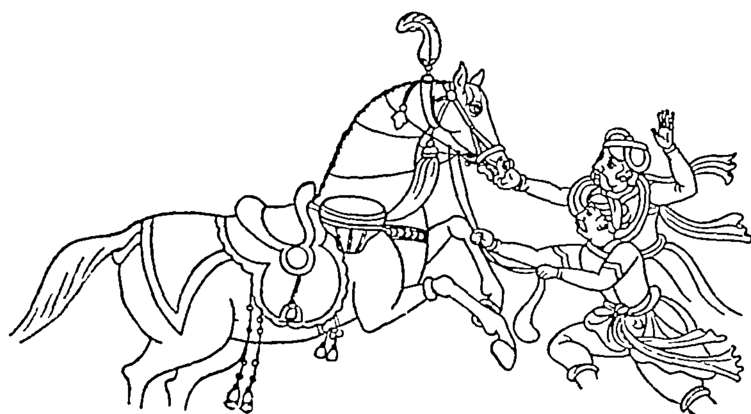
—नाट्य-शास्त्र : १९-२५

अभिप्राय यह है कि 'पताका' और 'प्रकरी' उस नाटक के प्रासङ्गिक वृत्त हैं जिसके नायक की धर्मार्थकाम-रूप फल-सिद्धि उपनायक अथवा सहायक के भी प्रयत्नो की अपेक्षा करती है। पाँचो अर्थ-प्रकृतियो में केवल 'पताका' और 'प्रकरी' ही वस्तुत नाटक के अवान्तर वृत्त के रूप मे नाट्य-शास्त्रकारो द्वारा निर्दिष्ट हैं। 'वीज' 'विन्दु' और 'कार्य' अर्थ-प्रकृति तो अवश्य है किन्तु प्रासङ्गिक वृत्त नही। वस्तुतः 'वीज', 'विन्दु' और 'कार्य' में नाटक की 'अर्थप्रकृति' अथवा 'फलोपायपरम्परा' की कल्पना इसीलिये की गयी है कि इन्ही के द्वारा नाटक के आधिकारिक इतिवृत्त (Main Plot) का उत्तरोत्तर विकास हुआ करता है और यथास्थान आधिकारिक और प्रासङ्गिक इतिवृत्त का सश्लिष्ट रूप नाटकीय इतिवृत्त प्रकट हुआ करता है।

अर्थ-प्रकृतियो की योजना का उद्देश्य

नाटक मे अर्थ-प्रकृतियो की योजना से ही नायक का चरित-विकास नाटकीय वना करता है। केवल 'अवस्था-पञ्चक' के विश्लेषण मे नाटक की रूपरेखा नही खड़ी

हो सकती । 'अवस्था-पञ्चक' की योजना से रसभाव की धारायें प्रवाहित हो सकती हैं । किन्तु 'नाटक' के रूप मे रस-स्रोत का दर्शन तभी हो सकता है जब कि 'अर्थ-प्रकृति'-योजना हुई हो । 'सन्धि-पञ्चक' की कल्पना भी अर्थ-प्रकृति की कल्पना पर ही अवलम्बित है । सन्ध्यङ्गो का स्वरूप 'वीज', 'विन्दु' और 'कार्य' की अर्थ प्रकृति पर ही निर्भर है । सन्ध्यङ्गो के रूप में नाट्य-शास्त्र नाटक के जिस कथनोपकथन का विशद विश्लेपण करता है वह वस्तुत अर्थ-प्रकृति योजना के ही रहस्य का स्पष्टीकरण है । क्या 'अवस्था-पञ्चक' क्या 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' और क्या 'सन्धि-पञ्चक', सभी के सभी नाटक के कथनोपकथन में ही अपना अस्तित्व और उद्देश्य रखते हैं । नाटककार यदि चरित-विकास की दृष्टि से अवस्थाओ का उत्तरोत्तर सश्लिष्ट विकास करता है तो इतिवृत्त की दृष्टि से अर्थ-प्रकृतियो का यथोचित सनिवेश रचता है । 'सन्धि-पञ्चक' इस सश्लिष्ट इतिवृत्त के अवयवार्थ-रूप निकलते हैं और 'रस' है इस नाटक-रचना का अन्तस्तत्त्व, अन्त सार किंवा अन्तर्नियामक ।



प्राचीन भारतीय रंगमंच की एक अनुपम नृत्त-नाट्य विधि

—डॉ० वासुदेवशरण

प्राचीन भारतीय-जीवन नृत्य, गीत, वाद्य और नाट्य के अनेक रुचिर प्रयोगो से भरा हुआ था। मातृभूमि की वदना करते हुए अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त में कवि ने पृथिवी पर होने वाले नृत्य-गीतो के इन मनोहर नेत्रोत्सवो का इस प्रकार उल्लेख किया है।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः

(अथर्व १२-१-४१)

'आनन्द भरी किलकारी से अपने कण्ठ को निनादित करने वाले मानव जिस भूमि में उमंग से गाते और नाचते हैं'—भारत-भूमि का यह यथार्थ चित्रण है। लगभग पांच सहस्र वर्षो से भूमि के नदी-तट और गिरिकन्दर, अरण्य और क्षेत्र, ग्राम और नगर नृत्य और गीत से भरे रहे थे। स्त्रियो के सुरीले कण्ठ और पुरुषो के घन-गात्र शरीर, नृत्य और गीत का जो अपूर्व मंगल रचते थे उनसे यहाँ के जनपदो का वातातपिक जीवन, स्वस्थ विनोद और सुख सौहार्द से भरा हुआ था। प्राचीन साहित्य और शिल्प दोनो भारत की इस आनद-विधायिनी जीवन-पद्धति के साक्षी हैं। जिस प्रकार प्रकृति ने अपने सौंदर्य से मातृभूमि के शरीर को चतुरस्रशोभी बनाया था उसी प्रकार मनुष्य ने भी चारो खूटो में छाये हुए अपने जीवन को नृत्य और सगीत के आनन्द से सीच दिया। नृत्य और गीत की उस राष्ट्रीय गगा के तटो पर आज पहले-सा जनमंगल नही दिखाई देता। यह सूनापन क्यो है और कब तक बना रहेगा ? राजा और ऋषियो के, सती स्त्रियों और वीर पुरुषो के श्लाघ्य चरित्रो को अपने शरीरो की प्रदीप्त प्राणशक्ति से क्या हम नाट्य-रूप मे पुन प्रत्यक्ष न करेंगे ? क्या हमारे बीच प्राचीन समाज नामक उत्सवो के प्रेक्षागारो में होनेवाले प्रेक्षणो के, पर्वोत्सवो में होने वाले नृत्य और गीतो के वे रमणीय अध्याय पुन आरभ न होंगे ? भारतीय रगमच कब तक नाट्यो के उस विधान से फिर श्री-सम्पन्न न बनेगा, जिसे महाकवि कलिदास ने 'चाक्षुप-यज्ञ' कहा था। गुप्त-युग में लिखते हुए कवि की वाणी थी—

न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्या गौरवम्

(मालविकाग्नि०)

अर्थात् नाट्य को जो हम अपने जीवन में इतना गौरव देते हैं उसमें सत्य है, उसके पीछे जीवन की साधना है, कृत्रिमता नहीं। आज नाट्य-लक्ष्मी के भवन सूने पड़े हैं। भारतीय आकाश के नीचे नृत्य, गीत और नाट्य के बिना मनुष्य जीवित कैसे हैं, यही आश्चर्य है। इस देश में यह महान् सत्य है कि जब तक रगमच का उद्धार न होगा तब तक साहित्य में जीवन की सचाई न आ सकेगी, जनता से उसका सपर्क न बनेगा और वह शक्तिशाली भी न हो सकेगा।

प्राचीन भारत के प्रेक्षागृहो का ध्यान करते हुए हमें जैन-साहित्य के राज-प्रश्नीय आगम-ग्रन्थ के उस प्रकरण का ध्यान आता है जिस में महावीर के जीवन-चरित को नृत्य-प्रधान नाट्य (डास-ड्रामा) में उतारा गया। इस नाट्य में रगमच की पूर्वविधि के रूप में नृत्य के कितने ही भिन्न-भिन्न रूपो का प्रदर्शन किया गया। इसे पढते हुए ऐसा लगता है मानो हम प्राचीन भारत के किसी प्रेक्षागृह में जा बैठे हो जहाँ नाट्य-रूपी चाक्षुप-यज्ञ का विस्तार हो रहा हो और जिस में कला के अनेक चिह्नो को नृत्य के रूप में उतारा जा रहा हो।

जिस समय वेदिका और तोरणो से सुसज्जित एक महान् स्तूप की रचना हो चुकी और उसका दिव्य मगल आरम्भ हुआ, उस समय सूर्याभदेव की आज्ञा से एक सौ आठ देवकुमार और देवकुमारियो के अभिनेतृ-दल ने बत्तीस प्रकार की नाट्य-विधि (बत्तिसइ बद्ध णट्टविहि) का प्रदर्शन करने के लिये रगभूमि में प्रवेश किया। इस नाट्य-विधि के अन्तिम बत्तीसवें कार्य-क्रम में तीर्थंकर सदृश महापुरुषो के जीवन-चरित्र का अभिनय किया जाता था। शेष आरम्भ की इकत्तीस प्रविभक्तियो में प्राचीन भारतीय नृत्य का ही उदार प्रदर्शन सम्मिलित था यह द्वात्रिंशिक नाट्य-विधि कला की पराकाष्ठा सूचित करती है। इस में कला के अभिप्रायो को नाट्य द्वारा प्रदर्शित करने की मनोहर कल्पना पाई जाती है।

इस कल्पना के मूल का भाव इस प्रकार है। जिस समय समाज में किसी महापुरुष के जन्म की मगल-वेला आती है उससे पूर्व ही लोक का जीवन शनै-शनै अनेक प्रकार के मागलिक रूपो से उसी प्रकार सुन्दर बनने लगता है, जिस प्रकार प्रभात में सूर्य के उद्गमन से पूर्व उषा के सुनहले सौंदर्य से दिगन्त भर जाते हैं और स्वच्छ जल के सरोवरो में कमल सूर्य का स्वागत करने के लिये खिल जाते है। नील, पीत, श्वेत, रक्त कमलो का का यह उल्लास सूर्योदय की ही एक प्रविभक्ति या छटा है। इसी प्रकार महापुरुष के आगमन के समय दु खी मानवो के चित्त-रूपी कमल किसी नई आशा से प्रमुदित होते और खिल जाते हैं। इसी प्रकार की काव्यमयी कल्पना इस विस्तृत नाट्य-विधि के द्वारा व्यक्त की गई है। पन्द्रह से उन्नीस तक पाँच

प्रविभक्तियो मे वर्णमाला के अक्षरो का भी अभिनय दिखाया गया है। वस्तुत ये अक्षर मनुष्य की वाणी के प्रतिनिधि हैं। महापुरुष का आगमन वर्णों मे अपूर्व तेज भर देता है। इन सीधे-सादे अक्षरो के अनन्त सम्मिलन से लोक का मूक कण्ठ किस प्रकार मुखरित हो उठता है, इसे महापुरुष के व्यक्तित्व का चमत्कार ही कहना चाहिए। राष्ट्र की वाणी महापुरुष की महिमा से किसी उदात्त तेज से भर जाती है। उसमे सत्य का विलक्षण भास्वर रूप प्रकट होने लगता है, मानो किसी सारस्वत लोक से सत्य का शतधार और सहस्रधार झरना उन्मुक्त हो गया हो और प्रतिकण्ठ में उसका अमृत जल बरसने लगा हो। राष्ट्र की वाणी का तेज ही साहित्य की वाणी का तेज बनता है, और ऐसा तभी होता है जब महान् पुरुष उसमे सत्य, धर्म, तप, त्याग, सयम, यज्ञ इत्यादि उदार भावो को भर देता है। धार्मिक विश्वास के अनुसार प्रत्येक मत्र या धारणी की शक्ति विश्वास के सनातन महान् सत्य की ही कोई किरण होती है जो उस मत्र के अक्षरो में गर्भित हो जाती है। सत्य की शक्ति से ही जीवन के मुरझाए हुए विटप पल्लवित होते हैं। सत्य के बीज में प्ररोहण की महाशक्ति है। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर विश्वव्यापी सत्य के किसी न किसी अश का सकेत करता है।

इसी प्रकार और भी अनेक अभिप्रायो से इस सुन्दर नाट्य-विधि का निर्माण समझना चाहिए। प्राचीन भारतीय कला के अलकरण ही नाट्य के अभिप्राय बनाए गये। कला के अलकरणो को भी भावो की अभिव्यक्ति की बारह-खडी कहना चाहिए। पूर्ण घट, स्वस्तिक, धर्मचक्र, शख आदि अभिप्रायो के पीछे अर्थों की गहरी व्यजना है। उन प्रविभक्तियो या नाट्यागो का क्रमश उल्लेख किया जाता है—

(१) पहली प्रविभक्ति मे स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, पूर्णकलश, मीन युगल, दर्पण, इन आठ मागलिक चिह्नो के आकारो का नृत्य में प्रदर्शन किया गया। इसे मगल भक्ति-चित्र कहते थे।

(२) दूसरे भक्तिचित्र मे आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, सौवस्तिक, वर्धमानक, मत्स्याण्डक, मकराण्डक, पुष्पावली, पद्मपत्र, सागर-तरग, वासन्तीलता, पद्मलता आदि कलात्मक अभिप्रायो का नाट्य के द्वारा रूप खडा किया गया है। श्रेणी, प्रश्रेणि को प्राकृत में सेढि, पसेढि कहा गया है। हिन्दी का सीढी शब्द इसी से बना है। नृत्य में सेढि की रचना किस प्रकार की होती होगी इसका एक उदाहरण भरहुत स्तूप से मिले हुए एक शिलापट्ट के दृश्य के रूप मे देख सकते हैं। इस समय वह इलाहाबाद सग्रहालय में सुरक्षित है। इसमे एक प्रस्तार (पिरेमिड) का निर्माण किया गया है। नीचे की पक्ति मे आठ अभिनेता हाथो को कधो के ऊपर उठाए हुए खडे हैं। दूसरी पक्ति मे चार व्यक्ति हैं जिनमें से प्रत्येक के

पैर नीचे वाले दो व्यक्तियों के हाथों पर रुके हैं। तीसरी पंक्ति में दो व्यक्ति हैं और सबसे ऊपर उनके हाथों पर केवल एक पुरुष उसी प्रकार अपने दोनों हाथ ऊँचे उठाए हुए खड़ा है। नाट्य के ये प्रकार सम्प्रदाय-विशेष की संपत्ति न होकर विशाल भारतीय जीवन के अंग थे।

(३) तीसरे भक्तिचित्र में ईहामृग, वृषभ, तुरग, नर, मकर, विहग, व्याल, किन्नर, रुरु, शरभ, चमर, कुंजर, वनलता, पद्मलता का रूप अभिनय में उतारा गया।

(४) चौथी भक्ति में तरह-तरह के चक्रवाल या मण्डलों का अभिनय किया गया है। मथुरा के जैन स्तूप से प्राप्त आयाग-पट्टों पर इस प्रकार के चक्रवाल मिले हैं जिनमें दिक्-कुमारियाँ मण्डलाकार नृत्य करती हुई दिखाई गई हैं।

(५) आवलि संज्ञक पाँचवी प्रविभक्ति में चन्द्रावली, सूर्यावली, वलयावली, हंसावली, एकावली, तारावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली इन स्वरूपों का नृत्य-नाट्यात्मक प्रदर्शन किया गया है।

(६) छठी प्रविभक्ति में सूर्योदय और चन्द्रोदय के बहुरूपी उद्गमनोद्गमनों का चित्रण किया गया। भारतीय आकाश में सूर्य और चन्द्र का उदित होना प्रकृति की नित्य रमणीय घटनाएँ हैं। उनके दर्शन के लिये मनुष्य क्या देवों के नेत्र भी उत्सुक रहते हैं। कवि और साहित्यकार उनके लिये अनेक ललित कल्पनाओं से समन्वित सुन्दर शब्दावली का अर्घ्य अर्पित करते हैं। अपने सूर्योद्गम और चन्द्रोद्गम के दिव्य अपरिमित सौंदर्य को हमें जीवन की भाग-दौड़ में भूल नहीं जाना है। बत्तीस नाट्य-विधि की कल्पना करने वाले नाट्याचार्यों के मन उनके प्रति जागरूक थे। विशाल गगनांगण में सुनहले रथ पर बैठे हुए उषःकालीन सूर्य समस्त भुवन को आलोक और चैतन्य के नवीन विधान से प्रतिदिन भर देते हैं। कितने पक्षी अपने कलरव से उनका स्वागत करते हैं, कितने पुष्प उनके दर्शन के लिये अपने नेत्र खोलते हैं, कितने चराचर जीव उनकी प्रेरणा से जीवन के सहस्रमुखी व्यापारों में प्रवृत्त हो उठते हैं—ये कल्पनाएँ सूर्योदय के नाट्याभिनय में मूर्तिमती हो उठती होंगी। चन्द्र-सूर्य के आकाश में उगने, चढ़ने, ढलने और छिपने का पूरा कौतुक नृत्य में उतारा जाता था। आगे की तीन भक्तियों में क्रमशः यही दिखाया गया है।

(७) चन्द्रागमन और सूर्यागमन प्रविभक्ति। इसमें चन्द्र और सूर्य के प्राची दिशा से चलकर आकाश-मध्य में उठने के रूप का अभिनय किया जाता था।

(८) सूर्यावरण-चन्द्रावरण। इस में सूर्य और चन्द्र के ग्रह-गृहीत होने का

दृश्य दिखाया जाता था। प्रकाश से आलोकित सूर्य और ज्योत्स्ना से उद्योतित चन्द्र मनुष्य की बुद्धि और मन के विकास का ही प्रदर्शन करते हैं; किन्तु महापुरुष की सात्विक प्रेरणा से विकसित हुए मन बीच मे आसुरी अधकार या तमोगुण की छाया से किस प्रकार हतप्रभ हो जाते हैं और फिर किस प्रकार उस बाधा को हटा कर अधकार पर प्रकाश की विजय होती है, यही सघर्ष इस नृत्य-विधि मे दिखाया जाता था।

(९) सूर्यास्तमन-चन्द्रास्तमन। सूर्य और चन्द्र का स्वाभाविक विधि से अस्त हो जाना यह इस नाट्य-विधि का दृश्य था।

(१०) दशवी विभक्ति में चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूत-मण्डल, राक्षस-मण्डल, महोरग-मण्डल, गधर्व-मण्डल, इन नाना रूपो का प्रदर्शन किया जाता था। ये देव-योनियाँ नानाविध स्वभाव वाले मानवो की प्रतिरूप हैं।

(११) ग्यारहवें स्थान पर अनेक प्रकार की गतियो का प्रदर्शन किया जाता था। जैसे ऋषभ-ललित, सिंह-ललित, हयविलबित, गजविलबित, मत्त हयविलसित, मत्त गजविलबित, मत्त हयविलबित आदि आकृतियो से सुशोभित द्रुतविलबित नामक नाट्य-विधि का प्रदर्शन किया गया।

(१२) बाहरवी प्रविभक्ति मे सागर प्रविभक्ति, नागर प्रविभक्ति का प्रदर्शन हुआ।

(१३) तेरहवें स्थान मे नन्दा प्रविभक्ति, चम्पा विभक्ति, का प्रदर्शन किया गता। यह नन्दा और चम्पा नामक लताओ की अनुकृति-मूलक नाट्य-विधि थी।

(१४) चौदहवें स्थान में मत्स्याण्डक प्रविभक्ति, मकराण्डक प्रविभक्ति, जार-प्रविभक्ति, और मार प्रविभक्ति की नाट्य-विधि का अभिनय हुआ। इनमें से कई नामो का यथार्थ स्वरूप इस समय स्पष्ट नही होता, किन्तु नाट्य की प्रतिभा से नाट्याचार्यों को इनकी पुन कल्पना करनी होगी, अथवा साहित्य के ही किसी अग से इन पर प्रकाश पडना सम्भव है। इसके अनन्तर पाँच प्रविभक्तियो मे वर्णमाला का प्रदर्शन किया गया।

(१५) क वर्ग प्रविभक्ति।

(१६) च वर्ग प्रविभक्ति।

(१७) ट वर्ग प्रविभक्ति।

(१८) त वर्ग प्रविभक्ति।

(१९) प वर्ग प्रविभक्ति ।

(२०) इस विभाग में अशोक पल्लव, आम्रपल्लव, जम्बूपल्लव, कोशाम्ब पल्लव, इन प्रविभक्तियो का प्रदर्शन हुआ ।

(२१) तदनन्तर पद्म-लता, नाग-लता, अशोक-लता, चम्पक-लता, आम्र-लता, वासन्ती-लता, वन-लता, कुन्द-लता, अतिमुक्त लता, श्याम-लता, इन प्रविभक्तियोंके स्वरूप का प्रदर्शन अभिनय द्वारा किया गया, जिसे लता-प्रविभक्ति नामक इक्कीसवी नाट्य-विधि कहते थे ।

इसके अनन्तर निम्नलिखित दश नृत्य प्रविभक्तियो का प्रदर्शन हुआ ।

(२२) द्रुत नृत्य ।

(२३) विलम्बित नृत्य ।

(२४) द्रुत-विलम्बित नृत्य । दशकुमार चरित में कन्दुक-नृत्य के अन्तर्गत इसका वर्णन किया गया है ।

(२५) अञ्चित नृत्य ।

(२६) रिभित नृत्य ।

(२७) अञ्चित रिभित नृत्य ।

(२८) आरभट नृत्य (अत्यन्त उग्र विधान वाला नृत्य)

(२९) भसोल नृत्य (इसका ठीक अर्थ स्पष्ट नही । सभवत भसल या भ्रमर नृत्य मे इसका सबध था ।)

(३०) आरभट-भसोल नृत्य ।

(३१) उत्पात, निपात, सकुचित, प्रसारित, खेचरित, भ्रान्त, सम्भ्रान्त नामक गतियो का प्रदर्शन हुआ ।

(३२) इसके अनन्तर बहुत से देवकुमार और देवकुमारियो ने मिलकर भगवान् महावीर के जीवन-चरित की घटनाओ का नाट्य-प्रदर्शन किया, जैसे महावीर का देवलोक में चरित, अवतार, गर्भ-परिवर्तन, जन्म, अभिषेक, बालभाव, यौवन, कामभोग, निष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञानोत्पादन (कैवल्य-ज्ञान), तीर्थ-प्रवर्तन (उपदेश) और परिनिर्वाण आदि लीलाओ का प्रदर्शन किया गया। इस प्रकार यह दिव्य रमणीय तीर्थंकर चरित नामक बत्तीसवी नाट्य-विधि समाप्त हुई । इस नाट्य-विधि के अन्तर्गत चार प्रकार के वाद्ययत्र (तत, वितत, घन, सुषिर) चतुर्विध गीत (उत्क्षिप्त, पादान्त, मन्दाय, रोचित), चतुर्विध नाट्य (अञ्चित, रिभित, आरभट, भसोल), एव

चतुर्विध अभिनय (दार्ष्टान्तिक, प्रात्यन्तिक, सामान्यतो-विनिपात, लोकमध्यावसानित) द्वारा देवकुमार और देवकुमारियो ने अपूर्व रस-सृजन और कला-प्रदर्शन से दर्शको को मुग्ध कर दिया ।

अवश्य ही सुन्दर कलात्मक अभिप्रायो के अभिनय से उज्जीवित इस नृत्त-नाट्य मे धार्मिक भेदो के लिए अवकाश न था । महावीर के जीवन-चरित का अभिनय हो, राम और कृष्ण चरित हो, या बुद्ध का दिव्य चरित हो, वह तो नाटक की अन्तिम कडी थी । प्रत्येक महापुरुष का चरित एक ही अलौकिक सर्वत्र व्यापक महान् सृष्टि-सत्य और चैतन्य-तत्त्व की व्याख्या करता है । चरित के अन्तर्गत नीति और धर्म के अनेक गुण प्रकट होते हैं । उनका प्रदर्शन मानव मात्र के हृदय को प्रेरणा देने वाला होता है । अतएव द्वात्रिंशिक नाट्य-विधि को सच्चे अर्थों में प्राचीन भारतीय रगमच की सार्वजनिक विधि कह सकते हैं । इसके अभिनेताओ मे स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते थे । उनकी १०८ सख्या से ही इसका वृहद् रूप और सभार सूचित होता है ।



'काव्येषु नाटकं रम्यम्'

—प्रो० गुलाब राय

काव्य—रसरूप मनुष्य के हृदयगत आनन्द की अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में केवल यही अन्तर होता है कि पहला ससार निरपेक्ष और पूर्णतया आत्मगत होता है परन्तु काव्य का आनन्द ससार-निरपेक्ष तो नही होता किन्तु लौकिक से इस बात में भिन्न होता है कि उसमें व्यक्तित्व रहते हुए भी वह क्षुद्र स्वार्थो से ऊँचा उठा हुआ होता है। कवि का हृदय जन-साधारण के हृदय के साथ स्पन्दित हो मुखरित होता है। विज्ञान की अपेक्षा कवि का दृष्टिकोण अधिक मानवीय होता है। वैज्ञानिक मनुष्य को भी पत्थर, मेंढक, और बन्दर की तुलना में रख उसे प्रकृति के धरातल पर ले आता है और कवि प्रकृति का भी मानवीकरण, कर उसे भाव-समन्वित बना देता है। काव्य में विज्ञान का-सा सामान्यीकरण रहते हुए भी वैयक्तिकता और आनन्द की मात्रा अधिक रहती है। सामान्यीकरण में मानसिक तत्त्व रहते हुए भी वह बाह्य-सापेक्ष अधिक होता है किन्तु व्यक्ति विशेष में सम्बन्ध नही रहता।

विभाग— इसीके आधार पर पाश्चात्य देशो में काव्य के विषयगत या अनुकृत (Epic) और आत्मगत या प्रगीत (Lyric) रूप से दो विभाग किये गये हैं। अनुकृत में जगबीती अधिक रहती है और प्रगीत में आपबीती। भारतीय साहित्य-शास्त्र में काव्य के दृश्य और श्रव्य दो रूप बताये गये हैं। यह आधार काव्य की ग्राहकता के ऐन्द्रिक माध्यम पर निर्भर है। इस ग्राहकता के साथ ग्रहण करने वाले के बौद्धिक स्तर के साथ काव्य के प्रभाव-क्षेत्र का भी प्रश्न रहता है। दृश्य-काव्य में नेत्र और श्रवण दोनो के ही द्वारा काव्य का आस्वादन किया जाता है। ब्रह्मा से ऐसे ही खेल की याचना की गई थी जो दृश्य और श्रव्य दोनो हो—'क्रीडनकीयमिच्छामो दृश्य श्रव्य च यद्भवेत्' और श्रव्य-काव्य में श्रवणेन्द्रिय का ही काम रहता है। जहाँ दृश्य-काव्य में दो माध्यम होने के कारण दर्शक की कल्पना पर कम वल पडता है और प्रभाव अधिक सजीव रहता है वहाँ श्रव्य-काव्य और विशेष कर पाठ्य-काव्य का प्रभाव क्षेत्र सीमित रहता है। बालको और अशिक्षितो के लिए सूक्ष्म की अपेक्षा मूर्त और प्रत्यक्ष अधिक प्रभावोत्पादक होता है। मनुष्य का वर्णन चाहे जितना सजीव हो किन्तु

चित्र के सामने उसे हार माननी पडती है। जब चित्र चलते-फिरते हाड-माँस-चाम के भाव-भगिमामय हो तब नकल और असल मे विशेष अन्तर नही रहता है।

नाटक—दृश्य-काव्य में रूपक, नाटक आदि आते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि दृश्य-काव्य की ग्राहकता के दो ऐन्द्रिक माध्यम हैं—नेत्र और श्रवण। जो नाटक मे दिखाया जाता है वह वास्तव में दृश्य श्रव्य ही होता है किन्तु वह नितान्त बाह्य जगत से सम्बन्ध नही रखता है। उसका मूल स्त्रोत होता है—भाव-जगत्, जो कि काव्य की आत्मा, रस का आधार है। नाट्य-शास्त्र में आचार्य भरत ने ब्रह्मा के मुख से, जिनके पास पीडा और क्लेश से ग्रस्त संसार के आनन्द सुलभ साधन की याचना करने गये थे, कहलाया है. 'त्रैलोकस्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्' (नाट्य-शास्त्र १।१०४)। नाटक तीनो लोको के भावो का अनुकरण है। प्रगीत काव्य में भी भाव रहते हैं किन्तु वे वैयक्तिक कुछ अधिक होते हैं। इसमे व्यापक मानवता के भाव रहते हैं। इसमें विषयगतता के साथ भाव-प्रधानता भी रहती है। नाटक का भावानुकीर्त्तन लोक वृत्तानुकरण पर आश्रित होता है।

'नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतं ॥'

नाट्य-शास्त्र १–१०८।१०९

दशरूपककार ने नाटक को अवस्थाओ की (जो मानसिक अधिक होती है) अनुकृति कहा है। साहित्य-दर्पणकार ने अभिनय-तत्त्व को प्रधानता देते हुए रूप के आरोप के कारण रूपक कहा है—'रूपारोपात्तु रूपकम्'। अलङ्कार में उपमेय पर उपमान का (मुख पर चन्द्र का) आरोप रहता है। रूपक मे नट पर अनुकार्य दुष्यन्त आदि का आरोप रहता है। नट से सम्बन्ध रखने के कारण नाटक नाटक कहलाता है। नाटक यद्यपि रूपक का भेद है (नाटक दशरूपको में एक है) किन्तु अब वह व्यापक बन गया है।

अरस्तू की परिभाषा—अरस्तू ने गम्भीर नाटक (Tragedy) को उत्तम नाटक का प्रतिनिधि मानकर उसकी परिभाषा इस प्रकार की है।

'A Tragedy, then, is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude complete in itself, in language, with pleasurable accessories, each kind brought in separately in the parts of the work, in a dramatic, not in a narrative form, with incidents arousing pity and fear wherewith to accomplish its catharsis of such emotions.'

अर्थात 'ट्रेजडी उस कार्य का अनुकरण है जिसमें गम्भीरता के साथ आकार की स्वत पूर्णता हो और जो सब प्रकार के प्रसन्नतोत्पादक उपकरणो से अलकृत भाषा में व्यक्त हो और जिसकी रचना नाटकीय ढग से की गई हो, न कि प्रकथन या विवरण के रूप में की गई हो (यही गुण उसको महाकाव्य से पृथक् कर देता है)। इसमें ऐसी घटनाएँ रहती हैं जो करुणा और भय को जागृत कर उन भावो का रेचन या निकास कर देती हैं। भावो के रेचन (निकास) द्वारा उनका परिष्कार हो जाना नाटक का मुख्य उद्देश्य है। इस परिभाषा में ट्रेजडी के निम्नलिखित तत्त्व मिलते हैं

विश्लेषण—(१) गाम्भीर्य (२) स्वत. पूर्णता (३) अलकरणपूर्ण भाषा (४) विवरण के स्थान में अभिनयात्मकता (५) करुणा और भय जागृत करने वाली घटनाएँ (६) उद्देश्य रूप से भावो का परिष्कार।

महत्त्व—हमारे यहाँ भावों को प्राधान्य तो दिया गया है किन्तु उनकी परिधि सीमित नही बनाई गई है। उसकी कलात्मकता पर काफ़ी बल दिया गया है और उसके साथ उसके ज्ञानात्मक तत्त्व की भी उपेक्षा नही की गई है। साथ ही इसके उद्देश्यो में नैतिकता को प्रधानता दी गई है।

लोकोपदेशजनन नाट्यमेतद्भविष्यति।
न तज्ज्ञान न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला॥
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्नदृश्यते।

—प्रथम अध्याय

नाटक के आनन्द और विश्रामदायी तत्त्व को भी भरतमुनि ने पर्याप्त महत्त्व दिया है।

दुखार्तानांश्रमार्ताना शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजनन लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥

नाट्य-शास्त्र १–१११।११२

उसको धर्म, अर्थ और काम का भी साधक और दुर्विनीत लोगों की बुद्धि को ठिकाने लगाने वाला, नपुसक भीरु और कायरो को बल प्रदान करने वाला तथा शूरों के लिए उत्साहवर्द्धक बताया है। साथ ही अज्ञानियो को ज्ञान देने वाला और पडितो को पाडित्य देने वाला, विलासियों के लिए विलास का देने वाला, दुखार्त लोगो के चित्त की स्थिरता और शान्ति का देने वाला कहा है।

धर्मो धर्म प्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमन क्रिया॥

क्लीवानां धाष्ट्र्यं करणमुत्साहः शूरमानिनाम् ।
अबोधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ॥
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च ।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्न चेतसाम् ॥

नाट्य-शास्त्र १–१०५।१०८

यह महत्त्व भक्तो का-सा श्रुतिपाठ नही वरन् वास्तविक है क्योकि इसकी ग्राहकता का प्रभाव व्यापक है । इसीलिये इसको पचमवेद कहा है और इसका अधिकार शूद्र या कम ज्ञान वाले लोगो को भी बतलाया है—'तस्मात् सृजापर पचम सार्ववर्णिकम्' । नाटक, महाकाव्य, और उपन्यास तीनो ही काव्य रस के साथ जनता में उपदेश की कटु-औषधि को ग्राह्य बनाने के साधन रहे हैं किन्तु तीनो में भेद हैं ।

महाकाव्य, उपन्यास और नाटक—जगबीती का वर्णन गद्य और पद्य दोनो मे हो सकता है । पद्य में जो वर्णन होताहै, वह प्रायः महाकाव्य के रूप में होता है । रामायण हमारे यहाँ का आदि महाकाव्य है । महाकाव्य मे पद्य के आकार के अति-रिक्त जातीय अथवा युग की भावना का प्राधान्य रहता है । तुलसी के समय हिंदू जनता की भावनाओ का जैसा जीता-जागता चित्र रामचरितमानस में मिलता है वैसा अन्यत्र नही मिलता । उसका नायक जाति का नायक और प्रतिनिधि होता है । महा-काव्य एक प्रकार से सस्कृति-प्रधान होता है । वाल्मीकि रामायण के आरम्भ में जैसे पुरुषोत्तम की महर्षि वाल्मीकि को चाह थी, वे सभी गुण भारतीय संस्कृति के मान्य गुण थे । रघुवश में भी 'शैशवेऽभ्यस्त विद्याना यौवने विषयैषिणा' आदि श्लोको मे भारतीय सस्कृति की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है । साकेत में भी 'मैं आर्यो का आदर्श बताने आया' मे सास्कृतिक पक्ष का ही उद्घाटन किया गया है ।

गद्य के अनुकरणात्मक रूपो में उपन्यास की मुख्यता रहती है । नाटक गद्य और पद्य के बीच की चीज है और अब उसमे गद्य का प्राधान्य होता जाता है । नाटक शुद्ध गद्य तो नहीं होता तो भी उसकी गणना प्राय. गद्य मे ही की जाती है । (गीत-नाट्यो की दूसरी बात है) । उसमें कथोपकथन की प्रधानता रहने के कारण वह गद्य के ('गद्' धातु बोलने के अर्थ में आता है) शब्दार्थ का अधिक अनुकरण करता है । महाकाव्य की अपेक्षा इन दोनो में व्यक्ति अर्थात् चरित्र-चित्रण की प्रधा-नता रहती है । रामायण और उत्तररामचरित के राम में थोडा अन्तर है । रामायण के राम जातीय नेता, उद्धारक, जाति-रक्षक और आदर्श पुरुष हैं । उनमें आर्य-सभ्यता मूर्तिमान होकर आती है । उत्तररामचरित के राम व्यक्ति के रूप में आते हैं । वे राजा हैं किन्तु राजा के साथ वे अपना निजी सुख-दुख रखते हैं । सब चीजो में उनका

निजी सम्बन्ध दिखाई पडता है। उत्तररामचरित में हमको उनके हृदय का अधिक परिचय मिलता है। जब वे कहते हैं कि दुःख के लिये ही राम का जीवन है, तब उनका व्यक्तित्व निखर आता है।

उपन्यास और नाटक में व्यक्ति का प्राधान्य रहता है, किन्तु इनके दृष्टिकोण में अन्तर है। उपन्यास चाहे जिस रूप में हो, भूत से ही सम्बन्ध रखता है। वह आख्यान का ही रूप है। आजकल अंग्रेजी में भविष्य से सम्बन्ध रखने वाले भी उपन्यास लिखे गये है किन्तु उनमें भी लेखक भविष्य को देखकर यानी उसे भूत बनाकर उसका पीछे से वर्णन करता है। नाटक का भी विषय भूत का ही होता है, किन्तु नाटककार उसे प्रत्यक्ष घटना के रूप में दिखाना चाहता है। वह भूत को आँखो के सामने घटाने का प्रयत्न करता है। उपन्यास घटी हुई घटना को कहता है। नाटककार कहता नही है, वरन् वह घटना की प्रत्यक्ष में आवृत्ति कर द्रष्टाओं को उनकी ही आँखो से दिखाना चाहता है। वह सिनेमा के आपरेटर की भाँति अपना व्यक्तित्व छिपाये रखता है। यदि उसका व्यक्तित्व कही दिखाई पडता है तो वह किसी पात्र के रूप में पाठको के सामने आता है। उसको अगर पाठक लोग आवरण के भीतर से पहिचान लें तो दूसरी बात है लेकिन वह स्वय आवरण उतारता नही है। इसी आधार पर काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किए गये हैं।

महाकाव्य में विषय का विस्तार तो उपन्यास का-सा रहता है किन्तु महाकाव्य आदर्शोन्मुख अधिक होता है। उपन्यास जीवन का पूरा चित्र देने का प्रयास करता है। यद्यपि उपन्यास में भी चुनाव रहता है तथापि नाटक में चुनाव की कला अधिक परिलक्षित होती है। वह ऐसे दृश्य चुनता है जिनसे कथन का तारतम्य टूटे बिना सक्षेप में पात्रों का चरित्र व्यजित हो जाय और रस की अभिव्यक्ति हो जाय। इसीलिए नाटक में तीन मुख्य तत्त्व माने गए हैं: वस्तु, नायक और रस। इन्हीं के आधार पर रूपको का विभाजन होता है। उपन्यास की अपेक्षा नाटक में रस की अभिव्यक्ति कुछ अधिक होती है कम से कम भारतीय नाटकों में। पाश्चात्य नाटको में उद्देश्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है। नाटक में महाकाव्य और उपन्यास जैसी वाह्यार्थता रहती है किन्तु पात्रो की प्रगीत काव्य जैसी भाव-परायणता भी रहती है। नेत्रो के अनुरजन के साथ शिक्षा और उपदेश 'कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे' की उक्ति को सार्थक करता है। नाटक में उपन्यास की इसी वास्तविकता के साथ महाकाव्य के से आदर्श की व्यजना रहती है। नाटक एक साथ मनोरजन और शिक्षा का कारण बन जाता है।



हिन्दी लोक नाट्य का शैली-शिल्प

—डॉ० दशरथ ओझा

प्रसिद्ध नाट्यकार बर्नाड शॉ ने एक बार नाटको की उत्पत्ति के विषय में अपना मत प्रगट करते हुए कहा था—नाटक हमारी दो उद्दाम प्रवृत्तियों के सम्मेलन से पैदा हुआ है—नृत्य देखने की प्रवृत्ति और कहानी सुनने की प्रवृत्ति। इस उक्ति को यदि अपने देश के वातावरण में रखकर देखें तो नृत्य और इतिवृत्त के साथ सगीत को और समाविष्ट कर देना होगा। यूरोप की जन-रुचि के विषय में तो नही कह सकते किन्तु हमारी लोक-रुचि नृत्य और सगीत के उपरान्त कहानी को स्थान देती है। उसका प्रमाण यह है कि ग्रामीण जनता को यदि नृत्य देखने और मधुर सगीत सुनने को मिल जाये तो सुसगठित इतिवृत्त की उन्हे अपेक्षा नही रहती।

विद्वानो का मत है कि लोक-नाट्य का मूल आधार नृत्य है। भारत ही नही विश्व के विविध भागो मे लोक-नाट्य को नृत्य पर अवलम्बित माना जाता है। प्रमाण यह है कि जापान का 'नोड्रामा' वहाँ के 'ता-माई' नामक नृत्य का विकसित रूप है। यह नृत्य धान की फसल पकते समय कृषक-हृदय के उल्लास को अभिव्यक्त करता था, जो कालान्तर में 'नोड्रामा' नाम से विख्यात हुआ।

यूनान मे फसल काटते समय एक विशेष प्रकार का नृत्य प्रचलित था जिसे 'द सेक्रेड थ्रशिंग फ्लोर आफ टिप्टोगमस' कहते थे, जिसने समय पाकर नाटक का रूप धारण किया। उल्लास-सूचक नृत्यो के अतिरिक्त पूर्ण आयु प्राप्त करने वाले मृत—व्यक्ति के शव को सस्कार के लिए ले जाते समय भी अनेक देशो मे नृत्य की प्रथा थी। ई० पूर्व पाँचवी शताब्दी से थेगियस जाति में यह प्रथा पाई जाती थी। रोमन-जाति में मृतक को दफनाने के लिए ले जाते समय पूर्वजो की आकृति के मुखौटे पहन कर जलूस के साथ नृत्य करने की प्रथा थी। वर्मा के नाट, जापान के कगूरा, इल्यू-सिनियस के रहस्य और मिस्र के ओसिरिस जातियो में मृत-व्यक्तियो की उपासना और तत्सम्बन्धी नृत्य प्रचलित थे। रिज्वे महोदय का मत है कि ये विशेष नृत्य नाटक की उत्पत्ति के मूल आधार हैं।

वेद में नृत्य

हमारे देश में भी नृत्य का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वेदो में सर्वप्रथम

इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। रगमच के ऊपर अपना उल्लासमय नृत्य दिखलाने वाली नर्तकी की समता कवि प्रातःकाल प्राची क्षितिज के रगमच पर अपने शरीर को विशद रूप से दिखलाने वाली ऊषा के साथ करता हुआ अपनी कला-प्रियता का परिचय देता है।

यजुर्वेद और आपस्तम्भ श्रौत सूत्रो में ऐसे नृत्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें आठ दासी कन्यायें सिर पर जल के घडे रखकर वाद्य-सगीत के साथ 'माजीली' गीत गाती हुई घूम-घूम कर नाचती थी।

हिन्दू-मन्दिरो में देवदासिवो के नृत्य की परम्परा अति प्राचीन प्रतीत होती है। काश्मीर महाराज जयापीड के पुण्ड्रवर्धन मन्दिर में नृत्य करने वाली नर्तकी का पटरानी तक वन जाना प्रसिद्ध घटना है। किन्तु यह समझना भ्रामक होगा कि मन्दिरो में पुरुष नर्त्तको का सर्वथा अभाव था। 'शिलप्पदिकारम्' नामक तमिल के अति प्राचीन काव्य एव चोलकालीन शिलालेखो में पुरुप नृत्यकारो के शाक्कै-कूत्तु नृत्य का उल्लेख मिलता है। मन्दिरो में नृत्य प्रदर्शन के लिए नियत स्थान नाट्य-मडप, नट-मन्दिर, कूत्तम्बलम् नाम से अभिहित थे।

हमारे देश में नृत्य-कला इतनी विकसित हुई कि इसने नैतिकता के पक्षपातियो को भक्ति-परम्परा के द्वारा और भौतिकतावादियो को लौकिक श्रृगार के रसास्वादन से सन्तुष्ट कर दिया। प्रथम वर्ग मन्दिरो और मठो में नाट्य-शास्त्र के नियमो के अनुसार भगवान की लीलाओ को नृत्य-नाटको के रूप में देखता रहा। दूसरा ग्रामीण वर्ग शास्त्रीय नियमो से मुक्त रह कर अपनी मौलिकता के वल से नृत्य को सगीत रूपको में विकसित करता रहा। प्रथम कोटि के नृत्यकार आन्ध्र में कूशुपडि, तजौर में भागवतकम् और आसाम मे ओजापक्कि नाम से प्रतिनिधि नाट्यकार माने गए किन्तु शास्त्रीय नियमो से अपरिचित लोक-नाट्यकार साहित्य के क्षेत्र से बहिष्कृत समझे गए। ज्यो-ज्यो नागरिक जीवन और ग्रामीण जीवन का भेद-भाव मिटता जा रहा है, त्यो-त्यो लोक-कवि की उत्कृष्ट रचनाएँ सम्मान की अधिकारिणी समझी जा रही हैं।

हम पूर्व कह आए हैं कि नृत्यकला नाटको की जननी है। इस कला का वरद हस्त मिलने पर काव्यो और पुराणो का भी नाटक रूपान्तर उपस्थित किया गया। उडीसा के शिलालेखो के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि जगन्नाथपुरी के मन्दिर मे सन् १४७७ ई० में प्रतापरुद्रदेव की प्रेरणा से जयदेव का 'गीत गोविन्द' नृत्य-रूप में अभिनीत हुआ। एक शिलालेख के आधार पर यह प्रमाणित हो गया है कि उस समय जगन्नाथ जी के मन्दिर में गीत गोविन्द का ही गान विहित था।

१८वी शती में कैशिकी पुराण का नाटक रूपान्तर पूर्णपाणि नरसिंह महाराज की आज्ञा से खेला गया।

दूसरी ओर जन-कवियो ने गूढ भाषा से अपरिचित जनता के लिए पौराणिक, धार्मिक, सामाजिक एव राजनीतिक आख्यानो को मनोरजक रीति से हृदयगम कराने के लिए नृत्य को प्रधान साधन बनाया। वे लोग घटनाक्रम के विकास, और पात्रो के वार्त्तालाप को शब्दो के अतिरिक्त नृत्य की मुद्राओ से अभिव्यक्त करते रहे। जनकवियो ने नृत्य, सगीत के उपरान्त काव्य-तत्त्व को महत्त्व दिया। वे घटना-क्रम को नाटकीय स्थिति तक शास्त्रीय विधि-विधान के अनुसार नही ले जाते, वे घटनाओ को स्वच्छन्द रीति से विचरण करने देते हैं। यदि काकतालीय न्याय से शास्त्रीयता का निर्वाह हो जाए, तो भी उन्हे इसका भान तक नही होता। नाट्य-शास्त्र के आधार पर कतिपय विद्वानो का मत है कि प्रारम्भ मे हमारे देश में नृत्य की एकरूपता थी। किन्तु स्थानीय प्रभाव के कारण कालान्तर में इसके अवान्तर भेद होते गए। आज मूलत. चार रूपो में—भरतनाट्यम्, कथाकली, मनीपुरी और कथक नृत्य—मे इसकी अभिव्यक्ति हो रही है।

डाक्टर कीथ का मत है कि वैदिक यज्ञो के अवसर पर होने वाला लोक-नृत्य मन्दिरो का आश्रय पाकर यात्रा नाटक, रासनाटक, भरतनाट्य आदि में विकसित हो गया। इस प्रकार लोक-नाटको की दो धाराएँ हो गई। एक धारा से धार्मिक नृत्य-नाटको की परम्परा चली और दूसरी परम्परा लोक-नाटको के रूप मे विकसित होती रही। इन धार्मिक नाटको ने कला का एक स्वरूप धारण किया किन्तु सामान्य जनता ने दूसरे नृत्य-नाटको को केवल विनोद के लिए ग्रहण किया और उसकी कलात्मक बारीकियो को उपेक्षित माना।

जन-सामान्य के लिए पवित्र पर्व और ऋतु-सम्बन्धी उत्सव मूलत. मनोविनोद के उत्तम अवसर थे। पण्डित और पुजारियो ने धार्मिक उत्सवो का जब पारलौकिकता से ही नाता जोडा और सस्कृत नाटक राज-प्रासादो तक सीमित रह गया तो सामान्य जनता ने विनोद का स्वतन्त्र साधन निकाला। आर्यो के अति प्राचीन पर्व होलिका-दहन को लीजिए। (कुछ विद्वानो का मत है कि आर्यो के भारत में आने से पूर्व यह पर्व मनाया जाता था क्योकि इससे मिलता-जुलता रूप यूरोप मे आज भी मिलता है। गत वर्ष को मृतक मानकर उसका दाह सस्कार किया जाता था और उस अवसर पर नृत्य-गीत के द्वारा जनता मनोविनोद किया करती थी।) भारत में जनता का सबसे अधिक उल्लासकारी यह पर्व आज भी तद्वत् चलता जा रहा है। इस अवसर पर नृत्य और नाट्य की छटा गाँव-गाँव देखने को मिलती है। होलिका मे अग्नि

प्रज्वलित होने पर ग्रामीण जनता सामूहिक नृत्य-गान के द्वारा आमोद मनाती है । इस अवसर पर प्रहसन, भाण, नाटक आदि खेले जाते हैं जिनका मूलाधार नृत्य होता है ।

जननाटक का तंत्र

जन नाटक से हमारा तात्पर्य उन नाटको से है जिनके अभिनय के लिये रगमच और प्रसाधन की विशेप तैयारी नही करनी पडती । सामान्य शिक्षित व्यक्ति ग्रामीणो के लिये जिन नाटको का अभिनय करते हैं वे लोक-नाट्य कहलाते हैं । इन नाटको मे कीर्त्तनियाँ, विदेसिया, स्वाग, रास, लद्दा, भवाई, लडित, तमाशा, नौटकी, कुचुपुडि लैहोरोबा आदि प्रसिद्ध हैं ।

नृत्त, नृत्य, नाटय

लोकनाटच-साहित्य को समझने के लिये नृत्त, नृत्य और नाटच का अन्तर समझना आवश्यक है ।[1] नृत्त में केवल अग विक्षेप होता है । और यह अग विक्षेप ताल और लय पर आश्रित होता है । दक्षिण में अलरिप्पु और जठिस्वरम् इसी कोटि में आते हैं ।

नृत्य—'नृती गात्र विक्षेपे' । नृती में क्यप् प्रत्यय लगाकर नृत्य शब्द बनता है । भावाश्रय होने वाले नृत्य की तीन विशेषतायें धनिक इस प्रकार लिखते हैं :—

(१) नृत्य में भावो का अनुकरण प्रधान रहता है ।

(२) इसमें आगिक अभिनय पर बल दिया जाता है ।

(३) इसमें पदार्थ का अभिनय रहता है ।

अभिनय-दर्पणकार लिखते हैं —

> आस्येनालम्वयेद्‌गीत हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत् ।
> चक्षुम्या दर्शयेद्‌भाव पादाम्यां तालमादिशेत ।

'मुख से गीत का सचार हो, हाथो की मुद्रा से अर्थ की स्पष्टता हो नेत्रो से भावो का प्रस्फुटन हो और ताल-लय के अनुसार पद-सचरण हो ।'

नृत्त और नृत्य में अन्तर

(१) नृत्त में अग-विक्षेपण केवल ताल और लय के सहारे होता है किन्तु नृत्य में वह भावो के आधार पर अवलम्बित रहता है ।

१—नृत्ततालयाश्रयम्

(२) नृत्त में किसी विषय का अभिनय अभीष्ट नही किन्तु नृत्य में पदार्थ का अभिनय आवश्यक है।

(३) नृत्त केवल सौन्दर्य-विधेयक है किन्तु नृत्य भावाभिनय में सहायक।

(४) नृत्त स्थानीय होता है किन्तु नृत्य सार्वभौमिक।

नाट्य

नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे मतभेद है। 'नाट्यदर्पण' इसकी उत्पत्ति 'नाट्' धातु से मानता है किन्तु 'नाट्यसर्वस्वदीपिका' में इसकी उत्पत्ति मूल धातु 'नट्' से मानी गई है। कुछ लोग 'नट्' धातु को 'नृत्' धातु का प्राकृत रूप मानते हैं। किन्तु बहुमत इस पक्ष में है कि, नाट्य शब्द 'नट्' धातु से बना है जिसका अर्थ है अभिनय करना। धनजय और धनिक से नाट्य की विशेषताएँ बताई हैं :—

१—नाट्य को रूपक कहने का कारण यह है कि अभिनयकर्त्ता पर मूल-कथा के व्यक्तियो का आरोप[1] किया जाता है।

२—नाट्य में नायक की धीरोदात्त, धीरोद्धत आदि अवस्थाओ और उनकी वेश-रचना आदि का अनुकरण[2] प्रधान रहता है।

३—नाट्य में सात्विक अभिनय प्रमुख रूप से विद्यमान होता है।

४—नाट्य में वाक्यार्थ का अभिनय होता है।

५—नाट्य रसाश्रित[3] होता है।

अन्तर

नृत्य और नाट्य दोनो अनुकरणात्मक होते हैं किन्तु प्रथम में भावो का अनुकरण पाया जाता है और द्वितीय में अवस्थाओ का। नृत्य में कथोपकथन की अपेक्षा नही रहती, किन्तु नाट्य का यह आवश्यक अग है। नृत्य केवल नेत्र का विषय है किन्तु नाट्य नेत्र और श्रवण दोनो का। नृत्य में पदार्थ का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है किन्तु नाट्य रसाश्रित होने के कारण वाक्य-अभिनय की अपेक्षा रखता है।

रूपकों में नाटक

रूपक और उप-रूपको के भेद-प्रभेदो की संख्या ३० तक पहुँच गई है। उप-रूपक नृत्य के अधिक समीप हैं और रूपक उप-रूपको के विकसित रूप हैं। रूपको में

---

१. रूपकं तत्समारोपात्

२. अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्

३. दशधैव रसाश्रयम्

भी नाटक की गणना पूर्ण विकसित रूप में मानी जाती है । जिस दृश्य रूपक का इतिवृत्त प्रख्यात और नायक राजवश का पुरुष हो जिसे दिव्याश्रय प्राप्त हो, जो नाना विभूति एव विलासादि गुणों से सयुक्त हो, जिसमें उपयुक्त सख्या वाले अक और प्रवेशक हो जिस काव्य में राजाओ के चरित्र, उनके क्रिया-कलाप उनके सुख-दुख से अनेक भावो और रसो का आविर्भाव हो वह नाटक[1] कहलाता है ।

नाट्यशास्त्र　१८ अध्याय ।

राजकीय सरक्षण में होने वाले नाटको में उपर्युक्त शास्त्रीय गुणो का निर्वाह अनिवार्य था । किन्तु लोक-नाटको में जन-जीवन की अभिव्यक्ति स्वाभाविक थी अत लोक-नाटको का परीक्षण नाट्य-शास्त्र के नियमों के आधार पर करना उपयुक्त न होगा । जन-नाटक की कलात्मकता का परीक्षण करने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि उनमे नृत्य की रमणीयता के साथ-साथ नाटकत्व किस मात्रा में विद्यमान होता है । नाटकत्व के लिए कथोपकथन के अतिरिक्त कोई न कोई कथानक अनिवार्य-सा माना जाता है । कथानक में जितनी सुसम्बद्धता होगी, आरोहावरोह रहेगा और घटनाएँ कौतूहलवर्द्धक होगी, नाटक उतना ही प्रभावशाली होगा । तात्पर्य यह है कि नाटक में नृत्य एव कथोपकथन के अतिरिक्त घटनाओ की सुसम्बद्धता अनिवार्य है । जिन खेलो में ये सभी गुण विद्यमान होते हैं वे उच्च कोटि के नाटक माने जाते हैं । किन्तु जन-नाटकों में कथानक की सुसम्वद्धता के लिए कार्यावस्था, अर्थ-प्रकृति एव सन्धि-योजना का उतना ध्यान नही रखा जाता जितना उनके समयोपयोगी और जनरुचि के अनुरूप होने का ।

नृत्य के अतिरिक्त लोक-नाटक में सबसे अधिक ध्यान सगीत का रखना होता है । इसका कारण है कि अर्ध-शिक्षित एव अशिक्षित जनता तक कवि-भाव पहुँचाने का वाहन मधुर गीत होता है, प्राजल भाषा नहीं । अर्थ-गाम्भीर्य से अपरिचित जनता को सगीत की सरसता, नृत्य की मुद्रा एव पात्रो के अभिनय के कारण भाषा-ज्ञान की अल्पता खटकने नही पाती । लोक-नाटक की यही सबसे बडी विशेषता है । लोक-नाटको में कथानक के मन्थर प्रवाह के मध्य नृत्य-सगीत की लघु तरणी थिरकती

१.　प्रख्यातवस्तुविषये प्रख्यातोदात्त नायक चैव ।
राजिष वंश चरित तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥१०॥
नानाविभूति सयुक्तमृद्धि विलासादिभिर्गुणैश्चैव ।
अकप्रवेशकाढ्य भवति हि तन्नाटकं नाम ॥११॥
नृपतीना यच्चरित नानारस भाव सभूत बहुधा ।
सुख दुःखोत्पत्तिकृतं भवति तन्नाटकं नाम ॥१२॥

चलती है। इसी कारण दर्शक १० बजे रात्रि से सूर्योदय तक नाटक का रसास्वादन करता रहता है।

लोक-नाटकों में संगीत-नाटक का स्थान

संगीत-नाटक के नाम पर लोक-नाट्य परम्परा में अनेक प्रकार के नाटक अभिनीत होते हैं। प्रतिभा किसी जाति विशेष या वर्ग मे सीमित नही रहती। प्रकृति के प्रांगण में विचरण करने वाले ग्राम्य जीवन से प्रभावित होकर अनेक अर्द्ध शिक्षित एव अशिक्षित व्यक्तियों ने प्रतिभा-ज्ञान के बल पर ऐसी रचनाएँ की हैं जिनकी गणना सत्साहित्य में की जाती है। अपढ जुलाहा कबीर, वंश-परम्परा से शास्त्र-ज्ञान-व चित चर्मकार रैदास, ग्रामीण समाज में परिपालित जायसी आदि मस्ती के झोके में जो पद कह गये वे साहित्य के शृंगार बन गए। जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र मे महानुभावो ने प्रतिभा ज्ञान के बल से उच्च कोटि का साहित्य निर्मित किया है उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में भी कतिपय मेधावी ग्रामीणो ने नवीन प्रयोगो द्वारा रम्य रचनाएँ की हैं। इन विविध प्रयोगो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है।

सर्वप्रथम अपने आनन्दोद्रेक को अभिव्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्दो के अभाव में किसी ग्रामीण ने मुद्राएँ प्रदर्शित की होगी। जब शब्द किन्ही कारणो से मौन धारण कर लेते हैं तो अंगुलि-विक्षेप के द्वारा मूक व्यक्ति अपने हृद्‌गत भावो को व्यक्त करने को व्याकुल हो उठता है। यही मूकाभिनय या पेन्टोमाइम कहलाता है। मूक अभिनय के पश्चात् जब नृत्य और सगीत का सयोग हो गया और उस में संगीत की अपेक्षा नृत्य की प्रधानता रही तो वह अभिनय 'बैले' बन गया। कालान्तर में गीतो में प्रभविष्णुता आ गई और नृत्य से उनको प्रधानता दी जाने लगी। इस प्रकार जहाँ 'बैले' में गीत नृत्य पर आधारित थे वहाँ गीतो की प्रमुखता के कारण नृत्य गीतों पर आधारित बन गये इस प्रकार संगीत-नाटक का जन्म हुआ। ये सगीत-नाटक दो रूपो में विकसित हुए। एक रूप तो संगीत को ही प्रमुख मानकर पल्लवित होता रहा, किन्तु दूसरा रूप कथानक एव कथोपकथन में भी नाटकीयता का समावेश करता रहा।

विभिन्न भाषाओं में संगीत नाटक

संगीत-नाटक किसी न किसी रूप में प्रत्येक भाषा में विरचित हुए हैं और अद्यापि रचे जा रहे हैं। असम में कीर्तनिया, बंगाल में जात्रा, बिहार में बिदेसिया, संयुक्त प्रान्त में रास, स्वाग, पंजाब में गिद्दा, गुजरात मे भवाई, महाराष्ट्र में गोंधट, आन्ध्र में यक्षगान की प्रसिद्ध लोक-नाट्य परम्परा पाई जाती है। यहाँ संगीत-नाटको का

संक्षेप में परिचय दिया जायगा। सर्व प्रथम दक्षिण के नाटको पर प्रकाश डालना समीचीन होगा।

यक्षगान

दक्षिण में यक्षगान नामक नाटक आज भी प्रचलित है। इन नाटको का इतिहास आठवी शताब्दी के शिलालेखो में उपलब्ध है। विजयनगर राज्य में ब्राह्मण-मेला नामक कलाकारो का समुदाय अभिनय के लिए प्रसिद्ध था। उक्त राज्य के अध पतन के दिनो में ये कलाकार तंजोर राज्य के आश्रय में रहने लगे। ये लोग राम और कृष्ण की लीलाओ को गान द्वारा प्रस्तुत करते। इस शैली में अभिनय के समय पात्र यक्ष गन्धर्वों का रूप धारण करते थे इस कारण ये संगीत-रूपक यक्ष-गान नाम से प्रसिद्ध हुए। ऐसे नाटको के सर्वश्रेष्ठ रचयिता विप्र नारायण और राजगोपाल स्वामी हैं। इनके यक्ष-गानो का आज भी प्रचार है। मन्दिर के सम्मुख विशाल मैदान में दो मशालो के प्रकाश के मध्य मृदंग और द्रोन की ध्वनि के साथ-साथ रक्तिराग में देव-चरित का गान सहस्त्रों ग्रामीण जनता को आज भी मुग्ध बनाता रहता है।

दक्षिण मे कथाकली, भरतनाट्यम्, पठकम, कटयूकोट्टिकल मोहिनियत्तम, कोरत्तियत्तम, तुल्लल, एलामुत्ति, पुरप्पतु एव ६ प्रकार के भगवतीपत्तू (तिय्यातु, पन, पत्तु, कनियरकलि, मुतिएत्तु) प्रसिद्ध संगीत-नाटक हैं।

यात्रा[1]

यात्रा-नाटको का उद्‌गम कब और कैसे हुआ इस विषय में विद्वानो ने समय-समय पर विचार किया है। प्रागैतिहासिक काल की नाट्य-परम्परा को यदि पृथक् रखकर देखे तो सर्वप्रथम बौद्ध ग्रन्थ 'ललित-विस्तार' में यात्रा-नाटकों का उल्लेख मिलता है। तदुपरान्त यात्रा का सबसे अधिक सम्बन्ध जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा, स्नान-यात्रा आदि से जोडा जाता है। श्रीमद्‌भागवत के उपरान्त कृष्ण की रास-लीलाओ से यात्रा-नाटक अत्यधिक प्रभावित हुए और वैष्णव धर्म के अभ्युदय के दिनों में ये नाटक विकास की चरम कोटि पर पहुँच गए।

यदि प्रागैतिहासिक काल को देखे तो भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में यात्रा का संकेत मिलता है। Mr. E. P. Horcuiter का तो मत है कि वैदिक काल में भी यात्रा-नाटक प्रचलित थे।[2]

---

१ प्राचीन काल में धार्मिक मेलों को यात्रा कहते थे।

2 Even the Vedic age knew yatras, a memorable heirloom of Aryan antiquity The gods of the Rig-Veda were hymned in choral procession Some of the Sam-Veda hymns re-echo the rude mirth of the Primitive yatra dances.

यात्रा-नाटक चाहे जितने प्राचीन हो किन्तु उनका विकास मध्ययुग मे चैतन्य और शकरदेव की शक्ति पाकर चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। चैतन्य देव यात्रा नाटको मे स्वय अभिनय करते थे। उनके विद्वान् शिष्यो में इतनी क्षमता थी कि गौराग कृष्ण-लीला के किसी एक प्रसग को निर्धारित करके पात्रो का निर्णय कर देते थे और वे पात्र मच पर ही नाटक की रचना और उसका अभिनय एक ही काल मे साथ-साथ करते जाते। इस अभिनय में सगीत और कथोपकथन को महत्व दिया जाता था। कथानक की चरम-परिणति (Climax) की ओर ध्यान न देकर ईश्वर-प्रेमियो के हृदय में भगवल्लीला का जीता-जागता रूप दिखाना उन भक्तो को अभीष्ट था।

यात्रा-नाटको मे कृष्णलीला की प्रधानता रही। कृष्ण-यात्रा से पूर्व शक्ति-यात्रा का प्रचार था। यात्रा-मडलियाँ देश में घूम-घूम कर शक्ति और कृष्ण की विविध लीलायें दिखाती। प्रारम्भ मे गीत-गोविन्द, श्रीमद्भागवत, चडीदास आदि कवियो के पदो के आधार पर अपनी सवाद-योजना के द्वारा कृष्ण-यात्राएँ अभिनीत होती रही। कृष्ण-जीवन की सुप्रसिद्ध कथाओं को अभिनय द्वारा प्रदर्शित करना इनका लक्ष्य था। कालान्तर मे यात्रा-मडलियाँ लौकिक प्रेम-गाथाओ को भी कथा-वस्तु बनाकर नाटक खेलने लगी।

चैतन्य ने यात्रा-नाटको मे नवजीवन का सचार किया। इतिहास में जिन व्यक्तियो का उल्लेख इस सम्बन्ध मे मिलता है, उनमें दुर्लागाँव के निवासी शिशुराम अधिकारी का नाम प्रसिद्ध है। यात्रा-नाटक सकीर्तन और कवि के गीतो में लुप्तप्राय हो चले थे किन्तु शिशुराम अधिकारी ने अपनी अभिनय-कला की क्षमता के बल पर इसके शिल्प को परिष्कृत कर दिया।

यात्रा-नाटक आज भी प्रचलित हैं। इनमें काव्य-सगीत के साथ-साथ कुछ गद्य-रचनाएँ भी स्थान पाने लगी हैं। ये नाटक किसी देवता की यात्रा (मेला या नगर-भ्रमण) के अवसर पर खेले जाते थे। जब प्रतिमा का जलूस निकलता तो भक्त जनता मार्ग में उत्साह के साथ देव-गाथा का गान गाती, नृत्य दिखाती एव अभिनय के रूप में देवचरित प्रदर्शित करती। दर्शक इन्ही के द्वारा पौराणिक कथाओं का ज्ञान प्राप्त करते।

रासलीला

यात्रा-नाटको के समकक्ष महत्व रखने वाली जन-नाटको में रासलीला शैली है। रासलीला में रास नृत्य की प्रधानता रहती है। रासलीला का सीधा सम्बन्ध श्रीमद्भागवत् से है। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत में जब से गोपियो के साथ कृष्ण की रासलीला का वर्णन किया गया और भगवान् ने उद्धव से कहा :—

श्रद्धालुर्मे कथा शृण्वन् सुभद्रा लोक पावनी ।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहु ॥
(श्रीमदभागवत एकादश स्कध, एकादश अध्याय श्लोक २३)

भगवान् की लीला का अभिनय भक्ति के लिए आवश्यक कार्य माना गया। इस कार्य से अभिनेता और दर्शक दोनो को पुण्य की प्राप्ति और मनोविनोद का अवसर प्राप्त हुआ। रासलीला ब्रजभूमि की लोक-नृत्य पर आधारित एक नाट्य-शैली थी जो समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो गई। आज भी परम्परा के अनुसार प्राय नित्य यमुना के पुलिन पर किसी वृक्ष के समीप या किसी मदिर के प्रागण मे या ऊँचे टीले पर एक चौकी रख दी जाती है और उसके नीचे चार-पाँच सगीतज्ञ विविध वाद्य यत्रो के साथ बैठे जाते हैं, गीत गोविन्द, श्रीमद्भागवत्, ब्रह्मवैवर्त पुराण से उद्धृत श्लोक अथवा सूरदास, नददास आदि भक्तो के कतिपय पदो का नादी (मगलाचरण) के रूप में गायन होता है। तदुपरान्त राधाकृष्ण आसन पर विराजमान होते हैं और लीला प्रारम्भ होती है।

रासलीला-नाटको मे रास-नृत्य अनिवार्य है। रास-नृत्य का किसी समय इतना आकर्षण था कि नौटकी के प्रबन्धक भी अपने सामाजिक नाटको के प्रारम्भ होने से पूर्व रास-नृत्य अवश्य प्रदर्शित कराते थे। आज भी किसी न किसी रूप में यह लीला पूर्ववत् चल रही है।

रासलीला के नाटक आद्योपान्त सगीत-नाटक हैं। कृष्ण-जीवन की विविध घटनाएँ दिखाने का इनमे प्रयास किया जाता है। इसके आरम्भ का पता अभी नही है। रास-नाटको की कथा वैष्णव और जैन दो धर्म-ग्रथो से ग्रहण की जाती है। जैन-मन्दिरो में रास-नाटको के अति प्राचीन उद्धरण मिलते हैं। जैन-धर्म में दसवी शताब्दी में रास-नाटको का उल्लेख मिलता है। इन धार्मिक नाटको का कथानक धर्मग्रन्थो से अल्प परिवर्तन के साथ ग्रहण होता है। कथा-सूत्र को जोडने के निमित्त सगीतज्ञ सूत्रधार और उनके मित्र आद्योपान्त यत्र के समीप विद्यमान रहते हैं। वे गीतो द्वारा कथा-सूत्र जोडते चलते हैं। पात्रो की वेश-भूषा मे परिवर्तन करने के लिए समय-समय पर पात्रो के सम्मुख एक आवरण-सा डाल दिया जाता है जिससे अभिनेताओ को दर्शक देख न सकें। सम्पूर्ण नाटक नृत्य और सगीत पर अवलम्बित रहता है। कभी-कभी कृष्ण की दो-तीन लीलाएँ एक ही रात्रि में अभिनीत होती हैं। इस प्रकार आठ बजे रात्रि से प्रारम्भ होकर लीलाओ का क्रम प्रात काल तक चलता रहता है। इन लीला-नाटको में कथा की गति सगीत की ध्वनि के सहारे मन्द-मन्द रीति से बढती है। कथोपकथन का भी सुन्दर रूप कभी-कभी दिखाई पडता है। वीणा,

मुरलिका, पखावज और मृदग आदि वाद्यो का कभी मधुर, कभी गहन, घोष आद्योपान्त सुनने को मिलता है। आजकल हारमोनियम-तबले का स्वर सुनाई पडता है।

उन नृत्य और गेय नाटको का शास्त्रीय विवेचन करने पर इन्हे नाट्य-रासक अथवा प्रेक्षणक की कोटि में रखा जाता है।

स्वाग-भवाई और लद्दा

ये तीनो लोक-नाट्य जन-नाटको की शृगारी पद्धति मे प्रसिद्ध है। तीनो का एक जैसा तत्र एव एक जैसी शैली है। तीनो मे लौकिक प्रेम की प्रधानता होती है, और तीनो का अभिनय व्यवसायी नाट्य-मडलियाँ गाँव-गाँव दिखाती हुई भ्रमण करती रहती हैं। स्वाग का दूसरा नाम सगीत-नाटक है। इन नाटको मे सुल्ताना डाकू से लेकर भर्तृहरि और अलाउद्दीन बादशाह से भक्त पूरनमल जैसे महात्मा नायक बनाये जाते हैं। ग्रामीण जनता विशाल नक्कारे का अत्यन्त गम्भीर घोष सुनकर गृह-कार्य त्याग, कोसो तक उत्सुकतापूर्वक जाती दिखाई पडती है। रात्रि मे नौ-दस बजे इन नाटको का अभिनय प्रारम्भ होता है, और कभी-कभी सूर्योदय के उपरान्त समाप्त होता है। अभिनेताओ की सख्या ८-१० तक होती है। वे ही पच्चीसो पात्रो का अभिनय कर लेते हैं। अभिनेताओ मे एक नृत्य-कुशलपात्र सम्पूर्ण कथानक का अभिनय नृत्य-के द्वारा प्रदर्शित करता है। उसके घूँघट का कितना भाग कब और कैसे अनावृत-होता है और भौहो और नेत्रो की भाव-भगिमा कैसे परिवर्तित होती है, इसी नृत्य-कौशल पर नाटक की सफलता अवलम्बित होती है। वह अपने पैरो की गति, हाथो की मुद्रा, भौहो के कटाक्ष से विविध प्रकार के भावो एव रसो की अनुभूति करा देता है। नान्दी, सूत्रधार, विदूषक, नायक, नायिका आदि प्रमुख पात्र उसमें रगमच पर आद्योपात विद्यमान रहते हैं। मनोविनोद के लिये धूम्रपान की व्यवस्था रहती है। श्रान्त-क्लान्त पात्र रगमच के कोने मे लेट कर थोड़ा विश्राम भी कर लेता है।

एक-दो अभिनेता इतने कुशल होते हैं कि वे द्वारपाल से राजा तक भिक्षुक से राजमहिषी तक सभी का अभिनय सफलतापूर्वक कर लेते हैं। सगीतज्ञो को वेश, सोरठ, सारग, मामरी, सोहनी, पुरवि, प्रभात, रामकलि, विलावल, कालीगदा, आसा-वरी, मारू आदि रागो का ज्ञान होता है। प्रमुख पात्रो की स्मरण-शक्ति ऐसी होती है कि सम्पूर्ण गाने उन्हे कंठस्थ होते हैं। सगीतज्ञो का सहारा पाकर वे स्वाभाविक रीति से अभिनय के साथ अपना पूरा पाठ प्रदर्शित कर देते हैं। लोक-नाटको मे कथोपकथन भी कविता के माध्यम से होता है। ये लोग भजन, गजल, गरबा, रास, दुहा, दोहरा, साखी, सोरठा, छप्पय, रेखता आदि छन्दो का प्रयोग करते हैं। सगीत में प्राय. पचम और धैवत की प्रमुखता रहती है। प्रत्येक पात्र सगीतज्ञ होता है और

वह पचम स्वर में ही गायन करता है, ताकि उपस्थित जनता उसकी वाणी सुन सके।

वेशभूषा

स्वाग, भवाई, लट्टा आदि लोक-नाटको में घाघरा, धोती, अगरखा, छडी आदि का उपयोग होता है। धोती के पहनने, छडी के धारण करने के ढग से पात्र राजा या फकीर, पडित या कृषक, मत्री या सिपाही बन जाता है। इन नाटको मे सबसे विलक्षण पहनावा ओढनी है। ओढनी के सिर पर धारण करने की शैली और मुखमुद्रा के परिवर्तनो के द्वारा पात्रो की मनोवृत्ति आशिक रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। लोक-नाट्य की सबसे अधिक कौशलपूर्ण कला इसी में झलकती हैं। भावाभिव्यक्ति के उपयुक्त रससिक्त पदावली की अपेक्षा, झीनी ओढनी के अन्तराल से कौशलपूर्ण कटाक्ष की कला अधिक सहायक होती है।

शास्त्रीय विवेचन

लोक-नाट्य का तत्र शास्त्रीय तत्र से पृथक् होता है। इनमे पच-सन्धियो, कार्य-अवस्थाओ, अर्थ-प्रकृतियो, सन्ध्यन्तरो आदि को ढूँढने के लिए सिर खपाना व्यर्थ है। लोक-कवि कथा-वस्तु की रचना मे एक के उपरान्त दूसरी घटना को अव्यवस्थित ढग से जोडते जाते हैं। रगमच पर पट-परिवर्तन और दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता नही होती। वहाँ सकलन-त्रय की अपेक्षा नही। त्रासदी लिखकर नाट्य-शास्त्र के आदेशो का विरोध करना सस्कृतज्ञ नाट्यकार शोभाजनक नही मानते थे। लीक-लीक पर चलने के कारण गम्भीर त्रासदी नाटको का हमें सस्कृत साहित्य में अभाव दिखाई पडता है। ऐसे नाटको की मनोहर छटा हमें लौकिक नाट्य-साहित्य में देखने को मिलती है। किसी नदी या जलाशय के तट पर या उपवन के रम्य मार्ग में सुन्दर वृक्ष के पास एक ऊँचे टीले पर चौकी का बना रगमच राजमहल से लेकर दीन कुटीर तक, राजसभा से लेकर युद्धभूमि तक सभी प्रकार के दृश्यो का निर्माण सगीत के बल पर करता रहता है। कुकुम, खडिया, गेरू, काजल आदि सामग्री इनके लिए प्रसाधन की वस्तुएँ हैं। प्रकाश के लिए मशालो की व्यवस्था होती है। कपडो के मशाल, अरडी के तेल के छोटे-बडे कुप्पे, नेपथ्य निर्माण की एक-दो चादरें इनके उपकरण हैं। कभी-कभी चेहरे (Masks) लगाकर पशु-पक्षी, भालू-बन्दर, देव-दानव का वेश धारण किया जाता है। पात्र के अस्त्र-शस्त्र एव वस्त्राभूषण आदि की कल्पना उसके आगमन के समय गाए जाने वाले गीतो से की जाती है। यह आवश्यक नही कि गीत के अनुसार उसका परिधान हो ही। यह तो निस्सन्देह कहा जाता है कि हिन्दी साहित्य में त्रासदी की जितनी अधिक रचना लोक-नाट्यो में हुई उतनी कदाचित् अन्यत्र नही। कारण यह है कि नाट्य-शास्त्र के विधि-विधानो से अनभिज्ञ, जीवन की पाठशाला में शिक्षित ग्रामीण कवि, यथार्थ स्थितियो के प्रदर्शन में तल्लीन रहा।

उसने समाज मे प्राय साधु को दुराचारी, धनी को कृपण और डाकू को उदार देखा। उसके कंठ मे गान फूट पडा। उसने वास्तविक महात्मा को दुखी और दुरात्मा को सुखी देखा। उसने प्रेमियो को दीर्घकाल तक तप-साधना करने पर भी प्रणय मे असफल देखा। असफलता के कारण वियोग में तडप-तडप कर अन्तिम क्षणो मे प्रेमी का नाम जपते हुए सुना। उसे ट्रेजडी की वह सामग्री मिली जिसका उसने उपयोग किया और हीर-राँझा, लैला-मजनू जैसे करुण नाटको की रचना हुई। ये नाटक शताब्दियो से ग्रामीण जनता का मनोविनोद करते चले आ रहे हैं।

समाज की कुरीतियो पर व्यग करने और शक्तिशाली अधिकारियो के विरुद्ध पीडितो का ध्यान आकर्षित करने का सर्वप्रथम श्रेय इन्ही प्रतिभाशाली ग्रामीण नाट्यकारो को मिलना चाहिए। नागरिक नाट्यकार ग्राम्य जीवन मे घुलमिल नही पाते। अतः ग्रामीणो के दुख-सुख से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण वे ग्रामीण समाज के हृदय को छू नही पाते।

ग्रामीण नाट्यकारो ने प्रेम, आर्थिक संकट, अधिकारियो की उच्छृंखलता, वीरो के शौर्य, साहसियो के साहस, धार्मिको की तपस्या, ढोंगियो के आडम्बर, पति-व्रता की विपत्ति, समाज की कुरीतियाँ, नवीन सभ्यता की त्रुटियाँ आदि को नाटक की कथा-वस्तु का आधार बनाया। रामायण और महाभारत, श्रीमद्भागवत् और विविध पुराण, इतिहास और लोक-वार्ता के आधार पर चिर-विश्रुत कथाओ मे समयानुकूल कल्पना का पुट मिलाकर लोक-नाटको का इतिवृत्त निर्मित होता चला आ रहा है। चिर-विश्रुत कथाओ मे तत्कालीन राजा-रईसो की नामावलियो एव घटना-वलियो को सयुक्त कर देना उनके बाएँ हाथ का खेल है। सकलन-त्रय के बन्धन मे बँधना मुक्त प्रकृति के निर्बन्ध वातावरण मे पला कवि क्या जाने! वह परम्परा से जो सुनता और शैशव से जो देखता रहा है उसमे अपनी कल्पना का रग मिलाता जाता है। वह राम-रावण युद्ध से लेकर गाधी-गवर्नमेंट की लडाई को कथानक बना सकता है। इतिहास-प्रसिद्ध अमरसिंह से लेकर बलिया के प्रसिद्ध विद्रोही नेता चीतू पाडे तक की जीवनी इतिवृत्त के रूप मे दिखा देता है। सुल्ताना डाकू से रूपा डाकू तक के डकैतो के जीवन-चरित्र को नाटक का इतिवृत्त बना डालता है। इन घटनाओ में शास्त्रीय क्रम की अपेक्षा सगीत के महत्व की ओर अधिक ध्यान देता है।

ट्रैजिक तत्त्व·

ट्रेजडी में सघर्ष का सबसे अधिक महत्त्व होता है। वह संघर्ष कभी व्यक्ति के विविध मनोवेगो, भिन्न-भिन्न विचारो, प्रतिकूल इच्छा-आकाक्षाओ, अथवा विरोधी उद्देश्यो मे निहित रहता है; कभी व्यक्ति और व्यक्ति में, अथवा व्यक्ति और परि-

स्थिति मे यह सघर्ष दृष्टिगत होता है। कभी-कभी इनमे से एक या कई का सघर्ष दिखाई देता है और कभी इनमें सभी प्रकार के सघर्षों का योग रहता है। मुख्य यह है कि घोर सघर्ष के मध्य जब नायक को मृत्यु या भयानक दुख मिलेगा तभी ट्रेजडी सिद्ध होगी।

लोक-नाटको के अन्त में मृत्यु एव भयानक कष्ट तो प्राय देखने को मिलता ही है साथ ही साथ कभी-कभी उस दुखमय अन्त तक पहुँचने की प्रक्रिया में कार्य-कारण का सम्बन्ध भी बुद्धिसगत होता है। ऐसे नाटक वास्तव मे आकर्षक और गम्भीर नाटक कहलाने के योग्य होते हैं।

लोक-नाटको में तर्क से अधिक महत्व अध्यात्म-शक्ति को दिया जाता है। प्राय ऐसे नाटक मिलते हैं जिनमें मनुष्य और भाग्य का सघर्ष दिखाया जाता है। परोक्ष एव अलौकिक शक्तियो का कभी-कभी ऐसा अमिट प्रभाव दिखाई पडता है जिसे महती शक्तियाँ विनत वदन होकर स्वीकार करने को बाध्य होती है। ग्राम्य नाटको में जब-कभी व्यक्ति और समष्टि का, व्यक्ति और परिवार का, मनोबल और परोक्ष सत्ता का, पुरुष और स्त्री का, नागरिक और शासक का, नागरिक एव नागरिक का सघर्ष परिस्फुटित हो जाता है तब नाटक रम्य रूप धारण कर लेता है। कर्तव्य और अधिकार की भावना में सन्तुलन बिगड जाने के कारण प्राय ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे नाटको में मानव-शक्ति की विवशता और भाग्य की प्रबलता दिखा कर परोक्ष-सत्ता के प्रति विश्वास उत्पन्न करना मुख्य उद्देश्य होता है। यही कारण है कि भक्त प्रह्लाद, मोरध्वज, हरिश्चन्द्र, सती सावित्री, श्रवणकुमार, पूरनमल आदि नाटक शताब्दियो से जनता में परोक्ष शक्ति के प्रति विश्वास दृढ करते चले आ रहे हैं।

लोक-नाटकों में श्रद्धा और विश्वास की शक्ति को असीम मानकर चलना पडता है। इनमें यौगिक शक्ति के बल पर मृतक का जीवित होना, आकाश मे उडना, विशाल समुद्र का सूख जाना, दीवार का चल पडना, पर्वत का उडना नितान्त स्वाभाविक स्वीकार किया जाता है। इन नाटको में क्रियाशीलता के स्थान पर नृत्य और सगीत को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। कारण यह है कि लोक-नाटको में कवि का उद्देश्य दर्शक की भावनाओ को उद्बुद्ध कर उन्हे रस-मय करना होता है, जीवन की गुत्थियो को सुलझाने के लिए बुद्धि को प्रखर बनाना नही, मुख्य ध्येय मनोविनोद होता है, गम्भीर चिन्तन नही, कुरीतियो पर व्यग होता है, समस्याओ का समाधान नही।

नेता

लोक-नाटको के नेता धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीर प्रशान्त एव धीर ललित की

सीमा नही पाते । गाम्य जीवन मे धन और मान, जाति और वर्ण, रूप और विद्या में महान् अन्तर होने पर भी यह भेद-भाव हृदय पर उतना आघात नही पहुँचाता जितना नागरिक जीवन मे यह क्लेशकर प्रतीत होता है। गाँवो मे चमार भी ब्राह्मण का चाचा और दादा है। बडे मे बडा रईस और प्रकाड से प्रकाड विद्वान् भी निर्धन अनपढ किसान का बेटा और पोता है। वहाँ बडे और छोटे का मापदण्ड परोपकार की भावना है। जो दीनो का जितना अधिक हित-चिन्तक है वह उतना ही बडा है। निर्धन और अशिक्षित भी धर्म और सदाचार के बल पर सम्मानित बनता है। माली का बेटा, अन्धी दुलहिन, स्याहपोश, दयाराम गूजर, बेकसूर बेटी, श्रीमती मजरी नौटंकी, विचित्र धोखेबाज, मेला घूमनी, बेटी बेचवा, निर्दय जमीदार आदि व्यक्ति भी सफल नायक बनने के अधिकारी होते हैं।

नायको को धार्मिक पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक इत्यादि विविध कोटियो मे रखा जा सकता है। विश्व का कोई व्यक्ति नायक बनने का अधिकारी हो सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसमे लोक रजन की क्षमता हो, वह सगीतज्ञ और चमत्कारी हो।

उत्तर भारत मे नायक का कदाचित् सब से अधिक व्यापक क्षेत्र स्वाग-शैली मे दृष्टिगोचर होता है। कथा-वस्तु, नेता और रस दृष्टि से इस शैली पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

स्वाग—स्वाग नाटक के मुख्यतः दो रूप मिलते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी रूप हाथरस-एटा आदि जिलो में प्रचलित है और पश्चिमी रूप हरियाणा और रोहतक मे। पूर्वी रूप के आधुनिक कवि नथाराम और पश्चिमी के लक्ष्मी, एव हरदेवा माने जाते हैं। हरियाणा, ब्रजभूमि और मेरठ कमिश्नरी के विस्तृत भू-भाग में लोक-नाटको की यह परम्परा शताब्दियो से निरन्तर चली आ रही है।

मध्यकाल मे सादुल्ला[1] नामक एक प्रसिद्ध लोक-कवि हरियाणा प्रान्त मे उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार बारहवी-तेहरवी शताब्दी में अब्दुल रहमान नामक कवि ने अपभ्रंश मे सन्देश-रासक की रचना की उसी प्रकार सादुल्ला नामक लोक-कवि ने अनेक लोक-गीतो और लोक-नाटको की रचना की। उनके लोक-गीत और लोक-नाटको

१—इस कवि की ११ वीं पीढ़ी में हजरत चौबीसा नामक एक वृद्ध ने तीन शताब्दियों की संचित निधि सवा मन के लगभग हस्तलिखित ग्रंथों को सन् १९४७ के दंगे के समय एक कुएं में फेंक दिया।

की परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती गई। आज दिन भी इन लोक-नाटको का इतना प्रचार है कि साग मडलियाँ, दिल्ली जैसी नगरी में एक-एक नाटक खेल कर पाँच-पाँच सहस्र रुपए तक अर्जित कर लेती हैं और सहस्राधिक व्यक्ति खुले मैदान में रात-रात भर इन नाटको का अभिनय देखते रहते हैं।

हम पूर्व कह आए हैं कि साग-नाटको में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक एव लौकिक सभी विषयो का समावेश होता है। लौकिक से तात्पर्य है उन की कथाओ से जिनको मध्यकाल में किसी प्रतिभाशाली कवि ने अपनी कल्पना से निर्मित किया। इन लोक-कथाओ के आधार पर निर्मित नाटक सबसे अधिक आकर्षक होते हैं। राजा भर्तृहरि, गोपीचन्द, भक्त पूरनमल, हीर-राँझा आदि नाटको की इतनी ख्याति है कि दूर-दूर से ग्रामीण जनता इन्हें देखने को टूट पडती है। इनके कथानको में इतना आकर्षण है, इनके गीतो में इतनी प्रभविष्णुता और सरसता है, इनके कथोपकथन में इतना व्यग्य है कि जनता मुग्ध हो जाती है। इन नाटको में साथ नाटकत्व के साथ कविता है, सगीत के साथ सूक्ष्म भावो की कोमलता है, रससिद्धि के साथ चरित्र का विकास है। इनमें अन्तर्द्वन्द्व का विश्लेषण है और बाह्य सघर्ष का प्रदर्शन। सभी रसो से आप्लुत अनेक भावो और भावनाओ से परिपूर्ण लोक-नाटको के मनोहारी दृश्यो की छटा स्पृहणीय रही है। उदाहरण के लिए पूरनमल नामक स्वाग का एक दृश्य देखिए। स्यालकोट का बूढा राजा शखपति एक सरदार फूलचक्र की बेटी लूणादे पर मोहित होकर ब्याह कर लाता है। राजमहल में सपत्नी को विद्यमान देखकर लूणादे के हृदय पर जो आघात पहुँचता है उसका वर्णन करते हुए वह कहती है—

थाने कहूँ में बात प्रीतम आपके तांही।
मैं तो सौत के साथ हरगिज भी रहूँ नाहीं॥

किन्तु राजा के आग्रह करने पर वह महल में रहने लगती है। एक दिन एकान्त में वह अपने हृदगत भावो को इस प्रकार प्रगट करती है—

मैं तो जोबन में भरपूर पिया की गरदन हाले ओ॥ टेक।
मैं तो बरस बीस में आई, मस्ती अँग-अँग में छाई,
म्हारा पिवजी साठां मांही, कुबडा होकर चाले ओ॥ मैं०
म्हारा अखियां हुई नशीली, अमियां पक बनी रसीली।
पिव की चमड़ी पड़ गई ढीली, कुबड़ा होकर चाले ओ। मैं०
मैं तो भर जोवन मतवाली, म्हारे अग-अग में लाली,
लेकिन पिव जी हो गया खाली, साल कलेजे साले ओ। मैं०

बावल बूढ़ा ने परणाई, जिसमें बाकी कुछ भी नाहिं,
मैं तो हाय करूं अब काई, फोड़ा जोबन घाले ओ । मैं

इस नाटक में नवयुवती रानी शखवती के पुत्र पूरनमल पर आसक्त होती है। उस समय पूरनमल कहता है—

मत कुपंथ में पड़ै माय मत उल्टी बात चलावै ।
बेटा ने भरतार बणाया, आ धरती हिल जावै ।।
मिले पाट से पाट प्रलय इस दुनियां में मच जावै ।।

रानी लूणादे पुत्र पर बलात्कार का आरोप लगाती है और वृद्ध कामुक राजा उसे सूली पर चढाने की आज्ञा देता है। पूरनमल को सूली दी जाती है। मृत्यु के उपरान्त उसकी दोनो आखे निकाल कर रानी के पास भेजी जाती है और शव को एक कूप में डाल दिया जाता है। सयोग से गुरु गोरखनाथ उस कूप पर पहुँच जाते हैं और उस शव को पुनरुज्जीवित करते हैं। पूरनमल गुरु गोरखनाथ का शिष्य बन जाता है। वह भिक्षा मांगते हुए स्यालकोट मे अपनी जन्मभूमि देखकर प्रसन्न होता है। रानी क्षमा-याचना करती है। पूरनमल की माता अम्बादे पुत्र को पाकर धन्य हो जाती है।

लखमीचन्द प्रसिद्ध लोक-नाट्यकारो में से एक है। सागियो मे इस व्यक्ति को जनता ने सबसे अधिक अपनाया है। इनकी कविताएँ भावमय और सरस हैं। पूरन भगत के स्वाग की इस रागनी को देखिए :—

पूरनमल की मौसी उस पर मोहित हो जाती है तो पूरनमल उसे किस प्रकार समझाता है :—

मां बेटे पै जुलम करै सै देख राम के घर नै
पतिवरता इकसार समझती छोटी बडी उमर नै
सावित्री सत्यवान पति नै आप ढूंढ कर ल्याई
बरस दिन भीतर मर लेगा नारद नै कथा सुनाई ।।
बरत एकादशी का धारण करकै ब्याह करया सुख पाई
गये थे बना में लकड़ी तोडन कजापति सिर छाई ।
धर्मराज तै धर्म के कारण ल्याई थी जिवा के वरनै ।।
पतिवरता इकसार समझती छोटी बडी उमर नै ।।
इन्द्राणी, रुद्राणी, ब्रिमाणी, अनुसुइया की के गिनती
पतिवरता थी कौशल्या जो रामचन्द्र से सुत जणती

विषय ने त्याग भजन में लागे जब पतिव्रता बनती
मदनावत और दमयन्ती सदा भजन में हरि के सुरणती
एक मीराबाई पार उतर गई पति समझ पाथर नें
पतिवरता इकसार समझती छोटी बडी उमर नें ॥
कहै लखमीचन्द हे मा मेरी के भोगे बिना सरै सै
तेरे बरगी बेहूदी का के बेड़ा पार तरै सै
आगे मिल जाएगा बर जोड़ी का के मेरे बिना मरै सै
मा होके नैं डूब गई बेटे पै नीत धरै सै
कूंडी मिलैगी तनै कीडा की खा जागे चूंटजिगर नैं ॥
पतिवरता इक सार समझनी छोटी बडी उमर नैं ॥

लखमीचन्द की यह रागनी जो कि पद्मावत सगीत में से ली गई है श्लेष का एक अत्युत्तम उदाहरण है। यहाँ पर इस गीत के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो अर्थ लिए गए हैं —

चन्दरदत्त की आज्ञा लेकै फिर भगवान मनाया
चाल पड़ा रणधीर रात नै कर काबू में काया
घोर अन्धेरा पृथ्वी से अम्बर मिला दिखाई दे था
बढ़ा अगाड़ी फूल जोत कीसा दिखाई दे था
सत का सागर ज्ञान का झंझट जला दिखाई दे था
सात धात की चमक चान्दनी किला दिखाई दे था
लोहे चांदी सोने का कमरा खूब लगी धन माया ॥
चाल पडा रणधीर रात नै कर काबू में काया।
ऋषि मुनि योगी संन्यासी जहां त्यागी आप खड़े थे
कहीं भला और कहीं बुरा कहीं पुन और पाप खड़े थे
भूत भविष्यत वर्तमान जहां तीनों ताप खड़े थे।
मेहर तेहर और मोह मया ने खुलकर खेल रचाया ॥
चाल पडा रणधीर रात नै कर काबू में काया
खडे चुपचाप कोई सा ना इधर उधर हिलै था
पांच खड़े वर चार-पांच का दोराहो दूर चलै था
पद्मावत के महलों ऊपर अद्भुत नूर ढलै था
नौ नाडी और दस दरवाजे ज्ञान का दीप जलै था
झांकी मां कै पद्मावत के पड़े रूप की छाया ॥
चाल पड़ा रणधीर रात ने कर काबू में काया।

इन सब का रंग-ढंग देकर हद तैं आगे बढ़ गया
शीशे का रंग महल देखकै फग्क गात का कढ़ गया
लखमीचन्द गुरु की आज्ञा से जब कोई अक्षर पढ़ गया
बस डंडे रहे लाग कमन्द के पकड़ कै ऊपर चढ़ गया
सूती हूर जगावण खातिर मुंह पर तैं पल्ला ठाया।
चाल पड़ा रणधीर रात नैं कर काबू में आया॥

लोक-नाटकों में स्त्रियों को पर्याप्त महत्ता दी जाती है। इतिहास पुराण से अनेक योग्य महिलाओं का चरित्र इतिवृत्त बनाया गया है। भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में मीरा का नाम सदैव अमर है। उसका जीवन आदर्श, त्याग और निष्ठा से परिपूर्ण जीवन था। एक बारात को देखने पर मीरा का अपनी माँ से अपने पति के बारे में पूछना और माँ का एकमात्र गिरधर को ही उसका पति बतलाना मार्मिक घटना थी। यही मीरा के लिए एक कठोर साधना का मार्ग बन गई और उसी दिन से मीरा ने गिरधर गोपाल को ही अपने पति-रूप में ग्रहण किया। उन्मुक्त यौवन का समय आया किन्तु मीरा अपने मार्ग से विचलित न हुई। उदयपुर के राणा ने मीरा के विवाह का प्रस्ताव उसके पिता के समक्ष रखा यद्यपि विवाह स्वीकार हो गया किन्तु मीरा तो सच्चे हृदय से एक बार अपने पति को वर चुकी थी। फिर गिरधर के स्थान पर मीरा महाराणा को पति स्वीकार करके भारतीय आदर्श को किस प्रकार गिरा सकती थी। भारतीय नारी की यह उदात्त भावना निम्न पंक्तियों में कितने सुन्दर ढंग से प्रस्फुटित हुई है? मीरा अपनी माँ से प्रत्युत्तर में कहती हैं —

माता पिता ने धर्म डिगा दिया, महाराणा तैं डर कै
पति का प्रेम भुलावण लाग्यी क्यों धिगताणा करकै
अपनी मां के संग थी मीरा पूजा बीच निगाह थी
एक बर पूजण गया मन्दिर में बारात सजी संग जा थी
मैं बोली कोण कित जासै समझावण आली मा थी
न्यू बोली बनड़ा बनड़ी ल्यावे जिस ने पति की चाह थी
मैं बोली मेरा पति कौन झट हाथ लगाया गिरधर कै।
पति का प्रेम भुलावण लाग्यी क्यों धिगताणा करकै

नाम सुणा जब गिरधर जी का आनन्द हो गई काया
बीरबानी नैं पति बिन अच्छी लागै ना धन माया
उस का प्रेम ठीक हो जासै जिस ने ज्यादा प्रेम बढ़ाया
खुद माता के कहने से मैंने गिरधर पती बणाया

करूँ प्रीति सच्चे दिल तैं प्रेम बीच मैं भर कैं ।
पति का प्रेम भुलावण ....

स्वाग का तीसरा प्रसिद्ध नाटक हीर-राँझा है । हीर-राँझा का नाटक त्रासदी के तत्त्व से पूर्ण है ।

हीर-राँझा वारसशाह का प्रबन्ध-काव्य है । इस काव्य का इतना प्रचार हुआ कि इस के आधार पर कई लोक-नाट्य विरचित हुए । स्वाग और लट्टा में सबसे अधिक इसका प्रचार हुआ । हीर-राँझा नाटक का नायक राँझा ही है क्योकि वही फलभोक्ता है । नायिका हीर है । वारसशाह ने हीर का चरित्र ऐसे ढ ग से प्रस्तुत किया है कि उस के सामने उसकी सहेलिआँ गौण लगती हैं । (**इतिवृत्त**) राँझा अपनी भाभी से झगड पडता है, बात बढ जाती है और भाभी व्य ग कसती है, 'देखूँगी जब तू जाकर हीर ब्याह लाएगा ।' सहसा राँझा के मन में हीर-प्राप्ति के लिए सकल्प उठा । वह घर छोड कर चल देता है । हाथ में बाँसुरी होती है । नदी पार करने के लिए मल्लाहो को बाँसुरी सुनाता है । नदी के पार पहुँच कर वह विश्राम करने के विचार से एक कमरे में जाकर रुकता है । कमरा आरामप्रद था । बिस्तर पर पडते ही गहरी नीद में सो जाता है । इतने में कोई हीर को सूचित करता है कि तेरे बिछौने पर कोई परदेशी सोया पडा है । शहर के बडे सरदार की पुत्री गर्व से तन जाती है । किसका साहस कि हीर के पलग पर आ पडे ! वह सहेलियो को लेकर चलती है । हाथ में सजा देने के लिए कोडा होता है । राँझा के चेहरे की मासूम झलक और सुन्दरता हीर की आँखो को चकचौंधा कर देती है । प्रेम हिलोरें ले दोनो के दिलो में छा जाता है । और फिर प्यार की पींग लोक दृष्टि से चोरी-चोरी बढती है । हीर-राँझा एक दूसरे के साथ रहने का वचन देते हैं ।

यहाँ तक हीर-राँझा में आपको प्यार के सुख का उत्कर्ष मिलेगा । आत्माओं के मिलन का सगीत सुनाई देगा । यहाँ मधुरता है, मिलन है, यहाँ दो जिन्दगियाँ मिलकर एक साथ एक नई जिन्दगी का निर्माण करती हैं ।

इसके पश्चात् ट्रेजडी शुरू होती है । घर की इज्ज़त पर डाका पडते देख हीर का चाचा रगमच पर प्रवेश करता है । हीर का पिता शीघ्र ही उसका (हीर का) विवाह कर देता है । हीर ससुराल चली जाती है । यहाँ से आपको प्यार की वेदना मिलेगी । हीर-राँझा के प्रेम की प्यास यहाँ पर जुदाई के गीतो में उभरती मिलेगी । ट्रेजडी तत्त्व का रूप यही से निखरने लगता है ।

कालान्तर में राँझा का लौकिक प्रेम मिलन की उत्कण्ठा से पराङ्मुख होकर पारलौकिक प्रेम की ओर अग्रसर होता है । वह योगियो की मण्डलियों में घूमता है,

पर इसमे भी उसे शान्ति नही मिलती। हीर ससुराल जाकर बीमार हो जाती है। राँझा योगी बन उससे मिलता है, भाग जाने का कार्यक्रम निश्चित हो जाता है। भागते हुए वे दोनो पकड लिए जाते हैं और यह लोक-नाट्य राँझा और हीर की मृत्यु पर समाप्त हो जाता है।

वारसशाह ने देहात के कैनवस पर इस महान दुखान्त कृति को अकित किया है। इसी कैनवस पर उसने मानवीय अनुभूतियो के साथ-साथ उस समय के वातावरण, सस्कृति और रहन-सहन को चित्रित किया है। इसी लिए वारस-शाह का हीर-राँझा पिछले तीन सौ साल की ऐतिहासिक चेतना को लिए खडा है जिसकी ट्रेजडी बेजोड है और जिसका नाटकीय तत्त्व हृदयग्राही है।

रूप-वसन्त (सामाजिक नाटक)

दारानर के राजा चन्द्रसेन की रानी रूपावती से रूप-वसन्त नाम के दो पुत्र हुए। एक दिन रानी रूपावती ने अपने महलो में देखा, कि एक चिडा पहली चिडिया के मरने पर दूसरा विवाह कर लेता है। दूसरी चिडिया ने आकर उसके बच्चो को बहुत तंग किया। ऐसा देखकर रानी ने राजा से कहा कि मेरे मरने के उपरान्त आप दूसरा विवाह न करें। राजा ने रानी को आश्वासन दिया कि वह कभी भी दूसरा विवाह न करेगा।

कुछ दिनो के उपरान्त रानी रूपावती की मृत्यु हो जाती है। राजा को वृद्ध मन्त्री तथा अन्य कुटुम्बी-जनो के आग्रह पर अवधपुरी के राजा चित्रसेन की पुत्री चित्रावती से विवाह करना पडता है। चित्रावती युवती थी और उसका यौवन चरमावस्था पर था। वह राजकुमार वसन्त पर मुग्ध हो जाती है। उसकी वासना जागृत हो जाती है परन्तु वसन्त उसको माता ही मानता रहा। काम न बनता देखकर चित्रावती वसन्त पर आरोप लगाकर उसे मरवाना चाहती है। राजा बाँदियो के साक्ष्य पर वसन्त को फाँसी की आज्ञा देता है। यह ज्ञात होने पर रूप स्वय वसन्त के पास जाकर मृत्यु की इच्छा प्रगट करता है। मन्त्री की बुद्धिमानी से दोनो को ऐसी फाँसी लगाई गई कि वे मृत्यु से बच गए।

शैली

लोक-नाटकों की विविध शैलियाँ हैं इनमें लीला-शैली, स्वाग-शैली, यात्रा-शैली, कीर्तन-शैली, भाड-शैली, विदेसिया-शैली, भवाई-शैली, गिद्धा-शैली प्रमुख हैं। प्रत्येक शैली में नृत्य और संगीत का विधान पृथक्-पृथक् रूप से होता है। स्थानीय रुचियों और स्थानीय सगीत-पद्धतियो में अन्तर होने के कारण शैली में अन्तर आ जाता है, किन्तु जहाँ तक कथा-वस्तु, नेता और रस का प्रश्न है प्रत्येक शैली

में समानता पाई जाती है। पाँच सात प्रमुख पात्र सम्पूर्ण नाटक का अभिनय नृत्य और सगीत द्वारा रात्रि के अधिकाश भागों तक दिखाते रहते हैं। सूत्रधार और प्रमुख पात्र आद्योपान्त रगमच पर विराजमान रहते हैं। सगीत और नृत्य में शास्त्रीय-अशास्त्रीय सभी पद्धतियो को स्थान मिलता है। स्थानीय प्रतिभा के बल पर नृत्य के प्रकार और सगीत के स्वर-प्रवाह में अन्तर पडता जाता है। मुख्य रूप से निम्नलिखित शैलियाँ भारत के विभिन्न भागों में दिखाई पडती हैं। सर्वप्रथम कीर्त्तनिया शैली में गायकवृन्द मजरी या करताल लेकर अर्द्ध-वृत्ताकार रूप में खडा होता है। दोनों छोर पर दो सगीतज्ञ खोले बजाते हैं और शेष करताल। ठीक मध्य में पार्टी का नायक खडा होता है। नर्त्तक धोती, उत्तरीय और पगडी धारण करते हैं। किसी राग के अलाप के साथ-साथ मजरी की ध्वनि गूँज उठती है। नायक के नृत्य प्रारम्भ करते ही सारी पार्टी नर्त्तन करने लगती है। नायक भक्ति-सम्बन्धी नाटक को कीर्त्तन के रूप में गाता जाता है। गायन के उपरान्त नर्तक कवि-भावो को नृत्य के द्वारा प्रदर्शित करता है और सभी पात्र उसी के साथ स्वर मिला कर 'कोरस' गाते जाते हैं।

नृत्य-नाटक

मणिपुर का नृत्य-नाटक लहरोवा कहलाता है। लहरोवा का अर्थ है देवताओ का नृत्य। नृत्य के आधार पर भरत के नाट्य-शास्त्र में वर्णित इन्द्र के ध्वजारोहण उत्सव की कथा-वस्तु प्रदर्शित की जाती है। मणिपुर के मैरग गाँव में प्रति वर्ष चैत्र-वैशाख मास में यह उत्सव ८-१० दिन तक चलता रहता है। इसका दूसरा कथानक है शिव और पार्वती के अवतार की कथा। इस कथा के नायक हैं खम्बा और नायिका थैबी। खम्बा और थैबी शिव-पार्वती के अवतार माने जाते हैं।

इस नृत्य नाटक में कथक नृत्य त्रिताल, एकताल और झपताल के साथ चलता है। गुरु सूर्य बाबासिंह ने प्राचीन परिपाटी में परिवर्तन किया और रुद्रताल, ध्रुपद-ताल, चौताल, आधा चौताल और धमार का भी इसमें मिश्रण किया।

भवाई

लोक-नृत्यो में भवाई का विशेष महत्व है। भवाई नाटकों के अभिनेताओ की एक जाति ही बन गई है जिन्हें भवाया अथवा तारगाला कहते हैं। ये लोग औदीच्य श्रीमाली और व्यास ब्राह्मण है। इनके इतिहास की प्राचीनता अनुसन्धान का विषय है। इतना तो स्पष्ट ही है कि पूना के पेशवाओ ने इस कला को प्रोत्साहन दिया था और इस शैली के नाट्यकारो को स्वर्ण उपवीत देकर सम्मानित और पुरस्कृत किया

था। आज से सौ वर्ष पूर्व गुजरात के प्रसिद्ध लेखक रावसाहब महीपत राम रूपराम ने भवाई-सग्रह नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया और इस मृतप्राय नाट्य-पद्धति को नवजीवन प्रदान किया।

टोला

भवाई के अभिनेता-दल को टोला कहते हैं। टोला मे २० से अधिक पात्र नही होते। वे लोग एक गाँव से दूसरे गाँव आठ महीने तक भ्रमण करते हुए अभिनय दिखाते फिरते हैं। जिस गाँव में वे पहुँच जाते हैं वहाँ उत्सव-सा होने लगता है। ग्रामीण जनता उनके भोजन, प्रकाश और नाट्यशाला का प्रबन्ध करती है।

शिल्प

जिस प्रकार रास का प्रमुख वाद्य बाँसुरी है उसी प्रकार भवाई का वाद्ययंत्र भूगल है। पहले पखावज का प्रयोग होता था और सारगी भी प्रयुक्त होती थी।

इस शैली में सात मुख्य तालो का प्रयोग किया जाता है...१ खोड भगडो २—उलालो ३—जेतमान ४—चलती (कहेरवा) ५—मान ६—पाधरोमान ७—दोटीयो पिस्तो।

सामान्यत. भवाई में गान सदा पचम अथवा धैवत में गाया जाता है। इनमें निम्नलिखित मुख्य रागों का प्रयोग किया जाता है—माढ, परज, देश, सोरठ, सारग साभरी, सोहनी, पुरवी, प्रभात, रामकली, विलावल, कालीगडा, आसावरी, माघ। भजन, गरबा, रास, दुहा, दोहरा, साखी, सोरठा छप्पय, छद और रेखता आदि की छटा भी दिखाई पडती है।

काव्य और संगीत

हम पूर्व कह आए हैं कि लोक-नाट्य लोक-नृत्य और सगीत पर आधृत है। उद्धरणो के द्वारा यह भी प्रमाणित किया जा चुका है कि लोक-नाटकों के गीतो में काव्यतत्व और सगीत-कला का किस अनुपात में सम्मिश्रण पाया जाता है।

यद्यपि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि चरम अवस्था पर पहुँच जाने पर काव्य-जन्य आनन्द और सगीत-जन्य आनन्द में कोई भेद नहीं रह जाता तथापि इस सिद्धान्त को भी स्वीकार करना पडेगा कि सामान्य स्थिति में इन दोनो में (अधिकारी-भेद के कारण) अन्तर अवश्य रहता है। उसका कारण क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत की स्थिति तीन रूपों—स्वर-लहरी, शब्द-सगीत और अर्थ-सगीत (भाव)—में सम्भव है। स्वर-माधुर्य और शब्द-सगीत तुरन्त सबका मन मुग्ध कर देते हैं, परन्तु अर्थ (भाव) सगीत अधिक मार्मिक होने से सबको सुलभ नहीं है। स्वरो के आरोह-अवरोह से उत्पन्न आनन्द और शब्द-सगीत के आनन्द में भी अन्तर

है। तान, ताल, मीड, मूर्च्छना, बोल आदि का आनन्द शब्द-संगीत-जन्य आनन्द से भिन्न है। शब्द-संगीत और भाव-संगीत में भी अन्तर है। जिस प्रकार सामान्य जन शब्द-संगीत की अपेक्षा सुर-संगीत को कम मार्मिक समझता है, उसी प्रकार विद्वानों को शब्द-संगीत में भाव-संगीत से अल्प मात्रा में आनन्दानुभूति होती है। कारण यह है कि शब्द-संगीत में काव्य-तत्त्व की अपेक्षा संगीत की ओर अधिक ध्यान रहता है और भाव (अर्थ) संगीत में सहृदय के मर्म को अधिक स्पर्श करने वाला वह काव्य-तत्त्व विद्यमान रहता है जिसका प्रभाव स्थायी होता है। देखा जाता है कि कभी-कभी शब्द-संगीत भाव-संगीत का सहायक बन कर काव्य-तत्त्व को अधिक प्रोद्भासित कर देता है। वहाँ दोनो प्रकार के आनन्द की अनुभूति से श्रोता का आनन्द द्विगुणित हो जाता है। कविवर रवीन्द्र, प्रसाद और निराला के चुने हुए गीत इसके प्रमाण हैं। ऐसे दुर्लभ गीत लोक-नाटको में तो क्या बडे-बडे विद्वानों के काव्यो में भी प्राय. अलभ्य हैं। संस्कृत-कवियो में भी कालिदास, भवभूति सरीखे बिरले ही कवि इसमें सफल हुए हैं।

जयदेव का प्रभाव

संस्कृत के जिस कवि का सबसे अधिक प्रभाव लोकभाषा के गीतो पर पडा है वह है कवि जयदेव। जयदेव के गीत-गोविंद ने मैथिल, व्रज, गुजराती, मराठी, द्रविड आदि सभी भाषाओं को प्रभावित किया। लोक-नाटको पर सबसे अधिक प्रभाव इसी काव्य का पडा। इस काव्य में शब्द-संगीत को ही प्रधानता है। उदाहरण के लिए देखिए—

ललित लवंग लता परिशीलन—
कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल—
कूजित कुन्ज कुटीरे।

इस पद में शब्द-संगीत भाव-संगीत से अधिक शक्तिशाली है। इस प्रभाव के कारण लोक-नाटकों के गीत भी शब्द-संगीत पर ही अधिक बल देते है। बिरले कवियो की रचना में शब्द-संगीत भाव-संगीत का सहायक बनकर आता है। लोक-नाट्यकारो में ऐसे महाकवि युगों के बाद दर्शन देते हैं। लोक-जीवन में स्वर-संगीत और शब्द-संगीत के द्वारा श्रोताओ को आनन्दित करने वाले कवियो की प्रचुरता होती है। पर यह भी स्वीकार करना होगा शब्द-संगीत और भाव-संगीत के कलाकार भी सर्वथा दुर्लभ नहीं।

बिहार राज्य के भिखारी ठाकुर के गीतों में स्वर-माधुर्य, शब्द-संगीत एव अर्थ-

संगीत का कहीं कहीं सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। कभी-कभी रासलीला में भी ऐसे पदों की रचना देखी जाती है। किन्तु लोक-नाटकों में शब्द-संगीत की ही प्रमुखता है। मैनागूजरी[1] में शाहज़ादा और मैनागूजरी के निम्नलिखित वार्तालाप से यह तथ्य कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाता है।

"शाहज़ादा—गुज्जर पै क्या मोही है, गुज्जर लोग गुआल।

मैना—गुज्जर गुज्जर बहुत भले मेरे,
शाही लोग के काल।
बादशाह ! शाही लोग के काल।"

यहाँ गूजर का गुज्जर, ग्वाल का गुआल रूपान्तर केवल शब्द-संगीत का प्रभाव लाने के लिए किया गया है।

संगीत स्याहपोश[2] मे मंगलाचरण के अवसर पर कवि कहता है :

करन कष्ट सब नष्ट दुष्ट गंजन भंजन त्रैतापन।
शमन अमंगल मूल दमन क्रोधादि मान मद पापन।
अष्ट भुजी आठो भुज विक्रम धारि स्वर्ग शर चापन।
असुर मारि भय टारि देव इन्द्रादि करे अस्थापन॥

नमामि रक्त गंजनी—सकल मुनिन रंजनी॥
उदय विज्ञान करो तुम।

गण दोषण शुभ अशुभ काव्य के लिखि अज्ञान हरो तुम॥

संगीत अमरसिंह राठौर में एक स्थान पर भल्लूसिंह शत्रुओ को युद्ध के लिए ललकारता हुआ कहता है.—

आज करूँ रणवंश उजागर हाथ उठाय के पैज सुनाऊँ।
ठठ्ठ के ठठ्ठ समट्टन कट्टि झपट्टि के लुत्थ पे लुत्थ बिछाऊँ॥
देकर हुंक निशंक बढ़ूँ न डरूँ रण मारहि मार मचाऊँ।
ताज समेत हनूँ शिर शाह को तौ रजपूत को पूत कहाऊँ॥

शब्द संगीत की जो शैली अपभ्रंश में प्राय. उपलब्ध होती है लोक-नाट्य साहित्य में उसका यत्र-तत्र दर्शन होता है। "ठठ्ठ के ठठ्ठ समट्टन कट्टि झपट्टि के

(१) मैना गूजरी—भवाई नाटक के आधार पर
(२) संगीत स्याहपोश—पं० नथाराम शर्मा (मंगलाचरण)

लुत्थ पे लुत्थ बिछाऊँ" में शब्द-सगीत युद्ध-सगीत के साथ पूर्ण सगति रखने के कारण मनोहारी बन गया है।

रस

लोक-नाटको की कथावस्तु के विविध स्रोत हैं। रामायण-महाभारत के प्रसगो से लोक-कथाओ तक की घटनाएँ इनमें पाई जाती हैं। पौराणिक नाटको में श्रवण-कुमार, नल दमयन्ती, कीचक-वध, नारद-मोह, शकर-पार्वती-विवाह, अति प्रसिद्ध नाटक हैं। शृगार रस के नाटको मे नौटंकी शहज़ादी, लैला-मजनू, हीर-राझा, प्रेम-कुमारी गु जपरी आदि प्रमुख हैं। रामायण और महाभारत की प्राय सभी प्रमुख नाटकीय घटनाएँ नाटक का इतिवृत्त बन गई हैं। इस प्रकार वीर, शृगार और करुण रस की प्रधानता के साथ प्राय अन्य सभी रसो का समावेश हो जाता है। लोक-नाटको में हास्य रस अपने ढग का न्यारा होता है। इनमें शिष्ट हास्य की अपेक्षा ग्रामीण जनता की रुचि के अनुरूप अवहसित, अपहसित एव अतिहसित की अधिक मात्रा रहती है। इसके लिए विदूषक की विलक्षण वेशभूषा (फटे चीथडो पर अग्रेज़ी टोप) के अतिरिक्त उसका अग-सचालन, आँख मटकाना, जीभ निकालना, भौं सिकोडना, कमर हिलाना, पैर फेंकना, आँखें फाडना, गधे जैसा रेंकना, ऊँट सदृश बलबलाना, बन्दर जैसी आकृति बनाना, उल्लू के समान देखना, पशु के समान देखना, पशु के समान खाना-पीना, सोने में खर्राटे भरना, हैं-हैं, ही-ही हँसना, कृत्रिम ढग के रोदन करना, मूँछो का हवा में उडना, आधी मूँछ-दाढी बनाना आदि उपायो का सहारा लिया जाता है।

लोक-नाटकों पर आरोप

शिष्ट समाज का एक वर्ग लोक-नाटको को असस्कृत, अशिष्ट और असुन्दर समझ कर त्याज्य मानता है। दूसरा कला-प्रेमी-वर्ग लोक-जीवन से प्रभावित होकर कहता है—"सच तो यह है कि जब हम इन कोल, सथालों और आदिवासियो का रहन-सहन, नृत्य-सगीत आदि देखते हैं, जब हम लोक-गीतो की सुन्दर मधुर तानें सुनते हैं, जब हम अहीरो, चमारों, धोबियों का नाच देखते हैं ...तो हमें यह निश्चय करना मुश्किल पड जाता है कि अधिक सभ्य और सुसस्कृत कौन है? ये तथा-कथित पिछडे लोग, या हम तथाकथित स्वनाम-धन्य नागरिक लोग।"

लोक-नाट्य और तथाकथित शिष्ट नाट्य-साहित्य में भावगत एव तन्त्रगत अतर है। इस अन्तर का मूल कारण है कि लोक-नाटक सामूहिक आवश्यकताओ और प्रेरणाओ के कारण निर्मित होने से लोक-कथानको, लोक-विचारों और लोकतन्त्रो को समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। इसके विपरीत शिष्ट जनो का

नाट्य-साहित्य व्यक्ति की आवश्यकताओं और प्रेरणाओं का परिणाम होता है। लोक-नाटक सदा विकासोन्मुख होने के कारण सम-सामयिकता का ध्यान रखता है, उसमें परम्परा के साथ सामयिक प्रेरणा का निर्वाह होता है, वह पूरे समाज के जीवन-चरित्र, स्वभाव, विचार, आदर्श आदि को चित्रित करने, अभिव्यक्त करने, रूपरंग देने में समर्थ होता है। इसके प्रतिकूल जब-जब शिष्ट नाट्यकार लोक-जीवन से अनभिज्ञ रह कर अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के बल पर नाटक-शास्त्र के सिद्धान्तों के परिपालन में संलग्न हो जाता है तो वह पिटी-पिटाई लकीर पर चलता रहता है और उसका साहित्य जनजीवन को प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता। लोक नाट्य में प्रौढता एवं गाम्भीर्य भले ही न हो पर उसमें स्वाभाविकता और सरलता है, स्पष्टता और मधुरता है, इन नाटकों के प्रतीकों में नवीनता और सुन्दरता है। तात्पर्य यह कि लोक-नाट्य में सामुदायिक जीवन की मर्यादा के साथ सजीवता, सजगता, आस्था, विश्वास, सारल्य और सत्य-निष्ठा है। किन्तु शिष्ट नाटकों में वैयक्तिक अनुभूति के साथ व्यक्तिगत मर्यादा, समस्याओं की गम्भीरता, विचारों की सूक्ष्मता है। लोक-नाटकों पर सबसे बड़ा आरोप अश्लीलता विषयक है। कहा जाता है कि लोक-नाटकों की कथा-वस्तु निकृष्ट होती है और उसका हास्य भद्दा और भोंडा होता है, उसके मनोविनोद की शैली अशिष्ट एवं अशास्त्रीय होती है।

तथ्य तो यह है कि उक्त आरोप लोक-नाटकों पर ही नहीं शिष्ट नाटकों पर भी लगाया जा सकता है। जिस प्रकार तथाकथित शिष्ट नाट्य-साहित्य में अशिष्ट साहित्य प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ता है उसी प्रकार लोक-नाट्य-साहित्य में भी उच्च कोटि का शिष्ट साहित्य प्रचुरता में उपलब्ध है। इस साहित्य से सर्वथा अपरिचित रहने के कारण ग्राम्य जनता को सर्वथा अपढ और मूर्ख मानकर यह धारणा बना ली गई है। इसमें सन्देह नहीं कि लोक-नाटकों की भाषा अलंकृत और पाण्डित्यपूर्ण नहीं होती, लोक-नाटकों के छन्द दूषित और स्वच्छन्द हैं किन्तु उनकी विशेषताओं की अवहेलना कर केवल दोष-दर्शन में उनके साथ न्याय नहीं होगा। शेरिफ महोदय के विचारानुसार लोक नाटकों की भाषा स्पष्ट, उपयुक्त है, इनके गीत स्वाभाविक, नाटकीय करुण, हास्य, प्रेम, एवं आनन्द तत्व से पूर्ण हैं। वे लिखते हैं :—

"The metre is rough and ready, but the language itself is musical and expressive : it is a language which calls a spade a spade in the sense that there is one word for each material object, each action or each sentiment described, and that word is the right one. The songs are

natural and dramatic and abound in pathos and humour, in romance and tragedy

विशेषताएँ

लोक-नाटककार की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह विशिष्ट नियमो, रूढियो, अन्ध परम्पराओ एव मान्यताओ के बन्धनो को तोडता हुआ प्रकृति के समान मुक्त बना रहता है। उसकी पर्यवेक्षण-शक्ति विलक्षण होती है। वह व्यक्ति की नही समाज की आवश्यकताओं, उसकी सास्कृतिक और बौद्धिक आकाक्षाओ, रुचियों, आदर्शों के अनुरूप अपने को सदैव बदलता है। "फलत उसका विकास-क्रम कभी अवरुद्ध होकर जडीभूत नही बना, वह प्राणवन्त और गतिशील होता गया। वह आनन्द का कारण और मनोरजन का साधन, प्रेरणा का स्रोत और कर्तव्य-परायणता का माध्यम बना रहा।"

इन नाटकों ने लोक-जीवन को सयत एव सुखी बनाने का सदा प्रयास किया है। *सरस गीतों के माध्यम से नीति-धर्म के उपयोगी सिद्धान्तो को अवगत कराने में* लोक-नाटको का बडा हाथ रहा है।

स्याहपोश नामक सगीत नाटक में एक स्थान पर गबरू पातिव्रत धर्म के सिद्धान्त को इस प्रकार समझाता है :—

आगम निगम पुराण में, किया व्यास निरधार।
उत्तम मध्यम नीच लघु, धर्म पतिव्रत चार॥

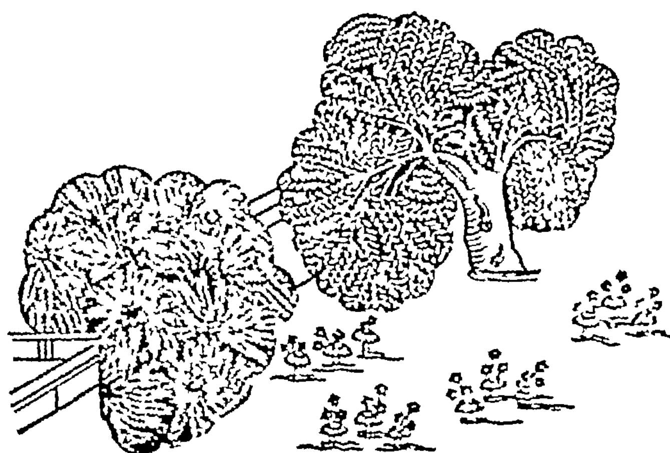
धर्म पतिव्रत चार परस्पर श्रुति पुराण यों गावै।
उत्तम पति के सिवा स्वप्न में हू परपति पास न जावै॥
मध्यम को परपती पिता सुत भ्राता तुल्य दिखावै।
बचे समझ कुलकान लघु अधम अवसर को नहि पावै॥

लोक-साहित्य के अध्ययन का निरन्तर प्रचार इस बात का प्रमाण है कि शिष्ट साहित्य और 'गाम्यगिरा' का भेदभाव क्रमश विलीन होता जा रहा है। जिस प्रकार सस्कृत के विद्वानों ने प्रारम्भ में प्राकृत और अपभ्र श साहित्य की उपेक्षा की किन्तु कालान्तर में इसकी बलवती शक्ति की परख हो जाने पर स्वागत किया, उसी प्रकार हिन्दी खडी बोली के विद्वान् लोक नाट्य-साहित्य को जनता के क्षणिक मनोरजन का केवल साधन ही नही मानते उसे भारतीय जन-जीवन के दर्पण के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। लोक-नाट्य-साहित्य इतना विशाल और महत्वपूर्ण है कि इसमें भारतीय सस्कृति का सहज रूप देखा जा सकता है। इसमें सहस्र वर्षों तक सहिष्णु बने रहने

वाले कृषकों के जीवन-दर्शन का पता लगाया जा सकता है। लोक-नाटकों में वे तत्त्व निहित हैं जो समय-समय पर देश-काल के अनुरूप जीवन्त साहित्य प्रस्तुत करके लोक-जीवन को रस-सपृक्त करते रहे। यदि सहानुभूति के साथ इस विशाल साहित्य का अनुशीलन किया जाय तो इस रगमच के झीने आवरण से हमारे लोक-जीवन का शताब्दियो का इतिहास झाँकता हुआ दिखाई पडेगा। देश के विशाल जनसमूह की आशा-आकाक्षा, विजय-पराजय, आचार-व्यवहार, साहस-सघर्ष आदि की जीवित कहानी मुखरित हो उठेगी।

डा० हजारीप्रसाद के शब्दो में लोक-नाटको का समस्त महत्व उनके काव्यसौदर्य-तक ही सीमित नही है। इनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है, एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन, जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूबी हुई थी या गलत समझ ली गई है। जिस प्रकार वेदों द्वारा आर्य सभ्यता का ज्ञान होता है उसी प्रकार ग्राम-गीतो द्वारा आर्य-पूर्व सभ्यता का ज्ञान होता है। ईंट-पत्थर के प्रेमी विद्वान् यदि धृष्टता न समझें तो ज़ोर देकर कहा जा सकता है कि ग्राम-गीत का महत्व मोहेजोदाडो से कहीं अधिक है। मोहेजोदाडो सरीखे भग्न स्तूप ग्राम-गीतो के भाष्य का काम दे सकते हैं।

इसी प्रकार राल्फ विलियम्स ने एक वार कहा था—"लोक-साहित्य न पुराना होता है, न नया। वह तो उस वन्य वृक्ष के सदृश होता है जिसकी जडें अतीत की गहराइयो में घुसी होती हैं, मगर जिसमें नित नई शाखाएँ, नई पत्तियाँ, नए फल निकलते रहते हैं।"



हिन्दी में एकांकी का स्वरूप

—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

जिन स्थितियो और प्रेरणाओ ने हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में कहानी को विकास दिया, उन्ही तथ्यो ने हिन्दी नाटक-क्षेत्र में एकाकी को जन्म दिया—यह स्थापना कहानी के लिये चाहे जितनी सत्य हो, पर जहाँ तक वैज्ञानिक दृष्टि जाती है, यह निष्कर्ष हिन्दी एकाकी के लिए एक विचित्र असगति उत्पन्न करने वाला है। यह अति व्यापक निष्कर्ष एकाकी अध्ययन और इसके स्वरूप के मूल्याकन में इतने गहरे पैठकर आये दिन आलोचनाओ मे पढने को मिलता है कि जिनसे हिन्दी एकाकी के महत्व और प्रतिमान का स्तर झुकने लगता है।

हिन्दी एकाकी और कहानी, इन दोनो कलाओं के उदय के पीछे आन्तरिक रूप से दो विभिन्न प्रेरणायें और शक्तियाँ कार्य कर रही थी। दोनों माध्यमो के दो अलग अलग उत्स भी थे। बाह्य दृष्टि से, निस्सन्देह, यन्त्रयुग की द्रुतगामिता, दैनिक जीवन के कार्यभार का व्यक्ति पर प्रभाव और इनसे समूचे जीवन मे परिवर्तन—इस सम्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति तथा मनोरजन का प्रतिनिधित्व इन दोनो कलाओं ने किया।

पर हिन्दी में एकाकी का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से भी कहानी से बहुत बाद में हुआ—अर्थात् प्रथम महायुद्ध के भी उपरान्त, जिस समय भारतीय जीवन में एक अद्भुत तनाव आ चुका था।

राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता-सग्राम की गति बहुत व्यापक और गहरी हो चुकी थी, अर्थात् राष्ट्रीय सग्राम दर्शन बन कर जीवन में उतर चुका था। दूसरी ओर अग्रेजो की दमन नीति उग्र से उग्रतर हो चली थी। शासक की अर्थ-नीति और शासन नीति में नये-नये दाँव-पेंच लागू हो चुके थे। मध्यकालीन सामन्तीय व्यवस्था के उपरान्त भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था बडी तेजी से उभर रही थी। फलस्वरूप विशुद्ध भौतिक धरातल पर विचित्र द्वन्द्वात्मक सत्य का जन्म होने लगा था। समूचा जीवन, अपने नैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सौन्दर्य, बोध के आयामो में बिल्कुल एक परिवर्तित परिस्थितियो से टकराने लगा था। वस्तुत उस टकराहट में पाश्चात्य जीवन-दर्शन और भारतीय दृष्टिकोण तथा सास्कृतिक विचारधारा कार्य कर रही थी और इस प्रक्रिया में जो नया उन्मेष तत्कालीन समाज को मिल रहा था, उसका स्वर और

स्तर उस स्वर और स्तर से अपेक्षाकृत अधिक सघन, उच्च और गहरा था जो हिन्दी कहानियों के जन्म अथवा आविर्भाव के समय के समाज मे व्याप्त था।

इस सत्य का सबसे बड़ा प्रभाव आविर्भाव-काल ही से हिन्दी एकाकी पर यह पड़ा कि इसका स्वरूप नितात मौलिक और इसका स्वर नितात यथार्थवादी रहा। जीवन का जैसा तनाव, जितना द्वन्द्व इस माध्यम से अभिव्यक्त हुआ, वह अपने आप में अपूर्व था, नितान्त मौलिक। शिल्पविधि निस्सन्देह पश्चिम से ग्रहण की गई लेकिन जिस साहित्यिक परम्परा, जिन सहज शक्तियो मे हिन्दी एकाकी की उपलब्धि हुई वे विशुद्ध रूप से अपनी हैं, स्वजातीय हैं, उसके सारे सस्कार अपने हैं, वे सारे स्वर अपने हैं।

इस दृष्टि से हिन्दी एकाकी के स्वरूप मे अपनी मौलिकता और सहज विकास की छाप आदि से ही है। इस सत्य के आकलन के लिए हमे, हिन्दी के सर्वप्रथम एकाकी 'एक घूँट' से पूर्व की नाट्य-स्थितियो को देखना होगा। अर्थात् इससे पहले भारतेन्दु, 'प्रसाद' आदि द्वारा लिखे गए सम्पूर्ण नाटक, रगमच की धारा का क्या स्वरूप था ? हिन्दी एकाकी के स्वरूप को पहचानने के लिये अपनी उस उपलब्धि को देखना होगा, जिसे हम किन्ही अर्थों मे हिन्दी एकाकी की विरासत कह सकते हैं।

भारतेंदु का नाम और उनकी सृजनशीलता के फलस्वरूप समूचा भारतेंदु-काल हिन्दी नाटक के विकास का प्रथम चरण है। इस चरण मे नाट्य-कला की परम व्यावहारिकता—अर्थात् रगमच—की दिशा मे आगे चलते ही पारसी रगमच की तूती बोल उठती है। इस विरोधी स्थिति के सम्मुख नाटककार भारतेन्दु ने जो निर्णय लिया, उसमे प्रतिक्रिया अधिक थी, दूरदर्शिता और व्यावहारिकता कम। भारतेंदु ने अपने नाटको का सृजन सस्कृत-नाटको की प्रणाली से किया और उनमे भारतीय नाट्य-शास्त्र की स्थापना पर खूब बल भी दिया। इसका फल यह हुआ कि नाटको का स्वर विशुद्ध साहित्यिक हो गया और उनके धरातल से स्पष्ट हो गया कि वे नाटक दर्शन की वस्तु न रह कर केवल पठन-पाठन के सत्य बनकर रह गये। यह सत्य किसी-न-किसी रूप में समूचे भारतेन्दु-काल के नाटको पर लागू है। साहित्यिक नाट्य-धारा पठन-पाठन की नाट्य-धारा—इस तरह हिन्दी नाटको की ऐसी परम्परा स्थापित हुई कि उनके विकास-क्रम में आगे की समूची धारा उसी दिशा मे अबाध हो गयी। भारतेन्दु के बाद प्रेमघन, फिर मिश्र-बन्धुओ के नाटक 'महाभारत' और 'नेत्रोन्मीलन' माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' और मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास' और इस विशुद्ध साहित्यिक नाट्य-धारा की चरम सीमा प्रसाद का नाट्य-साहित्य। यह समूची धारा जैसे रंगमच से असम्पृक्त धारा थी—एक तरह से प्रतिक्रिया का धारा थी यह ! क्योकि

दूसरी ओर विशुद्ध रंगमंच की भी धारा अबाध गति से चल रही थी—आगा हश्र, बेताब, जौहर, शैदा तथा कथावाचक राधेश्याम का व्यक्तित्व इस धारा में अनन्य उदाहरण थे। और इनको रंगमंच भी मिला था तो वही अति व्यावसायिक पारसी रंगमंच जिसकी रंगमंच की पद्धति नितांत अकलात्मक थी।

इस तरह से हिन्दी एकांकी के जन्म के समय हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में दो सत्य उपलब्ध थे

(अ) भारतेन्दु, प्रसाद की विशुद्ध साहित्यिक नाट्य-धारा—ऐतिहासिक, पौराणिक संवेदनाओं और वर्ण्य विषयों की स्थापना।

(आ) आगा हश्र, शैदा आदि के माध्यम से अनुचालित विशुद्ध व्यावसायिक पारसी रंगमंच का सत्य।

ध्यान देने की बात है—कि दोनों ओर 'विशुद्ध' जुड़ा हुआ है। इस 'विशुद्ध' ने इतना भयानक व्यवधान नाटक और रंगमंच के बीच डाल दिया कि हम आज भी उस दिशा में दरिद्र हैं।

पर हिन्दी एकांकी अपने आविर्भाव के साथ ही एक ऐसे समन्वयात्मक सत्य को लिये आया कि रंगमंच और एकांकी रचना दोनों के सूत्र जैसे उसकी गाँठ में संस्कारत बँधे थे। जैसे रंगमंच और एकांकी रचना दोनों एक दूसरे के अनिवार्य तत्त्व थे—शरीर और आत्मा की भाँति। भुवनेश्वर का 'कारवाँ' और डाक्टर राम-कुमार वर्मा की 'रेशमी टाई' इन दो एकांकी-संग्रहों के एक-एक एकांकी उक्त स्थापना के अनन्य उदाहरण हैं।

भाव-पक्ष अथवा वर्ण्य विषयों की दृष्टि से इनके स्वरूप पर यथार्थ सामाजिकता और तत्कालीन जीवन के द्वन्द्वात्मक उद्वेलनों और जीवनगत मूल्यों की अभिव्यक्ति के प्रति सच्चा आग्रह है। कलापक्ष पर आधुनिक नाट्य-शैली की सफल छाप है। 'इब्सन' और 'शॉ' की शिल्प-विधियाँ और रंगमंच की व्यावहारिकता का सत्य—ये दोनों बातें यहाँ उभर कर आयी हैं। इस तरह हिन्दी एकांकी के स्वरूप में आदि से ही यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व रंगमंच की व्यावहारिकता और युग की कटु सामाजिकता के प्रति जागरूकता और उसकी निश्छल अभिव्यक्ति के लिये कलागत आग्रह—ये तत्त्व हिन्दी एकांकी के स्वरूप के मूलाधार हैं।

आगे चलकर इस स्वरूप के कई पक्ष हिन्दी एकांकी-साहित्य में विकसित होते हैं। समस्त पक्षों को अध्ययन की दृष्टि दो सरणियों में बाँटा जा सकता है।

(अ) ऐतिहासिकता एवं पौराणिकता के धरातल पर साहित्यिक एकांकी, पर विशुद्ध साहित्यिक नही—रंगमंच की व्यावहारिकता और उसके सत्य से निस्संग। इस सरणि में डाक्टर रामकुमार वर्मा के समस्त ऐतिहासिक एकांकी हैं जैसे, 'पृथ्वीराज की आँखें' 'चारुमित्रा' 'रजत-रश्मि' 'ऋतुराज' और 'कौमुदी महोत्सव' आदि संग्रहो के एकांकी। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के एकांकी, जिनकी संवेदनाएँ मध्यकालीन ऐतिहासिक कथाओं से ग्रहण की गई हैं, और इसी तरह सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट और लक्ष्मीनारायण मिश्र के भी नाम इसी क्रम में आते हैं।

(आ) यथार्थ सामाजिकता के स्वर से परम अभिनेय एकांकी। इस सरणि में उदाहरण हैं भुवनेश्वर का 'कारवाँ', डा० रामकुमार वर्मा की 'रेशमी टाई', सेठ गोविन्ददास का 'नवरस' 'स्पर्धा' 'एकादशी' 'सप्तरश्मि' और 'चतुष्पथ', उदयशंकर भट्ट का 'समस्या का अन्त', 'चार एकांकी', भगवतीचरण वर्मा के 'दो कलाकार', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'देवताओं की छाया में'। इस सरणि में इसी खेवे के दो-तीन नाम—उग्र, सद्-गुरुशरण अवस्थी और गणेशप्रसाद द्विवेदी—नही छोड़े जा सकते।

इन दोनो दिशाओं में हिन्दी एकांकी को जो कलागत, शिल्पगत और रंगमंच-गत स्वरूप मिले हैं, वस्तुतः वे परम उल्लेखनीय हैं। उन्ही उपलब्धियो से ही हिन्दी एकांकी को आज एक आश्चर्यजनक मर्यादा और ख्याति मिली है।

पहली दिशा में 'संकलन-त्रय' और 'संकलन-द्वय' की प्रतिष्ठा इसके स्वरूप की मूल धुरी है, जहाँ एकांकी का समूचा संविधान उससे प्रेरित होता है।

डा० रामकुमार वर्मा की कला के अनुसार संकलन-त्रय एकांकी कला की मूल आत्मा है। जिस एकांकी में इस सत्य का निर्वाह नही, वह एकांकी न होकर कुछ और है, ऐसी उनकी निश्चित धारणा है। इसके सफलतम उदाहरण में डा० रामकुमार का समूचा एकांकी साहित्य रखा जा सकता है। संकलन-त्रय की पूर्ण प्रतिष्ठा के ही फल स्वरूप उनकी एकांकी कला में एक आश्चर्यजनक कसाव और प्रभविष्णुता स्थापित हुई है, और उनसे नाटकीय परिस्थितियो की सुन्दर से सुन्दर अवतारणा हुई है। लेकिन व्यापक स्तर पर विशुद्ध रचना-विधान की दृष्टि से डा० वर्मा की यह अटल धारणा एकांकी कला में कोई प्रगति नही दे सकती। स्वभावतः उनकी कला एक रूढ़ि है जो एकांकी कला की गत्यात्मकता को सीमा और कठोर नियमो में बाँध देती है।

इसके विपरीत सेठ गोविन्दास ने संकलन-त्रय में से केवल संकलन-द्वय—(१) एक ही काल की घटना (२) एक ही कृत्य—को ही एकांकी की शिल्प-विधि में आवश्यक

माना है। इसमें उन्होने देश-सकलन को बिल्कुल स्थान नहीं दिया है। आगे चलकर उन्होने एकाकी-शिल्प में से काल-सकलन को भी अलग कर दिया है, तथा इसकी पूर्ति के लिये एकाकी रचना-विधान में 'उपक्रम' और 'उपसहार' की प्रतिष्ठा की है। निस्सदेह इस नव विधान से एकाकी कला के स्वरूप को व्यापकता और गत्यात्मकता मिली है, पर इससे एकाकी की अपनी निश्चित कला में जो उसकी अपनी मर्यादा है, निर्बलता आती है।

दूसरी दिशा में एकाकी-कला के स्वरूप को आश्चर्यजनक शक्ति और व्यापकता मिली है, जिस पर मौलिकता और अभिनय तत्त्व की सफल छाप है। यह कला हमारे जीवन को इतने समीप से, इतनी सच्चाई और साकेतिक सम्पूर्णता से बाँध कर चलती है कि जीवन अपने शतदलों सहित जैसे खिल उठता है। इस विधान के स्वरूप में एकाकी का एकात प्रभाव और वस्तु का ऐक्य ही अनिवार्य है, शेष देशकाल की एकता या विभिन्नता या तो एकाकी की सवेदना पर निर्भर करना है, अथवा एकाकीकार की प्रतिभा पर। सफल शिल्प-विधि की दृष्टि से परम शिल्पी एकाकीकार वही है जो जीवन के एक पक्ष, एक घटना, एक परिस्थिति को उनकी ही स्वाभाविकता से अपनी कला में बाँध ले, सँवार ले जैसा कि जीवन में नित्यप्रति सम्भाव्य है। इसके लिये सकलन-त्रय सकलन-द्वय की सीमा और मर्यादा का कोई बधन नही है। सब की अपेक्षा है, और अमान्य स्थितियो में सब अग्राह्य भी हैं—केवल परम आवश्यक है एकाकी में एकाग्रता और एकात प्रभाव। इसकी प्राप्ति के लिए एकाकीकार जो भी तत्र उसमें प्रस्तुत करता है, वस्तुत वही एकाकी की शिल्प-विधि है, और वही एकाकीकार की अपनी मौलिकता की छाप है।

इस सूत्र के विकास-क्रम में हिन्दी एकाकी-साहित्य का दूसरा चरण नयी पीढी के एकाकीकारो का आरम्भ होता है। इम चरण में कुछ नाम प्रथम चरण के भी आते हैं, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और जगदीशचन्द्र माथुर। इस चरण में जितने नये नाम हिन्दी एकाकी के साहित्य को मिले हैं, उनसे जो स्वरूप हिन्दी एकाकी कला को मिलने जा रहा है, वह अभी परीक्षा और प्रतीक्षा का विषय है और जितनी उपलब्धि और उससे जितना स्वरूप हिन्दी एकाकी को अब तक मिल चुका है, वह निश्चय ही देखा जा सकता है।

इस नयी पीढी को जो चेतना, और मनोभाव मिले हैं, उन से विकास-क्रम में, द्वितीय महायुद्ध, उसमे प्राप्त जीवन की चातुर्दिक् प्रतिक्रियाएँ और प्रभाव, स्वतत्र क्रांति, स्वतत्रता-प्राप्ति के चरण हैं। और उसके उपरान्त की वे सभी स्थितियाँ भी

अमिट हैं जिन का मानव-मूल्यों, जीवन-स्वर, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय नवचेतना पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है।

जनता की चेतना तथा जीवनगत मूल्यों पर राजनीति-अर्थनीति का आश्चर्य-जनक प्रभाव पड़ा है। उसके सारे नैतिक, सामाजिक दृष्टिकोणों में ध्वंस और विघटन प्रस्तुत हुआ है। उसकी रुचि तथा रंजन-वृत्ति पर देश-विदेश के चित्रपट, रेडियो का अतवर्य प्रभाव पड़ा है।

नयी पीढ़ी का एकांकीकार प्रायः सभी पूर्व-पश्चिम के देशों के नाटक—एकांकी साहित्य—के सीधे सम्पर्क में आया है। उसने चेखव, टालस्टाय, ज्याँ पॉल सार्त्र, 'ओनील', 'स्ट्रिंडबर्ग', 'सरोयान', 'आर्थर मिलर', 'नोप्लेज आफ जापान', 'जे. एम. वेटी' 'जे एम. सिंज', तथा 'टेनसी विलियम' आदि जैसे समर्थ और शक्ति-शाली नाटककारों को पढ़ा है। उसे एक नया आयाम मिला नाटक-शिल्प का, सम्भावना और क्षेत्र का, उपलब्धि और विकास का।

इस प्रेरणा और प्रगति में जो उपलब्धि अपनी मौलिकता और निजत्व के आग्रह और अनुभूति से इस चरण ने हिन्दी एकांकी-साहित्य को दी है, उसके उदाहरण में ये नाम और उनकी रचनाओं की कुछ बानगी इस प्रकार है — उपेन्द्रनाथ 'अश्क'. 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'चिलमन', 'भँवर'। जगदीशचन्द्र माथुर—'कबूतर खाना', 'ओ मेरे सपने' और 'घोसले'। धर्मवीर भारती 'नदी प्यासी थी', 'सृष्टि का आखिरी आदमी', 'नीली झील'। विष्णु प्रभाकर—'मीना कहाँ है', भारतभूषण अग्रवाल —'महाभारत की साँझ', 'और खाई बढ़ती गयी।' सिद्धनाथ कुमार—'सृष्टि की साँझ', 'बादलों का शाप', लक्ष्मीनारायण लाल—'शरणागत', 'मैं आता हूँ' 'सुबह से पहले।'

इसके अतिरिक्त नये नाम, स्वर ये भी हैं—हरिश्चन्द्र खन्ना, कर्तारसिंह दुग्गल, मोहन राकेश, और अनन्त कुमार पाषाण।

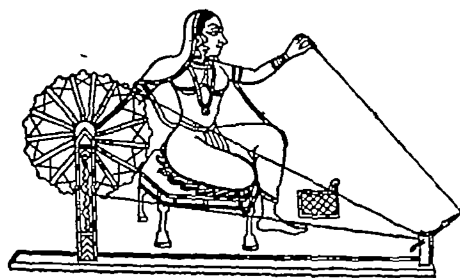
इस चरण में हिन्दी एकांकी को अब तक जो स्वरूप मिला है, उसमें कला और टेकनीक के स्तर पर आश्चर्यजनक सफल प्रयोगशीलता, विभिन्नता और उत्तरो-त्तर अपनी कला को गतिशीलता देने का आग्रह सर्वत्र व्याप्त है। अभिनय और रंगमंच की चेतना इतनी तीव्रतर हो गई है कि एकांकी रचना और विधान का स्वरूप प्रथम चरण की अपेक्षा बहुत भिन्न लगने लगा है। निर्देश प्रश्न, कथोपकथनों की सूक्ष्मता, प्रवेश-प्रस्थान पर अत्यधिक बल, नाटकीय परिस्थितियों का सूक्ष्म चयन और उनका पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से निर्वाह—इस चरण के एकांकियों के स्वरूप की पहचान है।

✓ ध्वनि-एकाकी अथवा रेडियो-एकाकी इस चरण के एकाकी-स्वरूप की दूसरी बडी पहचान है। और इस माध्यम की कलागत स्वीकृति इसकी व्यापकता का एक उदाहरण भी है।

भाव-पक्ष अथवा विषय-क्षेत्र में भी जो उपलब्धि, फलस्वरूप जो स्वरूप हिन्दी एकाकी को मिला है वह कलागत-शिल्पगत उपलब्धि से कही अधिक महत्वपूर्ण और शुभ है। आज के व्यक्ति, समूचे मानव स्वभाव और कर्म-प्रेरणाओं के सूक्ष्म सकेत और उद्‌भावना से लेकर समस्त सामाजिक वैपम्य, सघर्ष और विघटन- परिवर्तन और नये मानव-मूल्यों तक एकांकीकार की सवेदना सफलता से पहुँच जाने में सफल है।

हिन्दी एकाकी का इतिहास अभी मुश्किल से तीन दशको का है। इतनी कम अवधि में इस अभिनव माध्यम ने इतना शक्तिशाली स्वरूप पा लिया है—यह सत्य इसे एक निश्चित व्यक्तित्व देता है। और हमारे सामने अपने स्वरूप के ऐसे मगलमय भविष्य की आशा बाँधता है कि जिसके आधार से हम एक दिन अपने भारतीय रंगमच को एक उज्ज्वल दिशा दे सकेंगे।

अभी तो, इसके स्वरूप में अपनी ऐसी मौलिकता और गहनता है कि जिसके सामने बँगला, मराठी, गुजराती आदि एकाकी साहित्य बिल्कुल और स्तर के लगने लगे हैं। हम बडी सफलता से अपने एकाकी-साहित्य को भारतीय एकाकी-साहित्य का प्रतिनिधि-स्वरूप कह सकते हैं, इसमें कोई सशय अथवा मोह नही, यह वस्तु-सत्य है और यह सत्य हिन्दी एकाकी-साहित्य के अभिनव स्वरूप की प्रेरणा और उपलब्धि के आधार को लिये हुये है।



संकलन-त्रय

—डॉ० कन्हैयालाल सहल

नाट्यालोचन में पुराकाल से समय, स्थान और कार्य के संकलनों की चर्चा होती आई है। अरस्तू के 'काव्य-शास्त्र' में तीनों संकलनों का उल्लेख मिलता है। महाकाव्य और दुःखान्त नाटक के अंतर को स्पष्ट करते हुए अरस्तू ने बतलाया है कि दुःखान्त नाटक में यथासाध्य घटना को एक दिवस अथवा अपेक्षया कुछ अधिक काल तक सीमित कर देने का प्रयास देखने में आता है जब कि महाकाव्य में समय का ऐसा कोई बंधन नहीं होता[1]।

अरस्तू के उक्त उल्लेख में एक प्रचलित प्रथा का निर्देश मात्र है, समय-संकलन जैसे किसी नाटकीय नियम की व्यवस्था नहीं। इसके अतिरिक्त जिस प्रचलित प्रथा का निर्देश किया गया है, उसका भी, प्राचीन नाटकों में, सर्वत्र दृढ़ता से पालन नहीं हुआ है, प्राचीन नाट्यकारों की कृतियों में इसके भी अनेक अपवाद देखने को मिलते हैं।

दुःखान्त नाटकों में घटना को एक दिवस-पर्यन्त सीमित कर देने की जो बात ऊपर कही गई है, उस प्रसंग में अरस्तू ने एक दिवस के लिए 'सूर्य के केवल एक संक्रमण' (A single revolution of the sun) का प्रयोग किया है। 'सूर्य के केवल एक संक्रमण' का तात्पर्य २४ घण्टों से है अथवा १२ घण्टों से—इसको लेकर भी समीक्षकों में बहुत मतभेद चला। कार्नील ने २४ घण्टों के पक्ष में अपना मत प्रकट किया किन्तु अरस्तू के प्रमाण के आधार पर ही कुछ खींचातानी करके उसने ३० घण्टों की अवधि निर्धारित की, यद्यपि इस अवधि को भी उसने असंतोषप्रद ठहराया। डेसियर (Dacier) ने इस अवधि को १२ घण्टों की माना और कहा कि ये १२ घण्टे दिन या रात, किसी के भी हो सकते हैं अथवा दोनों के आधे-आधे हो सकते हैं। उसकी दृष्टि में दुःखान्त नाटक का आदर्श तभी उपस्थित होगा

---

1 Epic poetry and tragedy differ, again, in their length: for tragedy endeavours, as far as possible, to confine itself to a single revolution of the sun, or but slightly to exceed this limit; whereas the epic action has no limits of time. (Poetics. Chapter V.)

2. द्रष्टव्य Aristotle's theory of Poetry and Fine Art by S. H. Butcher pp. 290-291

जब यथार्थ और नाटकीय जगत की घटनाओ के काल-यापन में समीकरण स्थापित हो जाय। किन्तु समय-सकलन के निर्वाह में इस प्रकार की कठोरता का पालन एक प्रकार से अव्यावहारिक ही रहा।

स्थान-सकलन से तात्पर्य यह है कि नाटक में ऐसे किसी भी स्थान पर कार्य-व्यापार नही होना चाहिए, जहाँ नाट्य-निर्दिष्ट समय में नाटक के पात्र यातायात करने में असमर्थ हो। अत स्थान-सकलन के निर्वाहार्थ नाटकीय कार्य-व्यापार एक नगर या एक ऐसे स्थल तक ही सीमित हो जाता था जहाँ कार्यवश सभी आवश्यक पात्रो का समावेश हो जाता। इस सकलन का चरम आदर्श सभवत वहाँ उपस्थित होता था जब एक ही कमरे में राजा से लेकर गरीब तक का समावेश करवा दिया जाता।

अरस्तू ने अपने 'काव्य-शास्त्र' में स्थान-सकलन का दूरस्थ सकेत-मात्र किया है। सामान्यत यह समझा जाता है कि स्थान-सकलन का सिद्धान्त समय-सकलन से ही उद्भूत हुआ है।

कार्य-सकलन का अभिप्राय यह है कि नाटक में ऐसी किसी भी घटना का समावेश नही होना चाहिए जिसका नाटक की प्रमुख घटना से सम्बन्ध न हो। नाट्यकार का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कृति को आदि, मध्य और अन्त-समन्वित एक अखण्ड सृष्टि के रूप में प्रस्तुत करे। इस सम्बन्ध में लावेल का कहना है कि जिस तरह शरीर के एक अग का दूसरे के साथ सम्बन्ध है, उसी तरह का पारस्परिक सयोजन और सम्बन्ध नाटक के विभिन्न भागो में होना चाहिए। नाटक का सस्थान ऐसा होना चाहिए जिसमें सश्लेषण की अनिवार्यता और समन्विति का पूर्ण निर्वाह हुआ हो। नाट्यकार को इस ओर बराबर अपनी दृष्टि रखनी चाहिए कि नाटक का ढाँचा निरा यान्त्रिक न बन जाये जिसमें एक अश दूसरे अश के साथ यो ही, बिना किसी नियम के, अललटप्पू जोड दिया गया हो।

अरस्तू ने यद्यपि नाटक में कार्य-सकलन को ही अनिवार्यत आवश्यक ठहराया था तथापि समय और स्थान-सकलन का अर्थ कुछ लोग भ्रमवश यह समझते हैं कि नाटक में केवल एक व्यक्ति का आख्यान रहना चाहिए किन्तु सच तो यह है कि एक व्यक्ति के जीवन में ही ऐसी असख्य घटनायें हो सकती हैं जिन सबका समुच्चय एक

---

1 One is limited to the part on the stage and connected with the actors—De Poetica, Chapter 24, translated into English by Bywater

2 द्रष्टव्य, J R Lowell, The Old English Dramatists, p 55.

नाटकीय कथानक की सृष्टि नही कर सकता, इसी प्रकार समय के सकलन मे भी कार्य-सकलन अपने आप नही हो जाता। अरस्तू की दृष्टि में होमर ने इस तथ्य को भली-भाँति हृदयगम कर उसे कार्यान्वित किया था। ईलियड और ओडीसी में उसने नायक की सब घटनाओ को न लेकर उन्ही घटनाओ को लिया है जिनका मूल-घटना से सम्बन्ध है। जिस घटना की सत्ता से नाटक की मुख्य घटना पर कोई प्रभाव नही पडता, जिसका होना न होना बराबर है, नाटकीय कथानक का अभिन्न अग वह नही मानी जा सकती। इतना ही नही ऐसी घटना के समावेश से कार्य-सकलन को भी क्षति पहुँचती है।

अरस्तू के मत से नाटक का विस्तार उतना अवश्य होना चाहिए जितने के द्वारा कथानक का स्वाभाविक विकास दिखलाया जा सके। उसकी दृष्टि में कार्य-सकलन मुख्यत दो रूपो मे सम्पन्न होना है—१ नाटकीय घटनाओ मे कार्य-कारण-सम्बन्ध की स्थापना की गई हो। २. सब घटनाएँ किसी एक लक्ष्य की ओर उन्मुख हो।

होरेस ने रोम में अरस्तू के नाटकीय सिद्धान्तो का प्रचार किया और फ्रास के शिष्टवादियो ने तीनो सकलनो की स्थापना को परमावश्यक ठहराया। उनके मतानुसार—

(क) नाटक में एक मात्र विषय कथानक रहेगा। यदि उसमें छोटी-छोटी घटनावली को सयोजित करने की आवश्यकता हो तो उसे इस प्रकार सन्निविष्ट करना उचित है कि वह मूल घटना की परिपोषक हो।

(ख) सारी घटनाओ का एक जगह सघटित होना आवश्यक है।

(ग) सारी घटनाओ का एक ही दिन में और एक कारण से होना उचित है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि इतने विधि-निषेधो को मान कर चलने वाला नाट्यकार सर्वदा स्वाभाविकता की रक्षा नही कर सकता। अग्रेजी साहित्य में बेन जॉन्सन ने तीनो नाटकीय सकलनो का निर्वाह किया है। शेक्सपियर ने भी 'टेम्पेस्ट' तथा 'कामेडी आफ एरर्स' में सकलनो की रक्षा की है, किन्तु अपने अन्य नाटको में उसने समय और स्थान के ऐक्य की ओर कोई ध्यान नही दिया। ड्राइडन ने समय और स्थान-सकलन के सिद्धान्तो की धज्जियाँ उडाई थी। 'पीछे इब्सन की आँधी में ये सिद्धान्त रुई की भाँति उड गये।'

---

१ देखिये हिन्दी विश्वकोश (श्री नगेन्द्रनाथ वसु, ११ भाग, पृ० ५८६)

जहाँ तक सस्कृत नाट्याचार्यों का प्रश्न है, कुछ आलोचकों का आक्षेप है कि उनका ध्यान काल, स्थान और कार्य-सकलन की ओर उतना नही गया क्योकि रस-निष्पत्ति ही उनका प्रमुख लक्ष्य रहा। यह तो सच है कि भरत के नाट्य-शास्त्र से लेकर परवर्ती अनेक लक्षण-ग्रन्थो में रस को आत्मा और नाटक के इतिवृत्त को शरीर के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु फिर भी यह स्वीकार नही किया जा सकता कि सस्कृत नाट्याचार्यों ने समय, स्थान और कार्य के ऐक्य पर दृष्टि नही रखी है। भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में 'अक में काल-नियम' के अन्तर्गत एक प्रकार से समय-सकलन पर ही अपने विचार प्रकट किये हैं। उन्ही के शब्दो में--

"एकदिवसप्रवृत्तं कार्यस्त्वङ्कोऽर्थबीजमधिकृत्य।
आवश्यककार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु।"

'एकदिवसप्रवृत्त' की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं—"अथाकस्य प्रयोगकालपरिमाणमियदिति दर्शयति एकदिवसप्रवृत्तमिति।" अर्थात् एक अक में जितने कार्य-व्यापार का प्रदर्शन करना हो, उसके लिए एक दिवस का समय निर्दिष्ट किया गया है। 'एक दिवस' से अभिनवगुप्त का तात्पर्य १५ मुहूर्त से है। दिन-रात के तीसवें हिस्से को 'मुहूर्त' की सज्ञा दी गई है। दिन समाप्त होने तक का पूरा काम यदि एक अक में न आ सकता हो तो अकच्छेद करके शेष काम प्रवेशको द्वारा सूचित कर देना चाहिए।

"दिवसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम्।
अकच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद्विधातव्यम्॥"

प्रवेशको द्वारा चूलिका, अकावतार, अकमुख, प्रवेशक और विष्कम्भक का ग्रहण किया गया है।

नाटक में कुछ स्थल ऐसे हैं जो रगमच पर प्रदर्शित किये जाते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जिनकी सूचना प्रवेशक, विष्कभक आदि द्वारा दे दी जाती है। ऐसे स्थलो को 'सूच्य' कहते हैं। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में सूच्य अश के लिए भी एक वर्ष की अन्तिम सीमा निर्धारित की गई है।

"अङ्कच्छेदं कुर्यान्मासकृतं वर्षसचित वापि।
तत्सर्वं कर्तव्य वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्॥"†

---

†द्रष्टव्य नाट्य-शास्त्रम् अभिनवगुप्तविरचितविवृतिसमेतम् (अष्टादशऽध्याय) पृ० ४२०-४२२, Gaekwad Oriental Series, Volume LXVIII.

नाटकलक्षणरत्नकोशकार ने भी प्रकारान्तर से यही बात कही है—

"एकदिवसप्रवृत्तः कार्योऽके सप्रयोगमधिकृत्य। आख्याने यद्वस्तु वक्तव्यं तदेकदिवसमालम्ब्यांके कर्तव्यम्। केचित्तु वासरार्द्धकृतोह्यङ्क इति। केचिच्च एकरात्रिकृतमेकवासरकृतमंके वक्तव्यम्। यत्र तु कार्यवशात् कालभूयस्त्वं तदस्मिन्नङ्के प्रवेशकेन वक्तव्यम्। न तु वर्षादतिक्रांतं यदुच्यते वर्षादूर्ध्वं न कदाचिदिति। तदेतद् बहुकालप्रणेयं नांके विधेयमिति।"

अर्थात् एक दिन का काम ही एक अंक मे दिखाना चाहिए। कथा मे जो बाते दिखानी हैं, उनमे से एक-एक दिन की कथा एक-एक अंक में दिखानी चाहिये। एक आचार्य कहते हैं—अंक मे आधे दिन की कथा दिखानी चाहिए, दूसरे आचार्य का कहना है कि एक रात-दिन की घटना एक अंक में कही जा सकती है। जहाँ आवश्यकतावश अधिक काल की घटनाओं का प्रदर्शन करना हो, वहाँ 'प्रवेशक' का आश्रय लेना चाहिए। किन्तु एक वर्ष से ऊपर की घटना नही होनी चाहिए अर्थात् बहुत समय की घटना एक अंक में नही आनी चाहिए।*

बहुत वर्षों की घटना यदि एक अंक मे दिखलाई जाय तो उसमे अस्वाभाविकता आने का डर रहता है। स्पेन में इस तरह के नाटक लिखे गये हैं जिनमे प्रथम अंक मे नायक का जन्म दिखलाया गया है और नाटक के अन्त में नायक वृद्ध पुरुष के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार के व्यतिक्रम को स्वाभाविक बनाने के लिए नाट्यकारो को सूच्य पद्धति का प्रयोग करना ही पडता है।†

समय के ऐक्य की ओर ही नही, स्थानगत ऐक्य की ओर भी संस्कृत नाट्याचार्यों ने ध्यान दिया था। अंक में 'देश-नियम' का उल्लेख करते हुए नाट्यशास्त्रकार कहते हैं—

***देखिये, अभिनव नाट्य-शास्त्र (श्री सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १००)।**

†There are Spanish dramas in which the hero is born in Act i, and appears again on the scene as an old man at the close of the play. The missing spaces are almost of necessity filled in by the undramatic expedient of narrating what has occurred in the intervals. Yet even here all depends on the art of the dramatist Years may elapse between successive acts without the unity being destroyed, as we see from the Winter's Tale.

—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art by S.H. Butcher p 299.

"य कश्चित्कार्यवशाद् गच्छति पुरुष प्रकृष्टमध्वानम् ।
तत्राप्यङ्कच्छेदः कर्तव्यः पूर्ववत्तज्ज्ञै ॥"

अर्थात् यदि कोई पुरुष कार्यवश बहुत दूर चला गया हो तब भी पूर्ववत् अकच्छेद करना वाछनीय है । एक अक में जिन दृश्यो का समावेश किया गया हो उनमें इतना अन्तर न हो, इतनी दूरी उनके बीच में न हो कि नायक निर्दिष्ट समय में वहाँ पहुँच ही न सके । किन्तु यदि नायक के पास पुष्पक-विमान जैसा वायुयान हो तो फिर दूरी चाहे जितनी हो, वहाँ अकच्छेद बिना भी काम चल सकता है । "आकाशयानकादिना सर्व युज्यते" द्वारा अभिनवगुप्त ने इसी तथ्य की ओर सकेत किया है ।*

यहाँ पर समय और स्थानगत ऐक्य के पारस्परिक सम्बन्ध की यह स्थापना भी विशेषत उल्लेखनीय है ।

अभिनवगुप्त के उक्त साक्ष्य के होते कीथ की इस उक्ति को स्वीकार नही किया जा सकता कि सस्कृत-नाट्यकार समय और स्थान-सम्बन्धी सकलनो के सिद्धान्तो से अनभिज्ञ थे ।†

जहाँ तक कार्य की एकता का प्रश्न है, आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम, कार्य की ये पाँच अवस्थाएँ, बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ये पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ, तथा मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण—ये पाँच सन्धियाँ, इस तथ्य को स्पष्ट प्रमाणित करती हैं कि कार्य की एकता की ओर सस्कृत-नाट्याचार्यो ने पूरी दृष्टि रखी थी । आरम्भ, प्रयत्न आदि को लेकर कथानक के जो पाँच विभाग किये गये हैं, उनमें नायक (व्यक्ति) पर दृष्टि रखी गई है, बीज, बिन्दु आदि को लेकर जो वर्गीकरण किया गया है, उसमें घटनओ पर दृष्टि रखी गई है, यह वर्गीकरण वस्तु-परक कहा जायगा । मुख, प्रतिमुख आदि सधियो को लेकर जो विभाजन किया गया है, उसमें नाटक के शरीर और उसके अवयवो की कल्पना सन्निहित है । अरस्तू ने जो दु खान्त नाटक का वर्गीकरण किया

*देखिए नाट्य-शास्त्र पर अभिनवगुप्त की विवृति (वही पूर्वोक्त सस्करण पृष्ठ ४२३)

†The statement of Prof Keith in his Sanskrit Drama that Sanskrit dramatists were ignorant of the principles of unities of time and place, is based upon his own ignorance of the technique of sanskrit drama —Comparative Aesthetics vol 1 by K C Pande p 349

है, वह केवल वस्तु-परक है; संस्कृत नाट्याचार्यों द्वारा किया हुआ कथानक का यह त्रिविध वर्गीकरण अपेक्षया विशद एव व्यापक है।

अत मे, निष्कर्ष के रूप में यह कहना आवश्यक है कि नाटक मे कार्य का सकलन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, समय और स्थल-सकलन कार्य-सकलन के अगभूत मात्र हैं। सच तो वह है कि प्रतिभा के विकास मे जहाँ नियम वाधक सिद्ध होने लगते हैं, वहाँ वे त्याज्य हैं। नियमो की सार्थकता प्रगति की वाधकता मे नही, उसकी साधकता मे है। स्थल-सकलन और समय-संकलन का प्रयोग आजकल, सामान्यत. हिन्दी साहित्य के नाटको मे भी, एकाकियो और कुछ आख्यायिकाओ को छोड कर, अन्यत्र नहीं किया जा रहा है यद्यपि प्रसाद जी के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में मेरी दृष्टि मे किसी प्रकार तीनो सकलनो का सुन्दर निर्वाह हो गया है इस वात को हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि लक्ष्य-ग्रन्थो के आधार पर लक्षण-ग्रन्थो का निर्माण होता है किन्तु युग-परिवर्तन के साथ-साथ प्रतिभाशाली लेखक जब पुराने नियमो का अतिक्रमण कर नयी-नयी रचनाएँ करने लगते हैं तब वे रचनाएँ ही नूतन लक्षण-ग्रन्थो के लिए आधार वन जाती हैं।



अव्यवसायी रंगमंच की समस्याएँ

—श्री नेमिचन्द्र जैन

इस बात में तो अब कोई सन्देह नही हो सकता कि संस्कृति के अन्य क्षेत्रो की भाँति रगमच में भी हमारे देश में नव-जागरण का एक युग वर्तमान है। आजकल प्रत्येक नगर में, यहाँ तक कि देहातो में भी, आये दिनों खेले जाने वाले नाटकों की सख्या पर यदि ध्यान दें तो पिछले प्रत्येक युग की तुलना में आज के युग की यह विशिष्टता स्पष्ट हो जाएगी। इस समय शायद ही कोई ऐसा स्कूल अथवा अन्य शिक्षालय होगा जिसमें वर्ष भर में एक-दो नाटक न खेले जाते हो। कालेजो और विश्वविद्यालयो के लगभग सभी छात्रावास, बहुत से विभाग आदि अपने-अपने अलग-अलग नाटक प्रस्तुत करते हैं, विभिन्न सरकारी, ग़ैर-सरकारी विभागो के क्लब, मज़दूर सगठन, बहुत-सी सैनिक टुकडियाँ तथा अन्य सास्कृतिक सगठन वर्ष भर में एक-दो बार नाटक का आयोजन अवश्य करते हैं, चाहे फिर उन नाटको को प्रस्तुत करने की प्रेरणा इन सगठनो के वार्षिक अधिवेशनो से मिलती हो अथवा अपने सदस्यो तथा सहायको का मनोरजन करने की भावना से और अन्त में अनगिनती छोटे-बडे ऐसे सगठन और दल तो हैं ही जो नाटक करने, रगमच के विकास में सहायता देने और अपने पारिपार्श्विक जीवन की मौलिक सास्कृतिक आवश्यकताओ को पूरा करने के उद्देश्य से हर प्रदेश में, हर नगर में वर्तमान हैं और नित नए बनते जाते हैं।

इस कोटि में किसी शहर के साधारण साधन तथा प्रतिभा वाले उत्साही विद्यार्थियो के नाटक-क्लब से लेकर कलकत्ते के "बहुरूपी" जैसे असाधारण क्षमता-सम्पन्न और नाटक को अपनी आत्माभिव्यक्ति का सर्वप्रमुख साधन मानने वाले कलाकारो के दल तक सभी आ जाते हैं। इनमें से पहली श्रेणी के सगठन किसी विशेष आयोजन के अवसर पर नाटक तैयार करते और खेलते हैं तथा रगमच के प्रति उनका उत्साह अपेक्षाकृत क्षणिक और प्राय आत्म-प्रदर्शन की भावना से प्रेरित होता है जो उस आयोजन के साथ ही समाप्त हो जाता है। इनमें भाग लेने वाले बहुत से अभिनेता तो शायद दूसरी बार फिर कभी किसी नाटक में भाग ही नही लेते और प्राय ऐसे नाटक एक से अधिक बार प्रस्तुत नही किये जाते। दूसरी श्रेणी के सगठन ऐसे हैं जिनके सदस्यों को एक प्रकार से नाटक का खब्त होता है और वे अपने अधिकाश खाली समय में केवल नाटक की ही बात सोचते हैं और नाटक के द्वारा ही

अपने भीतर की कलात्मक सृजन-प्रेरणा को प्रकट करना चाहते हैं। ऐसे सगठन प्रत्येक नाटक की तैयारी पर पर्याप्त समय, शक्ति और धन भी व्यय करते हैं और उस नाटक को अधिक से अधिक रसज्ञ प्रेक्षकों तक पहुँचाने के लिए उत्सुक होते हैं तथा उसका प्रयत्न भी करते हैं। यह सही है कि नाटक को इस प्रकार सृजनात्मक अभि-व्यक्ति का साधन मानने वाले सगठन बहुत नही हैं, न साधारणतः हो ही सकते हैं किन्तु हमारे आज के सास्कृतिक उन्मेष मे उनका अस्तित्व है और वह हमारे विकास के एक महत्वपूर्ण स्तर को प्रकट करता है।

साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि पिछले दिनो में न केवल इन नाटक खेलने वाले संगठनो की सख्या में वृद्धि हुई है, बल्कि उतनी ही, शायद उससे भी कही अधिक मात्रा में, उनके कृतित्व को देखने, सराहने और उससे आनन्द प्राप्त करने वाले दर्शकों की सख्या भी बढी है। ये छोटे-बड़े नाटक चाहे किसी राजमार्ग के चौराहे पर रास्ता रोक कर बनाये हुए चौकियो के मच पर खेले जायें, चाहे कालेजो और स्कूलो के सभा-भवनो में और चाहे 'न्यू एम्पायर' जैसे आधुनिक साधनो से युक्त मच और प्रेक्षागृह में, उनको देखने के इच्छुक रसज्ञो की अब कमी नही होती। बल्कि दुर्गापूजा के समय बंगाल और गणेशोत्सव के समय महाराष्ट्र के नगर और देहात के हर मुहल्ले में, लगभग हर बडी सडक पर नाटक किये जाते हैं और उनमें तिल धरने को जगह नही मिलती। इस भाँति यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि आज हमारे देश के लगभग सभी भागो में जहाँ एक ओर शौकिया अभिनेता और निर्देशकों के नये-नये दल तैयार हो रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर उनके कार्य को समझने और सराहने वाले दर्शक—रगमच के प्रेक्षक—भी अधिकाधिक सख्या में प्रकट हो रहे हैं।

रगमंच के क्षेत्र में जहाँ यह नवोन्मेष एक असदिग्ध सत्य है, वही दूसरी ओर यह बात भी उतनी ही निर्विवाद है कि कुछेक बडे-बडे नगरो को छोडकर नियमित रगमच हमारे देश में नही के बराबर हैं और नियमित रूप से चलने वाले नाटकघर हमारे देश मे लगभग हैं ही नही। जहाँ ये नाटकघर हैं भी, वहाँ वे बड़ी सुगमता से चलते हैं यह भी नही कहा जा सकता। सिनेमा के प्रचार और लोकप्रिय होने के बाद से व्यवसाय के रूप मे नाटक-कम्पनी चलाना अब किसी भी प्रकार से आकर्षक कारो-बार नही रहा है। व्यवसायी रगमचो के सचालक अभिनेता तथा अन्य आश्रित सहायक शिल्पी कलाकार न तो फिल्म-जगत जैसा सम्मान, प्रतिष्ठा अथवा महत्व ही समाज में पाते हैं कि अपने कार्य को गौरव और आकर्षण का विषय मान सकें, और न आर्थिक दृष्टि से ही इस कार्य में उन्हे इतनी सफलता तथा सम्पन्नता प्राप्त होती है कि उसे आजीविका का निश्चित साधन बना सकें। परिणाम-स्वरूप जिनमे तनिक सी भी अभिनय अथवा निर्देशन सम्बन्धी प्रतिभा है, वे सभी फिल्म की ओर दौड़ते

हैं। जो उत्साही प्रतिभावान कलाकार इन परिस्थितियो के होते हुए भी रगमच मे अपनी रुचि और उसके प्रति अपना उत्साह बनाये हुए हैं, उनकी सख्या उँगलियो पर गिनी जाने लायक है और वे भी अपनी आजीविका के लिए नाटक के अतिरिक्त फिल्म का सहारा किसी न किसी रूप में लेने के लिए वाध्य हैं। प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज इसके सबसे सुपरिचित उदाहरण हैं। पृथ्वी थिएटर को जीवित रखने के लिए उन्हें निरन्तर फिल्म में काम करना पडता है और फिल्म द्वारा प्राप्त धन से ही वह नाटक के प्रति अपनी इस अद्भुत लगन और उत्साह को पूरा कर पाते हैं। व्यवसायी रगमच की यह स्थिति उसके अभाव और उसकी अपेक्षाकृत हीन अवस्था का परिणाम हो अथवा कारण, किन्तु इतना अवश्य सही है कि हमारा व्यवसायी रगमच हमारे वर्तमान सास्कृतिक नवोन्मेष को ठीक-ठीक प्रगट नही करता। किन्तु साथ ही जब तक एक नियमित रूप से चलने वाला रगमच हमारे देश के प्रत्येक भाग में नही बन जाता जब तक नाटक खेलना और देखना हमारे सास्कृतिक जीवन का, बल्कि हमारे दैनिक जीवन का अनिवार्य अ ग नही बन जाता, जब तक कम से कम समाज का प्रवुद्ध शिक्षित वर्ग अपने अवकाश को और अपने मनोरजन की आवश्यकता को नियमित रूप से नाटक द्वारा पूरा नही करता, तब तक यह कहना कठिन है कि हमारे देश में कोई रगमच वर्तमान है और न तब तक किसी प्रकार की विकसित रगमचीय परम्पराओ का निर्माण ही सम्भव है।

इस भाँति हम देखते हैं कि आज नियमित रगमच के अभाव में और साथ ही देश के वर्तमान सास्कृतिक नवोन्मेष के फलस्वरूप हमारे अव्यवसायी रगमच ने एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली है जो एक प्रकार से अस्वाभाविक ही है। किन्तु सा ही हमारे इस अव्यवसायी, शौकिया रगमच में ही हमारे भावी नियमित-विकसित रगमच के बीज हैं, यह बात भी निर्विवाद लगती है। और यदि आज हम अपने इस अव्यवसायी रगमच की स्थिति को भली-भाँति समझ सकें, उसकी समस्याओ पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर सकें और, सीमित रूप में ही सही, उसकी तात्कालिक आवश्यकताओ को पूरा कर सकें, तो हम अपने देश में एक सम्पन्न रगमच के निर्माण, स्थापना और विकास में वडा भारी योग दे सकेंगे। यह तो अनिवार्य ही है कि अपनी ही आन्तरिक प्रेरणा तथा सामान्य सास्कृतिक उन्मेष के फलस्वरूप होने वाली इस क्रिया में एक ओर तो अपने भीतर ही वडी भारी असमानता है तथा प्रतिभा, सामर्थ्य और लगन के विभिन्न स्तर हैं। दूसरी ओर देश का वर्तमान सामाजिक-आर्थिक ढाचा इस समुचित उन्मेष को सभालने में अभी समर्थ नही हो पाया है। इसी लिए इस देशव्यापी सास्कृतिक हलचल को न तो प्रशस्त अभिव्यक्ति ही मिलने पाती है और न उचित सहयोग। यह कहने में कोई सकोच नही होना

चाहिए कि कि कुल मिलाकर हमारा शौकिया रंगमंच अभी केवल किसी-न-किसी प्रकार अभिव्यक्ति का साधन खोजने की अवस्था में है, आत्मविश्वास के साथ एक निश्चित दिशा की ओर बढ चलने की अवस्था में नहीं।

इसी स्थिति के तीव्रतम रूप को नाटकीय ढंग से कहें तो यह कहा जा सकता है कि इस अव्यवसायी रंगमंच की सब से बडी समस्या यह है कि उसके लिए न तो नाटकघर हैं और न नाटक। हमारे देश के आधुनिक रंगमंच की अवस्था का यह बडा विचित्र-सा विरोधाभास है कि नाटक खेले जाने की इतनी माँग और नाटक दिखाने तथा खेलने की इतनी प्रेरणा होने के बावजूद साधारणतः रंगमंच के उपयुक्त पर्याप्त नाटक किसी भाषा मे नहीं मिलते। और नाटकघरो का तो लगभग सभी जगह अभाव ही है।

इन दोनों समस्याओं पर अलग-अलग विचार करें। पहले नाटकघरो के अभाव को ले लीजिए। समूचे भारतवर्ष के दो-तीन नगरो को छोडकर नियमित नाटकघर कहीं भी नहीं हैं। जो हैं, वे या तो कुछेक व्यवसायी मण्डलियो के पास हैं या फिर उनमें सिनेमाघर बन गये हैं अथवा वे एकदम टूटी-फूटी जीर्ण अवस्था में पड़े हुए हैं। जो भी हो अव्यवसायी मण्डलियो को नाटकघर प्राप्त नहीं होते। साधारणतः जितने भी नाटक खेले जाते हैं, उनमें से अधिकांश स्कूलो, कालेजो के हाल में अथवा अन्य ऐसे सभा-भवनो में प्रस्तुत किये जाते हैं जहाँ प्रायः तख्त तथा चौकियाँ कस कर स्टेज तैयार करना पडता है, जिसके ऊपर पर्दा लगाने और आलोक का उचित प्रबन्ध करने ही मे बहुत अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। फिर उस परिश्रम के बाद भी ऐसी स्थितियाँ दुर्लभ नहीं हैं कि किसी एक दृश्य के अत्यन्त ही मार्मिक स्थल पर पर्दा गिराना आवश्यक तो होता है किन्तु अचानक ही डोरी टूट जाती है, पर्दा नहीं गिर पाता और असमंजस में पडे बेचारे अभिनेता यह स्थिर नहीं कर पाते कि रंगमंच पर रहें अथवा चले जायें। स्पष्ट ही ऐसी परिस्थितियों में भावोद्रेक का वह स्तर प्राप्त नहीं होता जब प्रेक्षक का रंगमंच पर प्रस्तुत दृश्य के साथ रसात्मक तादात्म्य हो सके। हमारे देश मे शायद ही कोई ऐसा नगर है जहाँ नगरपालिका की ओर से बना हुआ नाटकघर हो जिसे छोटी-बडी अव्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ साधारण किराये पर ले सकें और सुविधा से नाटक प्रस्तुत कर सकें। विभिन्न नगरो में जो भी सभा-भवन आजकल बन रहे हैं उनमें किसी न किसी प्रकार का मंच अवश्य होता है। पर दर्शकों के बैठने के स्थान से थोड़े ऊँचे बने हुए किसी चबूतरे को रंगमंच नहीं बनाया या समझा जा सकता। इस परिस्थिति का बडा तीव्र अनुभव तब हुआ जब १९५४ में दिल्ली मे राष्ट्रीय नाटक महोत्सव के लिए एक स्थानीय सभा-

भवन के उपयोग की बात उठी। बडे ही केन्द्रीय स्थान में होने पर भी उस भवन के आयोजकों ने उसके इस उपयोग की सम्भावना पर ध्यान ही नही दिया था। परिणामत राष्ट्रीय महोत्सव के लिए उसमें बहुत से परिवर्तन करने पडे और उसके बाद भी वह रगमच ऐसा न बन सका जिसमें हर तरह के नाटक खेले जा सकें। दिल्ली में हाल ही मे एक अन्य कला-सस्था ने एक नाटकघर बनाया है किन्तु उसमें भी पूर्व-योजना के अभाव और अव्यवसायी नाटक-मण्डलियो की समस्याओ के प्रति उदासीनता ने उस नाटकघर की उपयोगिता को बहुत-कुछ सीमित कर दिया है।

इन इक्के-दुक्के नाटकघरो अथवा विभिन्न सभा-भवनो के साथ एक कठिनाई और भी है। उनका दैनिक किराया इतना अधिक होता है कि छोटी-छोटी नाटक-मण्डलियाँ तो उसे बर्दाश्त ही नही कर सकती। उनमें नियमित सज्जा-शालाएँ नही होती, स्थायी रूप से लगे हुए पर्दे नहीं होते, आलोक सम्बन्धी स्थायी व्यवस्था नही होती। अधिकाश अव्यवसायी नाटक-मण्डलियो के लिये इन सब आवश्यकताओ की अपनी-अपनी अलग व्यवस्था करना कष्ट-साध्य होता है और अर्थ, समय तथा शक्ति का व्यय तो उसमें होता ही है। इन सब से भी बडी समस्या है विज्ञापन सम्बन्धी खर्च की। साधारण मनोरजन-प्रेमी जनता अभी नाटक देखने जाने की अभ्यस्त नही है, केवल यही बात नहीं है। वास्तव में नाटकघर एक ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ मनोरजन के इच्छुक अथवा कला-प्रेमी दर्शक अनायास ही इकट्ठे हो सकें—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी सिनेमाघर की ओर लोग जाते हैं। ऐसी ही नियमितता के बिना रगमच की वास्तविक परम्परा नहीं बनती, वहाँ जाने का लोगो का अभ्यास नही बनता। फलस्वरूप प्रत्येक नाटक-मण्डली को पहली बार दर्शको को आकर्षित करने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करना पडता है और इस भाँति न केवल विज्ञापन सम्बन्धी खर्च बहुत बढ जाता है, बल्कि सिनेमा की तुलना में नाटक की ओर सहज ही दर्शक उन्मुख नहीं हो पाता। बहुत बार तो कुछेक अच्छे प्रदर्शनो के हो चुकने के बाद समाचार-पत्र में सूचना पढ़कर उनका पता चलता है। इसलिए नाटक को यदि हमारे सास्कृतिक जीवन का अविच्छिन्न अग बनना है तो यह सर्वथा आवश्यक है कि वह कभी-कभी होने वाली हलचल के रूप में नही, बल्कि हमारे दैनिक जीवन की एक अनिवार्य परिस्थिति के रूप में वर्तमान रहे। यह कार्य स्पष्ट ही तब तक सम्भव नही है जब तक प्रत्येक नगर में कम-से-कम ऐसा नाटकघर न हो जहाँ हर शाम को नाटक खेले जाते हो, जहाँ अनायास ही दर्शक पहुँचते हों और साथ ही जहाँ स्थानीय तथा बाहर की छोटी-बडी नाटक-मण्डलियाँ न्यूनतम साधारण सुविधाओं के साथ नाटक खेल सकती हो।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि जो नाटकघर प्राप्त भी हैं, उनका

दैनिक किराया इतना अधिक है कि साधारणतः नाटक-मण्डलियाँ उसे बर्दाश्त नही कर पातीं। इस प्रश्न पर और भी विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि प्रचार के अभाव में साधारणत अच्छे से अच्छा नाटक अथवा अच्छी से अच्छी नाटक-मण्डली इतने अधिक दर्शकों को आकर्षित नही कर पाती कि पहले एक-दो दिनो में नाटक का पूरा खर्च टिकटों की बिक्री से इकट्ठा हो सके। दूसरी ओर अधिकतर यह सम्भव नही होता कि एक या दो दिन से अधिक किसी नाटकघर को किराये पर लेने का साहस कोई अव्यवसायी नाटक-मण्डली साधारणतः करे। इस प्रकार की नाटक-मण्डलियो को प्रायः यह आशंका बनी ही रहती है कि उनका प्रयास सफल होगा अथवा नही, दर्शकों को वह अच्छा लगेगा अथवा नहीं। पर्याप्त विज्ञापन के साधनो का अभाव होने के कारण भी इन मण्डलियो के लिए अधिक दिन तक नाटकघर किराये पर लेना कठिन होता है।

बहुत बार ऐसा भी होता है कि किसी नाटक के पहले एक-दो प्रदर्शन इतने सफल नही होते और पहले एक-दो अभिनय के बाद ही अभिनेताओं और प्रस्तुत-कर्त्ताओं को नाटकों की दुर्बलताओं का पूरा बोध होता है और वे उन्हें दूर करके उसे कही अधिक प्रभावोत्पादक बनाने की स्थिति में होते हैं। क्योंकि यह बात हमें नही भूलनी चाहिए कि इन अधिकांश नाटक-मण्डलियो के पास रिहर्सल के लिए प्राय. कोई स्थान नही होता। अधिकतर मण्डलियों को रिहर्सल किसी-न-किसी सदस्य के घर पर करनी पड़ती है जहाँ बहुत बार सब के लिये पहुँचना आसान नही होता। किसी छोटे कमरे में रिहर्सल करते रहने के कारण मच पर ठीक किस प्रकार प्रवेश करना होगा, प्रस्थान करना होगा, व्यवहार करना होगा आदि बातें रिहर्सल में स्पष्ट नही हो पाती। बहुत-सी मण्डलियाँ तो अन्त तक कोई पक्की रिहर्सल रंगमंच पर कर ही नहीं पाती और उनके पहले प्रदर्शन में इस भाँति स्टेज रिहर्सल की-सी अचकचाहट और कमजोरियाँ रहती हैं। इसलिए जब तक यह सम्भव न हो कि ये नाटक एक से अधिक बार प्रस्तुत किये जा सकें, तब तक उसकी पूरी सम्भावनाएँ प्रकट होना बहुत कठिन है। इसके लिए विशेष रूप से यह आवश्यक है कि इन नाटकघरो का दैनिक किराया बहुत ही कम हो ताकि उसे कई दिन के लिये किराये पर लेना इन मण्डलियो के लिए असम्भव न रहे। इस प्रकार जब तक राज्य की ओर से अथवा नगरपालिकाओं की ओर से नाटकघर नही बनते अथवा जब तक हमारे देश में नाटक के प्रचार में रुचि रखने वाली अथवा उसको अपना कर्त्तव्य मानने वाली संस्थाएँ सस्ते किराये पर मिलने वाले नाटकघर बनाने का प्रयत्न नही करती, तब तक अव्यवसायी मण्डलियों की यह समस्या हल नहीं हो सकती। इन नाटकघरो के साथ अनिवार्य रूप से ऐसा स्थान भी यदि प्राप्त हो जहाँ नाटक-मण्डलियाँ रिहर्सल कर सकें तो बहुत उत्तम होगा। एक

प्रकार से अव्यवसायी रंगमच के विकास की यह बडी अनिवार्य आवश्यकता है। अव्यवसायी नाटक-मण्डलियो के कार्यकर्ता प्राय आजीविका के लिए कोई-न-कोई दूसरा कार्य करते हैं और वे केवल शाम को ही एकत्र होकर नाटक की रिहर्सल कर सकते हैं। इसलिए यह सम्भव नहीं कि किसी भी नाटकघर का नियमित भवन उन्हे रिहर्सल के लिये खाली मिल सके। इन परिस्थितियो में रिहर्सल के स्थान की अलग से व्यवस्था होना बहुत ही आवश्यक बात है। पर ऐसे स्थान हर एक नगर में निश्चय ही एक से अधिक होने चाहिए जो अलग-अलग दिनो में बहुत ही साधारण-से किराये पर नाटक-मण्डलियो को प्राप्त हो सकें।

जैसा ऊपर कहा गया है, नाटकघर तथा रिहर्सल के स्थान के अभाव के अतिरिक्त जो दूसरी बडी भारी समस्या आज व्यवसायी और अव्यवसायी सभी प्रकार की नाटक-मण्डलियों के सामने है—और यह बात प्रत्येक भाषा के लिए लगभग समान रूप से सही है—वह है अभिनयोपयोगी नाटको के अभाव की। वास्तव में नाटक एक ऐसा साहित्य-रूप है जो मूलत रगमच पर आधारित है। विकसित रगमच के अभाव में श्रेष्ठ नाटक होना प्राय असम्भव है। किन्तु साथ ही श्रेष्ठ नाटको के अभाव में रगमच का विकास कैसे हो सकता है? नाटक और रगमच का यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बडा मौलिक है। किन्तु हमारे देश के अधिकाश भागो में जहाँ नियमित रगमच की परम्परा हमारे दैनिक जीवन में से मिट गई थी, अथवा जहाँ केवल पिछले कुछ समय से ही प्रारम्भ हो पायी है, वहाँ यह बहुत ही आवश्यक है कि नाटककार और नाटक-मण्डलियो में अनिवार्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित हो। हमारे देश में इस समय साहित्यिक प्रतिभा के उन्मेष का दौर है। उसमें से कुछेक तरुण और उत्साही लेखक रगमच की ओर ही क्यो नहीं उन्मुख हो सकते? साथ ही जिस प्रकार किसी भी नाटक-मण्डली को अपने विशेष कुशल अभिनेताओ की, दिग्दर्शक की, रूप-सज्जाकार की, पर्दा रगने वाले चित्रकार की, आलोक-विशेषज्ञ की अनिवार्य आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अपने विशेष नाटककार की भी। प्रत्येक व्यवसायी नाटक-मण्डली का भी अपना विशेष नाटककार सर्वदा ही होता है और न केवल रगमच के व्यावहारिक ज्ञान द्वारा अपने नाटको को अभिनय के उपयुक्त बनाता है, बल्कि जो उस विशेष नाटक-मण्डली की विशेष क्षमताओ और अक्षमताओ को ध्यान मे रखकर ऐसे नाटक लिख पाता है जिनको प्रस्तुत करने में मण्डली के सभी साधनो का पूरा-पूरा उपयोग हो सके और ऐसी अनावश्यक कठिनाइयाँ उत्पन्न न हो जिन्हें दूर करना मण्डली की सामर्थ्य के बाहर हो। अव्यवसायी नाटक-मण्डलियो को भी इसी भाँति अपने विशेष नाटककार तैयार करने होगे। जब तक उनकी विशेष आवश्यकताओ और क्षमताओ को ध्यान में रखकर नाटक लिखने वाली प्रतिभा का सहयोग उन्हे नही

मिलता, तब तक नाटको के अभाव की समस्या किसी न किसी रूप में उनके सामने बनी ही रहेगी।

इस कथन का यह अभिप्राय नही है कि जो नाटक इस समय लिखे हुए मौजूद हैं अथवा लिखे जा रहे हैं, वे नाटक-मण्डलियो के किसी काम के ही नही। उनमे भी निस्सन्देह कुछ तो ऐसे हैं ही जिनको ज्यो का त्यो अथवा किसी-न-किसी रूप में रंग-मच के उपयुक्त बनाकर प्रस्तुत किया जा सकता है। एक प्रकार से वर्तमान नाटको का इस प्रकार का रूपान्तर नाटककारों और नाटक-मण्डलियो दोनो के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। नाटक-मण्डलियो के लिए इस कारण कि उन्हे कम से कम एक सामान्य ढांचा तो इन नाटकों में प्राप्त होता ही है जिसको अपनी आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित करके अभिनयोपयोगी बनाने मे उन्हे अपेक्षाकृत कम कठिनाई होगी और मण्डली के किसी एक विशेष सदस्य को नाटक लिखना सीखने के लिए अवसर मिलेगा। दूसरी ओर नाटककारो को भी यह समझने का अवसर मिलेगा कि उनके लिखे हुए नाटक साहित्यिक दृष्टि से सफल अथवा सर्वथा पठनीय होने पर भी उन्हे रंगमच पर प्रस्तुत करने में कैसी कठिनाइयाँ नाटक-मण्डलियो के सामने आती हैं और उन्हे किन उपायो से वे दूर करती हैं। इस प्रकार अपने अगले नाटको में वे नाटक-मण्डलियो की कठिनाई का अधिक ध्यान रख सकेंगे।

स्पष्ट ही इसमें नाटककारो का सहयोग आवश्यक है। उनकी अनुमति के बिना उनके लिखे नाटको में इस प्रकार का परिवर्तन सम्भव नही होगा और इसमे यह आशका तो है ही कि कई बार इस प्रकार किया गया परिवर्तन सर्वथा उपयुक्त भी न सिद्ध हो और नाटक असफल ही रहे। किन्तु दूसरी ओर इस प्रकार की अनुमति दिये बिना यह सम्भावना सदा बनी रहेगी कि ये नाटक-मण्डलियाँ कभी भी मौजूदा लिखे हुए नाटको को नही छुयेंगी। यह बात ध्यान देने की है कि बहुत बार नाटककार से ऐसी अनुमति प्राप्त न हो सकने के कारण बहुत सी नाटक-मण्डलियाँ मौजूदा नाटको को हाथ में नहीं लेती, प्रायः नाटककार नाटक-मण्डलियों के सुझावो अथवा समस्याओ को सहानुभूतिपूर्वक सुनने और उन पर विचार करके उनके अनुकूल आवश्यक परि-वर्तन करने के लिए प्रस्तुत नही होते। क्योकि साधारणतः नाटक, हिन्दी में ही नही लगभग सभी भाषाओं में जहाँ रंगमंच की परम्परा बहुत विकसित नही है, केवल प्रकाशित करने के लिए लिखे जाते हैं, और पिछले दिनो तो केवल रेडियो पर प्रसारित किए जाने के लिए ही लिखे जाने लगे हैं, जिसके फलस्वरूप उनकी रंगमंचीय उपयो-गिता और भी कम हो गई है। बहुधा हमारे साहित्यिक नाटकों में लम्बे-लम्बे संवाद होते हैं जिनमें न केवल नाटकीय गति और घटना का अभाव होता है, बल्कि उनकी भाषा इतनी अस्वाभाविक होती है कि उसे अभिनेता सहज ही बोल नही पाते। ऐसे

अधिकांश नाटक एक प्रकार से सवाद-रूप में लिखे हुए उपन्याम मात्र ही होते हैं। अभिनय के उपयुक्त नाटक में भाषा के स्वाभाविक और सरल तथा सवादो के सक्षिप्त तथा नाटकीय होने के साथ साथ घटना और चरित्रो के विकास मे एक निश्चित गति होनी बहुत आवश्यक है जिससे रगमच के ऊपर अभिनेता एक ही मुद्रा को, एक ही भाव-दशा को और एक ही शारीरिक क्रिया को दुहराते हुए न जान पडें। रगमच के ऊपर विभिन्न पात्रो की स्थिति को मूर्त्त रूप में अपने सामने रखे बिना और उनके क्रमश विकास पर समुचित ध्यान दिये बिना रगमच के उपयुक्त नाटक लिखना बडा कठिन है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि बडे से बडा प्रतिभावान साहित्यकार भी नाटक की इस विशेषता को रगमच के साथ सक्रिय रूप से सम्बद्ध हुए बिना नही समझ सकता और यशस्वी नाटककारो को इसमें अपना असम्मान नही समझना चाहिए कि अपेक्षाकृत तरुण और अन्य कई दृष्टियों से क्षमतावान कलाकारो से उनको इस दिशा में सीखना है।

नाटककार और नाटक-मण्डलियो में सम्पर्क के अभाव का एक पक्ष निस्सन्देह यह भी है कि अधिकाश नाटक-मण्डलियाँ अपनी ओर से भी किसी नाटककार को अपने साथ सम्बद्ध करने का, उसकी बात सुनने और उसकी समस्याओ को समझने का और अपने ठोस व्यावहारिक सुझावों द्वारा उसको समझाने का प्रयत्न नहीं करती। ऐसा प्रयत्न निश्चय ही इन मण्डलियो के हित में ही है क्योंकि नाटककार ही वह मूल साधन प्रस्तुत करता है जिसके बिना कोई नाटक-मण्डली जीवित नही रह सकती। नाटककार और नाटक-मण्डलियों के बीच, विशेषकर प्रत्येक नगर में बिखरी हुई अनगिनती अव्यवसायी नाटक-मण्डलियो के बीच, यह सम्पर्क हमारे आज के नव-नाट्य आन्दोलन की सर्वप्रमुख आवश्यकता है जिसके बिना नाटको के अभाव की समस्या मौलिक रूप में कभी नही हल हो सकेगी।

या इस समस्या के और भी कई समाधान हैं जो तात्कालिक हैं और जिनसे उसके मौलिक समाधान में भी बहुत कुछ सहायता मिलेगी। देश की विभिन्न भाषाओ से तथा विदेशी भाषाओ से ऐसे नाटको के अनुवाद तथा भारतीय रूपान्तर किए जाने चाहिए जो रगमच पर सफल हो चुके हैं। यह भी सम्भव है कि अलग-अलग स्थानो पर देश-विदेश की प्रसिद्ध व्यवसायी-मण्डलियो ने उन्हें जिस प्रकार से रगमच पर प्रस्तुत किया है, उसकी जानकारी भी प्राप्त हो सके। कम से कम अनुवाद और रूपान्तर का यह कार्य ऐसा है जिसे बहुत-सी नाटक-मण्डलियाँ स्वय कर सकती हैं। साथ ही विभिन्न भाषाओ में अथवा एक ही भाषा-भाषी क्षेत्र की विभिन्न मण्डलियों के पास ऐसे नाटक वर्ष में एक-दो अवश्य तैयार होते रहते हैं जो श्रेष्ठ साहित्य न होते

हुए भी अभिनय के उपयुक्त हों। उनके परस्पर आदान-प्रदान होने का कोई माध्यम तुरन्त निकाला जाना चाहिए। ऐसे नाटकों के प्रकाशन की भी कोई विशेष व्यवस्था किसी केन्द्रीय नाटक संस्था को करनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक भाषा का नाटक-साहित्य न केवल बहुत समृद्ध होगा, बल्कि इस प्रकार रूपान्तर और अनुवाद से नए मौलिक नाटकों की रचना के लिए भी प्रेरणा मिलेगी और धीरे-धीरे यह सम्भव हो सकेगा कि हमारे नाटकों के अभाव की यह समस्या दूर हो सके।

अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों की एक-दो समस्याएँ और भी हैं जिनके कारण उन्हें बहुत बार बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उनमें सब से प्रमुख है मनोरंजन-कर। देश के बहुत-से राज्यों में इस विषय के कानून बहुत ही कड़े हैं और नाटक-मण्डलियों को प्राय किसी संस्था के लिए दान का सहारा लेकर अपना प्रदर्शन करना पड़ता है अन्यथा उनकी आय का बड़ा भारी भाग मनोरंजन-कर के रूप में चला जाता है। इन मण्डलियों का प्रदर्शन सम्बन्धी साधारण व्यय अपेक्षाकृत इतना अधिक होता है कि मनोरंजन-कर दे चुकने के बाद प्रदर्शन का पूरा व्यय जुटा सकना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता। हमारे देश में रंगमंच के विकास की एक बड़ी भारी आवश्यकता है कि विशेष रूप से अव्यवसायी रंगमंच को मनोरंजन-कर से छुट्टी मिले। यह सुविधा इसलिए भी आवश्यक है कि छोटी नाटक-मण्डलियों को अन्य अनगिनती कठिनाइयों को झेलकर नाटक प्रस्तुत करने पड़ते हैं और उनमें यह क्षमता नहीं होती कि इस आर्थिक संकट को भी सहन कर सकें।

साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि इस प्रकार मनोरंजन-कर से प्राप्त धन को हमारे राज्यों की सरकारें नाटक विकास के लिए ही नहीं लगातीं। अव्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ एक नाटक की तैयारी में साधारणतः नाटकघर के किराये पर, विज्ञापन पर, आलोक-सम्बन्धी व्यवस्था पर, संगीत पर, वस्त्रों तथा रूप-सज्जा पर और 'सेट्स' पर धन व्यय करती हैं। बहुत-सी व्यवस्थित नाटक-मण्डलियाँ नाटककार को भी थोड़ा-बहुत धन रायल्टी के रूप में भेंट करती हैं और ये मण्डलियाँ इस अर्थ में ही अव्यवसायी हैं कि एक नाटक के टिकट बेचकर प्राप्त होने वाले धन में से प्राय अभिनेताओं को कोई हिस्सा नहीं मिलता अथवा वह इतना नगण्य होता है कि उसे उनकी आजीविका का साधन किसी भी प्रकार से नहीं माना जा सकता। जो हो, ये मण्डलियाँ जिन विविध व्यक्तियों को धन देती हैं, उनसे किसी न किसी रूप में बदले में उन्हें सहयोग प्राप्त होता है जिसके द्वारा नाटक प्रस्तुत करने में उन्हें सहायता मिलती है। एक प्रकार से उस सहयोग के बिना नाटक प्रस्तुत करना उनके लिए सम्भव ही नहीं होगा किन्तु मनोरंजन-कर के रूप में जो धन सरकार के पास जाता है उसके बदले में इन नाटक-मण्डलियों को कोई भी सुविधा सरकार से प्राप्त

नही होती और मनोरजन कर के रूप में जाने वाला यह धन पूरी आय का लगभग एक-तिहाई से भी अधिक हो जाता है। यह बात युक्तिसगत जान पडती है कि सरकार इन नाटक-मण्डलियो से, जिनके सदस्य मूलत कला के प्रेम से आकर्षित होकर अपनी सुविधा और समय को अर्पित करके हमारे देश की नष्टप्राय नाट्य-परम्परा को बनाये रखने और उसको अधिकाधिक विकसित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, कोई मनोरजन-कर नही ले और यदि ले भी तो अनिवार्य रूप से उसको राज्य में नाटक के विकास में सहायता पहुँचाने के कार्य में फिर से अवश्य लगाये। यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर बहुत ही गम्भीरतापूर्वक विचार होना आवश्यक है।

इस विवेचन में मूलत अव्यावसायिक नाटक-मण्डलियो की बाह्य समस्याओ पर ही अभी तक विचार किया गया है। किन्तु इन मण्डलियो की ऐसी आन्तरिक समस्याएँ भी हैं जो उनके कार्य को समुचित रूप से विकसित नही होने देती अथवा उसे पर्याप्त रूप में उपयोगी नही बनने देती। जैसा पहले कहा भी गया है कि अव्यवसायी नाटक-मण्डलियो की इस सज्ञा में वे प्राय सभी सगठन शामिल हैं, जो किसी न किसी उद्देश्य से नाटक खेलते हैं और टिकट लगाकर अथवा आमन्त्रित करके लोगो को दिखाते हैं। मूलत जिस मापदण्ड से हम इन मण्डलियो का अव्यवसायी मण्डलियो के रूप मे उल्लेख करते हैं वह यही कि इन मण्डलियो के सदस्य अपनी जीविका के लिए नाटक प्रस्तुत नही करते, साधारणतः अपने अवकाश के समय के उपयोग द्वारा ही ऐसे नाटक प्रस्तुत किये जाते हैं। यह विशेषता सामान्य रूप से इस कोटि की सभी मण्डलियो में पाई जाती है। किन्तु जब हम अव्यवसायी रगमच की समस्याओ पर विचार करते हैं तो मूलत हम उन नाटक-मण्डलियो की बात ही सोचते हैं जो नाटक को अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति का एक साधन मानती हैं, जो उसके द्वारा कलात्मक मूल्यो की सृष्टि करना और हमारे सास्कृतिक जीवन को समृद्ध करने का उद्देश्य अपने सामने रखती हैं। उनमें से कई-एक तो अपने इस उद्देश्य के प्रति इतनी सजग और इतनी निष्ठावान होती हैं कि अनगिनत असुविधाओ और कठिनाइयों का सामना होने पर भी अपने इस कार्य को छोडती नही, उनके सदस्य आजीविका के लिए चाहे और कुछ कर सकें अथवा न कर सकें, नाटक के लिए अपनी समस्त सुविधाएँ त्यागने को प्रस्तुत रहते हैं। वे अपनी अन्य आवश्यकताओं को भूलकर एक प्रकार से ऐसे पागलपन के साथ नाटक के काम में जुटे रहते हैं जो केवल सच्चे कलाकार के लिए ही सुलभ है। इनमें ऐसी भी कई एक मण्डलियाँ हैं जो, यदि सम्भव हो सके तो, रगमच को अपना व्यवसाय भी—अर्थात् आजीविका का साधन भी—बनाने को तैयार हैं किन्तु सुविधाओ के अभाव में जिनके लिए ऐसा करना सम्भव नही हो पाता।

नाटक एक सामूहिक कला है। उसमें बहुत से व्यक्तियों के परस्पर सहयोग की अनिवार्य आवश्यकता होती है साथ ही अन्य सभी कला-रूपों की अपेक्षा नाटक में व्यक्तिगत प्रतिभा के विस्फोट की आवश्यकता उतनी अधिक नहीं है जितनी अनुभव-जय स्थिरता की। अभिनेता, निर्देशक तथा अन्य सहायक शिल्पी सभी पिछले अनुभव से सीख कर उन्नति करते हैं। एक ही नाटक का दूसरा प्रदर्शन पहले से अधिक व्यवस्थित और प्रभावपूर्ण होता है। नाटक में अभिनेता को एक ही कार्य बार-बार करना पड़ता है, इसलिए एक ही नाटक के कई प्रदर्शनों में बार-बार वह स्वयं ही एक नवीन भावावेग की अभिव्यक्ति का रस न प्राप्त कर सके, तो दर्शकों को भी वह उसका आस्वादन नहीं करा सकेगा। शौकिया अथवा अव्यवसायी नाटक को एक या दो बार से अधिक नहीं खेलते, कुछ साधनों के अभाववश और कुछ इस कारण कि एक ही नाटक बार-बार दोहराने की अपेक्षा नया खेलने की प्रवृत्ति आकर्षक लगती है। उनकी कला का स्तर ऊँचा न उठ सकने का यह बड़ा भारी कारण है। व्यवसायी मण्डलियाँ, अथवा ऐसी अव्यवसायी नाटक मण्डलियाँ जो अपनी कार्य-पद्धति में व्यवसायी नाटक-मण्डलियों के समान ही हैं, इसीलिए अपने कार्य को अधिक ऊँचे स्तर का बना सकती हैं। किन्तु इसके विपरीत बहुत-सी शौकिया नाटक-मण्डलियों में अपने कार्य के प्रति बहुत बार ऐसा गहरा अनुराग होता है कि उनके प्रदर्शन में व्यवसायी बुद्धि की यान्त्रिकता नहीं होती, उसमें सदा सच्ची आत्माभिव्यक्ति की सम्भावना रहती है। इसी से अव्यवसायी रंगमंच की निष्ठा, उत्साह और सच्चाई का व्यवसायी रंगमंच की निपुणता के साथ योग होना बहुत ही आवश्यक है। क्योंकि हमारे देश में नाटक और रंगमंच का वास्तविक भविष्य इन अव्यवसायी मण्डलियों की उन्नति से जुड़ा हुआ है, चाहे वे मण्डलियाँ वर्ष में एक-दो नाटक प्रस्तुत करने वाली हों अथवा ऐसी जो वर्ष भर में एक ही श्रेष्ठ नाटक के बीस, पच्चीस, पचास प्रदर्शन करती हों। सिनेमा की प्रतियोगिता में जहाँ पश्चिमी देशों तक में, रंगमंच की सुदीर्घ परम्परा के बाद भी व्यवसायी नाटक-कम्पनी टिक नहीं पाती, वहाँ हमारे देश में उसका शीघ्र ही पैर जमा लेना बहुत ही कठिन काम जान पड़ता है। और जैसा कि पहले कहा गया, व्यवसाय की दृष्टि से नाटक कम्पनी चलाना आज के युग में कोई बहुत आकर्षक कारोबार नहीं है। इसलिए जिस हद तक अव्यवसायिक नाटक-मण्डली तरुण प्रतिभा को इकट्ठा करके उनकी सृजन-शक्ति का अधिकाधिक उपयोग कर सकेगी, उसी हद तक हमारे देश में रंगमंच की परम्परा का फिर से निर्माण हो सकेगा और धीरे-धीरे वह परम्परा दृढ़ हो सकेगी। तभी जन-साधारण में नाटक के प्रति इतना अनुराग भी बढ़ सकेगा और नाटक हमारे सांस्कृतिक जीवन का इतना अविच्छिन्न अंग बन सकेगा कि उसको कोई

स्थायी और नियमित रूप प्राप्त हो सके। आज तो अव्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ न केवल हमारी कला के श्रेष्ठतम रग-शिल्पियों को गढ रही हैं, बल्कि वे साथ ही उस व्यापक प्रेक्षक-वर्ग का भी निर्माण कर रही हैं जिसके बिना कोई रगमच न तो टिक ही सकता है, न महत्वपूर्ण सास्कृतिक मूल्यों का निर्माण ही कर सकता है।



यूरोपीय नाट्य-शास्त्र का विकास

—डॉ० रामअवध द्विवेदी

यूरोप में नाटकों के संबंध में चिंतन दो भिन्न प्रकार से हुआ है। एक ओर तो दार्शनिकों तथा आचार्यों ने नाट्य-साहित्य के आधारभूत सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत की है और दूसरी ओर रंगशाला तथा अभिनय-कला के विशेषज्ञों ने नाटकों का व्यावहारिक मूल्यांकन उनके प्रभाव की दृष्टि से किया है। पहले प्रकार का विवेचन यदि अधिक सैद्धान्तिक और शास्त्रीय है तो दूसरा लोक-संग्रह से संबंधित होने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम इस निबंध में मुख्यतः शास्त्रीय-पक्ष पर ही विचार करेंगे, यद्यपि व्यावहारिक पक्ष का उल्लेख कुछ न कुछ अनिवार्य है।

प्लेटो के लेखों और एरिस्टोफेन्स की कृतियों में नाटक के स्वरूप और प्रभाव से संबंधित अनेक विचार प्रसंगवश व्यक्त हुए हैं। ये विचार अत्यन्त गंभीर हैं किन्तु क्रमबद्ध रीति से किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करते हैं। नियमित और विस्तृत रीति से अपनी स्थापनाओं का उल्लेख करने वाले सर्व-प्रथम यूनानी आचार्य अरस्तू थे, जिनके काव्य-शास्त्र के बहुत बड़े भाग में नाट्य-सिद्धान्त का विवेचन है। अरस्तू दार्शनिक थे और उन्होंने ऐसे सामान्य सिद्धान्तों और नियमों का प्रतिपादन किया है जिनका महत्त्व शाश्वत और सार्वभौम है। इसी कारण वे यूरोपीय नाट्य-शास्त्र के प्रथम प्रणेता एवं अधिष्ठाता माने जाते हैं। किन्तु साथ ही साथ यह भी उल्लेखनीय है कि उनका दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक था और उनके निष्कर्ष उपलब्ध तथ्यों के निरीक्षण पर अवलंबित हैं। उनके सिद्धान्तों की रचना उनके युग तक लिखे गये नाटकों के अनुशीलन पर आधारित है, केवल कल्पना अथवा निराधार चिन्तन पर नहीं। अपने काव्य-शास्त्र में अरस्तू ने नाटकों को केवल काव्य का एक प्रकार मानकर अपने विचार प्रकट किये हैं तथा नाटकों एवं रंगशाला के पारस्परिक संबंध को अभेद्य नहीं माना है। तब भी यह मानना पड़ेगा कि व्यावहारिक पक्ष पर भी उनका वैसा ही अधिकार है जैसा सिद्धान्त-पक्ष पर।

अरस्तू ने काव्य-शास्त्र के प्रायः बीस अध्यायों में दुखान्त नाटकों का विशद विवेचन किया है। काव्य होने के नाते ट्रेजडी जीवन की अनुकृति मानी गई है अर्थात् उसमें जीवन के तथ्य अपने सामान्य, सार्थक एवं सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किये जाते

हैं। इस के उपरान्त वस्तु-निर्माण के नियमों का उल्लेख है। कथानक में विस्तार होना आवश्यक है और उसकी नियोजना क्रियान्विति के आधार पर होनी चाहिए। नायक अपने विकृत दृष्टिकोण अथवा ज्ञान के कारण यातना भोगता हुआ विनिष्ट होता हैन ट्य-वस्तु की रोचकता के लिए भाग्य-परिवर्तन एव अभिज्ञान वाछनीय है। ट्रेजडी (त्रासदी) में वस्तु-विन्यास कामहत्त्व चरित्र-चित्रण से कहीं अधिक है और उसका प्रभाव कथानक से उद्भूत होना चाहिये केवल मात्र दृश्य-विधान से नही। ट्रेजडी भय और करुणा के भावो को उत्तेजित करके उनका रेचन करती है और फलत. दर्शकों और पाठको में समुचित मानसिक सतुलन की स्थापना होती है। अरस्तू के ट्रेजडी सवधी विचारों का यही अत्यन्त सक्षिप्त साराश है।

काव्य-शास्त्र की रचना ईसा पूर्व सन्३३० मे हुई थी। उस समय तक एस्रकिलस, सोफोक्लीज़, यूरिपिडीज़ प्रभृति महान नाट्यकार यूनानी ट्रेजडी को अत्यन्त समृद्ध बना चुके थे। अरस्तू ने उन महान कवियो की रचनाओ पर विचार करने के उपरान्त अपने नाट्य-शास्त्र की रचना की, अत उनके ट्रेजडी शम्बधी विचारो में मौलिकता है सपूर्णता मिलती है। काव्य-शास्त्र के रचना काल तक यूनानी कामेडी अपने चरम विकास पर नही पहुँची थी, कदाचित् इसीलिए अरस्तू ने उन की विस्तृत विवेचना नही की। केवल एक अध्याय में उनके कामेडी सबधी विचार अत्यन्त सक्षिप्त रूप में मिलते हैं। कहा जाता है कि काव्य-शास्त्र का जो ग्र थ आज उपलब्ध है वह खडित है अत अन्त के अध्याय जिनमें कॉमेडी की व्याख्या की गई थी आज प्राप्य नही हैं। यह एक अनुमान है जो पता नही कहाँ तक ठीक है। परवर्ती युगो में अरस्तू के स्वल्प कथन की टीका करते हुए अन्य विचारकों ने अधिक विस्तृत रीति से कामेडी के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

रोम के प्रसिद्ध कवि तथा साहित्य-शास्त्री होरेस का प्रादुर्भाव ईसा पूर्व प्रथम शती मे हुआ। 'एपिसिल टु पिसौस" (आर्स-पोयटिका) में कतिपय नाट्य-नियमों का उल्लेख किया गया है अतएव नाट्य-शास्त्र के प्राचीन निर्माताओ मे उनका भी महत्व-पूर्ण स्थान है। उनके विचारो में उतनी मौलिकता नही है जितनी कि अरस्तू के विचारो में। उन्होने स्वय निरीक्षण और अनुशीलन द्वारा नवीन सिद्धान्तो की स्थापना नहीं की है, अपितु केवल प्राचीन नियमो को नवीन ढग से प्रस्तुत किया है। यूनानी साहित्य तथा दार्शनिक चिन्तन के प्रति उनके मन में अनन्त श्रद्धा थी। अत उन्होंने अपने युग के लोगो को उपदेश दिया कि वे यूनानी प्रतिमानो को ग्रहण करें। उन्होने कतिपय सामान्य नियमो का निरूपण करते हुए उनकी व्यावहारिक उपयोगिता पर वल दिया है। यही उनके विचारों का वैशिष्ट्य है। होरेस ने सर्वप्रथम नाटकों को अधिक-से-अधिक पाँच अको में विभक्त करने का आदेश किया। उनका सबसे अधिक

आग्रह चरित्र-चित्रण के औचित्य पर है। पात्र कल्पना, वय, परिस्थिति, व्यवसाय इत्यादि के अनुकूल होने चाहिये। सुव्यवस्थित वस्तु-सघटना पर आधारित प्रभाव-ऐक्य के सिद्धान्त का होरेस ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। नाटको में कुछ विशिष्ट प्रकार के छन्दो के प्रयोग तथा कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितियो के रगमच-प्रदर्शन के अनौचित्य पर भी "आर्स पोयटिका" मे प्रकाश डाला गया है। होरेस ने नवीन बातें बहुत कम कही हैं किन्तु उनके कहने का ढंग अनोखा है। उन्होने जो कुछ कहा है वह व्यावहारिक उपादेयता के विचार,से कहा है। इसीलिए यूरोपीय नव-जागरण के प्रारम्भ से लेकर प्राय. अठारहवी शती के अत तक होरेस के नाट्य-सम्बन्धी विचारो को अत्यधिक मान्यता मिली है। वे बार-बार दोहराये गये और थोडे-बहुत परिवर्तन और परिवर्धन के साथ उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का प्रचलन इन तीन सौ वर्षों के काल मे बना रहा।

मध्य-युग के आरम्भ होने के पूर्व रोमन साम्राज्य के विघटन-काल मे रोम की प्रशस्त रंगशालाओ मे नाटको का प्रदर्शन बन्द हो गया। ईसाई धर्माचार्यो ने उन्हे अनैतिक तथा पापमय घोषित कर दिया तथा नाट्य-अभिनय को बन्द करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा दी। इसी समय रोम बर्बर जातियो द्वारा आक्रान्त हुआ तथा अराजकता और अशान्ति के कारण भी रगशालाओ का बन्द होना अनिवार्य हो गया। फल यह हुआ कि मध्ययुग के प्राय पाँच सौ वर्षो में यूरोप मे नाटको का अस्तित्व ही नही था। दसवी शती के लगभग गिरजाघरो मे नाटको का पुनर्जन्म हुआ तथा विकास की प्राथमिक अवस्थाओ को पार करता हुआ वह सोलहवी शती में पूर्णत्व को प्राप्त हुआ। इस प्रकार नाट्य-साहित्य के लिये मध्य-युग के प्रायः एक सहस्र वर्ष कोई विशेष महत्व नही रखते। नाट्य-आलोचना के लिये भी यही बात लागू है। पादरियों का नाटक के प्रति विरोध निरन्तर चलता रहा। उन लोगो ने अपने लेखो में बराबर नाटको और नाट्य-अभिनय की निन्दा की है। उदाहरणार्थ सेन्ट आगस्टाइन ने अपने संस्मरण में अपनी युवावस्था में नाटको के अध्ययन तथा नाट्य-अभिनय में भाग लेने के लिये घोर पश्चात्ताप प्रकट किया। उन्होने यूनान और रोम के महानतम नाट्य-रचयिताओं की कृतियो का उल्लेख तिरस्कारपूर्वक किया है। अन्य पादरियों का भी यही स्वर है जो दसवीं और ग्यारहवी शताब्दी तक अत्यन्त प्रखर रहता है। मध्य-युग मे एक-दूसरी श्रेणी के भी लेखक थे जिन्होने नाटको के सम्बन्ध में अधिक सहानुभूतिपूर्वक लिखा है। तब भी उनके विवेचन मे मौलिकता का अभाव है। प्रायः सभी लोगों ने होरेस के शब्दों को ही हेरफेर कर दुहराया है। मध्य-युग मे अरस्तू का काव्य-शास्त्र तो लुप्तप्राय था, अत होरेस की ही मान्यता सर्वोपरि थी। डोनेटस, डायोमिडीज़, जॉन आफ सेलिसबरी, दान्ते

प्रभृति विचारकों पर होरेस की छाप साफ-साफ दिखाई देती है। सिसरो और होरेस से प्रभावित होकर इन विचारकों ने कॉमेडी के बारे में अपने विचार को कुछ विस्तार से प्रकाशित किया है। ट्रेजडी और कॉमेडी के भेद को व्यक्त करते हुए डोनेटस ने लिखा है कि ट्रेजडी में कथा नायक के सुख से दुख और मृत्यु की ओर अग्रसर होती है किन्तु कॉमेडी में परिवर्तन का क्रम इसके विपरीत होता है। नायक कठिनता से छुटकारा पाकर सुख और शान्ति को प्राप्त करता है। यदि हम शेक्सपियर के सुखान्त नाटको पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उनकी रचना कामेडी के इसी मध्ययुगीन आदर्श पर हुई है।

मध्य-युग के समाप्त होने पर यूरोपीय नव-जागरण का काल आरम्भ हुआ। परिवर्तन के चिह्न पन्द्रहवीं शताब्दी में दिखाई देने लगे, किन्तु उसका प्रभाव सोलहवी शती तथा सत्रहवी शती के मध्य तक इटली, फ्रास, इगलैण्ड प्रभृति देशो में स्पष्ट रीति से प्रकट हुआ। पन्द्रहवीं शती के कुछ पूर्व से ही प्राचीन यूनानी तथा लैटिन पाण्डु-लिपियों की खोज प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु सन् १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनियाँ पर तुर्कों के अधिकार होने के उपरान्त उसका क्रम तीव्र गति से आगे बढा। सिसरो, होरेस, क्विन्टिलियन आदि की रचनाएँ फिर जनता के सम्मुख आई और उनकी टीकाएँ और व्याख्याएँ लिखी गई। उनकी कृतियों का प्रभाव तो नवयुग की विचार-पद्धति पर पडा ही किन्तु उन सबसे अधिक सशक्त प्रभाव था अरस्तू का। अरस्तू का काव्य-शास्त्र अरब और सीरिया से पुन प्राप्त किया गया और उसका यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। सन् १५३५ ई० में यूनानी भाषा में उसका प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ। और सन् १५५० ई० तक उक्त पुस्तक के अनेक सस्करण निकल चुके थे। सन् १५६५ में ट्रेण्ट नामक स्थान पर एकत्र पादरियो की सभा ने अरस्तू के काव्य-शास्त्र को वही महत्ता प्रदान की जो ईसाई धर्म के नियमों को मिलती है। कहने का अभिप्राय यह है कि नव-जागरण के युग में आद्योपान्त अरस्तू का प्रभाव सबल और प्रशस्त बना रहा। नाट्य-शास्त्र के क्षेत्र में तो एक प्रकार से उन्ही का आधिपत्य था। इटली के वे प्राय सभी विद्वान जिन्होने इस युग में नाट्य-शास्त्र पर अपने विचार व्यक्त किये, अरस्तू के अनुगामी थे। उन्होंने अरस्तू के ही सिद्धान्तो को अधिक कठोर रूप में प्रस्तुत किया। ट्रेजडी की व्याख्या इन सभी इटालियन विद्वानो ने अरस्तू के लेखो के आधार पर की है। रूप-सौष्ठव पर अत्यधिक आग्रह है। अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र में सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। नव-जागरण के काल में बार-बार यह सिद्धान्त ज़ोर देकर दुहराया गया। इसी भाँति

औचित्य की आवश्यकता को भी विशेष महत्त्व दिया गया। इसका अर्थ यह था कि नाटक में सन्निविष्ट पात्रो मे वैयक्तिक विशेषताओं की अपेक्षा श्रेणीगत विशेषताएँ अधिक वाञ्छनीय थी। कास्टलविट्रो ने नाट्यान्वितियो के सिद्धान्तो को एक दम कठोर तथा अनुल्लघनीय बना दिया। अरस्तू ने क्रियान्विति की ही व्याख्या की थी किन्तु कास्टलविट्रो ने तीनो अन्वितियो अर्थात् क्रियान्विति, कालान्विति तथा स्थानान्विति को समान मान्यता प्रदान की।

पुनर्जागरण काल का यह क्लासिकीय आन्दोलन इटली से चल कर फ्रास पहुँचा। उस समय यूरोप-निवासियो के लिये इटली के प्रसिद्ध सास्कृतिक केन्द्र मान्टुआ, फ्लोरेन्स आदि पुनीत तीर्थस्थान थे और पेरिस तथा अन्य फ्रासीसी नगरो से लोग वहाँ नित्य जाया करते थे, अत. इटालियन विचारो का फ्रास में सक्रमण हुआ और फ्रासीसी विद्वानो ने भी नाटको के सम्बन्ध में प्राय: वही बाते कही जो अरस्तू के अनुगामी इटालियन विद्वानो ने कही थी। इगलैंड मे पुनर्जागरण का पूर्ण प्रभाव सोलहवी शती के मध्य तक परिलक्षित हुआ। वहाँ भी नाट्य-शास्त्र के विषय पर उसी प्रकार चिन्तन हुआ जैसा कि इटली और फ्रास में। सर फिलिप सिडनी ने नाट्यान्वितियो का समर्थन किया तथा ट्रैजडी और कामेडी के मिश्रण की घोर निन्दा की। स्मरण रखने की बात है कि सर फिलिप सिडनी के समय तक इगलैड में अनेक दुःखान्त-सुखान्त नाटक लिखे जा चुके थे, और कुछ वर्षों बाद ही शेक्सपियर के नाटक लिखे जाने वाले थे जिनको हम न तो विशुद्ध ट्रैजडी और न विशुद्ध कामडी ही कह सकते हैं। सर फिलिप सिडनी के उपरान्त बेन जॉन्सन के विचार उल्लेखनीय हैं। वे प्राचीन साहित्य के उद्‌भट विद्वान् और प्राचीन नियमो के प्रबल समर्थक थे। अपने युग मे उन्होने अरस्तू और होरेस द्वारा प्रतिपादित नियमो को फिर से स्थापित करने के निमित्त प्रबल प्रयास किया। नाट्य-शास्त्र की प्राचीन स्वीकृतियो की बेन जॉन्सन ने अपने शब्दो मे व्याख्या की तथा अनेक नाटक प्राचीन परिपाटी पर लिख कर अपने समकालीन लेखको के लिये आदर्श प्रस्तुत किया। मिल्टन ने अपने नाटक "सैम्सन एगोनिस्टीज" की भूमिका मे यूनानी दु:खान्त नाटको के मूल सिद्धान्तो का एक बार पुन. उद्घाटन किया। वे अंग्रेजी पुनर्जागरण के अन्तिम प्रतिनिधि थे। उपर्युक्त विवेचन से हम देखते हैं कि यूरोप के प्राय: सभी सभ्य देशो मे लगभग डेढ सौ वर्ष तक नाटकों के क्षेत्र मे एक ही ढर्रे पर चिन्तन हुआ। सभी ने प्राचीन क्लासिकीय मार्ग का अनुसरण किया, किन्तु हम यह नही कह सकते कि मध्य-युग का इन विचारको पर तनिक भी प्रभाव न पडा था। नाट्य-रचना मे दो प्रभावों का, प्राचीन क्लासिकीय तथा नवीन देशी प्रभाव का एकीकरण सर्वत्र हुआ। इसी भाँति नाट्य-

शास्त्र के क्षेत्र में भी प्राचीन सिद्धान्त जिनकी पुन स्थापना हो रही थी मध्य-युगीन मान्यताओं से किसी न किसी अश में अवश्य प्रभावित और परिवर्तित हुए थे।

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रान्सीसी काव्य-चिन्तन निरन्तर क्लासिकीय आदर्श की ओर अधिकाधिक झुकता गया। अन्त मे लगभग १६३६-३७ के उपरान्त उसका वह रूप विकसित हुआ जिसे नियो-क्लासिसिज्म अर्थात् नवीन-क्लासिकीय मत की सज्ञा मिली है। इस मत में काव्य ने सम्पूर्ण क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमा लिया, किन्तु हमारा मूल प्रयोजन यहाँ नाट्य शास्त्र से है अत हम उसका ही जिक्र करेंगे। सन् १६३६ में कार्नील का "द सिड" नामक नाटक रगमच पर खेले जाने के पश्चात प्रकाशित हुआ और निर्विलम्ब उसके सम्बन्ध में एक दीर्घ वाद-विवाद उठ खडा हुआ जिसमें स्कडरी, चैपलेन, कार्नील के अतिरिक्त अनेक लेखको ने भी भाग लिया। इस वाद-विवाद में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न जनता के सम्मुख आये जिनमें सर्व प्रधान यह सवाल था कि एक ही नाटक में दु खद और सुखद उपकरणो का समावेश होना चाहिए अथवा नहीं। वास्तव में यह प्रश्न दु खान्त-सुखान्त नाटकों के अस्तित्त्व के औचित्य का था। विशुद्ध नव-क्लासिकीय मत के अनुयायियों ने उपर्युक्त नाटक की कठोर आलोचना की किन्तु इसके समर्थक भी थे जिन्होने अरस्तू और होरेस का नाम लेकर इस नवीन प्रकार के नाटक की प्रशसा की। सन् १६३६ से लेकर प्राय सत्रहवी शती के अत तक अनगिनत आलोचको और नाटककारों ने नाट्य-शास्त्र के विविध विषयों पर अपने विचार प्रकट किये। विस्तार-भय से केवल हम उनके निष्कर्षो की ओर सकेत करेंगे। अरस्तू और होरेस इस युग के सर्वमान्य प्राचीन आचार्य थे और प्रत्येक लेखक अपने समर्थन में उन्हीं के विचारो का उल्लेख करता था। कार्नील, मोलियर, रासीन, बोआलो, प्रभृति लेखको ने अरस्तू और होरेस की अधिकाश बातें दुहराई हैं। किन्तु साथ ही साथ उन्होने कुछ विशेष बातों पर अत्यधिक बल दिया है। प्राय सभी ने नाटको के उद्देश्य की व्याख्या करते हुए होरेस की भाँति नैतिक शिक्षा को आनन्द से भी अधिक आवश्यक बताया है। कार्नील ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है, किन्तु अन्य लोगों ने भी इस प्रश्न पर थोडा-बहुत प्रकाश अवश्य डाला है। दूसरा प्रमुख विवेच्य विषय है नाटको की वस्तु-सघटना। इस युग के फ्रासीसी आलोचको और नाट्य-रचयिताओ ने समान रूप से सादे और सुगठित नाट्य-वस्तु की प्रशसा की है। रासीन ने अपनी भूमिकाओ में सुडौल और सादी कथानक की आवश्यकता पर बल दिया है। अन्वितियो के प्रश्न पर प्रायः सभी एकमत थे और यह मानते थे कि तीनों अन्वितियों का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। होरेस का अनुसरण करते हुए इन लोगो ने नाटकों मे घटनाओं के वर्णन की प्रथा को आश्रय दिया है। इस युग में यह एक आवश्यक नियम माना गया कि नाटक के विविध दृश्य एक दूसरे से भली प्रकार गुम्फित हों।

बोग्रालो ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "आर्ट पोयटिक" अथवा काव्य-कला में सुरुचि, सादगी तथा निर्माण-सौष्ठव के क्लासिकीय आदर्श को अत्यन्त प्रभावोत्पादक रीति से प्रस्तुत किया। फल यह हुआ कि फ्रांस इस नवीन साहित्यिक विचार-धारा का प्रमुख केन्द्र बन गया और वहाँ से इसका प्रभाव विभिन्न देशों में फैलने लगा।

नव-क्लासिकीय प्रभाव १६५० ई० के उपरान्त इंगलैंड मे फैला तथा विकसित हुआ। राइमर सदृश कुछ लेखकों ने फ्रांसीसी सिद्धान्तो का अधानुकरण किया। किन्तु इस युग के सर्वमान्य कवि और आचार्य ड्राइडन ने इस नवीन मत को केवल परिवर्तित रूप में ही स्वीकार किया। नाट्य के विषय पर उसका निबंध अपने ढंग का अद्वितीय लेख है। इसमे चार व्यक्तियो के वार्तालाप के माध्यम से प्राचीन यूनानी नाटक, ड्राइडन के पूर्ववर्ती युग के नाटक, ड्राइडन के समकालीन फासीसी नाटक तथा सामान्य रीति से अंग्रेजी नाटक इन चारो का सापेक्ष्य विवेचन किया गया है। सबसे रोचक अंश वह है जिसमे फ्रांसीसी और अंग्रेजी नाटको की तुलना द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि कठोर नियमो के बंधन से नाटको का समुचित विकास नहीं होता। अन्य अंग्रेज नाट्य-आलोचको मे डा० जॉन्सन का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों का संपादन किया है और उन लोगो की भूमिका में उनके गुण-दोषो पर प्रकाश डाला गया है। उन्होंने नवीन सिद्धान्तो का प्रतिपादन नही किया है। केवल कतिपय नियमो के सहारे नाटको का मूल्यांकन मात्र किया है। तब भी वे इसलिये श्रद्धा के पात्र है कि उनका दृष्टिकोण सदैव स्वतंत्र और विवेकपूर्ण रहा है। नव-क्लासिकीय नियमो के प्रति उनका आदर अवश्य था किन्तु वे उनके दास नहीं थे। नव-क्लासिकीय प्रभाव स्पेन, इटली आदि देशो मे भी फैला, जहाँ उसका पहले तो कुछ विरोध हुआ किन्तु फिर उसे स्वीकृति प्राप्त हुई। इस प्रकार सत्रहवी शती के मध्य से लेकर अठारहवीं शती के मध्य तक के सौ वर्षों में यूरोपीय नाट्य-शास्त्र के अन्तर्गत इसी नवीन मत को सबसे अधिक मान्यता थी।

अठारहवी शताब्दी के मध्य के आस-पास नाट्य-आलोचना के क्षेत्र में संक्रांति उपस्थित हो गई। विरोधी विचार-धाराओं की मुठभेड होने के कारण स्थिति कुछ अस्पष्ट सी प्रतीत होती है। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है डा० जॉन्सन नव-क्लासिकीय विचारधारा के प्रतिनिधि होते हुए भी कुछ बातो में अत्यन्त उदार विचार के थे। काव्य-प्रतिभा को उन्होंने नियमो से ऊपर की वस्तु मान इसीलिये उन्होंने शेक्सपियर की बार-बार प्रशंसा की, यद्यपि उस महाकवि के नाटकों में अधिकांश नव-क्लासिकीय नियमो का अतिक्रमण हुआ है।

शेक्सपियर की लोकप्रियता तथा भाव-प्रवण साहित्य के बढते हुए प्रचलन ने

मिलकर नाट्य-आलोचना की दिशा बहुत-कुछ बदल दी। कठोर नियमो के हिमायती अब भी विद्यमान थे। फ्रास में वाल्टेयर ने अन्विति-त्रय की भूरि-भूरि प्रशसा की। शेक्सपियर और स्पेन के नाटककार लोप डि वीगा की कृतियो को जिनमें तीनो अन्वितियो का पालन नही हुआ है उन्होने बर्बर कला बता कर नाटक के परिष्करण का श्रेय फ्रासीसियों को दिया। वे प्रायः सभी बातो मे कार्नील, रासीन प्रभृति पूर्ववर्ती विचारको के भक्त और अनुयायी हैं। एक अन्य प्रसिद्ध फ्रासीसी लेखक और विचारक डिडरॉट के विचार कही अधिक उदारतापूर्ण हैं। अग्रेजी भावना-प्रधान नाटकों से प्रभावित होकर उन्होने कई स्थलो पर नाटक के नैतिक उद्देश्य की विशद व्याख्या की है। इस काल में फ्रास और जर्मनी में ऐसे नाटक बडी सख्या में लिखे जा रहे थे जिनमें नैतिकता पर विशेष आग्रह था। डिडरॉट ने "सीरियस कॉमडी" अर्थात् गभीर सुखान्त-नाटको की विवेचना में बताया है कि ऐसी रचनाओ का प्रमुख प्रयोजन है प्रेक्षको तथा पाठको का नैतिक स्तर ऊँचा करना। इसके अतिरिक्त उन्होने कठोर नव-क्लासिकीय नियमो को उनके विशुद्ध रूप में स्वीकार नही किया है।

सन् १७६७ से लेकर १७६९ तक प्रसिद्ध जर्मन लेखक तथा आलोचक लेसिंग ने अपने हैम्बर्ग नाट्य-शास्त्र की रचना की। कुछ बातों में यह रचना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मूलत लेसिंग अरस्तू का अनुयायी है। फ्रासीसी नव-क्लासिकीय विचार-शैली को उसने पूर्ण रूप से अस्वीकार करके अरस्तू के नाट्य-शास्त्र को मूल्याकन का अन्तिम मापदण्ड माना है किन्तु साथ ही साथ वह अपने युग के भावना-प्रधान नैतिक आदर्शों से भी गहराई तक प्रभावित हुआ था। अतः नैतिकता की बात बार-बार उठाई गई है और ऐसे नाटकों की प्रशसा की गई है जिसमें नायक अपने नैतिक तथा धार्मिक विश्वासो के लिये आत्म-बलिदान करता है। लेसिंग सहज जीवन और सहज प्रतिभा के समर्थक थे, कदाचित् इसीलिये शेक्सपियर के नाटक उनको कदापि अप्रिय नही हैं। शेक्सपियर की आलोचना उन्होंने अरस्तू के सिद्धान्तो के आधार पर करते हुए उनका समर्थन किया है। हैम्बर्ग की राष्ट्रीय रगशाला में अभिनीत नाटको की आलोचना के रूप में लेसिंग का जगद्विख्यात नाट्य-शास्त्र लिखा गया है। अतएव सिद्धान्त-निरूपण के साथ उसमें सदैव व्यावहारिकता का पुट मिलता है। लेसिंग ने नितान्त नवीन नियमो की स्थापना तो नही की है किन्तु उसके कथन अत्यन्त विवेकपूर्ण और सतुलित हैं अत अन्तिम मूल्याकन में नाट्य-शास्त्र के विकास-क्रम में उसका सम्मानपूर्ण स्थान है।

जर्मनी में शिलर और गेटे के विचारों में प्राचीन और नवीन का सम्मिश्रण मिलता हैं। शिलर ने अपने नाटक 'द राबर' की भूमिका में एक नवीन प्रकार के नाटक

की कल्पना उपस्थित की जिसमें वर्णनात्मक तथा नाटकीय विशेषताओं का साथ-साथ समावेश था। उस नाटक के पात्र स्वगत भाषण द्वारा आत्म-प्रकाशन करते हैं। ट्रेजडी पर अपने अत्यन्त गम्भीर विचार शिलर ने अरस्तू की परम्परागत शैली पर प्रकाशित किये हैं; तब भी विवेचन के ढंग में पर्याप्त मौलिकता है। यही बात गेटे के भी सम्बन्ध में सत्य है। शिलर और गेटे काव्य-मर्मज्ञ थे। अतः उन्होंने अनेक चमत्कारपूर्ण बातें कही हैं यथा वर्णनात्मक काव्य नवीन को प्राचीन, तथा नाटक प्राचीन को नवीन बनाता है। दोनों विचारकों ने मुक्तक तथा नाटक के भेद को अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। मुक्तक हमारी मानसिक अवस्था का सीधा प्रकाशन है किन्तु नाटक में हमारी मनोवृत्तियाँ क्रिया के माध्यम से व्यक्त होती हैं। शिलर और गेटे के पश्चात् जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड सर्वत्र साहित्य में रोमानी विशेषताओं का प्रचार बढ़ा। जर्मन आचार्य श्लेगल आदि ने नाटकों के लेखन तथा मूल्यांकन के लिये नवीन सिद्धान्तों की घोषणा की। ये सभी शेक्सपियर की रचनाओं से प्रभावित हुए थे। अत. उन्हीं का आदर्श इन लोगों ने प्रसारित करना चाहा। रोमानी नाट्य-शास्त्र की सबसे उग्र स्वर में घोषणा करने वाले फ्रांसीसी कवि और लेखक विक्टर ह्यूगो थे। उनके स्वरचित क्रामवेल नाटक की भूमिका रोमानी सिद्धान्तों का घोषणा-पत्र मानी जाती है। विक्टर ह्यूगो का मत था कि समय और परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ काव्य-रूपों का आदर्श भी अवश्य बदलता है। अत. उन्नीसवीं शताब्दी में यूनानी नाटकों की परम्परा को अपरिवर्तनीय मानना मूर्खता थी। नवीन रोमानी नाटकों में जीवन का अधिक सम्यक्, सजीव और सच्चा निरूपण मिलता है। इस बात पर ह्यूगो ने बल दिया है। अंग्रेज नाट्य-आलोचकों में कोलरिज गाम्भीर्य और मौलिकता के विचार से सर्वोपरि थे। शेक्सपियर के नाटकों के सम्बन्ध में उनके विचार अत्यन्त मार्मिक हैं। उन्होंने क्रमबद्ध रीति से नाटकों के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त-निरूपण नहीं किया है। तथापि उनके लेखों में बिखरे हुए कथन अत्यन्त विचारणीय हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने 'विलिंग सस्पेन्सन ऑफ डिसबिलीफ' अर्थात् अविश्वास के स्वैच्छिक अवरोध की बात लिखी है जो नाटकीय-भ्रान्ति के महत्वपूर्ण सिद्धान्त का आधार मानी गयी है। लैम्ब की आलोचना मुख्यत व्यावहारिक है। हैज़लिट ने भी कवियों और नाट्य-रचयिताओं तथा उनकी कृतियों का मूल्यांकन किया है किन्तु यत्र-तत्र ऐसे कथन भी मिलते हैं जिनका सैद्धान्तिक मूल्य भी है यथा उनका यह कथन कि कामेडी के विशाल स्तम्भों पर सुसंस्कृत समाज को आश्रय मिलता है। आगे चल कर मेरेडिथ और बर्गसाँ ने इसी विचार को अधिक स्फुट किया। यहाँ उन दार्शनिकों के भी बारे में कुछ कह देना आवश्यक है जिन्होंने नाटकों से सम्बन्धित प्रश्नों पर इस युग में विचार किया। कान्ट, हीगेल, शापेनहावर,

इत्यादि जर्मन दार्शनिको ने अपने सौन्दर्य-शास्त्र के विवेचन के अन्तर्गत ट्रेजडी और कामेडी के मूलभूत सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला। इनमें हीगेल विशेष उल्लेखनीय हैं। अरस्तू के उपरान्त उनकी ट्रेजडी की व्याख्या सर्वाधिक महत्व रखती है और किसी अश में अरस्तू के विचारों मे जो अभाव रह गये थे उनकी पूर्ति करती है। नैतिक-तत्त्व के आत्म-विभाजन और अन्तर्द्वन्द्व की बात सबसे पहले हीगेल ने ही कही थी तदुपरान्त इस सिद्धान्त पर पर्याप्त विचार हुआ है और उसे सर्वत्र मान्यता मिली है। जिन विद्वानो का हमने अभी उल्लेख किया है वे मुख्यत दार्शनिक थे और उन्होने नाटको के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह दर्शन और सौन्दर्य-शास्त्र के सदर्भ में ही लिखा है। अत उसके बारे में कुछ अधिक कहना आवश्यक नही प्रतीत होता।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम अर्द्धांश में यूरोप के प्राय सभी देशो में रगशाला और नाट्य-प्रदर्शन ह्रासोन्मुख थे। जनता की अभिरुचि भी विह्वल हो गई थी और इसीलिये उच्चकोटि के नाटको की रचना और प्रदर्शन को प्रोत्साहन नही मिलता था। कोलरिज, हैजलिट, लैम्ब, श्लेगल प्रभृति आलोचको ने प्राचीन नाट्य-साहित्य पर एक नवीन सिरे से विचार किया है। जैसा हम अभी कह चुके हैं, दूसरी कोटि में वे पण्डित और आचार्य आते हैं जिनका मुख्य प्रयोजन दर्शन से था और जिन्होने अपने दार्शनिक मत के परिपोषण के लिये नाटको पर विचार किया है। उन्नीसवी शताब्दी के दूसरे अर्द्धांश में परिस्थिति कुछ बदलने लगी। रोमानी अभिव्यञ्जना के स्थान पर अब यथार्थ निरूपण की शैली अधिकाधिक अपनाई गई। फ्रासीसी लेखक इस बात को लेकर दो विभिन्न मतों में बँट गये। एक दल के नेता थे 'सार्सी' जिन्होने चमत्कारपूर्ण घटनाओ को लेकर सुनिर्मित नाटको का प्रबल समर्थन किया। दूसरी ओर ड्यूमास, फिल्स, ज़ोला आदि ने सामाजिक समस्याओ को विषय बना कर यथार्थवादी नाटकों की नवीन परपरा स्थापित की। इसी परम्परा में इब्सन, स्ट्रिडबर्ग तथा बर्नार्डशा आदि आते हैं। बर्नार्डशा ने अपने बहुसख्यक निबन्धो और भूमिकाओ में रोमानी विचारधारा और सुनिर्मित नाटको को लिखने की प्रथा को एक साथ चुनौती दी। उन्होने नाटकों को केवल आनन्द की वस्तु न मानकर नाट्य-रचयिताओ को सामाजिक अभ्युत्थान के लिये जिम्मेदार बनाया। यूरोप के सभी देशो में प्राय आज तक यथार्थवादी नाटकों का प्रचलन हुआ है। एक दूसरी परम्परा भी जीवित है जिसका मूलस्रोत कोलरिज, तथा श्लेगल के विचारों में मिलता है। वैगनर, मेटरलिक, टी० एस० ईलियट आदि के लेखो में काव्यात्मक प्रतीकवादी प्रणाली की नाटय-रचना का समर्थन है। यूरोप तथा अमरीका के अभिव्यञ्जनावादी नाटक भी इसी परम्परा से सम्बद्ध हैं। इस भाँति इस समय यूरोप के नाट्य-साहित्य में

यथार्थवादी और काव्यात्मक नाटकों के समर्थकों के दो विभिन्न सम्प्रदाय हैं जिनकी तह में दो विभिन्न सिद्धान्त हैं और अलग-अलग विचारधाराएँ मिलती हैं।

नाट्य-सिद्धान्त की दृष्टि से कुछ विशिष्ट विचारकों का उल्लेख आवश्यक है। बर्गसाँ के कामेडी और हास्य से सम्बन्धित विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हम कह सकते हैं कि वे उतने ही महत्त्वपूर्ण है जितने हीगेल के ट्रेजडी से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्त। बर्गसाँ का दृष्टिकोण दार्शनिक है और उनका विश्लेषण अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण। उनके मतानुसार सुखान्त नाटकों में हास्य तीन तथ्यों पर निर्भर रहता है; हँसने वाले में सहानुभूति की कमी, जो हास्य का विषय है उसमें सामाजिक साहचर्य की अयोग्यता तथा नाटक में समाविष्ट सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था में जीवन्त उपकरणों का अभाव और यन्त्रवत् आचरण की प्रवृत्ति। एक दूसरे फ्रांसीसी थे ब्रुनेटियर जिन्होंने अपने सुविख्यात नाट्य-नियम का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होने के कुछ पूर्व किया। उनकी धारणा है कि नाटकों का आविर्भाव नायक की इच्छा-शक्ति और परिस्थितियों के संघर्ष से ही होता है। इस द्वन्द्व में जब नायक की इच्छा विजयिनी होती है तब कॉमेडी की सृष्टि होती हैं और जब संघर्ष में नायक विजित होकर विनष्ट होता है तब ट्रेजडी का सूत्रपात होता है। तत्कालीन अंग्रेज लेखक एवं नाट्य-कला के मर्मज्ञ आचार्य विलियम आर्चर ने ब्रुनेटियर के मत का खण्डन किया। ब्रुनेटियर का सिद्धान्त कुछ नियमों पर लागू होता है किन्तु उसके सहारे हम सभी नाटकों की व्याख्या नहीं कर सकते हैं। अतएव आर्चर ने इस मत का प्रति-पादन किया कि प्रत्येक नाटक में निरन्तर आने वाली जटिल परिस्थितियों की एक शृंखला बनती है और इसीलिये उनकी रोचकता आद्योपान्त बनी रहती है। आर्चर की "प्ले मेकिंग" नामक पुस्तक नाट्य-निर्माण-पद्धति के विषय पर एक अद्वितीय पुस्तक है। उसी विषय पर उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन लेखक फेटाग ने "द टेकनीक ऑफ ड्रामा" नामक विशिष्ट ग्रन्थ लिखा था जो जर्मनी में ही नहीं सारे यूरोप में लोकप्रिय हुआ। वर्तमान शताब्दी में नाट्य-शास्त्र के कतिपय पण्डितों ने नाट्य-आलोचना में रंगशाला और अभिनय को अधिक महत्त्व दिया है। उनका मत है कि नाटक के समस्त प्रभाव को हम प्रेक्षागृह में ही ग्रहण कर सकते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी है। अतः केवल उदाहरणार्थ हम गॉर्डन क्रेग, स्टेनिस्लेवस्की, ग्रेनविल्ली बार्कर, ऐशले ड्यूक, एलार्डाइस निकल आदि के नामों का उल्लेख कर सकते हैं। इनकी विपरीत विचार-धारा का अग्रणी हम क्रोचे को मान सकते हैं जिनके सौंदर्य-शास्त्र में सुस्पष्ट तथा सहजबोध ही कला के वैशिष्ट्य-ग्रहण की चरम-परिणति है। इसीलिये उनके प्रमुख अनुयायी स्पिनगर्न का कथन है कि

नाटको के लिये रगशाला की आवश्यकता नही है। उनका अभिनय तो अन्त करण की रगशाला में होता है।

नाट्य-समीक्षा तथा नाट्य-शास्त्र की वर्तमान अवस्था कुछ उलझी हुई-सी है। मतमतान्तरो के प्रचार के कारण सारे यूरोप में एक सुस्पष्ट नाट्य-परम्परा का ढूंढ निकालना कठिन है। फलत समृद्धि और वैविध्य के लक्षण तो परिलक्षित होते हैं किन्तु सर्वमान्य मौलिक सिद्धान्तो का आज अभाव है।

अत नाट्य-शास्त्र के समुचित विकास के लिये यह आवश्यक हो गया है कि यूरोप के सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य पर विचार करने के उपरान्त सर्वमान्य सिद्धान्त निर्धारित किये जायें। प्रो० एलर्डाइस निकल ने इसी बात को अत्यन्त सुन्दर ढग से व्यक्त किया है। उनका कहना है कि यूरोपीय नाट्य-शास्त्र के क्षेत्र मे अभी बहुत कुछ करना बाकी है। हम उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब कोई एक ऐसा महान् आचार्य उत्पन्न होगा जो सारे यूरोपीय नाट्य-शास्त्र के लिये उतना ही मौलिक और महत्त्व-पूर्ण कार्य करेगा जैसा आज से प्राय ढाई हज़ार वर्ष पूर्व अरस्तू ने यूनानी नाट्य-शास्त्र के लिये किया था।



पाश्चात्य नाटक-कला के सिद्धान्त

—श्री अमरनाथ जौहरी

'थ्येटर आफ डायोनिसस'

नाटक का प्रादुर्भाव यूरोप में सर्वप्रथम यूनान देश में हुआ। अतः नाटक-कला के सिद्धान्त भी सर्वप्रथम वहीं सूत्रबद्ध हुये, और यह स्वाभाविक भी था।

प्राचीन यूनान के लोग अपने देवता डायोनिसस का पूजन बड़े आनन्द और उल्लास से करते थे। डायोनिसस अथवा बैकस शराब का देवता था, शारीरिक आनन्द और स्फूर्ति का देने वाला था, शोक और चिन्ता का हरने वाला था। वह शत्रुञ्जय देवता था। किंवदन्ती के अनुसार, उसने भारत तथा एशिया के विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण किया था और वहाँ अपनी पूजा स्थापित की थी। यूनान लोग उसके दिव्य-लोक में जाने का स्वप्न देखते थे जहाँ उसके प्याले से उनके समस्त दुखों का शमन हो सकता था। डायोनिसस के पूजन-समारोह वसन्त के दिनों में एथेन्स तथा ऐटिका के नर-नारियों को नया जीवन प्रदान करते थे।

डायोनिसस की प्रतिष्ठा में जो कोरस अथवा समूह-गान होते थे, उनसे नाटक का जन्म हुआ। ट्रेजडी का अर्थ है 'गोट सांग' अथवा 'अज-गान', क्योंकि उस समारोह में बकरे की बलि दी जाती थी। कामेडी का अर्थ है ग्राम-गीत, और उसमें आमोद-प्रमोद का प्राधान्य होता था। छठी शताब्दी ई० पू० में जब भारत में महात्मा बुद्ध अपने नये धर्म का प्रचार कर रहे थे, उस समय यूनान में थैस्पिस नामक व्यक्ति ने कोरस में एक परिवर्तन किया: उसमें वार्तालाप का समावेश कर दिया। जनता ने अपने देवता के कृत्यों को अभिनयात्मक ढंग से देखा, उसे सराहा उसके द्वारा अपने देवता की कथायें अधिक साकार एवं क्रियात्मक रूप में देखीं और साहित्य में एक नये प्रकार का जन्म हुआ।

ट्रेजडी के अभिनय के लिये प्रसिद्ध 'थ्येटर आफ डायोनिसस' का निर्माण ५०० ई० पू० में हुआ। यह एथेन्स के ऐक्रोपोलिस नामक पर्वत के चरणों में स्थित था। यह अर्धवृत्ताकार था और ऊपर से खुला था। दर्शकों की सीटों की पंक्तियाँ एक के ऊपर एक चट्टानें काट-काट कर बनाई गई थी। रंगमंच पत्थर का बना था और

उसके पीछे एक ऊँची दीवार थी। दर्शकों की सख्या २५ से ३० हज़ार तक होती थी। मुख्य स्टेज के मध्य में ठीक सामने एक नीचा अर्द्धवृत्ताकार स्टेज और होता था जिसे आर्केस्ट्रा कहते थे। इसके मध्य में डायोनिसस की वेदी होती थी जिसके चारों ओर नृत्य होते थे। इस वेदी के पास की सीटें सगमर्मर की थी जो पुजारियो और मैजिस्ट्रेटों के लिए सुरक्षित होती थी। वेदी के ठीक नीचे डायोनिसस का पुजारी बैठता था। उसके दाईं ओर सूर्य देवता एपोलो का पुजारी और बाईं ओर नगर देवता 'ज्यूम पौलियस' का आसन होता था। नृत्य और सगीत के इस पूजन-समारोह में यूनान देवताओ एव महापुरुषो का जीवन-चरित दिखाया जाता था।

वास्तव में जहाँ तक धार्मिक भावनाओ का सम्बन्ध है यह समारोह हमारी रामलीला से अधिक भिन्न नही होते थे। अन्तर केवल इतना था कि हमारे समारोह ग्राम के बाहर किसी खुले मैदान में अस्थायी साधनों द्वारा होते थे, और अभिनय के कला-पक्ष को बिल्कुल भुला दिया जाता था, यूनान में यह समारोह एक निश्चित थ्येटर में होते थे। कालान्तर में यूनान के महान नाटककारो ने अपने देश की इन गाथाओ को अत्यन्त सुन्दर नाटको में गूँथा जिनका अभिनय दक्ष कलाकार करते थे। परिणाम यह हुआ कि भारत में कोई राष्ट्रीय रगमच नही बन पाया और यूरोप में छठी शताब्दी ई० पू० में ही स्थायी राष्ट्रीय रगमच की परम्परा प्रचलित हो गई।

अरस्तू के सिद्धान्त

५०० ई० पू० से ४०० ई० पू० तक का सौ वर्ष का समय यूनानी नाटक के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्राचीन यूनान के तीन महान् नाटककार एस्कीलस, सोफ़ोक्लीज़ और यूरीपाइडोज़ इसी काल में हुए। अरस्तु ने जब लगभग ३३० ई० पू० में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पोइटिक्स' की रचना की, उस समय उसके सामने इन नाटककारो की रचनाये थी जिनके आधार पर उसने नाटक-कला के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। सक्षेप में, अरस्तू के सिद्धान्त इस प्रकार हैं

१. ललित कला मानव मस्तिष्क की एक स्वाधीन कृति है। उसका कोई धार्मिक, राजनीतिक, शिक्षात्मक एव नैतिक उद्देश्य नहीं होता।

२ प्रत्येक कलाकृति प्रकृतिगत वस्तु अथवा घटना अथवा भावना की अनुकृति होती है, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति नही। शब्द वस्तुओं के प्रतीक होते हैं, किन्तु मानसिक चित्र प्रतीक नही होते। वे तो मस्तिष्क में उस वस्तु का आकार बना देते हैं। वस्तु का दृष्टि से लोप हो जाने पर भी उसका चित्र मस्तिष्क में रहता है। यह चित्र प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में भिन्न होता है और उसकी इन्द्रियों की शक्ति एव

अभ्यास पर आश्रित होता है। सर्वोच्च प्रकार की अनुकरणात्मक कला—अर्थात् कविता एवं नाटक—मानव-जीवन के सर्वव्यापी एवं स्थायी तत्त्वों की अभिव्यक्ति करती है। साधारण वस्तुयें अथवा कार्य अपूर्ण हैं परन्तु उनके अपूर्ण रूप में ही उनका रूप छिपा रहता है। कलाकृति द्वारा कलाकार वस्तुओं अथवा मानव-व्यापारों के इस आदर्श रूप को दर्शक अथवा पाठक के सामने रखता है।

३. काव्यगत सत्य साधारण सत्य अथवा ऐतिहासिक सत्य से भिन्न होता है क्योंकि कविता अथवा नाटक में यह आवश्यक नहीं है कि उन्हीं बातों का चित्रण किया जाय जो सचमुच घटित होती हैं। नाटक किसी व्यक्ति की आत्मकथा नहीं होता। वह कुछ विशेष व्यक्तियों द्वारा मानव के सम्भावित एवं सर्वव्यापी कृत्यों का चित्रण करता है।

४ कला का उद्देश्य शिक्षा देना नहीं, वरन् एक उच्च प्रकार का शुद्ध भावनात्मक एवं बौद्धिक आनन्द प्रदान करना है। थ्येटर हॉल स्कूल का स्थान नहीं ले सकता। ट्रेजडी का आदर्श नायक धार्मिक अथवा नैतिक दृष्टि से आदर्श नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा हो तो उसका पतन कैसे हो सकता है और उसके जीवन का अंत दोषपूर्ण कैसे हो सकता है? ट्रेजिक आनन्द की उपलब्धि तभी हो सकती है जब हम एक साधारणत अच्छे व्यक्ति का अभिमान अथवा किसी अन्य नैतिक दुर्बलता के कारण पतन होते हुये देखें और उसे देख कर हमारे मन में करुणा एवं भय का उद्रेक हो। जब मन में विशुद्ध करुणा एवं भय का संचार होता है तब हमारी भावनायें अपने आस पास के वातावरण से ऊपर उठकर मानव का महान संघर्ष देखती हैं। इसके अवलोकन में जब हम तन्मय हो जाते हैं तब हमारी भावनाओं का रेचन (Katharsis) अथवा विशुद्धीकरण हो जाता है।

५ रेचन अथवा 'केथारसिस' का क्या अर्थ है?

अरस्तू के मतानुसार ट्रेजडी एक गम्भीर, पूर्ण, एवं महान कार्य की अनुकृति होती है। इसके भिन्न-भिन्न भागों का भाषा द्वारा कलात्मक शृंगार किया जाता है। इनका रूप क्रियात्मक अथवा अभिनयात्मक होता है, वर्णनात्मक नहीं, और यह करुणा एवं भय का संचार करके हमारी भावनाओं का रेचन करती है।

'रेचन' शब्द की व्याख्या ने शताब्दियों तक यूरोप के विद्वानों को उलझाये रखा। उन्नीसवीं शताब्दी में डाक्टर बर्नेज ने इस शब्द को एक नई परिभाषा दी। बर्नेज का मत है कि जिस प्रकार दवा शरीर के रोगों का शमन करती है, उसी प्रकार ट्रेजडी भय और करुणा की भावनाओं को उकसा कर उनका शमन करती है और

हमें आत्मिक आनन्द प्रदान करती है। थ्येटर में हमारी अतृप्त भावनायें तृप्त हो जाती है। इस नियमित एव निश्छल तृप्ति के द्वारा हमारा मानसिक सतुलन स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दो में ट्रेजडी एक प्रकार का होम्योपैथिक उपचार है जिसमें रोग का उसी के समान दवा से इलाज किया जाता है। हिपोक्रेट्स के अनुयायियो का मत है कि वास्तविक जीवन की भय और करुणा की भावनायें हमारे मस्तिष्क को बहुत बडा धक्का पहुँचाती है। ट्रेजडी द्वारा इन भावनाओं की विनाशक शक्ति कम हो जाती है और हमारा दृष्टिकोण अधिक व्यापक और सयत हो जाता है। उदाहरणार्थ, वास्तविक जीवन में क्रोध अथवा प्रतिशोध देखकर यह सम्भव है कि हमारे हृदय को बहुत बडा धक्का पहुँचे, किन्तु जब हम ट्रेजडी में ट्राय की विजय से लौटे हुये वीर ऐगेमैम्नोन को उसकी पत्नी क्लाइटैम्नैस्ट्रा द्वारा विष भरा प्याला भेंट करते हुये देखते हैं तो हम भयभीत हो जाते हैं। ऐगेमैम्नोन के प्रति हमारी करुणा जाग्रत हो जाती है और हम वास्तविक जीवन की ऐसी घटनाओ का अधिक मानसिक सतुलन के साथ सामना कर सकते हैं।

६. ट्रेजडी का नायक अरस्तू के मतानुसार साधारण व्यक्तियो से अधिक चरित्रवान एव सुसस्कृत होता है, परन्तु उसमे कोई न कोई नैतिक दुर्बलता होती है। वह साधारण स्तर से ऊँचा उठा होता है। वह राजकुमार अथवा उच्च वश का व्यक्ति होता है। इसके दो लाभ हैं। एक तो महान व्यक्ति का पतन अधिक प्रभावोत्पादक होता है। दूसरे, जब वह व्यक्ति हमारे स्तर से ऊँचा होता है तो हमें यह भय नही रहता कि उसकी-सी दुर्घटनायें हमारे साथ भी हो सकती हैं। जब हम अपने आप को उसके जीवन से विलग कर लेते हैं, तव हमें आनन्द की उपलब्धि होती है। जव हम ईडिपस या ऐंटीगनी या हैमलेट के दुख-भरे जीवन की झाँकी देखते हैं, तो हमें यह भय नहीं रहता कि उनकी-सी विपत्तियाँ हमारे ऊपर भी पड सकती हैं। हमारी भावनाएँ हमारे स्वार्थी घेरे से ऊपर उठ जाती हैं और उनके दुखों में हम मानव-जीवन के दुखो का चित्र देखते हैं। हमारी सवेदना का वृत्त विस्तृत हो जाता है। जब व्यक्ति अपने सीमित अनुभवो से ऊपर उठ कर एक महान व्यक्ति का 'जीवन-चरित' देखता है तो उसकी स्वार्थी भावनाओ का रेचन अथवा परिष्कार हो जाता है। इस अर्थ में 'रेचन' का तात्पर्य है कि वास्तविक वस्तुओ एव दृश्यों को देख कर जो करुणा और भय होता है, उसमें से दुख को निकाल कर उसके स्थान पर आनन्द की उपलब्धि कराना। दुख स्वार्थ से उत्पन्न होता है। कलाकृति के अध्ययन एव अवलोकन में स्वार्थ का तिरोभाव हो जाता है अत दुख का भी नाश हो जाता है। करुणा और भय की साधारणीकृत भावना से हमे कलात्मक आनन्द की अनुभूति होती है।

७. अरस्तू ने कथा-वस्तु के सगठन पर बहुत बल दिया है। यह उसका प्रसिद्ध 'यूनिटी आफ ऐक्शन' का सिद्धान्त कहलाता है। इसके अनुसार नाटक का कथानक एक सम्पूर्ण इकाई होना चाहिये। उसमें भिन्नता एव अनेकरूपता भी हो सकती है, परन्तु कुल मिला कर उसके विभिन्न अग उनकी रचना में उस प्रकार अलकृत होने चाहिये कि उसका सम्पूर्ण प्रभाव नष्ट न हो। नाटक की विभिन्न घटनायें 'कार्य-कारण-क्रम' सूत्र में बँधी होनी चाहिये। नाटक का आरम्भ और अंत नाटकीय होना चाहिये। नाटक मे बाहरी घटनाओ (जैसे भूतादि) का समावेश भी किया जा सकता है किन्तु वे घटनाएँ नाटक के कारण-क्रम का अग बन जानी चाहिये। असम्बद्ध घटनाओ के सकलन से नाटक मे अनेक रचना-सम्बन्धी दोष आ जाते हैं। नाटक की समस्त घटनाओ एव उनके साथ-साथ चलने वाले नैतिक और आन्तरिक सघर्ष की गति एक ही ध्येय की ओर होनी चाहिये, और नाटक का अत उसके आरम्भ तथा विकास से इस प्रकार सम्बद्ध होना चाहिये कि अत तक पहुँचते-पहुँचते दर्शक की तन्मयता भग न हो।

यह सिद्धान्त बड़ा मार्मिक है। नाटक की घटनायें प्रत्यक्ष रूप से हमारे सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं और उसके पात्र इतने अधिक स्पष्ट और साकार होते हैं कि हम एकाग्रता के साथ उनके परिवर्तनशील भाग्य का दृश्य देखने मे तन्मय हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे हम अनर्गल, असंगत तथा अनपेक्षित घटनाओ को देखना नही चाहते। इस कला-दृष्टि से अरस्तू का यूनिटी आफ ऐक्शन का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

८ अरस्तू ने समय अथवा स्थान की अन्विति के विषय में कुछ नहीं कहा किन्तु यह विश्वास किया जाने लगा कि समय और स्थान की एकसूत्रता का विचार भी उसी ने दिया था। वास्तव में यूनानी नाटककार स्वय इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके घटनास्थल शीघ्रता के साथ न बदलें तथा नाटक में ऐसी घटनायें प्रदर्शित न की जाये जो अनेक वर्षों तक फैली हुई हो। जिस नाटक का उद्देश्य कुछ घटो के लिये जनता का मनोरजन करना था, उसमें ट्राय का दशवर्षीय युद्ध जिसमें अनेक महत्वपूर्ण घटनास्थल थे, नहीं दिखाया जा सकता था। वास्तव मे समय तथा स्थान की अन्वितियाँ भी नाटक के लिये आवश्यक हैं परन्तु रोमन और मध्ययुगीन आलोचकों ने जितना जोर इन पर दिया, उसके कारण इनकी सुन्दरता तो नष्ट हो गई, उल्टे नाटक-रचना में अनेक दोष आये जिसका प्रभाव नाटक की प्रगति पर बुरा पड़ा।

९. कामेडी के विषय में अरस्तू का मत है कि वह एक निम्न प्रकार की कला है क्योंकि उसमें निम्न-कोटि के पात्रो का चित्रण होता है और उसका

उद्देश्य केवल दर्शको को हँसाना होता है। इसके अतिरिक्त उसमें बनावटी चेहरे लगाये जाते हैं तथा अन्य प्रकार के प्रदर्शन किये जाते हैं जिनमें न कोई सुन्दरता होती है न कलात्मकता । ट्रेजडी के लेखक महान व्यक्ति होते हैं और समाज में आदर पाते हैं किन्तु कामेडी के लेखको के नाम भी कोई नही जानता और कुछ समय पहले तक तो कामेडी के प्रदर्शन की आज्ञा भी नही थी।

अरस्तू ने जब अपने नाटक-सिद्धान्त की रचना की, उस समय ट्रेजेडी के महान उदाहरण उसके सामने प्रस्तुत थे परन्तु कामेडी के क्षेत्र में उतनी उन्नति नहीं हुई थी। ऐरिस्टोफेन्स के अतिरिक्त अन्य कोई उच्च-कोटि का कामदीकार नही हुआ था। अरस्तू स्वय एक बहुत बडा दार्शनिक था। अत उसने यदि कामेडी के साथ अन्याय किया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

होरेस एव मध्य-युगीन प्रवृत्तियाँ

अरस्तू के लगभग ३०० वर्ष बाद रोमन कवि और आलोचक होरेस के अपनी पुस्तक 'दी ऐपिसल टू दी पीसोस' की रचना की। यह ग्रन्थ 'पोइटिक्स' के समान मौलिक एव चमत्कारपूर्ण नही है, परन्तु है बडा महत्त्वपूर्ण क्योकि इसने लगभग १२०० वर्ष तक यूरोप की नाटक-कला को प्रभावित किया।

होरेस के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

१. प्रत्येक नाटककार को परम्परा का पालन करना चाहिये। नायक का जो चित्र जनसाधारण के मस्तिष्क में है, उससे भिन्न चित्र नही बनाना चाहिये। यदि कोई नाटककार किसी पात्र को किसी नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना चाहता है, तो उसे वह दृष्टिकोण अन्त तक निभाना चाहिये। उदाहरणार्थ एकिलीज को फुर्तीला कामुक, निर्दय और बुद्धिमान दिखाना चाहिये। इसी प्रकार मीडिया को एक भयकर और अजेय नारी के रूप में प्रस्तुत करना चाहिये।

२ कुछ बातें मच पर नही दिखाई जानी चाहिये क्योकि उनसे वीभत्स वातावरण बनता है, और उससे दर्शक का मन ग्लानि और घृणा से भर जाता है। मीडिया को स्टेज पर अपने पुत्रों का वध नही करना चाहिये। दुष्ट ऐट्रियस को स्टेज पर मनुष्य का मास नही पकाना चाहिये। इसी प्रकार प्रोक्नी का पक्षी बनना एव कैडमस का सर्प बनना, यह ऐसी घटनाएँ हैं जो परदे के पीछे ही घटित होनी चाहिये।

३ नाटक पाँच अंको मे समाप्त हो जाना चाहिये। अक न इससे कम हो, न इससे अधिक।

४. जब तक अनिवार्य न हो, तब तक देवताओ को मंच पर नही आना चाहिये।

५. प्रत्येक नाटककार को अपने सामने यूनानी नाटको के नमूने रखने चाहिये।

होरेस के सिद्धान्तो में नाटककार की मौलिक प्रतिभा को कोई स्थान नही दिया गया। कदाचित् इसी कारण से अथवा अन्य कारणो से रोम में नाटक का उतना उत्कर्ष नही हो पाया जितना यूनान में हुआ था। समय के प्रवाह ने सैनेका के थोडे से ट्रैजिक नाटक और प्लाटस और टैरेंस के कामिक नाटक शेष छोडे हैं, और वे ही रोमन ड्रामा के प्रतिनिधि नाटक हैं।

पाँचवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक का एक हजार वर्ष का युग धार्मिक अन्धविश्वास, सघर्ष एव अशान्ति का युग है। यह सभ्यताओ के सघर्ष का युग है। पुरानी रोमन सत्ता को यहूदी क्राइस्ट के धर्म से लोहा लेना पड़ा। शताब्दियो तक रोम के राजाओ ने ईसाई धर्म का दमन किया, किन्तु वे अपने प्रयत्नो में सफल न हो सके। पुराने धर्मों की जडे खोखली हो चुकी थी। लोगो को उनसे आध्यात्मिक सतोष नही प्राप्त होता था। इधर ईसाई धर्म उन्हे शान्ति और अहिंसा का सदेश देता था और ईसाई शहीद हँसते-हँसते अपने धर्म के लिये अपना बलिदान दे देते थे। छठी शताब्दी तक यूरोप के सभी देश ईसाई धर्म को स्वीकार कर चुके थे और रोमन कैथोलिक धर्म की विजय-पताका यूरोप की प्रत्येक राजधानी मे फहराने लगी थी। धर्मान्धता के प्रारम्भिक दिनो में नाटक का बडा निरादर हुआ। नाटक को चर्च से टक्कर लेनी पड़ी और नगरो से नाटक का बहिष्कार हो गया। अब नाटक खेलने वालो की घुमक्कड़ कम्पनियाँ बन गई जो एक ग्राम से दूसरे ग्राम तथा एक नगर से दूसरे नगर भ्रमण करती थी। इन कम्पनियो की सफलता से घबरा कर चर्च ने जनता को आकर्षित करने के लिये अपने यहाँ भी धार्मिक नाटकों की आज्ञा दे दी जिससे नाटक के विकास में बडी सहायता मिली।

शेक्सपियर

सोलहवी शताब्दी में रिनेसाँ यानी ज्ञान का पुनरुत्थान हुआ। इस युग में लोग पुरानी विद्या की खोज में लग गये। यूनान और रोम के नाटको का प्रत्येक देशी भाषा मे अनुवाद किया गया और वे सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत किये गये। देशी भाषाओ के प्रचलन के साथ-साथ मौलिक नाटक रचना भी आरम्भ हुई। सोल-

४. शेक्सपियर ने 'ड्रैमेटिक आयरनी' का भी प्रयोग किया है किन्तु ऐसा केवल नाटक को सबल बनाने के लिये किया गया है। शेक्सपियर का आन्तरिक विश्वास इसमें नही हो सकता था। 'ड्रैमेटिक आयरनी' का अर्थ है "पूर्वाभास", और इसके पीछे यूनानियो का यह विश्वास निहित है कि देवता मानव-जीवन का निर्णय पहिले से कर देते हैं और मनुष्य का वही अन्त होता है जो वे निश्चित करते हैं किन्तु कुछ घटनाओं द्वारा उसे यह बात भासित हो जाती है। 'ओथैलो' नाटक में जिस रात को डैस्डैमोना का वध होता है, वह अपनी परिचारिका से कहती है 'मेरी आँखें खुजला रही हैं, क्या मुझे रोना पड़ेगा ?' वह नहीं जानती, किन्तु दर्शक जानते हैं कि उसका अन्त समीप है और उसे रोना ही पड़ेगा। इसी प्रकार जूलियस सीज़र के वध से पहले रात को रोम मे भयकर उत्पात होते हैं। उसी रात को सीज़र की पत्नी कैल्पुर्निया तीन बार सोते-सोते चिल्ला उठती है 'दौड़ो, चलो, वे सीज़र का वध कर रहे हैं।'

५ शेक्सपियर के नायको में 'नायकोचित' महानता भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। हम हैमलेट की साधुता और ईमानदारी देख कर उसके प्रति श्रद्धा से भर जाते हैं। हम जानते हैं कि यह व्यक्ति प्राण दे देगा, किन्तु कभी किसी को धोखा नही देगा। जब हम उसे विकट परिस्थितियों से जूझते हुए देखते हैं तो हम उसकी महानता के सम्मुख नत-मस्तक हो जाते हैं। ऐसा ही यूनानी-नाटको में भी है। ओरेस्टीज़, ईडीपस, प्रोमिथियस—ये सब महान व्यक्ति हैं। यद्यपि इन नायकों के कर्म अत्यन्त जघन्य तथा क्रूर होते हैं, फिर भी इनकी महानता का चित्र इस प्रकार हमारे मस्तिष्क पर अकित हो जाता है कि हमें इनसे सहानुभूति हो जाती है और उनके पतन से हमे विशेष दुख होता है। अरस्तू के मतानुसार नायक अनजाने अपराध के कारण भी दुख भोगता है जैसा ईडीपस की कथा से विदित है। किन्तु शेक्सपियर इसे स्वीकार नही करता। उसके नायक तो अपने चरित्र-दोष के कारण ही दुख उठाते हैं। इससे उनके सघर्ष का दृश्य अत्यन्त करुण एव हृदयग्राही होता है।

ट्रैजिक आनन्द

ट्रैजिक आनन्द के विषय में शोपेनहर का मत है कि मानव-जीवन एक दुख-भरी कहानी है। बुद्धिमान व्यक्ति मृत्यु से पहिले ही शान्ति प्राप्त करते हैं और जीवन के नश्वर आनन्द का परित्याग कर देते हैं। ट्रैजडी में जीवन के गम्भीर एव दुखमय पक्ष का दिग्दर्शन होता है, और ट्रैजडी देख कर लोग जीवन की हीनता और तुच्छता का अनुभव करने लगते हैं। जब हम मनुष्यो का आपस में एव अज्ञात शक्तियो के साथ सघर्ष देखते हैं, तो हम अवाक् रह जाते हैं और मानव-जीवन से हमें विरक्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में हम परम शान्ति और आनन्द का अनुभव करते हैं।

लूकस का विचार है कि ट्रैजेडी हमारे सम्मुख अनुभवों की 'दावत' प्रस्तुत करती है और हमें मानव-जीवन के कठिनतम क्षणों के अवलोकन का अवसर प्रदान करती है। ट्रेजडी को देखकर हम कह उठते हैं—मानव भी कितना विचित्र है !' लूकस की परिभाषा अपूर्ण है क्योंकि विस्मय के साथ-साथ ट्रेजडी में हमें मानव के प्रयत्नों की हीनता का भी अनुभव होता है।

शेली का विश्वास है कि दुख और सुख बहिनें हैं और दुख को देखकर हमें सुख की अनुभूति होती है।

कुछ आलोचकों का मत है कि ट्रेजडी देखकर हमारे हृदय में स्वयं अपने प्रति करुणा का उदय होता है। रंगमच पर नाटककार के मस्तिष्क द्वारा निर्मित पात्रों से हम एकाकारिता स्थापित कर लेते हैं, किन्तु हम यह जानते हैं कि यह पात्र सचमुच के नहीं हैं और इनका दुख भी वास्तविक नहीं है। हम जानते हैं कि जिस पात्र ने अपने हृदय में तलवार भोंक कर अपनी हत्या की है, उसे वास्तव में कोई चोट नहीं लगी। यदि दुर्घटनावश उस पात्र के शरीर में तलवार से कोई सचमुच का घाव लग जाये, और हमें इस बात का पता चल जाये, तो हमारा आनन्द कम हो जायेगा, रस में विघ्न पड़ जायेगा। हम जानते हैं कि ये रंगमच पर जो नाटक हो रहा है वह जीवन की कलात्मक अनुकृति है और उसे नाटककार से पृथक् नहीं किया जा सकता हम कलाकार की प्रतिभा की प्रशंसा करते हैं और ट्रेजडी से भी आनन्द प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त हम यह भी अनुभव करते हैं कि हम उस समय उन पात्रों से अच्छी स्थिति में हैं और उनके दुख-सुख की आलोचना कर सकते हैं।

मोलियर

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में कामेडी की आश्चर्यजनक उन्नति हुई। कामेडी द्वारा लेखक समाज अथवा व्यक्ति के किसी दोष को हास्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है। कामेडी और ट्रेजडी में दृष्टिकोण का अन्तर है। होरेस वालपोल ने कहा कि जो आदमी सोचता है, जीवन उसके लिये कामेडी है, जो अनुभव करता है, जीवन उसके लिये ट्रेजडी है, जो आदमी बौद्धिक उदासीनता के साथ जीवन का नाटक देखता है उसे मानव-जीवन व्यंग्यपूर्ण तथा असंगत कथा के समान प्रतीत होता है। वह जीवन को 'मूर्खों का त्योहार' समझ कर उसे हास्य-विनोद की सामग्री मात्र समझता है।

बर्गसाँ का विचार है कि (१) हँसी आलोचनात्मक एवं सुधारात्मक होती है और (२) हँसी भावना के साथ विद्यमान नहीं रह सकती, क्योंकि यदि हमें किसी व्यक्ति से मोह होगा तो उसकी मूर्खताओं पर हम हँस नहीं सकते। कामेडी

की इस परिभाषा का सब से सुन्दर उदाहरण हमें मोलियर के नाटको में मिलता है। उसने समाज के ढोग तथा दुर्बलताओ का सजीव किन्तु निर्दय चित्रण किया है। उसने अपने नाटको में चर्च के पुजारियो तक का उपहास किया जिसका परिणाम यह हुआ कि जब उसकी मृत्यु हुई तो उसे बिना धार्मिक प्रार्थना के ही क़ब्र में दफनाया गया। परन्तु मोलियर जीवन भर समाज के शत्रुओ से युद्ध करता रहा।

अरस्तू ने कामेडी को निम्न-कोटि की कला बतलाया था। मोलियर ने अपनी पूरी शक्ति से इस सिद्धान्त का खडन किया। अपने नाटक 'स्कूल फॉर वाइव्ज़ क्रिटिसाइज्ड' के पात्र डोरेन्टीज़ के मुख से मोलियर ने कहलवाया 'कि स्टेज पर ऊँची-ऊंची भावताओ को शब्दो द्वारा व्यक्त करना सरल है, और यह भी सरल है कि अभिनेता काव्य में भाग्य को चुनौती दे, देवताओ पर दोष लगाये, और सृष्टि में मानव की करुण स्थिति का चित्रण करे किन्तु यह कठिन है कि हम मनुष्य के छोटे-छोटे कार्यों में हास्य का तत्त्व देखें और मानव की दुर्बलताओ को स्टेज पर इस प्रकार प्रदर्शित करें कि दर्शक को क्रोध न आकर हँसी आये। जब ट्रेजिक नाटककार एक महान नायक की रचना करता है तो वह उसका चित्र अपनी कल्पना के सहारे बनाता है, किन्तु कामिक नाटककार को अपने निकट समाज में रहने वाले व्यक्तियो का ही चित्र उतारना पडता है। अत उसका कार्य ट्रेजिक नाटककार के कार्य से अधिक कठिन है। यदि उसका कंजूस नायक उस कजूस व्यक्ति के समान नही है जो सचमुच समाज में रहता है और यदि दर्शक दोनो में समानता नही देख पाते तो उनका कामिक आनन्द कम हो जायेगा। कामिक लेखक को हास्यपूर्ण होना चाहिये, क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले हज़ारों दर्शकों को हँसाना साधारण बात नहीं है। और हँसाने की यह कला किसी प्रकार भी ट्रेजिक नाटक-कला से निम्न-कोटि की नहीं है ... कला के नियम प्रत्येक कलाकार को स्वय बनाने पडते हैं बिना अरस्तू और होरेस की सहायता के भी कलाकार सुन्दर कला की रचना कर सकता है। मैं जानना चाहूँगा कि रगशाला में दर्शकों को प्रसन्न करना क्या सबसे महान कला नहीं है? और क्या वह नाटक जो पूर्ण रूप से दर्शको का मनोरजन करता है, पूर्णतः सफल नाटक नही है? आप यह कहना चाहते हैं कि जनता जो अरस्तू और होरेस को नहीं जानती, मूर्ख है, और स्वय निर्णय नही कर सकती कि उसे किस वस्तु से आनन्द की उपलब्धि होती है?

'साराश यह है कि यदि हम नियमो का पालन करके जनता का मनोरजन नही कर सकते तो हमारे नियम ग़लत हैं।'

इब्सन

उन्नीसवीं शताब्दी में टी० डब्ल्यू० राबर्टसन तथा आर्थर विंग पिनरो के प्रयत्न से आधुनिक नाटक का जन्म हुआ। किन्तु इन व्यक्तियों से अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व नार्वे के नाटककार इब्सन का था। इब्सन के नाटक 'गुडिया का घर', 'भूत', 'हैडा गैब्लर', 'समाज के स्तम्भ,' 'जनता का शत्रु' इत्यादि जब रंगमंच पर आये तो लोगों ने उनमें एक नये व्यंग्य, एक नई शक्ति का अनुभव किया। स्त्रियों की मुक्ति, युवकों की स्वतन्त्रता आदि अनेक नए विचार लोगों को उसके नाटकों में मिले। किंतु इन नवीन विचारों का प्रतिपादन मात्र ही इब्सन का ध्येय नहीं था। इब्सन ने समस्या नाटक अथवा गृह-सम्बन्धी नाटक अवश्य लिखे, किन्तु कलाकार होने के नाते, वह जैसा शॉ ने कहा था, 'दार्शनिक समस्याओं में दिलचस्पी नहीं रखता था।' उसे अपने विचार नाटक के साँचे में ढालने थे, अतः वह अपने माध्यम की दुर्बलताओं से भी सीमित था। इब्सन यथार्थवादी नाटक का जन्मदाता था, किन्तु इस यथार्थवादी नाटक की जड़ें शेक्सपियर के रोमैन्टिक नाटक तक पहुँचती थीं। समय बदल चुका था, शेक्सपियर के नाटक का पतन हो चुका था, और इब्सन के लिये नये यथार्थवादी नाटक का मार्ग प्रशस्त था। किन्तु इस नये नाटक में "कार्य" अर्थात् ऐक्शन एवं पात्र पर अत्यधिक जोर दिया गया था जिससे नाटक की रचना में एक प्रकार का भोंडापन आ गया जो आगे चलकर इस प्रकार के नाटक के पतन का हेतु बना। इब्सन ने स्वयं इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया। प्रत्येक नाटक में उसने एक नये रूप की रचना की। चूँकि इब्सन को कोई माडेल तैयार नहीं मिले थे, इसलिये उसका प्रयास इस कलात्मक क्षेत्र में भी प्रशंसनीय है। इब्सन को शेक्सपियर अथवा सोफोक्लीज का स्थान तो नहीं दिया जा सकता, किन्तु उसने आधुनिक युग में नाटक-कला की नई चेतना को जन्म दिया, इसमें कोई सन्देह नहीं।

चैखव

अपने नाटक 'सी-गल' में चैखव ने एक स्थान पर कहा है—'आज का रंगमंच केवल दैनिक कार्यक्रम एवं पक्षपातपूर्ण विचारों का माध्यम रह गया है। पर्दा ऊपर उठता है और इस पवित्र कला के पुजारी बिजली की रोशनी में सामने आते हैं। वे तीन दीवारों याने कमरे में बैठ कर यह प्रदर्शित करते हैं कि मनुष्य किस प्रकार खाते हैं, पीते हैं, प्रेम करते हैं, जाकेट पहिनते हैं, इत्यादि। इस प्रदर्शन से एक सस्ती शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है। जब बार-बार मेरे सामने यह चीज प्रस्तुत की जाती है तो मैं दूर भाग जाना चाहता हूँ। आधुनिक युग में नया फॉरमूला चाहिये जो हमारी

नई आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके।' और रूस के कलाकार चैखव ने इस नये सिद्धान्त को ढूँढने का प्रयास किया।

चैखव इब्सन का भक्त था। वह सर्वसाधारण के दैनिक जीवन का चित्रण करना चाहता था किन्तु समाज के दैनिक जीवन में उसे नैराश्य, धोखा, निर्दयता तथा हीनता ही दृष्टिगोचर होती थी। इसके अतिरिक्त यथार्थवादी कलाकार होते हुए उसे लोगो को खाना खाते हुये, सिगरेट पीते हुये एव साधारण बातचीत करते हुये दिखाना पडता था, यद्यपि वह इन साधारण व्यापारो में भी मानव-जीवन के गहरे तत्त्व दर्शाने की चेष्टा करता था। चैखव ने नाटक की रूप-रचना बडे सुन्दर ढग से की। रूस में प्रतीकात्मक एव प्रगतिशील नाटक को जन्म देने और परिपुष्ट करने का श्रेय उसे दिया जा सकता है।

बर्नार्ड शॉ और आधुनिक प्रवृत्तियाँ

आधुनिक काल में यूरोप के सभी देशो में नई प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। इब्सन ने यह सिखाया था कि यदि नाटक अपनी आन्तरिक शक्ति पर जीवित रहना चाहता है तो उसे मनुष्य की भावनाओ का प्रतिनिधित्व करना चाहिये और उन बातों का चित्रण करना चाहिये जो जनसाधारण के निकट हैं। इसका पहला प्रभाव यह हुआ नाटककार निम्नवर्ग के लोगो का चित्रण करने लगे। मिल के मजदूर को भी ट्रेजिक हीरो बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस चित्रण में जीवन की जटिल समस्यायें भी प्रस्तुत की जाने लगी। नाटककारो के विचार क्रातिकारी थे। उन्होंने नाटक की पुरानी साहित्यिक रूपरेखा को, सामाजिक शील और शिष्टता को, एव प्रचलित नैतिकता को ठुकरा दिया। माता-पिता का अधिकार, रोमाटिक प्रेम, पूँजीवाद इत्यादि पुरानी परिपाटियों में उन्हें अनेक दोष दिखाई दिये। शोपेनहर और फ्रायड ने सेक्स का अध्ययन किया, जिससे स्त्री-पुरुषो के सम्बन्ध नये रूप में लोगों के सम्मुख प्रस्तुत किये गये। नाटककारो ने नगरो की बाहरी चमक-दमक के पीछे छिपे हुये दुःख और दारिद्र्य को देखा और आधुनिक सभ्यता से भयभीत होकर मानव-कल्याण के स्वप्न देखने लगे।

आधुनिक नाटक समस्या-नाटक होते हैं अत उनमें मानव के आन्तरिक सघर्ष पर अधिक बल दिया जाता है। मनोविज्ञान के नये अनुसन्धानो द्वारा इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला इसके कारण अनेक नाटककार रहस्यवादी और प्रतीकवादी बन गये। इसी प्रवृत्ति के कारण अनेक नाटकों में नायक का स्थान साधारण पुरुषो के रूप में अदृश्य शक्तियो ने ले लिया। आयर्लैण्ड में भी थ्येटर का पुनरुत्थान

हुआ। डब्लू० बी० ईट्स, जिन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का साहित्यिक परिचय यूरोप में कराया था, इस प्रगति के प्रवर्तक थे। उन्होने पुराने आयर्लैण्ड की परियो की कथाओ एव अन्धविश्वासो को फिर से जीवित किया। इधर लदन में मिस हार्नीमैन के प्रयत्नो से रैपर्टरी थ्येटर की नीव पडी। इनके मूल सिद्धान्त ये थे .

१. अभिनेता को सक्रिय रूप से नाटक की आत्मा का अङ्ग बन जाना चाहिए।

२. इस थ्येटर में कोई 'स्टार ऐक्टर' नही होता था। जो हैमलेट का पार्ट कर रहा है, सम्भव है कल वह एक साधारण व्यक्ति का पार्ट करे। प्रत्येक अभिनेता को अपनी योग्यता दिखाने का अवसर दिया जाता था।

३ इस थ्येटर में सीन बनाने वाले, पर्दे चित्रित करने वाले, वेश-विन्यास रचने वाले, रोशनी का प्रबन्ध करने वाले, इन सब की अलग-अलग आवश्यकता नही पडती थी। अभिनेता ही यह सब काम मिल-बाँट कर कर लेते थे।

४. इसमें दर्शको की भीड से अधिक नाटक की कला पर ज़ोर दिया जाता था। इसका ध्येय व्यापार नही, कला-सेवा था।

आधुनिक नाटक की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं—यथार्थवाद एव पुराने काव्यात्मक नाटक का पुनरुत्थान। इस युग के प्रमुख आलोचना-ग्रन्थकारों मे जर्मन हैटनर और फ्रांस के सार्सी का नाम बहुत प्रसिद्ध है। हैटनर ने स्क्राइब के षड्यन्त्र-नाटक का विरोध किया और नाटक मे 'गम्भीर सदेश' की स्थापना की सार्सी ने नाटक को शुद्ध कला के क्षेत्र से निकाल कर उसे जन-साधारण से सम्बद्ध कर दिया। उसने कहा कि बिना दर्शको के हम नाटक की कल्पना भी नही कर सकते। नाटक उपन्यास अथवा कविता के समान आराम-कुर्सी पर एकान्त में बैठ कर पढा नही जा सकता। अभिनेता और दर्शक—ये दो नाटक के अनिवार्य अंग हैं। स्ट्राइडबर्ग ने पुराने रोमैंटिक नाटक पर धावा बोल दिया और अपने लेखो द्वारा अभिव्यञ्जनावाद के प्रचार में सहायता की।

आधुनिक नाटक-कला के विकास मे सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बर्नार्ड शॉ का है। शॉ इब्सन का शिष्य था। उसमे प्रखर बौद्धिक शक्ति थी, जिसके साथ उसने अपनी अजस्र प्रवाहिनी कल्पना का समन्वय किया और आधुनिक युग के महान् नाटको की रचना की। लोग शॉ की उक्तियो को हास्यपूर्ण समझ कर उनकी उपेक्षा करते थे किन्तु उनमे जीवन के गहरे तत्त्व छिपे रहते थे। शॉ ने कहा था, 'मेरा ढंग यह है कि मैं अत्यधिक परिश्रम करके उचित बात मालूम कर लेता हूँ और फिर उसको हँसी में कह देता हूँ किन्तु सबसे अधिक हँसी की बात यह है कि मैं यह हँसी की बात गम्भीर

हो कर कहता हूँ।' शॉ ने जान-बूझ कर अपने आपको विदूषक बना लिया और हँसी और व्यग्य के शस्त्रों द्वारा बुरे मकान, बुरी शिक्षा, मजदूरों की कठिनाइयाँ, समाज में प्रचलित भ्रष्टाचार इत्यादि दोषो पर आक्रमण कर दिया। शॉ के हृदय में समाज-सुधार की चिनगारी प्रज्वलित थी और उसे वाणी का वरदान प्राप्त था। इब्सन ने नाटक-रचना में जो नवीन अनुभव किये थे, उनसे वह बहुत प्रभावित हुआ था। इब्सन के समान वह भी आदर्शों और आदर्शवादियो के विरुद्ध था। वह जनता को 'अच्छे' आदर्शों की गुलामी से मुक्त करना चाहता था। उसने अपने 'मैन एड सुपरमैन' नामक नाटक में सर्वप्रथम 'जीवन-बल' अर्थात् 'लाइफ फोर्स' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो वास्तव में ईश्वर का ही वैज्ञानिक दार्शनिक नाम था। टैगोर के जीवन-देवता के समान शॉ का 'जीवन-बल' भी अनत शक्ति रखता है और शॉ का विश्वास है कि इसी जीवन-वल द्वारा मनुष्य का कल्याण सम्भव हो सकता है,

शॉ ने नाटक को आज के वहुमुखी एव पेचीदा जीवन का प्रतिनिधि वनाया है। उसने अपने नाटको में यूनानी नाटककारो के रचना-कौशल एव शेक्सपियर की कोमल कल्पना का समन्वय करके यूरोप की नाटक-कला को बहुत ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित किया है। उसके नाटको में वार्तालाप का अपूर्व चमत्कार पाया जाता है। लन्दन के थ्येटर में जिस दिन उसके नाटक 'सेंट जोन' का प्रदर्शन हुआ, उस दिन जनता अवाक्, विस्मित और हतप्रभ हो कर उसके पात्रो का वार्तालाप सुनती रही। इसके अतिरिक्त शॉ ने नाटक का रगमच से भी गहरा सम्वन्ध स्थापित किया है। नाटक-कला के सिद्धान्तो के विकास में रगमच की प्रगति आधुनिक युग की विशेष देन है। रगमच जातियो के सामूहिक जीवन में आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जितना वह डायोनिसस के पूजन के युग में रखता था। अरस्तू से लेकर शॉ तक सभी विचारको ने इस तत्त्व को स्वीकार किया है।



पाश्चात्य नाटकों में चरित्र-चित्रण

—डा० लीलाधर गुप्त और श्री जयकान्त मिश्र

जीवन के अनुभवो से प्रभावित होकर प्रत्येक कलाकार अपने दृष्टिकोण को कलाकृतियो के द्वारा प्रकट करने एव सहृदय पाठक, द्रष्टा या श्रोता तक पहुँचाने की चेष्टा करता है। यही दृष्टिकोण उस कलाकार का सत्य है, उसके जीवन की खोज है, उसका जीवन-तत्त्व से साक्षात्कार है और उसका ज्ञान है।

इसी जीवन-तत्त्व को वह कभी आत्मिक रीति से, कभी आत्मिक-अनात्मिक मिश्रित रीति से और कभी अनात्मिक रीति से 'निवेदित' (कम्यूनिकेट) करता है। शुद्ध और मिश्रित अनात्मिक रीति से 'निवेदन' करने की साहित्यिक प्रणालियो में नाटक, उपन्यास और महाकाव्य मुख्य हैं। इनमें कथानक के सहारे चरित्रो का चित्रण करके ही कलाकार अपने दृष्टिकोण को साकार तथा मूर्तिमान करता है।

इन तीनो में नाट्य-साहित्य चरित्र-चित्रण को सबसे अधिक महत्त्व देता है क्योंकि दूसरो का काम तो कथा-विस्तार, वर्णन-सौष्ठव और विवेचना के सहारे भी होता है, नाटक का कुल कार्य पात्रो और अभिनयो द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त नाटक को पात्रो द्वारा अभिनय कराने (अथवा कम से कम अभिनय की कल्पना करने) की अत्यन्त आवश्यकता होती है। जो कुछ कहना होता है उसे कलाकार पात्रो के चरित्र और उसके विकास द्वारा ही व्यक्त कर सकता है।

इसलिए पात्रो का अध्ययन और उनके चरित्र-चित्रण की कुशलता नाटककार का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण होता है। यूनान के महान् विद्वान् अरस्तू ने अपनी नाट्य-विवेचना में कथानक को चरित्र-चित्रण से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। किन्तु आधुनिक सभी नाट्य-शास्त्रविद् कहते हैं कि यह विचारधारा कम से कम नाटको की दृष्टि से सगत नही है। कलाकार की जीवनानुभूति तथा उसके देश और काल की परम्परा के अनुसार कभी चरित्र और कभी कथानक प्रमुख होता है। प्राचीन यूनान और मध्ययुगीय फ्रास के नाटककार समष्टि को इतना महत्त्व देते थे कि उन्हें कथानक को अधिक आवश्यक मानना पड़ता था। उनके विपरीत अग्रेज नाटककार साधारणत: चरित्र को हमेशा अधिक महत्त्व देते रहे हैं। उनके कथानक सन्तुलित, समन्वित या कटे-छंटे नहीं होते किन्तु उनके चरित्रो का उत्थान और पतन, सघर्ष और

समन्वय अधिक जटिलता और कुशलतापूर्वक सम्पादित होता है। यहाँ तक कि वैनब्रा (Vanbrugh) नामक अठारहवी शताब्दी के अंग्रेज नाटककार ने अरस्तू के बिलकुल प्रतिकूल सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहा है कि नाटको में चरित्र का स्थान, मनोरजन और दार्शनिक सूझ की दृष्टियो से कथानक से कही अधिक ऊँचा है। वास्तव में विश्व के नाट्य-साहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यही जान पडता है कि 'बाह्य-चरित्र' से 'अन्तश्चरित्र' की ओर, 'कथानक' से 'चरित्र-चित्रण' की ओर प्रगति हो रही है।

बात यह है कि कथानक, चरित्र-चित्रण, कथनोपकथन-शैली और (मानसिक या वास्तविक) अभिनय—सभी मिलकर नाटक रूपी कलाकृति का सृजन करते हैं। हाँ, विशिष्टता की दृष्टि से किसी धारणा व परिस्थिति-विशेष में अथवा परम्परा-विशेष में कभी यह, कभी वह अधिक महत्त्वपूर्ण होता है—अन्य अवशिष्ट वस्तुएँ उसी की सहायता करते हुए, सम्पूर्ण कलाकृति को सफल बनाते हुए,' नाटककार के जीवन-रहस्य सम्बन्धी दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। उदाहरणार्थ 'यदि हम एण्टनी और क्लियोपेट्रा की कहानी लें, तो देखेंगे कि शेक्सपियर, ड्राइडन और शॉ ने उसी कहानी को किस भाँति अपने-अपने दृष्टिकोणो को प्रकट करने का साधन बनाया है। शेक्सपियर ने जो चरित्र-चित्रण किया है उससे कितना भिन्न चरित्र-चित्रण दूसरों ने किया है, और कैसे वही कथा-वस्तु उनके विभिन्न जीवन के दृष्टिकोणो को प्रकट करती है—शेक्सपियर के पात्र अदम्य एव महान् भावनाओं के प्रतीक हैं, ड्राइडन के पात्र कर्त्तव्य और प्रेम के द्वंध आदर्शों के बीच पिस रहे हैं और शॉ के पात्र विचार-गाम्भीर्य से दबे जाते हैं। यदि कथानक ही महत्त्वपूर्व है तो शेक्सपियर और उसके पूर्ववर्ती नाटककार एक ही कथानक पर, एक ही दृष्टिकोण से क्यो सफल और असफल हुए हैं? भाषा और शैली की विशेषताओ से अधिक चरित्र-चित्रण की विशेषता ही निश्चयपूर्वक शेक्सपियर की सफलता का कारण है। कथानक का विशेष आकर्षण आजकल के नाटकों में कम होता जा रहा है—उसका महत्त्व जासूसी, रोमाचकारी ('मेलोड्रामा') प्रभृति-कलाकृतियों मात्र में सीमित रह गया है। आज के कतिपय नाटको (जैसे मेटरलिंक के नाटकों) का आकर्षण मनुष्य की अन्तरात्मा और मनोभावो मात्र की व्याख्या की ओर अधिक है उनमें कार्य (action) अत्यन्त कम या नाटक प्रारम्भ होने के पूर्व समाप्त हुआ रहता है। ये स्थैतिक नाटक कहलाते हैं (स्टैटिक ड्रामा)।

पाश्चात्य नाटको के पात्रो का प्राच्य नाटकों जैसा ही वर्गीकरण किया जा सकता है—नायक, नायिका, दुष्ट, विदूषक प्रभृति। कुछ पात्र ऐसे हैं जो परम्परा-

भेद के कारण बहुत भिन्न दीख पड़ते हैं। जैसे, 'कोरस' (chorus) का काम 'सूत्र-धार-नटी' की तरह नाटक का आयोजन करना, नाटक का स्वागत करके उसका उद्देश्य बताना है; किन्तु दोनों के विकास और नाटकीय योजना में आकाश-पाताल का अन्तर है। सूत्रधार का कार्य नाटक के कथानक से एकदम पृथक् होता है, उसका महत्त्व नाटक के विकास में किंचित् भी नहीं होता है। इनके विपरीत 'कोरस' प्राचीन-काल के पूरे नाटक में रहता था और टिप्पणी करता हुआ कथानक के कार्य में कुछ-कुछ भाग भी लेता था। आधुनिक काल में 'कोरस' का उपयोग लुप्त-प्राय हो गया है। किन्तु उसकी तटस्थता, नाटक विशेष का लक्ष्य और नाट्य गत चरित्रादिक रहस्यों का स्पष्टीकरण तथा निष्पक्ष विचार करने का उपयोग—भीड़ के दृश्यों से, मुख्य पात्रातिरिक्त जन-साधारण के निरपेक्ष पात्रों के दृष्टिकोण से, किसी बुद्धिमान पात्र की दूरदर्शिता से, तथा किसी चिह्न या प्रतीक (symbol) के द्वारा किया जाता है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से दीख पड़ेगा कि जीवन-तत्त्व का जो रूप नायक के चरित्र द्वारा व्यक्त होता है वही सम्पूर्ण नाटक का जीवन-दर्शन होता है—अन्य पात्र गौण होते हैं अथवा उसी जीवन-तत्त्व की पुष्टि करते हैं। नाटकों में बहुत से गौण पात्र इस कारण भी रखे जाते हैं कि नायक का चरित्र उनकी पृष्ठभूमि में और अधिक स्पष्ट और विकसित हो। इसी कारण कुछ पात्र स्थैतिक (static or flat) हो जाते हैं और कुछ गत्यात्मक (dynamic or round)। किन्तु पात्र कैसे भी हों, उनका महत्त्व, नायक के चरित्र की पृष्ठभूमि होने में ही अधिक होता है। 'हास्य'-प्रधान (कामेडी) नाटकों अथवा नायक-विहीन 'करुण' नाटकों में ऐसा नहीं होता है। किन्तु 'करुणा' प्रधान नाटकों में नायक ही प्रधान होते हैं। वहाँ छोटे-छोटे पात्र भी कभी-कभी स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं।

पात्रों को कहाँ तक वास्तविक मनुष्य-जगत के निकट होना चाहिए—इस विषय पर बहुत मतभेद रहा है। कुछ लोगों के मतानुसार उन्हें उनके वर्गानुरूप ही कल्पित करना चाहिए। ऐसा सिद्धान्त अरस्तू का भी है। वे नाट्य-साहित्य को जीवन का अनुकरण करने वाला साहित्य मानते थे, किन्तु वर्गीकरण की भावना का होना जीवन के अनुभव से सर्वथा विरुद्ध होता है। कुछ पात्र ऐसे होते हैं जो किसी वर्ग-विशेष के हो ही नहीं सकते हैं—वे सर्व-साधारण मनुष्यता मात्र के गुणों से सम्पन्न देख पड़ते हैं—और कुछ पात्र ऐसे होते हैं जो अलौकिक गुणों से भरे हुए देख पड़ते हैं और कवि-कर्तृक जीवन-रहस्य को उद्घाटित या सूचित करने में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से कभी-कभी पात्र अपने माननीय चरित्र के अतिरिक्त किसी भाव या जीवन-तत्त्व के दृष्टान्त या सूचक मात्र देख पड़ते हैं। यदि वे पात्र केवल नाय-

मूलक ही हो और वास्तविक जगत से एकदम दूर हो तो उनमें विश्वास करना कठिन हो जाता है और वे अनुभव की तीव्रता को नष्ट कर देते हैं। जब यथार्थवाद का उदय हुआ तब पात्रो के चित्रण में पहले यथार्थता को लाने की अधिक से अधिक चेष्टा की गई। किन्तु देखा गया कि यथार्थ के अत्यन्त निकट आने पर यथार्थता एक दोष हो जाती है और नीरस नाटकों का निर्माण कराती है। क्रमश अन्य वादो ने—व्यजनावाद और प्रतीकवाद ने—यथार्थ को उचित अनुपात में रखते हुए भावना, विचार, मत अथवा वर्ग विशेष के प्रतीक के रूप में ही चरित्र का चित्रण करने का प्रचार किया है। अन्योक्तिमूलक (allegorical) उपदेश सिखाने वाले धार्मिक पात्रो के बाद यथार्थ पात्रो का प्रचार हुआ और आज पुन यथार्थ पात्रो के बाद प्रतीकवादी या छायावादी पात्रो का आना पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में अत्यन्त ही मनोरजक और सहज ही समझे जाने योग्य घटना है। उपसहार में हम इतना अवश्य कहेगे कि पात्रो को अत्यन्त यथार्थ बनायें या नही, वर्गानुरूप रहने दें या नही, किन्तु पहचानने और मूर्तिमान करने योग्य, जीते-जागते, यथासम्भव व्यक्तित्व-युक्त बनाना आवश्यक है।

पाश्चात्य नाटकों की चरित्र-चित्रण कला में तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं एक तो स्वगत अथवा आत्मगत भाषण दूसरी रगमच-निर्देश का चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उपयोग और तीसरी वातावरण का सन्निवेश।

स्वगत की परम्परा प्राच्य नाट्य-साहित्य—विशेषकर भारतवर्ष के नाट्य-साहित्य—में भी रही है। किन्तु जितना अधिक और जितने प्रकार से पाश्चात्य नाटककार उसका प्रयोग करते आये हैं हमारे यहाँ उसका उतना महत्त्व नही रहा है। शेक्सपियर के नाटकों में तो चरित्र-चित्रण का, चरित्र को जीवन के सक्रान्ति-काल में रखकर देखने का, मानव-अन्त करण की विभिन्न धाराओ से क्षणभर में परिचय प्राप्त करने का, जीवन की विषमताओं और रहस्यो को समझाने का अनुपम साधन स्वगत भाषण ही है। आधुनिक नाटककार इस साधन का उपयोग कम और परिवर्तित रूप में करते हैं क्योकि वे इसको स्वाभाविकता से बहुत दूर मानते हैं। उनके अनुसार करुणा-प्रधान नाटक में ही इसका उपयोग चरित्र-चित्रण के लिए सम्भव है।[1]

रगमच-निर्देश का आजकल अत्यधिक उपयोग होने लगा है। इसका कारण यथार्थवाद का प्रभाव है क्योकि इनके द्वारा यथार्थ चरित्र और जीवन को लाने का अधिक से अधिक प्रयत्न हो सकता है। इस तरह यह चरित्र-चित्रण का भी साधन हो गया है। पूर्व में भी पात्र के हँसने से, तमक कर बोलने से, चरित्र का स्पष्टीकरण

---

१. देखिए—आर्थर सीवेल : कैरेक्टर एण्ड सोसाइटी इन शेक्सपियर, पृ० ८१

हुआ करता था किन्तु आजकल तो पात्र को जितना स्पष्ट और साकार हो सके खड़ा करने का—कम से कम कल्पना-जगत में—प्रयत्न होता है। यह साधन नाटकों में उपन्यासकार और महाकाव्यकार की चरित्र-चित्रण की रीति के अनुकरण का-सा प्रयत्न है। इस साधन की विशेषता चरित्र को बाहर से सजीव, यथार्थ और मूर्तिमान करने में है।

अन्तरंग परिचय और विकास दिखलाने का साधन आजकल स्वगत-भाषण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण वातावरण-सृष्टि कला होने लगी है जिससे चरित्र का ज्ञान और चरित्र-ज्ञान से नाटककार के जीवन-ज्ञान का आभास अधिक होता है।[1] यह साधन पहले भी पाश्चात्य नाटकों में देखने में आता था—इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि चरित्र का बहुत बृहत् विकास दिखाया जाये, भाषा और शैली द्वारा,[2] अल्प संक्रांति-काल के क्षणों द्वारा, कथोपकथन के थोड़े से अंश द्वारा भी यह सम्भव है कि ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया जाये कि चरित्र पाठक या दर्शक के समक्ष जीवन-तत्त्व को मूर्तिमान करके सौन्दर्य-सहित अनुभव करा सके।

चरित्र अच्छा है या बुरा इसको अब उतना महत्व नहीं देते हैं जितना उपर्युक्त प्रकार से अन्तरात्मा सहित व्यक्तित्व के प्रकटीकरण को। नाटककार दुष्ट और निर्दुष्ट, अच्छा और बुरा, पात्र चाहे जैसा भी हो उसको अनात्मिकता से[3] सृजता है। प्रायः बहुत भले पात्र के द्वारा कोई नाटक-रचना सम्भव ही न हो—वैसा पात्र प्राय असफल ही देख पड़ेगा। परिस्थिति के अनुसार चरित्र परिवर्तित अथवा विकसित होता है, किसी व्यक्ति का स्वभाव इतना सरल नहीं है कि 'भले' और 'बुरे' जैसे दो पारिभाषिक शब्दों से ही वह स्पष्ट हो जाये। प्रत्येक मनुष्य एक गहन समष्टि होता है। यह बुद्धि, प्रेरणा, स्मृति, कल्पना, आसक्ति, अनुराग आदि घटकों का सावयव होता है। और ये अंश प्रत्येक क्षण में विविध तीव्रता से व्यक्त होते रहते हैं। यह तीव्रता बाह्य-परिस्थिति, चित्त, प्रवाह और पुत्र-प्रेम भ्रातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम, देश-भक्ति, रक्षा, आक्रमण तथा क्रीड़ा जैसी मूल प्रवृत्तियों के साथ बदलती रहती है और इसको मापना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। इसी प्रकार भय, सुख, दुःख, आशा, निराशा, अहंकार, करुणा, सतोष, घृणा, भक्ति, साहस, प्रशंसा जैसे असंख्य भाव अपने सहयोगी-भावों और हितों से प्रभावित होकर अन्तःकरण के 'अन्दर अकल्पनीय' दृश्य उत्पन्न करते हैं। आधुनिक नाटककार 'अच्छे' और 'बुरे' चरित्र-निर्माण की कोशिश न कर इन सब दृश्यों को रंगमंच पर लाने का प्रयास करता है।

---

१. देखिए—वही, पृष्ठ ९, १०, १४,
२. देखिए—वही, पृष्ठ २०.
३. इसी को कीट्स नाटककार का 'निगेटिव केपेबिलिटी' का सिद्धान्त कहता है।

और इनको लाने के प्रयास में, वातावरण द्वारा, काव्य द्वारा, श्रोता या पाठक को चरित्र के 'अकल्पनीय' रूपो के निकट लाने में पाश्चात्य नाटककारो ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। इसी को यूना एलिस फर्मर[1] ने नाटककार की 'प्रभावोत्पादक प्रणाली' (evocative technique) कहा है। उनका कथन है कि ये क्षण चरित्र के वाह्य-वर्णन द्वारा अथवा विश्लेषण द्वारा व्यक्त करने के हेतु नहीं हैं। ये क्षण शाश्वत और निरन्तर मानव-भावनाओं को प्रकट करने वाले क्षण हैं। इनके द्वारा नाटककार चरित्र को सकेतो से, वातावरण से, मौन अवलम्बनो बिना ही, समझा और बतला देता है। चरित्र-चित्रण की सफलता का द्योतक यही है।

भिन्न-भिन्न काल में नाटककारो की चरित्र-भावना भिन्न-भिन्न प्रकार की रही है क्योकि उनके पात्रो की कल्पना और उनके चरित्र की प्रेरणा तत्कालीन साहित्यिक और सास्कृतिक प्रवृत्तियो से अनुप्राणित होती रहती हैं। इस छोटे से निबन्ध में यह सभव नही है कि सभी प्रकार के नाटकों के पात्रो में यह दिखाया जा सके। अतएव यहाँ हम केवल 'करुण'-नाटकों में देखेंगे कि भिन्न-भिन्न युगो में किन-किन भावनाओं से प्रभावित होकर पात्रो के 'करुण' चरित्र निर्मित हुए हैं। और यह उचित भी है क्योकि पाश्चात्य नाटको का उत्कृष्ट रूप 'करुण' ही है।

'करुण'- नाटको की रचना कलाकार प्राय जीवन की विषमताओ और विकट रहस्यों को न समझने के कारण अथवा सुलझाने में असमर्थ होकर ही करता है। समस्त 'करुण' नाटको के चरित्रो का अध्ययन करने से ऐसा ही जान पडता है। पाश्चात्य नाटकों के उद्गम-स्थान यूनान में नाटककारो ने 'करुण'-नाटक के प्राचीनतम और उत्कृष्ट नमूने लिखे। उनके चरित्र-चित्रण का आधार एक ऐसी विचारधारा थी जिस में नियति को सब से महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। वे धार्मिक विश्वास से कल्पना करते थे कि मनुष्य नियति के हाथो में बधा है और वह कितना ही कुछ करे नियति के पञ्जो से उसका छुटकारा पाना असम्भव है। उनकी धारणा थी कि नियति एक ऐसी विश्व-शक्ति है जो मनुष्य की क्या बात है देवताओ तक को अपने नियन्त्रण में रखती है। और इस का काम ऐसा है जो पूर्व निश्चित है, किसी तरह टलने वाला नही है, कठिनता से जाना जा सकता है और उसके लिए दया-माया कोई वस्तु नही है। कोई रोये या हँसे, कोई अच्छा हो बुरा हो नियति अपनी अबाध गति से चलती रहती है।

यह नियति नाटको में कई रूपो में देख पडती है। कही यह भविष्यवाणियो

---

१. देखिए लेखिका का निबन्ध 'दी नेचर आफ कैरेक्टर इन ड्रामा' (इंगलिश स्टडीज टु डे पृष्ठ ११—२१)

(दैवी ओरेकल; भविष्यवक्ताओं की वाणी) के रूप में प्रकट होती है, कही अन्ध होकर लोगो को मनचाहा शुभाशुभ फल देने वाली 'भाग्य-देवी' के रूप मे प्रकट होती है, कही प्रतिकार करने वाली और 'अति' को न सह सकने वाली 'नेमिसिस' के रूप में प्रकट होती है और कही केवल उभयधा व्यंगोक्ति ('आइरनी'='डबल-टीनिंग) के रूप मे प्रकट होती है। नियति के ये चारो रूप भयानक होते हैं और मनुष्य की स्वतंत्रता को अत्यन्त क्षीण कर देते हैं। इस दृष्टि से मनुष्य केवल नियति के हाथो का खिलौना मालूम देता है।

प्रत्येक प्रकार की नियति के साथ यूनानी करुण-पात्रों को संघर्ष करना पड़ता है। इन नाटको में भविष्यवाणी के द्वारा मनुष्य अपनी प्रगति को सीमित पाता था। भविष्यवाणियां दैवी या मानुषी होती थी। भविष्यवाणियो की तरह ही शाप भी छिपे या प्रकट रूप से नियति का आभास देते थे। भविष्यवाणियो को कभी नायक उनका अन्ध-भक्त होकर स्वय पूरा करता था, कभी उनकी परवाह न करके स्वतन्त्र रूप से जीवन बिताने की चेष्टा करने पर भी पूरा करता था, और कभी उनके विरुद्ध अथक प्रयत्न करने पर भी किसी न किसी तरह उन्हें पूरा ही करता था। भविष्यवाणियाँ इतनी दुविधामय और द्वैधमय अर्थों सहित होती थी कि अक्सर उनके कारण नायक को निर्मम नियति के पञ्जे में फँसे रहने का विकट भान होता था। उदाहरणार्थ सोफोक्लीज कृत ईडीपस का चरित्र-चित्रण देखें। बेचारे को भविष्य-वाणी द्वारा पता चलता है कि वह अपने पिता को स्वयं मारेगा और अपनी माता से स्वयं विवाह करेगा। इस भविष्यवाणी के विरुद्ध अपने को बचाने के लिए वह अपने तथाकथित पिता-माता के देश कॉरिन्थ नहीं जाता है—किन्तु भ्रम से उसी देश और स्थान पर जा पहुचता है (थीब्स) जहां उसके असली माता-पिता रहते हैं और इस प्रकार जाकर वह भविष्यवाणी को पूरा करता है। जब ईडीपस को सम्पूर्ण सत्य परिस्थिति का ज्ञान होता है तो वह अत्यन्त मानसिक कष्ट को प्राप्त करता है और अपनी दोनो आँखें फोड लेता है। विरला ही कोई अन्य पात्र नियति के निष्ठुर और निर्मम हाथो का ऐसा शिकार हुआ होगा। यह सब चरित्र एक प्राचीन शाप का परिणाम था—जो शाप के रूप से नियति बनाने व दिखाने में सहायक होता है।

इसी नाटक में एक दूसरे प्रकार से नियति की विशाल शक्ति और मानव की तुच्छ शक्ति का ज्ञान होता है। वह है 'भाग्य देवी' का काम—संयोग, मौका, आकस्मिक घटना का होना। ईडीपस को प्राय. अपने बुरे कर्मों का ज्ञान भी न होता यदि वह अकस्मात् सयोग से रास्ते में अपने पिता से न मिला होता अथवा यदि अकस्मात् कॉरिन्थ से एक दूत ने आकर यह न कहा होता कि वहाँ उसको राजा बनाया गया है और वहाँ की विधवा रानी ईडीपस की असली माता नहीं है

इसलिए वहाँ जाने में उसे कोई भय नही है। दूत का आना ऐसे मौके पर अकस्मात् ही हुआ और इस घटना ने सब भेदों को खोल दिया। आकस्मिक घटना के रूप में नियति का कार्य हमे प्राय हर यूनानी करुण नाटक में मिलता है।

'नेमिसिस' के रूप मे नियति मनुष्यो को दण्ड देती है। किसी प्रकार की अति को यूनानी लोग दोष मानते थे। उनके लिए सबसे बडा गुण मर्यादानतिक्रमण होता था। इसलिए किसी भी विषय में, चाहे वह अच्छी हो या बुरी हो, पाप हो या पुण्य हो, अति का होना नियति की ओर से प्रतिकार लावेगा। इसी विश्वास पर उन्होने नेमिसिस की कल्पना की थी और नेमिसिस का विनाश-कार्य भी बिना हिचकिचाहट के बडे से बडे, अच्छे से अच्छे, मनुष्यो पर होता था इस भावना का प्रतिविम्व यूनानी 'करुण'—नाटको के कतिपय नायको के चरित्र में दीख पडता है। अतिशय सौभाग्यशाली होना, अतिशय पवित्र होना और अतिशय भलाई करना उतना ही बुरा था जितना अतिशय बेईमानी करना, अतिशय लोभ करना, अतिशय अन्याय करना, और अतिशय पाप करना—नेमिसिस दोनो प्रकार के पात्रो को तहस-नहस कर डालती थी। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण हिप्पोलीटस का चरित्र है जो हम भारतीयो को विशेष कौतूहल में डालने वाला है। यूरीपिडीज़ नामक नाटककार ने इसका चरित्र-चित्रण किया है। एथेन्स के राजा थीसियस की द्वितीय पत्नी का नाम फीड्रा था। वह अपने सौतेले पुत्र हिप्पोलीटस के प्रेम की भिखारिणी हुई। हिप्पोलीटस पवित्र चरित्र का था इसलिए उसने अपनी सौतेली माँ को निराश कर दिया। फीड्रा ने आत्महत्या कर ली। राजा थीसियस स्वय अपनी रानी की लाश को देखने आते हैं। उन्हें फीड्रा की लाश पर लिखा हुआ मिलता है कि हिप्पोलीटस की अनुचित प्रेम-चेष्टाओ से तग आकर उसने आत्मघात कर लिया है। राजा को बडा क्रोध आता है और वह शाप दे देते हैं जिससे उनका निरपराधी राजकुमार विपत्तियाँ झेलता हुआ मर जाता है। इस नाटक में नियति 'नेमिसिस' के रूप में मानव को सताते हुए दिखाई गई है। अतिशय अव्यभिचारित्व और अतिशय पवित्रता भी दोष हो सकते हैं और नेमिसिस उसका प्रतिकार कर विपत्तियाँ लाती है। यही हिप्पोलीटस के चरित्र की मूल-भावना या प्रेरणा है।

नियति मनुष्य के भाग्य का दुविधामय उभयथा व्यगोक्ति द्वारा मखौल उडाती है। मनुष्य चाहता कुछ है और नियति उसे देती है कुछ और, मनुष्य जहाँ से सुख-शान्ति की आशा करता है वहाँ से उसे वे एकदम नहीं मिलते हैं किन्तु जहाँ से उसे एकदम आशायें नही हैं वहीं उसे सभी सुख और शान्ति मिलती है। कभी-कभी जब उसे आशा होती है कि उसका काम वन गया है, उसे सफलता मिली

है—ठीक वही, उसी घड़ी उन्हीं शब्दों के द्वैध अर्थ में उसे महान् असफलता और पराजय मिलती है। इसका उदाहरण सबसे अच्छा सोफोक्लीज के 'एलेक्ट्रा' नामक नाटक से दिया जाता है। नाटक के दृश्य में दीख पड़ता है कि एलेक्ट्रा द्वैधात्मक शब्दों से कठोर सत्य का उत्तर देती है। एलेक्ट्रा की माँ ने अपने पिता की हत्या एक प्रेमी के कारण कर दी है। इस पर एलेक्ट्रा के भाई ओरेस्टीज ने माँ को मार डाला है और जब उसकी माँ का प्रेमी ओरेस्टीज की मृत्यु का समाचार बड़े चाव से पूछने आता है तब एलेक्ट्रा अद्भुत कौशल से उत्तर देती है—जो एक अर्थ में ओरेस्टीज की मृत्यु का भान कराता है और दूसरे अर्थ में, अन्त में सत्य को समझने पर, अपनी माँ की मृत्यु का भान करा कर उसके प्रेमी को भय से कँपा देता है। तभी उस प्रेमी को जान पड़ता है कि उस पर नियति हँस रही है—उसकी व्यर्थ और मिथ्या आशाओं पर वज्रपात हो रहा है। इन क्षणों को देखकर यही भान होता है कि मानव नियति के हाथों का पुतला है, वह स्वयं कुछ करने और पाने को स्वतन्त्र नहीं है।

संक्षेप में, यूनानी त्रासदी-नायक को हम ऐसी परिस्थिति में देखते हैं जहाँ उसकी आशा के विरुद्ध, उसके प्रयत्नों के बावजूद, वह असफल होता है, विपत्तियों के झोंके सहता है। नियति की ऐसी अन्धी लीला में मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है।

अरस्तू बुद्धिवादी थे इसलिए उन्हें पात्रों का अकारण नियति की चपेटों का शिकार बनना अच्छा न लगा और उन्होंने अपने समालोचनात्मक ग्रन्थ में यूनानी पात्रों के दोषों के कारण कष्ट सहने का सिद्धांत स्थिर किया। उन्होंने यह सिद्धांत स्थिर किया कि प्रत्येक त्रासदी-नायक के चरित्र में कोई एक ऐसा दोष रहता है (जो पाप-मय दोष हो ऐसा आवश्यक नहीं है) जिसके कारण वह कष्ट झेलता है। इस चरित्र दोष को वे 'एमॉर्टिया' कहते थे। यह दोष ज्ञात अथवा अज्ञात हो सकता था। ईडीपस का दोष अज्ञात था (उसे नहीं ज्ञान था कि वह अपने पिता को मार रहा है अथवा अपनी माता से विवाह कर रहा है), एण्टीगोन का दोष है कि वह देश के कानून के विरुद्ध अपने भाई की अन्त्येष्टि क्रिया करना चाहती है, प्रोमीथियस आग चुराकर मनुष्य जाति के पास पहुँचा देता है; हिप्पोलीटस अतिशय चरित्रवान बनता है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या सचमुच किसी प्रकार का चरित्र-दोष दिखाना यूनानी 'करुण' नाटककार आवश्यक समझते थे? पाप का फल बुरा, धर्म का फल अच्छा होना लोग स्वाभाविक मानते हैं। किन्तु संसार में बहुधा ऐसा देखने में आता है कि धर्म का फल अच्छा नहीं होता है और पाप का हमेशा बुरा नहीं होता है। इसलिए लोग आशा करते हैं कि कम से कम काव्यों में हमें हमेशा ऐसा न्याय देख

पड़ेगा जिसमें पाप का फल बुरा हो और धर्म का फल हमेशा अच्छा हो। इसी को 'काव्यगत न्याय' '(पोएटिक जस्टिस)' कहते हैं और यह सिद्धान्त मनुष्य के लिए बहुत बड़ा सन्तोष का विषय है। किन्तु यह सिद्धान्त सत्य से, जीवन के कटु और विषम सत्य से, बहुत दूर है—इस कारण जन-साधारण द्वारा माने जाने पर भी अरस्तू और आधुनिक विचारवान लेखक इसको अनावश्यक और अशुद्ध सिद्धान्त मानते हैं।

ऐसी स्थिति में किसी पात्र को अकारण कष्ट झेलते देखना यूनानियो को केवल इस कारण सह्य होता था कि वे जिस धर्म में विश्वास करते थे उसके अनुसार नियति सबके ऊपर होकर मनुष्य को नचाती है, उन्हे परेशान करती है और उसके कार्यों का कोई कारण होना आवश्यक नही है। जैसा कि ऊपर हमने कहा है इस परिस्थिति को बुद्धिगम्य और विश्वसनीय दिखाने को अरस्तू ने 'एमोप्टिया' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसी के कारण वे 'करुण'-दोष ('ट्रैजिक एरर') को महत्वपूर्ण स्थान देते थे। ऐसा करने के लिए उन्हे यह दिखाना जरूरी नही होता था कि पात्र ने कोई पाप किया है—केवल इतना ही पर्याप्त होता था कि जानकर या अज्ञान से चरित्र-दोष के कारण कोई गलती कर बैठता है ('ट्रैजिक एरर')। इस प्रकार का चरित्र-दोष (एमेप्टिया) या पथ-भ्रष्टता (ट्रैजिक एरर) 'काव्यगत न्याय' लाने के लिए नही होता था। वे केवल इतना भर करते थे कि पात्रो पर कष्ट या विपत्तियो का आना सार्थक, युक्तियुक्त, अपरिहार्य बन सके। वास्तव में एकदम निर्दोष चरित्र का चित्रण भी कठिन है, उसमें 'करुणा' भाव दिखाना तो और भी कठिन है—नैतिक वा धार्मिक वा बौद्धिक कोई न कोई प्रकार का दोष दिखाना उचित ही लगता है। कम से कम चरित्र को विश्वासनीय बनाने के लिए आवश्यक है कि किसी प्रकार की ग़लती, किसी प्रकार का दोषयुक्त काम करना दिखाया जावे। भवभूति के 'उत्तररामचरित' नामक करुण नाटक के (भगवान) रामचन्द्र के चरित्र-चित्रण में भी तो सीता को निर्दोष और सगर्भा वन में भेजना 'दोष' या 'गलती' के रूप में दिखाया गया है, अन्यथा उनका करुण-विपाक समझ में ही नही आ सकता है।

जब यूरोप में ईसाई धर्म का उदय और विकास हुआ तो इस चरित्र-दोष को वे निश्चित "पाप करने" के अर्थ में दिखाने लगे। परिणाम-स्वरूप इधर जो नाटक लिखे गये उनमें एक न्यायी, परम पवित्र, पाप-पुण्य के विवेक से भरे हुए, शक्ति की प्रेरणा से पात्र सचालित होने लगे। इस दृष्टिकोण से मनुष्य अपने किये का फल भोगता है—बहुत दूर तक अपने भाग्य का निर्माता है। यह भावना 'रिनेसाँ' (पुनर्जागरण) काल के प्रभाव से मानव के बढ़ते हुए महत्त्व का भी फल था। विचारको ने भी स्वतन्त्रता (फ्री-विल) और पूर्वनिश्चित-नियमितता (फ्री-डिटरमिनेशन) के आपेक्षिक सत्य का पर्याप्त विचार किया। इन सब प्रवृत्तियो का फल यह हुआ कि बहुत

ग्रन्थों में मनुष्य अपने बुरे भाग्य का स्वयं निर्माता समझा जाने लगा। 'नेमिसिस' का यह आधुनिक, नैतिक या धार्मिक स्वरूप शेक्सपियर के चरित्रों में भरपूर मिलता है। उसमें यूनानी नाटकों की तरह एक अन्धी, कुटिल और निर्भय नियति के चंगुलों से निकल कर मनुष्य अपने हाथों अपने ही कर्मों का फल भोगता हुआ दिखाया जाता है। इसी सिद्धान्त को "चरित्र ही (मानव की) नियति है" (कैरेक्टर इज डेस्टिनी) इस प्रसिद्ध वाक्य में सन्निहित किया गया है। चरित्र की ऐसी प्रेरक-भावना (मोटिव फोर्स) होने से काव्यगत न्याय की धारणा पुन: बलवती होने लगी। इसी कारण राइमर और जरवाइनस नामक आलोचकों ने शेक्सपियर नाटकों में काव्यगत न्याय के उदाहरण ढूँढने की कोशिश की, और टेट नामक एक नाटककार ने शेक्सपियर के नाटकों में इस दृष्टि से सुधार करने के लिए उनके प्रसिद्ध करुण-नाटक "लियर" का ऐसा 'लोकप्रिय' परिवर्तन किया जिसमें कॉरडेलिया जीवित रह जाती है और एडगर से विवाह कर लेती है। कहना न होगा कि कला की दृष्टि से यह अत्यन्त अनुचित दृष्टिकोण साबित हुआ।

तथ्य की बात तो यह है कि 'रिनेसाँ' के युग में जो 'करुण' नाटक रचे गये उनमें मनुष्य के चरित्र को अन्ध नियति के अधीन न दिखाकर, मनुष्य के चरित्र के ही अधीन नियति को दिखाने की चेष्टा की गयी है। पात्रों के चरित्र-चित्रणों को पूरा-पूरा काव्यगत न्याय का रूप बिना दिये ही यह चेष्टा की गयी कि आखिर मनुष्य का चरित्र ही उसके भाग्य का निर्माता है— उसके दोष उसके चरित्र की विशेषताओं से ही उत्पन्न हुए हैं और वह चाहे (ऐसा इस सिद्धान्त का अभिप्राय होता है) तो भविष्य में अपने दोषों को सुधार सकता है या कम से कम बदल सकता है। लियर की मूर्खता जिसके वह कार्डेलिया का त्याग करता है (जो उसके दुःखों का आदि कारण होता है) उसके चरित्र की विशेषताओं—बुढ़ापेपन और घमंड—का ही फल है। इसी तरह ऑथेलो का स्त्री स्वभाव में सहज सन्देह होना और सहज ही लोगों की बातों में विश्वास करने की प्रवृत्ति (जिससे वह दुःख पाता है) एक ऐसा दोष है जो उसके अफ्रीकी मूर होने से सम्बन्धित है। इसी प्रकार कोरिओलैनस का दर्प, एण्टनी का मोह—सभी ऐसे दोष हैं जो उन पात्रों के चरित्रों से उपजे हुए हैं और उनके दुःखों के साक्षात् कारण हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि मध्ययुगीय धार्मिक नाटकों की तरह इन पात्रों के चरित्र में नैतिक या धार्मिक दोष होना जरूरी नहीं है—केवल असंगत, अयुक्तियुक्त, अनुचित कार्य करना भी उनके पर्याप्त दोष हो जाते हैं।

प्राचीनानुकरण ('नेओ-क्लासिकल') काल में फ्रान्स में रासीन और कॉर्नेल के करुण नाटक एक नवीन दृष्टिकोण से लिखे जाने लगे जिनमें नायक को दुर्निय-

रूप से उदात्त, महामना और तेजस्वी बनाकर उनमें प्रेम और कर्त्तव्य, दोनो ही महान आदर्शों के बीच पिसते हुए दिखाकर 'करुण' भाव को उत्पन्न किया जाता है। इसमें भी चरित्र-दोष से ही इन नाटको में करुण भाव उत्पन्न होता है। धार्मिक चरित्र-दोष से नहीं किन्तु असगत, अयुक्तियुक्त चरित्र-दोष से ही विपत्तियाँ या कष्ट आते हैं।

शेक्सपियर के नाटको में से नियति का भाव एकदम चला नही जाता है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता अवश्य है किन्तु अमानुषिक वस्तुएँ (जैसे भविष्यवक्ता डायनें, भूत), अप्रत्याशित आकस्मिक घटनायें प्रभृति ऐसी बातें पात्रो को जीवन में मिलती हैं कि जिससे उनको नियति का भी कुछ भान होता ही है। तथापि अधिकांश में वह स्वतन्त्र और अपने नियति का स्वय निर्माता रहता है।

किन्तु आधुनिक 'करुण'-नाटकों के पात्र प्राचीन यूनानी नाटको की तरह ही परिस्थितियो के पञ्जो में फँसा हुआ दीख पडता है। मनुष्य की थोडी-सी स्वतन्त्रता, मनुष्य का अपने चरित्र को अच्छा या बुरा बनाने की थोडी-सी क्षमता इन नाटकों में भी पायी जाती है किन्तु आधुनिक काल में इतनी नवीन मनोवैज्ञानिक खोजें और विश्लेषण हुए हैं कि मनुष्य वास्तव में अत्यन्त अल्प भाग में स्वतन्त्र माना जाने लगा है, आजकल ऐसी धारणा हो चली है कि मनुष्य का अपने पर भी अधिकार थोडा ही है—पैतृक वा वशानुगत सस्कार, आदिम प्रवृत्तियाँ जो सर्वदा आगे आना चाहती हैं, अर्धचेतन-प्रवृत्तियाँ प्रभृति उसमें जबरदस्ती चारित्रिक गुण और कार्य करने की क्षमता पैदा कर देती है। इसके अतिरिक्त आजकल का मनुष्य सामाजिक बन्धन और बाह्य परिस्थितियो का भी दास दिखाया जाता है। विज्ञान के सिद्धान्तो से नियति (नेसेसिटी) के पञ्जो में मनुष्य-जीवन जकडा हुआ बिल्कुल ही स्वतन्त्रता से हीन दीख पडने लगा है। इस प्रकार की भावनाओं (मोटिव-फोर्स) का फल यह हुआ है कि आधुनिक नाटकों के पात्र कितने ही अशो में यूनान के करुण नाटको से भी अधिक निष्ठुर और अन्ध नियति (प्रवृत्तियों और परिस्थितियो) का दास देख पडता है। प्राचीन काल में तो धर्म का भरोसा था, नायक किसी महान देशोपकार वा महान कार्य के लिए कष्ट पाता था, उसका आकाशवाणी वा डायन वा भूत में विश्वास होता था जिनके द्वारा विपत्ति या कष्ट को दूर करने का उपाय वह सोच सकता था अथवा कम से कम उसको कष्ट अधिक सह्य होता था, किन्तु आजकल के 'करुण'-नाटक के पात्रों का कष्ट तो इन धार्मिक विश्वासो के अभाव में अत्यन्त असह्य, भयानक और दयनीय होता है। आधुनिक 'करुण'-नाटक का पात्र बाहरी परिस्थितियो और आन्तरिक प्रवृत्तियों के बीच पिसा हुआ, जब गलती करता है या पथभ्रष्ट होता है, तब

उसकी दयनीयता अत्यन्त तीव्र हो उठती है। प्राचीन यूनानी 'करुण' पात्रों की तरह आज का 'करुण'-पात्र भी एक ऐसी नियति का शिकार होता है जिस पर उसका मुश्किल से कोई नियन्त्रण है प्रत्युत जैसा ऊपर कहा गया है आज के 'करुण नाटकों' के पात्रों को प्राचीन काल के करुण पात्रों से भी अधिक संघर्षमय और भयावह तथा दयनीय जीवन बिताना पड़ता है। हाँ, थोड़ी-सी, बिल्कुल थोड़ी-सी आज के किसी-किसी करुण नाटककार के पात्रों में स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपने भाग्य को चाहे तो सुधार सकता है।

आधुनिक नाटक का आरम्भ नारवे-निवासी इब्सन के नाटकों से होता है। इब्सन ने नाटक-जगत् में यथार्थवाद (रियलिज्म अथवा नैचुरलिज्म) को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और जीवन की समस्याओं से पीड़ित मानव का चरित्र-चित्रण किया। उन्होंने वास्तविक जीवन का निकट से निकट रूप गद्य-नाटकों के द्वारा लाने की चेष्टा की और यह सिद्ध किया कि मनुष्य सामाजिक नियमों और रूढ़ियों में पिसकर अपनी मनुष्यता को खो बैठता है। उनका अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक "ए डौल्स हाउस" ('एक गुड़िया-घर') इस भावना को नायिका नोरा के चरित्र में दिखाता है। नोरा एक साधारण नारी है जो एक छोटे-से परिवार को, कहने को सुख और आनन्द से, चला रही है किन्तु उसे अब ज्ञात होता है कि उसका व्यक्तित्व और उसकी मनुष्यता विवाह की रूढ़ि से नष्ट हो गयी है और वह एक सजी-सजाई गुड़िया मात्र है—मनुष्य नहीं है। इस सत्य को नाटककार ने उसके जीवन में बड़ी ही चतुरता से यथार्थ जीवन का प्रतिबिंब डालते हुए और अत्यन्त सफल संघटन द्वारा यूनानी 'करुण' नाटकों के तुल्य 'करुण'-भाव से पूर्ण नाटक में दिखाया है।

सबसे महत्त्व की बात आधुनिक पात्रों में उनकी साधारणता होती है—पहले की तरह राजा-महाराजा, महान वीर या महान योद्धा होकर उनके नायक सर्वसाधारण समाज के व्यक्ति होते हैं। दूसरी बात यह है, कि उनके पात्र सभी स्थान पर नायक-नायिका-दुष्ट-विदूषक प्रभृति विभाजन में नहीं आते हैं। तीसरे, नारी का स्थान इन नाटकों में बड़ा महत्त्वपूर्ण और आकर्षक हो गया है—प्रेमिका और शृङ्गार को लाने के रूप में नहीं प्रत्युत जीते-जागते समाज के प्रमुख अंग के रूप में नारी आती है जो इस युग में जाग खड़ी हुई है। 'नोरा' एक ऐसी ही आधुनिक नारी है। इब्सन के एक दूसरे नाटक में, जिसका नाम गोस्ट्स (भूत) स्वयं एक महत्त्वपूर्ण चरित्र-भावना को प्रकट करता है, मिसेज एलविंग को आधुनिक नारी के नव-जागृत रूप में दिखाया गया है। वह एक समय अपने स्वामी की भयानक बर्बरता से घबराकर एक दूसरे पुरुष (मि० मैन्डर्स) के संग अपना जीवन बिताना चाहती थी किन्तु सामाजिक बन्धनों और नैतिकता से भरा हुआ यह पुरुष उसे त्याग देता है और उसका जीवन

पहाड हो जाता है। उसे जान पडता है कि पुरानी रुढियाँ और मृत रीति-रिवाज और सामाजिक-धार्मिक कृत्रिम बन्धन आधुनिक मनुष्य के जीवन में भूतो की तरह छाया डाले उसका सर्वनाश करने पर तुले रहते हैं। इस प्रकार से नारी का चरित्र-चित्रण आधुनिक विचार-धाराओ का ही फल है। देखिए कितने स्पष्ट और आवेश-भरे शब्दो में मानव की इस दयनीय स्थिति को, परिस्थितियो की दासता को, यह आधुनिक नारी व्यक्त करती है ये शब्द आधुनिक चरित्र-चित्रण के प्रसिद्ध रूप हैं—

"Ghosts ! When I heard Regina and Oswald there, it was just like seeing ghosts before my eyes. I am half inclined to think we are all ghosts, Mr. Manders. It is not only what we have inherited from fathers and mothers that exists again in us, but all sorts of old dead ideas and all kinds of old dead beliefs and things of that kind They are not actually alive in us but they are dormant, all the same, we can never be rid of them Whenever I take up a newspaper and read it, I fancy I see ghosts creeping between the lines. There must be ghosts all over the world, they must be countless as the grains of sand, it seems to me And we are so miserably afraid of the light, all of us."

इब्सन ने यह भी दिखाया है कि मनुष्य का चरित्र उसकी शक्ति के बाहर की, वशानुगत वा पैतृक, प्रवृत्तियो का भी दास होता है। 'गोस्ट्स' नामक नाटक में उन्होने दिखाया है कि बहुधा हम अपने दोषो के लिए जिम्मेवार नही है, अपनी चरित्र हीनता के लिए हम स्वय जिम्मेवार नहीं हैं। ऑसवल्ड (मिसेज एर्वलिंग का पुत्र) अपने पिता से प्राप्त बीमारियो और चरित्र-दोषो का शिकार है। इस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्रता और भी सीमित देख पडती है।

इस प्रकार यथार्थवाद समस्या-नाटको द्वारा और सामाजिक-करुण नाटको द्वारा चरित्र को सामाजिक प्रवृत्तियो का शिकार दिखाता है। कुछ को छोडकर अधिकाश आधुनिक नाटककार इस प्रकार के यथार्थवाद का सहारा अवश्य लेते हैं। गाल्सवर्दी नामक अग्रेज नाटककार के समस्या-नाटको और सामाजिक त्रासदियो में भी यही चित्र है—उदाहरणार्थ, गरीब के लडके पर चाँदी के डिब्बे को चुराने का कलक और धनी के लडके को उससे भी भयकर पाप करने पर छूट ("सिलवर बाक्स" में),

न्यायालयों का अपूर्ण न्याय ('जस्टिस' में), और समाज में श्रमिकों और पूंजीपतियों का संघर्ष ('स्ट्राइक' में) होने से व्यक्ति की क्या दशा होती है, समाज के दोषमय बंधनों एवं नियमों द्वारा आधुनिक पात्र कितने दुःखी होते हैं, कितने पिसते हैं इत्यादि बातें उन्होंने अपने नाटकों के पात्रों के चरित्र-चित्रण में दिखायी है।

आधुनिक साहित्य में एक दूसरी धारा अभिव्यञ्जना (एक्सप्रेशनिज्म) आयी। इसका प्रभाव प्रमुख रूप से स्ट्रिंडबर्ग नामक नारवे के नाटककार द्वारा आधुनिक नाट्य-साहित्य में पड़ा है। इस सिद्धान्त के अनुसार पात्रों के अन्तःकरण को बाह्य-रूपों से अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसके अनुसार मनुष्य के चरित्र का मनोवैज्ञानिक चित्रण ही मुख्य चित्रण माना जाने लगा है। फ्रॉयड के नवीन मनोविज्ञान से प्रभावित होकर पात्रों के मन का अध्ययन करना ही अभिव्यञ्जनावाद का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसको दिखलाने के लिए साधारण और असाधारण मानसिक अवस्थाओं के चित्र नाटककार उपस्थित करता है। दूसरी विशेषता जो इस प्रकार के नाटकों के चरित्र-चित्रण में देख पड़ती है वह यह है कि पात्र यथार्थ न होकर अमूर्त, अस्पष्ट, व्यञ्जनात्मक होते हैं अर्थात् नायकों और दुष्टों के संघर्षों के बदले सामाजिक प्रवृत्तियों का अथवा मनुष्य की मनोवृत्तियों का संघर्ष दिखाया जाता है। अभिव्यंजनात्मक नाटकों के पात्र एक प्रकार से नाटकों में गौण स्थान पाने लगे हैं—व्यक्तिगत, वास्तविक पात्र के बदले में ये केवल 'पिता', 'पुत्र', 'सफेद कपड़ों में व्यक्ति' 'काले कपड़ों में एक स्त्री', 'क्लर्क', 'मास्टर',—प्रभृति नाम के पात्र रखते हैं—वे जीते-जागते, मनुष्यत्व-युक्त पात्र नहीं वरन् प्रतीक-रूप मात्र होते हैं। इसके अतिरिक्त पात्रों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियों के उद्घाटन का कार्य ये नाटक अधिक करते हैं। इसी कारण ये नाटक अधिकतर करुणात्मक ही होते हैं। इनमें अद्भुत प्रकार के गाने, पद्यमय भाषण, सामूहिक भाषण और ध्वनि-समूह देख पड़ते हैं और बहुधा इनमें पात्रों के चरित्र नाना प्रकार के दृष्टिकोणों से दिखाने की चेष्टा की जाती है।

व्यंजनावादी नाटकों का विकास दो दिशाओं में अब हो रहा है—एक ओर बेलजियम के नाटककार मेटरलिंक के छायावादी या प्रतीकवादी नाटक बने हैं और दूसरी ओर उन्मुक्त कल्पनाशील, परी देशों के कथानकों के नाटक 'फैन्टेसी' बने हैं। मेटरलिंक के ही नाटकों में चरित्र-चित्रण का नवीन और महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है इसलिये यहाँ उन्हीं का विवरण दिया जा रहा है।

मेटरलिंक के पात्रों के पीछे की भावना नियति की व्याकुलता ही है। वे मनुष्य की अन्तरात्मा की दशा का वर्णन करते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य की आत्मा

एक खोह में जा फँसी है जिसमें (प्लेटो की प्रसिद्ध उपमा के अनुसार) सत्य की ज्योति कही बाहर से आकर दीवारो पर छायाएँ वनाती है । आत्मा इस खोह में छटपटाती है, भूलो की छाया में, मिथ्या जीवन में उलझती या झुँझलाती है और अपने को सत्य की ज्योति की ओर जाने में सर्वथा असमर्थ पाती है। तभी तो उनके पात्रो के ऊपर छाया जैसी मृत्यु की भावना व्याप्त रहती है, उनको वातचीत करने को शब्द नही मिलते हैं, वे मौन वा आत्मा के शब्दो में (इनर डायलोग या साइलेन्स) कथनो-पकथन करते हैं। उनके चरित्र की अच्छाई और बुराई उनके कार्यों से नही, उनके गूढ भावो से भी नही, किन्तु गहराई छिपे कुछ प्रच्छन्न-अस्पष्ट (दी अननोन) बातो से है जिनका हम आभास मात्र पा सकते हैं। अपने "ट्रेज़र ऑफ दी हम्बल" नामक निबन्ध-सग्रह में वह लिखते हैं--

"We do not judge our fellows by their acts—nay, not even by their most secret thoughts, for these are not always undiscernible and we go far beyond the undiscernible A man shall have committed crimes reputed to be the vilest of all, and yet it may be that even the blackest of these shall not have tarnished for one single moment the breath of fragrance and ethereal purity that surrounds his presence, while at the approach of a philosopher or a martyr, our soul may be steeped in unendurable gloom "

"I may commit a crime without the least breath inclining the smallest flame of this fire (the great central fire of our being), "and, on the other hand, one look exchanged, one thought which cannot unfold, one minute which passes without saying anything, may stir it up in terrible whirlpools at the bottom of its retreats and cause it to ovtrflow on to my life Our soul does not judge as we do, it is a capricious, hidden thing It may be reached by a breath and it may be unaware of a tempest We must seek what reaches it, everything is there, for it is there that we are "

इसी कारण मानव-चरित्र के रहस्यो को समझने के लिये मेटरलिंक एक ही

उपाय मानते हैं— वे कहते हैं कि सम्भव है कि मृत्यु की छाया में अथवा मौन-संभाषणों में रखकर पात्रों को समझा जा सके। इसी दृष्टि से मेटरलिंक के पात्रों के पीछे जो प्रेरक-भावना (मोटिव फोर्स) है वह एक अज्ञात शक्ति के रूप में व्यक्त होती है। वे अपने नाटकों की भूमिका में कहते हैं—

"In these plays faith is held in enormous powers, invisible and fatal. No one knows their intentions, but the spirit of the drama assumes they are malevolent, attentive to all our actions, hostile to smiles, to life, to peace, to happiness. Destinies which are innocent but involuntarily hositle are here joined, and parted to the ruin of all, under the saddened eyes of the wisest, who foresee the future but can change nothing in the cruel and inflexible games which Love and Death practise among the living. And Love and Death and the other powers here exercise a sort of sly injustice, the penalties of which —for this injustice awards no compensation—are perhaps nothing but the whims of fate........

"This Unknown takes on, most frequently, the form of Death. The infinite presence of death, gloomy, hypocritically active, fills all the interstices of the poem. To the problem of existence no reply is made except by the riddle of its annihilation."

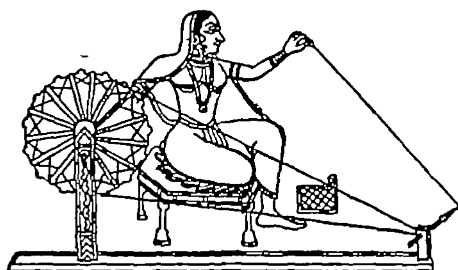
इन्हीं कारणों से मेटरलिंक के पात्र कोई अद्भुत, आश्चर्यजनक कर्म करते हुए, अथवा भावावेग से भरे वार्तालाप करते हुए, अथवा किसी निर्णयावसर में स्थित नहीं दिखाये जाते हैं। वे मृत्यु (अथवा नियति) की छाया में हमारे सामने आते हैं, बाह्य-रूप के व्यक्तित्व से उतने युक्त नहीं रहते जितने अन्दर की प्रवृत्तियों से प्रेरित दिखाये जाते हैं। वे बहुत ही साधारण प्राय. बेमतलब की महत्त्वहीन नीरस बातचीत करते रहते हैं—हाँ, बीच-बीच में ऐसी चुप्पियों और पुनरावृत्तियों से पूर्ण उनकी बातचीत होती है जो कभी तो हृदय में चुभ जाती हैं और कभी विषाद के भावों में विलीन हो जाती हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार के चरित्र-चित्रण में कथानक

(एक्शन) का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता है। बहुधा कथानक अथवा 'कार्य' नाटक आरम्भ होने से पूर्व ही सम्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ मेटरलिंक के "दी इन्टीरियर' नामक नाटक को लें। इसमें परिवार के एक व्यक्ति की दुर्घटना में मृत्यु होने की कथा है। किन्तु दुर्घटना नाटक आरम्भ होने से पूर्व ही घटित हो जाती है। किन्तु जो लडकी डूब गयी है उसके चरित्र का चित्रण परिवार के लोगों के वार्तालाप से तथा उसकी अनुपस्थिति की नीरवता से किया गया है।

इससे भी अद्भुत रूप का चरित्र-चित्रण मेटरलिंक के "दी इण्ट्रुडर" नामक नाटक में मिलता है। इस नाटक का नायक मृत्यु स्वय है। किन्तु उसका चित्रण साक्षात् कही नही किया गया है। एक प्रसूना और उसका नवजात शिशु रोग शय्या पर पडे हैं। बगल के कमरे का दृश्य नाटक में दिखाया गया है—उसके परिवार के लोग बैठे बातचीत करते हैं। अन्त में प्रसूता की मृत्यु हो जाती है। इस नाटक का कथानक इतना ही है। परन्तु नाटक की विशेषता यह है कि नाना रूप से, सकेतो से, प्रतीको से हमें आसन्न मृत्यु से परिचित कराया जाता है—खडखडाहट से, आवाजो के बन्द होने से, भयभीत वातावरण से, हमें मृत्यु का परिचय कराया जाता है। इस प्रकार का चरित्र-चित्रण नाटक-साहित्य में अनोखा है।

मेटरलिंक के नाटकों में वातावरण के द्वारा चरित्र-चित्रण का प्रयास किया गया है। उनके पात्र कठपुतलियो की तरह है—वे स्वय इनको मेरियोनेट्स (marionettes) कहते थे। उनका विश्वास है कि मनुष्य ससार में दु खी ही दु खी है। उसके उद्धार की सम्भावना नही है। अन्तरात्मा की पुकार सबसे बडी पुकार है और वर्तमान सामाजिक रूढियाँ उसको विकसित होने में बाधाएँ डालती हैं। इसी से मानव-जीवन कारुणिक हो जाता है। इसमें अच्छे और बुरे, साधु और दुष्ट सभी समान रूप से कष्ट पाते हैं। जीवन महान दु स्वप्न की तरह है जिससे बचने की चेष्टा व्यर्थ होती है—बस एक नियति या मृत्यु मात्र सत्य है और सब मिथ्या है।



रोमानी नाटक

—प्रो० सेमुएल मथाई

सबसे पहले मैं एक व्यक्तिगत बात कह देना चाहता हूँ। राजकीय उत्तरदायित्वों को निभाने और कई अन्य आवश्यक कार्यों के करने में, मैं इतना व्यस्त रहता हूँ, कि मेरे लिए यह सम्भव नहीं कि इस प्रकार के किसी विषय पर कोई विद्वत्तापूर्ण लेख लिख सकूँ। अत. रोमानी नाटक के सम्बन्ध में जो भी विचार मन में आये, मैंने उन्हे जल्दी से सकलित भर कर दिया है। परन्तु यह आशा करता हूँ कि नीचे की पक्तियो में जो कुछ लिखा है वह बिल्कुल असगत या अप्रासगिक नही होगा।

रोमानी (Romantic) और श्रेण्य (classical) शब्दो के सही अर्थ क्या हैं, यह अग्रेजी साहित्य का बडा ही विवादग्रस्त विषय है। प्राय इन दो शब्दो को परस्पर विरोधी समझा जाता है परन्तु इनमे से किसी की भी ठीक-ठीक परिभाषा करना जरा कठिन कार्य है। इसमे कोई सदेह नही कि किसी हद तक श्रेण्य और रोमानी विरोधी शब्द हैं परन्तु ये एक-दूसरे से इतने भिन्न भी नही हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि रोमानी शब्द 'रोमास' से सम्बन्धित है, उन अर्थों में जिन में कि यह शब्द (रोमास) मध्य-युग में रोमन साम्राज्य के सीमान्त क्षेत्रो में प्रयुक्त होता था। भारत की प्राकृत भाषाओ की भाँति, रोम साम्राज्य के जनपदीय क्षेत्रो की भाषा की भी कुछ अपनी ही विशेषताएँ थी। इन भाषाओ में जो गीत और कहानियाँ लिखी गईं, उनमे श्रेण्य लेटिन भाषाओ की रचना की अपेक्षा अधिक स्वतत्रता दिखाई देती है और उन में शास्त्रीय नियमो का भी अधिक कठोरता से पालन किया गया।

साहित्य में 'रोमास' शब्द इन रोमास भाषाओं की कहानियो के लिए प्रयुक्त होता रहा है और उसमें प्राय' विदेशीयता या अनूठेपन की भावना निहित थी। इन कहानियो की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनमे प्रेम और पराक्रम के कार्यों का वर्णन होता था परन्तु इनका घटना-काल सुदूर अतीत होता था। ये कहानियाँ किसी विशेष श्रेणी की न थी, बल्कि इनका स्वरूप मिश्रित हुआ करता था क्योकि उनमें किसी विशेष श्रेणी के नियमो का पालन नही किया जाता था। कामदी और त्रासदी

के तत्त्व, तथा उत्कृष्ट कामदी व निम्न कामदी, सभी का एक ही कहानी में समावेश कर दिया जाता था। इन कहानियों में प्राय लौकिक और अलौकिक तत्त्व भी एक साथ सन्निविष्ट रहते थे। रोमास-जगत का सर्वोत्कृष्ट वर्णन शायद उन्नीसवी शती के रोमानी कवियो की पक्तियों में मिलता है। उदाहरणाथ, ये पक्तिया प्रस्तुत की जा सकती हैं —

'पतगे की तारे के लिए लालसा' (शेली)

'सुदूर परियो के देश में भीषण समुद्र के फेन पर जादू की खिडकियो का खुलना' (कीट्स)।

कालरिज ने अपनी 'कुबला खाँ' शीर्षक कविता में रोमास-ससार के वातावरण का बडा ही सुन्दर निदर्शन किया है।

आजकल रोमास शब्द लगभग प्रेम-कथा का पर्याय बन गया है। किन्ही दो प्रेमियो की कहानी को अब रोमास कहा जाने लगा है। यद्यपि रोमास शब्द की लोक-प्रचलित व्याख्या पूर्णतया सत्य नही है, परन्तु इतनी बात अवश्य है कि हम यह आशा करते हैं कि किसी भी रोमानी कहानी में प्रेम का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।

अग्रेजी साहित्य मे रोमास-कथाएँ सोलहवीं शती में लोकप्रिय हुई। लिली (Lily), ग्रीन (Green), लाज (Lodge), नैशे (Nashe) और दूसरे लेखको ने रोमानी ढग की कई गद्य-कथाएँ लिखी। फिर उन्हे नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा और इससे एक नये प्रकार के नाटक हमारे सामने आये जिसे रोमानी कामदी का नाम दिया गया। परन्तु यहाँ साथ ही यह बता देना उचित है कि नाटक रोमानी त्रासदी के ढग का भी हो सकता है परन्तु रोमास की स्वाभाविक अभिव्यक्ति कामदी में ही होती है। एलिज़ावेथ-कालीन इगलैड में रोमानी कामदी, एक ऐसी प्रेम-कहानी का नाटकीय रूप होती थी जिसके वातावरण और पृष्ठभूमि, ग्राम्य या आरण्य होते थे। उसमें सच्चे प्रेम का पथ निर्विघ्न नही होता था और प्रेमियो को प्राय अपने घरों से दूर स्थानों में भटकना पडता था परन्तु अन्त में प्रमियो का मिलन ही होता था। शेक्सपियर ने कई श्रेष्ठ रोमानी कामदियाँ लिखी हैं। इन्हे दो वर्गों में बाँटा जा सकता है (१) मध्यकालीन कामदियाँ जैसे 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम', 'दि मर्चेण्ट आफ वेनिस', 'एज़ यू लाइक इट', 'मच एडो अबाउट नथिंग' और 'ट्वैल्फ्थ नाइट और (२) अन्तिम रोमानी नाटक जैसे 'पैरीसलीज़', 'सिम्बेलीन', 'दि विन्टर्स टेल', और 'दि टैम्पैस्ट'।

पहले वर्ग के नाटकों में कामदीय तत्त्वो—चारित्र्य-विषमता, व्यग्य, और मानव

की मूर्खता पर हँसने की प्रवृत्ति—का प्राधान्य है। दूसरे वर्ग के नाटकों में रोमांस के तत्त्व की प्रधानता है अर्थात् सुदूरता की भावना, प्रेम का भावुकतापूर्ण चित्रण और वियुक्त मित्रों और प्रेमियों का लम्बे भ्रमणों और साहसिक कार्यों के पश्चात् पुनर्मिलन। इन सभी रोमानी नाटकों में हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हम किसी दूसरे ही संसार में पहुँच गये हैं जहाँ की समस्याएँ और संघर्ष तो इस कर्मरत संसार के अनुरूप ही हैं परन्तु कवि द्वारा निर्मित इस काव्य-लोक के नियमों के अनुसार सभी चीजों का अन्त सदा ही अच्छा होना चाहिये। आधुनिक रुचि चरित्रों की ओर अधिक है इसलिए हमारी इच्छा होती है कि इन नाटकों में जो भावात्मक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, और जिस तत्परता से लोग एक-दूसरे से प्रेम करने लग जाते हैं या प्रेम करना छोड़ देते हैं और चरित्रों में इतनी शीघ्रता से जो परिवर्तन होते हैं, इन सब के मनोवैज्ञानिक कारण जानें। परन्तु मेरे विचार में सत्य तो यह है कि वास्तविक संसार के कठोर नियम इस कल्पना-जगत पर लागू नहीं होते। रोमांस के संसार और वास्तविक संसार की कई बातें एक जैसी हैं। कई बातें तो दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं और कई अन्य बातों में भी दोनों में सादृश्य है। परन्तु यदि, अन्त में, इसका विश्लेषण किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह अपने में ही सम्पूर्ण एक अनोखा संसार है। कॉलरिज के शब्दों में कहें तो 'अविश्वासों का स्वेच्छा से परित्याग करके ही' हम इस संसार में प्रवेश पा सकते हैं और इसके जीवन का रसास्वाद कर सकते हैं।

रचना की दृष्टि से देखें तो रोमानी नाटक और विशेषकर रोमानी कामदी की कथा-वस्तु जटिल होती है, साधारण रूप से एक मुख्य कथा और कई उप-कथाएँ उस में होती हैं। प्रायः इनमें भिन्न सामाजिक वर्गों का समन्वय दिखाया जाता है : अभिजात वर्ग और जनसाधारण का और कभी-कभी तो इस पार्थिव जगत में परियों के देश के अलौकिक तत्त्वों के दर्शन हो जाते हैं। हमें यह भी पता चलता है कि ये कामदियाँ, आजकल के विविध मनोरंजनों' (Variety entertainments) के समान होती थीं और उनमें कई गीतों का सन्निवेश रहता था। युद्ध, मल्लयुद्ध और बाजारी प्रहसन का भी उनमें अभिनिवेश किया जाता था।

यदि हम बेन जॉन्सन की रचनाओं से तुलना करें, तो हमें रोमानी नाटक की ठीक-ठीक प्रकृति का पता चलता है। जॉन्सनीय कामदियों में, श्रेण्य कामदियों की प्रणाली की तरह, मानवीय आचरण का विश्लेषण और पर्यालोचन रहा करता था। उनकी संघटना बड़ी संयत होती थी और जो सिद्धान्त मान्य थे, उनका कठोरता से पालन किया जाता था। इस प्रकार की कामदियों की तुलना में, शेक्सपियर की रोमानी

कामदियाँ प्राय अनियमित, प्राणवन्त मनोरजक और सरोर तथा मन को भावोष्णता प्रदान करने वाली होती हैं।

अन्त में, जहाँ तक मेरा विचार है रोमानी नाटक में मुख्य रूप से जीवन का एक हर्षोल्लासमय भावन होता है और इसकी परिधि में विविध प्रकार का जीवन, हास-अश्रु, प्रसन्नता और गम्भीरता एव उच्च और निम्न, ये सभी समा जाते हैं। इस दृष्टि से देखें तो सस्कृत के बहुत से नाटक, विशेषकर कालिदास के नाटक, रोमानी ही कहे जायेंगे। ये नाटक ईश्वर की अपार देन की भावना से, प्राचुर्य और उल्लास के जीवन से ओतप्रोत हैं और यद्यपि इनमें करुणा के तत्त्व भी होते हैं परन्तु वे सब सुखान्त की ओर ही अग्रसर होते हैं।

श्रेण्य नाटक की अपेक्षा, रोमानी नाटक का अभिनय अधिक कठिन है। इसका कारण यह है कि रोमानी नाटक में दर्शकों को बहुत-कुछ कल्पना से काम लेना पडता है और (आधुनिक समय में) दिग्दर्शक को पर्याप्त कौशल का परिचय देना पडता है। बहुत कठोर नियत्रण में बँधे हुए अर्थात् अत्यन्त सयत कौशल की भावना से हमें विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। श्रेण्य नाटक में, चाहे वह कामदी हो या त्रासदी, हमें इसी प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। 'ईश्वर ने सब कुछ दिया है' की भावना से जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह हमें पाठक वा प्रेक्षक के रूप मे, रोमानी नाटक में मिल सकता है।

यह कहा जा सकता है कि कोई भी वस्तु जो प्रसिद्ध हो और दीर्घ कालावधि के पश्चात् भी उसका अस्तित्व बना रहे उसके सुपरिचित होने के नाते ही उसमें कुछ श्रेण्य विशेषताएँ आ जाती हैं। रोमास से हम जिस नूतनता और अनूठेपन को सम्बद्ध करते हैं, किसी कविता या नाटक के अत्यधिक व्यवहार में आने से वह लुप्त हो जाती है। वाल्टर पीटर की इस उक्ति में किसी हद तक सच्चाई है कि 'रम्य से जब अद्भुत का योग होता है तो उसे रोमास सज्ञा से अभिहित करते हैं।' इस प्रकार हम किसी भी वस्तु को, जो प्रसिद्ध हो और जिसे श्रेष्ठ समझा जाता हो, श्रेण्य कह सकते हैं। तो, रोमानी हम उसको कहेंगे जिसमें नवीनता हो, जिसमें नव्य सौंदर्य-रूपो का अनुसधान हो और जो आनन्ददायक हो। मेरे विचार में रोमास का सम्बन्ध अन्तत मानव-प्रकृति के आदिम तत्त्व—सृजनात्मक-शक्ति—से होना चाहिए जो स्त्रियो और पुरुषो को एक दूसरे की ओर आकर्षित करती है, और उन प्रवृत्तियो से है जो मनुष्य को नवीन और अज्ञात की खोज करने के लिए प्रेरित करती हैं। एक अग्रज के लिए शेक्सपियर के समय के रोमानी नाटक अशत एलिज़बैथ-युग की उत्तेजना के प्रतीक हैं। इसमें वह अद्भुत नव्य जगत प्रतिबिम्बित होता है, जो कि एलिज़बैथ-युग के

अन्वेषियों और साहसियों के समक्ष उद्घाटित हो रहा था। शान्ति-काल मे, जब कि मनुष्य के आचार-विचार कठोर नियमो में जकड़े रहते हैं, रोमास की भावना का उदय एक तरह से कठिन होता है। परन्तु विजय प्राप्त करने के लिए सदा ही साहस के नये क्षेत्र खुले होते हैं और अपने बन्धु-बान्धवो एवं अपने ईश्वर के प्रति मनुष्य के सम्बन्धो की अपार विविधता चिर-नवीन रोमास-रूपो के प्रादुर्भाव का हेतु होती है—चाहे वे गीत मे प्रस्फुटित हो या नाटक मे।



पाश्चात्य रंगमंच और आधुनिक भारतीय नाट्य

—डॉ० चार्ल्स फाबी

यह अभिनन्दन-ग्रन्थ सेठ गोविन्ददास जी को समर्पित है अत यह उचित ही होगा कि पाश्चात्य रगमच के विषय में किसी विछिन्न दृष्टिकोण से न लिखा जाये, वरन् आज के भारतीय नाट्य (थियेटर) के प्रसग में ही उसका अवलोकन किया जाये। यह इसलिये और भी अभिप्रेत है कि इन पक्तियो के लेखक ने तीस वर्षों से भी अधिक समय से सस्कृत नाट्य का अध्ययन किया है और गत पच्चीस वर्षों से वह आधुनिक भारतीय नाट्य-आन्दोलन के घनिष्ठ तथा अत्यन्त निकट सपर्क में रहा है।

आधुनिक भारतीय नाट्य-आन्दोलन से सहानुभूति तथा रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख यह स्पष्ट है कि भारत में रगमच को बडी कठिन परिस्थितियो से होकर गुजरना पड रहा है। प्राचीन काल की भाँति घुमक्कड नट अब भी हैं, गाँवो के मेलों-उत्सवों में ये अब भी जाते हैं, लेकिन उनका लोप होता जा रहा है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रो में अधिकाधिक फैलते जाने वाले सिनेमा के प्रलोभनो के सामने ठहरने में वे असमर्थ हैं। यह सच है कि प्राचीन जनपदीय-नाट्य को जीवित रखने के लिये प्रयत्न किये गए हैं, और किए जा रहे हैं, यही नही, उसका उपयोग ग्रामोन्नति सम्बन्धी विचारो तथा पचवर्षीय योजना को प्रचारित करने के लिये भी किया गया है और ये प्रशसनीय उद्देश्य हैं—सभी समझदार लोगो का समर्थन इनको मिलाना चाहिए, फिर भी वास्तविक नाट्य के उद्देश्यो से भिन्न, ये एक-दूसरे ही स्तर की बातें हैं और इनसे क्रमश समाप्त हो रही पुराने ढग की यात्रा और रामलीला मडलियो आदि को अधिक सहायता नही मिलेगी। यह भी एक प्रकार का नाट्य है और हमारे ऐसे प्राचीन सस्कृत नाट्य-जीवन से होता हुआ आया है, जो समारोहों तथा उत्सव-दिवसो में राज-दरबारो से फैलता हुआ नगर की गलियो और चौराहो में व्याप्त हो गया था।

आज भारत का दूसरा नाट्य वह नया आन्दोलन है जो पाश्चात्य रगमंच के प्रभाव में भारत के कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि बडे शहरो से शुरू हुआ था और जिसे सबसे पहले, यहाँ बसने वाले अंग्रेज अपने साथ लाये थे।

इस नवोदित एवं महत्वाकाक्षी नाट्य-आंदोलन की जैसी स्थिति है उसके

लिए पाश्चात्य रंगमंच का अध्ययन करना उपयोगी होगा। भारत में आधुनिक रंगमच प्राय संपूर्ण रूप से अव्यावसायिक हाथो में है। सबसे अधिक महत्वाकांक्षी मंडलियों में ऐसे पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष होते हैं, जो अपने दफ्तर के समय के बाद—अस्पताल और सचिवालय में, चित्र-फलक पर अथवा विश्वविद्यालय की अध्ययन-कक्षा में अपना काम पूरा करने के बाद, एकत्र होते हैं और अपने अतिरिक्त समय का उपयोग, नाटक प्रस्तुत करने के लिये करते हैं। इससे अधिक उत्साही समूह और हो ही कौन-सा सकता है?

दुर्भाग्यवश, रंग-विधान और अभिनय तथा दिग्दर्शन और उपस्थापन सम्बन्धी उनका ज्ञान उनके उत्साह की तुलना में, कुछ भी नहीं होता। उनमें से अधिकांश तो वस्तुत. अच्छे नाट्य के विषय में बहुत ही थोड़ा जानते हैं और इसका सीधा-सा कारण यह है कि ये लोग अधिकांशतः फिल्मों से (जो नितान्त भिन्न माध्यम है) और दूसरी अव्यावसायिक मंडलियो से ही अपने भाव तथा विचार ग्रहण करते हैं। जो यूरोप और अमरीका जा चुके हैं, ऐसे—उनमें से बहुत थोड़े—व्यक्तियों ने ही श्रेष्ठ प्रथम श्रेणी के नाटक देखे होते हैं। वे किसी अच्छी स्तर की व्यावसायिक मंडली को भी नहीं देख पाते क्योंकि भारत में ऐसी व्यावसायिक मंडलियाँ शायद ही कोई होगी।

वास्तव में, पाश्चात्य रंगमच और भारतीय रंगमंच में, यही सर्वाधिक प्रमुख अन्तर है। कई सौ सालो से, निश्चय ही उत्तर-मध्य-युग से, पुनर्जागरण के समय से लेकर अब तक पाश्चात्य रंगमच मुख्यतः व्यावसायिक रहा है। अव्यवसायी तो वहाँ हमेशा से थे, विशेषकर अव्यावसायिक नाट्यों के उस स्वर्ग—इंगलैंड में, 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' में मामूली काम-धन्धा करने वाले लोगों की मनमोहक अव्यवसायी कम्पनी देखने को मिलती है। किन्तु, अधिकांश नाट्य-सम्बन्धी कार्य व्यावसायिक कम्पनियो द्वारा किया जाता रहा। कभी उनको किसी राजकुमार अथवा राजा से कुछ धन मिल गया और उन्होंने किसी तरह अपना काम चला लिया; या, अधिकतर तो यही हुआ कि वे लोग घूम-घूमकर अभिनय करते थे, अक्सर नितान्त दरिद्रतापूर्ण दिन बिताते थे, एक कस्बे से दूसरे कस्बे और एक गाँव से दूसरे गाँव में जाते, ज्यादा-तर सन्निहानों-घोसानों में और बाजार के मैदानों में मामूली तौर पर बनाए गए मंचों पर अभिनय करते, उनके लिए नगण्य-सा पारिश्रमिक पाते, कभी किसी उत्साही प्रशसक से अच्छा खाना मिल जाता और कभी एक खेत से दूसरे खेत में माँगते हुए घूमना पड़ता, कभी-कभी मुर्ग या रोटी के लिए किसी किसान के परिवार को गाना सुना देते। (इसी से 'गीत के बदले में कुछ पा जाना' वाला अंग्रेजी मुहावरा बना है।)

इसमें तनिक भी सन्देह नही है कि ये घुमक्कड नट अपनी कला में पूर्णत दत्त-चित्त थे और ये पिछली कई शताब्दियों से रगमच की ज्योति प्रदीप्त किए रहे। आज भारत में उत्साही नौसिखुए नाट्य के लिए केवल अपना फालतू वक्त देते हैं और उधर पश्चिमी यूरोप और इगलेंड के इन घुमक्कड नटों ने रगमच के लिए सब कुछ त्याग दिया था—अपना परिवार, घर, सम्पत्ति, व्यवसाय, सभी कुछ, और नाट्य-देवी की सेवा में अपना समस्त जीवन अर्पित कर देने का व्रत लिया था।

मध्यकाल और आदिकाल के भारत की व्यावसायिक कम्पनियों के विषय में हमें जो ज्ञात है, उसकी तुलना इनसे करना पूर्णत उचित होगा। कई प्रमाणों से, हमें पता चलता है कि पश्चिम की ही भाँति, यहाँ भी घुमक्कड नटो का व्यवसाय अपेक्षाकृत गौरवहीन समझा जाता था। इन अभिनेताओं की दरिद्रता और दुरवस्था की कल्पना की जा सकती है। एक अत्यन्त खेदजनक प्रमाण मनु में मिलता है, जिन्होने अपने धर्म-शास्त्र में उस व्यक्ति को अपेक्षाकृत कम कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की है, जो किसी नट की पत्नी के साथ सभोग करता हुआ पकडा जाय, क्योंकि पाठ में लिखा है—यह विदित है कि दरिद्रता के कारण नट अपनी पत्नियो को ऐसे सम्बन्ध रखने की छूट दे देते हैं। क्या इससे भी अधिक दारुण भाग्य की कल्पना की जा सकती है?

इसी प्रकार पश्चिम में भी अभिनेत्रियाँ असम्मान की दृष्टि से देखी जाती थी। इसका कारण, निस्सन्देह, भारत की ही भाँति, उनकी ग़रीबी और बेघरबार होना खानाबदोशो जैसा घूमना-फिरना, था। लेकिन भारत में नाट्य धीरे-धीरे आधुनिक अव्यवसायी के हाथों में आ गया है, तो पश्चिम में, १९वी शताब्दी में महान् व्यावसायिक नाट्य का उदय हुआ। निश्चय ही, इसका सम्बन्ध बडे शहरों तथा औद्योगिक क्रान्ति के विकास से था, जिसने कि बहुत से मध्यवर्गीय लोगो को इतना समृद्ध कर दिया कि वे 'उच्च श्रेणी के मनोरजन' की माँग कर सकें। यह पता चला कि नाट्य भी 'एक उद्योग' है, और बहुत लाभकारी उद्योग है। समाज में अभिनेता की प्रतिष्ठा, शीघ्र ही, बढ़ गई, अभिनेताओं को महाराज-महारानियो तथा गणराज्यो के राष्ट्रपतियो के यहाँ प्रवेश मिलने लगा, उन्हें भद्रजनोचित उपाधियाँ भी मिली। पत्रादिक तथा जनता उनमें अभिरुचि लेने लगी और कुछ देशो में तो अभिनेतागण ऐसी स्थिति में हो गए कि स्वय अपने थियेटर चला सकें। इसे 'अभिनेता-प्रबन्धक थियेटर' कहा गया।

यद्यपि मैं यहाँ पिछले लगभग सौ वर्षों के विस्तृत इतिहास की चर्चा नहीं करना चाहता फिर भी इस बात पर ज़ोर देना जरूरी है कि अभिनेता और नाट्य की सामाजिक स्थिति बहुत अधिक सुधर जाने का परिणाम यह नही हुआ कि 'व्यापारिक

नाट्य' कोई सस्ता और खराब धन्धा हो जाए, बल्कि उसमे सर्वांगीण सुधार ही हुआ। यह अवश्य है कि निरन्तर रुचियों का सस्ते ढंग से पोषण करने के लिए अश्लीलतापूर्ण प्रहसन और हलके-फुलके आपरेटा, अर्थहीन धमारी स्वाँग तथा अन्य निकृष्ट चीजें होती रही। परन्तु यही इसका उल्लेख भी कर देना चाहिए कि व्यावसायिक नाट्य ने एक कहीं प्रबुद्ध जनता की सत्ता को खोज निकाला है, जो गम्भीर एवं कलात्मक नाटक चाहती है और जो एक के बाद दूसरी रात, बराबर नाट्य-गृह में आती रहेगी, यदि शेक्सपियर, इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी (नाट्य-गृह मे अत्यन्त लोकप्रिय) और फ्रांस, जर्मनी अथवा रूस के किन्ही भी प्रयोगशील नाटककारो के नाटक खेले जायें। अनेक देशो में, देश की सरकार पर आश्रित "राष्ट्रीय नाट्यगृह" भी हैं, जो आर्थिक लाभ को महत्त्व नही देते। मेरा विचार है कि इनमें से प्राचीनतम है, पेरिस का कोमेदी फ्रन्सेज (Comedie Francaise)। अन्यत्र, आदर्शवादियो के गैरसरकारी दलों ने ऐसे नाट्य को जन्म दिया, जो व्यवहारत राष्ट्रीय नाट्य-सा ही हो गया, जैसे, लन्दन में ओल्ड विक, जिसे राज्याश्रय तो नही प्राप्त है पर जनता का अत्यधिक अनुराग मिला है। ओल्ड विक में कभी कोई सस्ती चीज नही चल सकती। गत सौ वर्षों से भी अधिक समय से जर्मनी में नाट्य की स्थिति अत्यन्त शुभ रही है क्योकि सभी छोटे-मोटे राजकुमार और नरेश, बवेरिया के नरेश, सैक्सनी के नरेश आदि अपने स्वय के नाट्यगृहो के बड़े भारी संरक्षक थे। जर्मनी के एकीकरण के साथ-साथ, इन्ही नाट्यगृहो के कारण, अत्यन्त उत्साहमय प्रादेशिक नाट्य-वातावरण का विकास हुआ। निश्चय ही, जर्मनी ही ऐसा एकमात्र देश है जहाँ देश की राजधानी, सर्वश्रेष्ठ नाट्य-प्रदर्शनो के मामले में हर प्रकार से अग्रगण्य नही है। ड्रेसडेन, म्यूनिख और फ्रैंकफर्ट में उतने ही अच्छे नाट्य-गृह हैं, जितने कि बर्लिन में होंगे। दूसरे देशो में, समस्त श्रेष्ठ नाट्य-कलाप राजधानियो में केन्द्रित रहता है; जैसे, उदाहरण के लिए, हंगरी में।

भले ही यह स्पष्ट हो कि परिणाम में, व्यापारिक, व्यावसायिक ,नाट्य मुख्यतः आर्थिक लाभ के उद्देश्य से चलाया जाता था और इसके बावजूद कुल मिलाकर बुरा नही था, कुछ तो इसलिए भी कि व्यापक शिक्षा के साथ-साथ जनता की रुचि बहुत अधिक सुधर गई थी, फिर भी, यह सच है कि बीसवीं शताब्दी में व्यापारिक, व्यावसायिक नाट्य के प्रति, धीरे-धीरे प्रतिक्रिया होनी शुरू हुई। १९२०-३० के बाद से 'बहुत पहले से चले आते' नाट्यगृह क्रमश नई प्रतिभा के लिए द्वार बन्द करने लगे। इन व्यापारिक नाट्य-गृहों के दिग्दर्शन का स्तर इतना उत्कृष्ट और इतना अधिक व्यय-साध्य हो गया था कि नए नाटकों के साथ प्रयोग करने में प्रबन्धक लोग अधिकाधिक हिचकने लगे, क्योंकि लगभग चार सौ रातों से बराबर चलते रहने वाले

किसी पुराने, अत्यन्त लोकप्रिय नाटक को अभी और सौ रातों तक वे चला सकते थे। ऐसी स्थिति में, कोई नाटककार अपने नए नाटक को लेकर भला किसके पास जाता ? एक वस्तुत प्रसिद्ध नाटककार, श्री क्लिफर्ड बैकस ने देखा कि भले ही वे अन्यन्त प्रसिद्ध हो गए हैं पर उनके एक बहुत अच्छे नाटक को व्यावसायिक नाट्य-गृह प्रतिवर्ष केवल इसलिए अस्वीकृत कर देते थे, क्योकि पुराने नाटक को देखने के लिए जनता हर रात उमडी आती थी और नए नाटक को शुरू करने के लिए नाट्य-गृहों के पास कोई भी मौका न था। आखिरकार, श्री बेकस ने केन्सिगटन में एक नाट्य-गृह किराए पर लिया, अपनी कम्पनी जुटाई और उनका नाटक अत्यधिक सफल हुआ।

इस स्थिति ने अव्यावसायिक तथा 'कला-नाट्य-गृहो' को एक नई भूमिका दी। सन् १९२०-३० के पहले भी अर्ध-व्यावसायिक अथवा छोटे और प्राय नौसिखुए ढग के ऐसे व्यावसायिक नाट्य-गृहों में नए नाटक 'आजमाए' जाते थे—जो उपनगरो में स्थित थे और छोटे-मोटे थे, यथा "क्यू" नाट्य-गृह। उपनगर के छोटे नाट्य-गृह में सफल होने के बाद ही वेस्टएड के प्रबन्धक इन नाटको को लन्दन में वेस्ट एड के बडे-बडे नाट्यगृहों में खेले जाने के लिए लेते थे। फलतः १९३०-४० और १९४०-५० के बीच छोटे-छोटे हालो, कक्षों और त्यक्त पुराने सिनेमाओ में, बहुत से छोटे-छोटे "कला-नाट्यगृह" शुरू हो गए। इनका उद्देश्य ऐसे नाटकों को प्रस्तुत करना था, जिनके साथ प्रयोग करने के लिए बडे नाट्य-गृह तैयार नही थे। पेरिस, बर्लिन और लन्दन में ऐसे नाट्य-गृहों में एक नया कलात्मक नाट्य-वातावरण विकसित हुआ। सघर्ष करते हुए और प्राय आर्थिक सकट में रह कर इन कम्पनियो ने काम चलाने भर को, नए उपाय धीरे-धीरे खोज निकाले। एक बहुत अच्छा तरीका यह है कि कम्पनी को 'क्लब' का रूप दे दिया गया, नियमित रूप से चन्दा देने वाले सदस्य बनाए गए, और जब एक बार ऐसे सदस्य बन गए तो बचे हुए टिकट स्थायी सदस्यों की दर से कुछ अधिक मूल्य पर, अस्थायी सदस्यो' के हाथ बेच दिए गए। लन्दन से सुपरिचित भारतीय पाठको को जिन नाटय-गृहो का पता होगा, उनमें मैं आर्ट्स् थियेटर और मर्करी का उल्लेख करूँगा। इन तथा अन्य छोटे नाट्य-गृहो के अभिनेता-अभिनेत्रियो में अग्रेजी अभिनय के इतिहास के कुछ अत्यन्त महान् कलाकार हुए हैं। आर्ट्स् थियेटर में, जहां मेरा अनुमान है कि दो सौ से भी कम दर्शकों के लिए स्थान है, मैंने सर जान गिलगुड को हैमलेट की भूमिका में देखा है। इगलैंड को इस बीच प्रसिद्ध बनाने वाले बहुत से महान् आधुनिक पद्य-नाटक—जैसे कि रोनाल्ड डकन और क्रिस्टोफर फ्राई के—सर्वप्रथम इन्हीं छोटे नाट्य-गृहों में प्रस्तुत किए गए थे, जहाँ दो सौ से भी कम व्यक्तियों के बैठने का स्थान है।

इस प्रकार छोटे व्यापारिक, किन्तु व्यावसायिक नाट्य-गृह तथा हजारों की संख्या वाले पूर्णत. अव्यावसायिक नाट्य-गृह, श्रेष्ठ नाट्य के संरक्षक, अग्रदूत एवं नवोन्मेषक को एक नई भूमिका में सन्मुख आए हैं। और कम से कम कुछ देशो में; जैसे कि इगलैंड और जर्मनी में, पेशेवर और गैर-पेशेवर नाट्य के बीच कल्पनातीत सहयोग विद्यमान है। पश्चिम के देशो में नौसिखुओं को न केवल इसकी अपार सुविधा है कि वे सप्ताह की किसी भी रात्रि में उच्च श्रेणी का नाट्य देखें, बल्कि यह भी कि पेशेवर नाट्य द्वारा उन्हें सहायता, परामर्श तथा अच्छा काम करने की प्रेरणा आदि निरन्तर सुलभ रहते हैं।

आज के भारतीय नाट्य में इसी बात की सबसे बडी कमी है। उच्च श्रेणी के नाट्य द्वारा मार्ग-प्रदर्शन और उदाहरण नही मिल पाते, क्योंकि ऐसे नाट्य का अस्तित्व नही के बराबर है। श्री पृथ्वीराज कपूर, श्री शम्भू मित्रा, श्री अलकाजी, और नाट्य-जगत के कुछ महाराष्ट्रीय तथा दक्षिण-भारतीय नेतागण अपने उदाहरणों तथा परामर्शों द्वारा नौसिखुओं की सहायता मुश्किल से ही कर पाते हैं, क्योंकि स्वयं उनके ही मार्ग मे बडी भारी कठिनाइयाँ हैं। श्री शम्भू मित्रा ने मुझे बताया कि उनकी बंगाली नाट्य-सस्था (बहुरूपी) को 'व्यावसायिक' कहना बिलकुल गलत है क्योंकि, वस्तुत, किसी को भी पारिश्रमिक नहीं मिलता। सस्कृत के महान् केन्द्र, आन्ध्र में, नाट्य द्वारा काफी पैसा मिल जाता है, लेकिन संभवत. भारत में वही एकमात्र स्थान है, जहाँ अभिनेता और व्यवस्थापक लोग, भद्रजनोचित आय कर पाते हो। श्री पृथ्वीराज कपूर, अपनी फिल्मो से कमाते हैं और इस प्रकार मिली हुई आय को उन नाट्य-प्रदर्शनों में लगा देते हैं, जिनमे कि उन्हें तनिक भी आर्थिक लाभ नही होता।

मुझे विश्वास है कि श्री अलकाजी सही दिशा में कार्य कर रहे हैं। उनका उद्देश्य यह है कि नौसिखुओं को, व्यावसायिक स्तर पर, अधिक अच्छा बनने और अभिनय, शब्दावली, दिग्दर्शन, सज्जा आदि समस्त नाट्य-कलाओं को सीखने के लिए प्रशिक्षित करें। बम्बई के अपने विद्यालय में उन्होने जो मानदण्ड स्थिर किए हैं, वे उच्च एवं परिश्रम-साध्य हैं। वे चाहते हैं कि अव्यावसायिक (नौसिखुए) 'व्यावसायिकों जैसे ही कुशल हो जायें, और उनका यह उद्देश्य बहुत कुछ सफल भी हुआ है।

ऐसे ही प्रयत्नो द्वारा यह संभव हो सकेगा कि वर्तमान अव्यावसायिक नाट्य ऐसे अभिनेताओं और निर्देशकों को तैयार कर दे जो कि अपना सम्पूर्ण समय इस कार्य के लिए दे सकें। भारत के कुछ भागों में ऐसा हो भी गया है—उदाहरण के लिए गुजरात और उड़ीसा में—कि अर्ध-व्यावसायिक कम्पनियाँ हैं, और उनके कुछ अभिनेताओं को मासिक वेतन मिलता है, तथा अन्य नाट्य-प्रेमी कलाकार अपना

अतिरिक्त समय देते हैं। काम बहुत धीरे-धीरे प्रारम्भ हुआ है, पर इसीसे, वह सर्वांगीण आधुनिक भारतीय नाट्य विकसित होगा, जिसमें उत्साही नौसिखुए नाट्य-प्रेमी जन अभिनय को एक गौरवपूर्ण व्यवसाय के रूप में ग्रहण करेंगे।

इस प्रकार के विकास के लिए, इस सम्बन्ध में पश्चिम के अनुभव क्या थे, यह याद रखना अच्छा रहेगा। वह, सक्षेप में, यह है कि व्यावसायिक नाट्य एक आवश्यकता है, परन्तु ऐसी आशा नहीं की जा सकती कि वह रगमच के लिए सब कुछ कर देगा। 'कला-नाट्य' तथा अव्यावसायिक नाट्य के लिए भी बहुत-कुछ करने का क्षेत्र है।



अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त

—डॉ० नगेन्द्र

विरेचन-सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू के दो ग्रंथों में मिलता है—राजनीति-शास्त्र में और काव्य-शास्त्र में। राजनीति-शास्त्र में संगीत के प्रभाव का वर्णन करते हुए यवन आचार्य लिखते हैं :

"किन्तु इससे आगे हमारा यह मत है कि संगीत का अध्ययन एक नहीं वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए — (१) अर्थात् शिक्षा के लिए (२) विरेचन (शुद्धि) के लिए [इस समय हम 'विरेचन' शब्द का प्रयोग बिना व्याख्या के कर रहे हैं, किन्तु इसके उपरांत काव्य का विवेचन करते समय हम इस विषय का और अधिक यथार्थ प्रतिपादन करेंगे] (३) संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है, इससे परिश्रम के उपरांत मनोविनोद होता है। अत यह है स्पष्ट कि हमें सभी रागों का प्रयोग करना चाहिए, किन्तु सभी की विधि एक नहीं होनी चाहिए। शिक्षा के लिए सर्वाधिक नैतिक रागों को प्राथमिकता देनी चाहिए, किन्तु दूसरों का संगीत सुनने के समय' (अर्थात् संगीत-सभाओं में या रंगमंच पर) हम कार्य (उत्साह) और आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागों का भी आनन्द ले सकते हैं क्योंकि करुणा और त्रास अथवा आवेश कुछ व्यक्तियों में बड़े प्रबल होते हैं, और उनका न्यूनाधिक प्रभाव तो प्राय. सभी पर रहता है। कुछ व्यक्ति 'हाल' की दशा में आ जाते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि धार्मिक रागों के प्रभाव से—ऐसे रागों के प्रभाव से जो रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं — वे शान्त हो जाते हैं मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति —प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है, और दूसरे भी अपनी-अपनी संवेदन-शक्ति के अनुसार प्राय. सभी—इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं—उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।' (राजनीति-शास्त्र', भाग ८, अध्याय ७)।

उपर्युक्त उद्धरण में काव्य-शास्त्र के जिस प्रसंग की ओर संकेत किया गया है, वह कदाचित् खण्डित है। उपलब्ध संस्करणों में केवल एक वाक्य है :

१—दी बेसिक वर्क्स आफ अरिस्टोटिल—पृ० १३१५—सम्पादक रिचर्ड मेकिओन

"अरस्तु; त्रासदी किसी गभीर, स्वत पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।" (काव्यशास्त्र पृ० १४)।

विरेचन का अर्थ—अरस्तू के व्याख्याताओ ने भिन्न-भिन्न शताब्दियो में विरेचन शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। मूलत यह शब्द चिकित्सा-शास्त्र का है—जिसका अर्थ है रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों—प्राय उदर के विकारो की शुद्धि। उदर में वाह्य अथवा अनावश्यक पदार्थ का अतर्भाव हो जाने से जब आन्तरिक व्यवस्था गडबड हो जाती थी यूनानी चिकित्सक रेचक औषधि देकर वाह्य पदार्थ को निकाल कर रोगी का उपचार करते थे। इस अनावश्यक अस्वास्थ्यकर पदार्थ के निकल जाने से रोगी पुन स्वास्थ्य और शान्ति लाभ करता था। अरस्तू स्वय वैद्य के पुत्र थे और इस प्रकार के उपचार आदि का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव था। अत यह शब्द निश्चय ही उन्होने चिकित्सा-शास्त्र से ग्रहण किया था, जहाँ उसका अर्थ था रेचक औषधि द्वारा अशुद्ध तथा अस्वास्थ्यकर पदार्थ का बहिष्कार कर शरीर-व्यवस्था को शुद्ध और स्वस्थ करना।

विरेचन शब्द इस अर्थ में यूनानी चिकित्सा-शास्त्र में अरस्तू के पहले से प्रचलित था—अरस्तू ने वहाँ से ग्रहण कर इसका लाक्षणिक प्रयोग किया है। लक्षणा के आधार पर परवर्ती व्याख्याकारों ने इसके प्राय तीन अर्थ किये हैं—(१) धर्म-परक (२) नीति-परक और (३) कला-परक।

(१) **धर्म-परक अर्थ**— धर्म-परक अर्थ की एक विशेष पृष्ठभूमि है। अन्य देशों की भाँति यूनान में भी नाटक का आरम्भ धार्मिक उत्सवो से ही हुआ था। प्रो० गिल्वर्ट का कथन है कि यूनान में दिओन्युसस नामक देवता से सम्बद्ध उत्सव अपने आप में एक प्रकार की शुद्धि का प्रतीक था—विगत वर्ष के कलुष और विष, पाप और मृत्यु के दु ससर्गों से शुद्धि का प्रतीक। लिवी के अनुसार ३६१ ई० पू० में—अरस्तू के जीवन-काल में ही—यूनानी त्रासदी का रोम में प्रवेश कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नही वरन् एक प्रकार के धार्मिक अन्धविश्वास के रूप में हुआ था।[1] उपर्युक्त उद्धरण में अरस्तू ने स्वय एक अन्य प्रकार की धार्मिक प्रक्रिया का उल्लेख किया ही है। 'हाल' की स्थिति से उत्पन्न आवेश के शमन के लिए यूनान में उद्दाम सगीत का उपयोग होता था, वाह्य विकारों के द्वारा आन्तरिक विकारों की शान्ति का यह उपाय अरस्तू के समय में धार्मिक सस्थाओं मे काफी प्रचलित था—और उन्होंने इसका लाक्षणिक प्रयोग उसी के आधार पर किया है।

१– प्रो० गिल्वर्ट मरे की भूमिका पृ० १६ (काव्य-शास्त्र, अनुवादक बाईवाटर)

अतएव इन दो तथ्यों के आधार पर विरेचन का अर्थ हुआ—

बाह्य उत्तेजना और अंत में उसके शमन द्वारा शुद्धि और शांति ।

(२) नीति-परक अर्थ — नीति-परक अर्थ का आधार भी अरस्तू का यही उद्धरण है। बरनेज नामक जर्मन विद्वान ने इसी के आधार पर विरेचन का नीति-परक अर्थ प्रस्तुत किया है। मानव-मन अनेक मनोविकारों से आक्रान्त रहता है जिन में करुणा (शोक) और भय—ये दो मनोवेग मूलत दुखद हैं। त्रासदी रंगमंच पर अवास्तविक परिस्थितियों के द्वारा इन्हें अतिरंजित रूप में प्रस्तुत कर कृत्रिम अत निर्दोष उपायों से प्रेक्षक के मन में वासना-रूप से स्थित मनोवेगों के दश का निराकरण और उसके फलस्वरूप मानसिक सामंजस्य का स्थापन करती है। अतएव विरेचन का नीति-परक अर्थ हुआ विकारों की उत्तेजना द्वारा सम्पन्न अंतवृत्तियों का समंजन अथवा मन की शान्ति एव परिष्कृति. मनोविकारों के उत्तेजन के उपरात उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता। वर्तमान मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र इस अर्थ को पुष्ट करते हैं। हमारे मनोवेग प्राय. कुंठित होकर अवचेतन में जाकर आश्रय लेते हैं और वहाँ से अव्यक्त रूप में मन को दमित करते रहते हैं। इस मानसिक रुग्णता का उपचार यह है उनको उद्बुद्ध कर उचित रूप से परितुष्ट किया जाय। अभुक्त मनोवेग मनोग्रन्थि में परिणत हो जाता है और सम्यक् रीति से परितृप्त मनोवेग मानसिक स्वास्थ्य और सामंजस्य प्रदान करता है। मनोविश्लेषण-शास्त्र में प्रतिपादित उन्मुक्त विचार-प्रवाह प्रणाली द्वारा मानसिक रोगों का उपचार इसी सिद्धान्त पर आवृत है। इसमें सन्देह नही कि अरस्तू इस प्रणाली से परिचित नहीं थे, परन्तु उनकी क्रान्तदर्शी प्रतिभा में जीवन के मूल-भूत सत्यों का साक्षात्कार करने की सहज शक्ति थी। अत यह मानना असगत न होगा कि मनोविश्लेषण शास्त्र की आधुनिक-प्रणाली से अपरिचित होते हुए भी वे उसके आधारभूत सत्य से अवगत थे। मानसिक स्वास्थ्य की साधक होने के कारण यह पद्धति नैतिक मानी गयी है। यूरोप में शताब्दियों तक इसी नीति-परक अर्थ का प्राधान्य रहा : कारनेई, रेसीन आदि ने अपने-अपने ढग से इसी को प्रतिपादित किया है।

(३) कला-परक अर्थ :—कला-परक अर्थ के संकेत गेटे तथा अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि-आलोचकों में मिलते हैं। बाद में अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो० बुचर ने इस अर्थ का अत्यत आग्रह के साथ प्रकाशन किया है :

'किन्तु इस शब्द का, जिस रूप में कि अरस्तू ने इसे अपनी कला की शब्दावली में ग्रहण किया है, और भी अधिक अर्थ है। यह केवल मनोविज्ञान अथवा

निदान-शास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर, एक कला-सिद्धान्त का अभिव्यजक है।

इस प्रकार त्रासदी का कर्तव्य-कर्म केवल करुणा या त्रास की अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नही है, किन्तु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है, उनको कला के माध्यम में ढाल कर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है।[1] प्रो० बुचर का आशय सर्वथा स्पष्ट है, उनके अनुसार विरेचन का केवल चिकित्सा-शास्त्रीय अर्थ करना अरस्तू के अभिप्राय को सीमित कर देना है। राजनीति-शास्त्र के उद्धरण में तो उसका केवल उतना ही अर्थ माना जा सकता है, परन्तु काव्यशास्त्र में कला-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तो के प्रकाश में उसका अर्थ व्यापक है मानसिक सतुलन उसका पूर्व-भाग मात्र है, उसकी परिणति है कलात्मक परिष्कार जिसके विना त्रासदी के कलागत आस्वाद का वृत्त पूरा नही होता।

अरस्तू का अभिप्राय अरस्तू का वास्तविक अभिप्राय क्या था ? इस प्रश्न का उत्तर अनुमान और तर्क के आधार पर ही दिया जा सकता है क्योंकि प्रस्तुत प्रसग से सम्बद्ध उनका अपना विवेचन अत्यत अपर्याप्त है।

अपने अनुकरण-सिद्धान्त की भाँति अरस्तू ने विरेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन भी प्लेटो के आक्षेप के प्रतिवाद के रूप में किया है। प्लेटो ने काव्य पर यह दोषारोप किया था कि "कविता हमारी वासनाओ का दमन करने के स्थान पर उनका सिंचन करती है" (गणतत्र)। अरस्तू ने अपने समय में प्रचलित चिकित्सा-पद्धति से सकेत ग्रहण कर, विरेचन के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा इसी आक्षेप का उत्तर दिया है त्रासदी में 'करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारो का उचित विरेचन किया जाता है।' उनके इस वाक्य में वस्तुत क्या और कितना अर्थ निहित है, इसका अनुसधान करना है।

विरेचन शब्द के उपरि-लिखित तीनों अर्थों में निश्चय ही सत्य का अश वर्तमान है फिर भी हमारी धारणा है कि कदाचित् कुछ व्याख्याकारो ने उसमें अभिप्रेत से अधिक अर्थ भरने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए प्रो० गिल्बर्ट मरे का ही अर्थ लीजिए। उनकी दृष्टि यूनानी भाषा और पुराविद्या के ज्ञान से इतनी आक्रान्त प्रतीत होती है कि सिद्धान्त पक्ष उसके नीचे दबा जाता है, उनकी भूमिका का पूर्वार्ध, जिसमें उन्होंने काव्य-शास्त्र के शुद्ध अनुवाद का नमूना दिया है, इसका प्रमाण है। यूनान की प्राचीन प्रथा के साथ अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त का सीधा

१— आरिस्टोटिल्स थियरी आफ़ पोइट्री एड फ़ाइन आर्ट —पृ० २३६

सम्बन्ध-स्थापन कदाचित् उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने युग की परिस्थितियों से अरस्तू ने निश्चय ही प्रभाव ग्रहण किया होगा और सम्भव है विरेचन-सिद्धान्त की परिकल्पना पर उपर्युक्त प्रथा अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य प्रथा या घटना का प्रभाव रहा हो, परन्तु वह प्रभाव सर्वथा अप्रत्यक्ष ही माना जा सकता है — दोनों में कोई सीधा सम्बन्ध स्थापित करना अनावश्यक है।

इसी प्रकार प्रो० बुचर का अर्थ भी विचारणीय है। उनके अनुसार विरेचन के अर्थ के दो पक्ष हैं : एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। मनोवेगों के उत्तेजन और तत्पश्चात् उसके शमन से उत्पन्न मनःशांति उसका भावात्मक पक्ष है। यह भावात्मक पक्ष कदाचित् अरस्तू के शब्दों की परिधि से बाहर है। अरस्तू के सामंजस्य और तज्जन्य विशदता को ही त्रासदी का प्रयोजन मानते हैं—इस प्रकार का सामंजस्य परिणामतः भावनाओं की शुद्धि और परिष्करण भी करता है, यह भी ग्राह्य है। परन्तु उसके उपरांत कला-जन्य आस्वाद भी अरस्तू के विरेचन शब्द में अंतर्भूत है यह मानने में कठिनाई हो सकती है। कलागत आस्वाद से वे अपरिचित नहीं थे— काव्य-शास्त्र के आरम्भ में ही उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अनुकरण-जन्य इस कलास्वाद का स्वरूप-विश्लेषण किया है। त्रासदी भी अनुकरण-मूलक कला है— वरन् अरस्तू के मत में कला का सर्वश्रेष्ठ रूप है, अतः कलास्वाद या बुचर के शब्दों में 'कलात्मक परितोष' की उपलब्धि त्रासदी के द्वारा निश्चित रूप से होती है और अन्य कला-भेदों से अधिक होती है। परन्तु क्या यह आस्वाद 'विरेचन' के अंतर्गत आता है ? हमारा मत है कि विरेचन कलास्वाद का साधक तो अवश्य है : समञ्जित मन कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है, परन्तु विरेचन में कलास्वाद का सहज अंतर्भाव नहीं है। अतएव विरेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना न्याय्य नहीं है, यह व्याख्याकार की अपनी धारणा का आरोप है। अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उनके शमन से उत्पन्न मनःशान्ति तक ही सीमित है, 'विरेचन' शब्द से मन की यह विशदता अभिप्रेत है, जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने अन्तर्वृत्तियों के समंजन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

विरेचन-सिद्धान्त और आनन्द : इस प्रकार अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त अपने ढंग से त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। त्रास और करुणा दोनों ही कटु भाव हैं : अरस्तू की अपनी परिभाषा के अनुसार दोनों ही दुःखद अनुभूति के भेद हैं। त्रास में किसी आसन्न घातक अनिष्ट से उत्पन्न कटु अनुभूति रहती है और करुणा में किसी निर्दोष व्यक्ति के घातक अनिष्ट के साक्षात्कार से—

और इन दोनो में ही अपने अनिष्ट की भावना भी प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहती है।[1] मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा यह कटुता अथवा दश नष्ट हो जाता है और प्रेक्षक एक प्रकार की मन शाति का उपभोग करता है। विरेचन के द्वारा उत्तेजना समाहित हो जाती है, और मन सर्वथा विशद हो जाता है। यह मनःस्थिति कटु विकारों से मुक्त होने के कारण निश्चय ही सुखद होती है — पीडा या कटुता का अभाव भी अपने आप में सुख है।

प्रो० बुचर ने 'दु ख में सुख' का इस समस्या के समाधान में अरस्तू के विवेचन के आधार पर दो और प्रमुख कारण दिये हैं। त्रास और करुणा प्रत्यक्ष जीवन में दु खद अनुभूतियाँ हैं, परन्तु त्रासदी में वे वैयक्तिक दश से युक्त, साधारणीकृत रूप में उपस्थित होती है। 'स्व' की भौतिक सीमा में बद्ध वे कटु अनुभूतियाँ हैं, परन्तु 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्त होकर उनकी कटुता नष्ट हो जाती है। स्व का यह विस्तार अथवा उन्नयन एक उदात्त और सुखद अनुभूति है। दूसरा कारण है कलात्मक प्रक्रिया। कला की प्रक्रिया का आधारभूत सिद्धान्त है समजन—अव्यवस्था में व्यवस्था की स्थापना हो अरूप को रूप देना है, यही कलात्मक सृजन है जो सुखद है। इस प्रक्रिया में पडकर त्रास और करुणा का दश नष्ट हो जाता है, दुख सुख में परिणत हो जाता है।

उपर्युक्त दोनो कारण विरेचन-प्रक्रिया से सम्बद्ध होते हुए भी उसके अगभूत नही हैं। विरेचन में न तो स्व का उन्नयन अतर्भूत है और न कला का आनन्द। अरस्तू इन दोनो तत्त्वों से सर्वथा अवगत थे, और इन दोनों का सक्षिप्त विवेचन भी उन्होंने किया है, परन्तु यह विवेचन विरेचन-सिद्धान्त का अग नही है। अतएव विरेचन-सिद्धान्त में सुख का केवल अभावात्मक रूप ही प्रतिपादित है—मन शान्ति, विशदता, या राहत से आगे वह नही जाता। यह अनुभव में निश्चय ही सुखद है, परन्तु यह सुख ऋणात्मक है, धनात्मक नहीं। भारतीय दर्शन के अनुसार आनन्द की भूमिका है, आनन्द नहीं है।

विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधार—अनेक आलोचकों को त्रासदी द्वारा विरेचन की प्रक्रिया का अस्तित्व ही मान्य नहीं है। उनका आक्षेप है कि वास्तविक अनुभव में इस प्रकार का विरेचन नही होता। हमारे करुणा, भय आदि मनोवेग उद्बुद्ध तो हो जाते हैं, परन्तु उनके रेचन से मन.शान्ति सर्वदा नही होती—अनेक नाटक केवल भावो को क्षुब्ध कर ही रह जाते हैं। इसके विपरीत कभी-कभी हम

१ – अरस्तू : भाषण-शास्त्र (भाग २, अ० ४, १३८२ अ – २०) और भाग २, अ० ७, १३८५ व १२-१६ (दी बेसिक वर्क्स आफ अरिस्टॉटिल-रिचर्ड मेकिओन)

केवल कला का आस्वादन ही करते हैं, अवास्तविक होने के कारण त्रासदी में प्रदर्शित भाव हमारे भावो को उत्तेजित ही नही करते अत. विरेचन का प्रश्न ही नही उठता। हमारे विचार में ये दोनो आक्षेप असगत हैं; त्रासदी से प्रेक्षक को केवल कवि तथा नट की कला का चमत्कार ही प्राप्त होता है, रागात्मक प्रभाव नही पडता—यह मानना त्रासदी के महत्व का घोर अवमूल्यन करना है। काव्य के किसी भी रूप का और विशेषत. त्रासदी का चमत्कार तो मूलत. रागात्मक ही होता है, अन्यथा वह काव्य-रूप कला न रहकर शिल्प मात्र रह जाता है। और जब त्रासदी का रागात्मक प्रभाव असंदिग्ध है तो उनके प्रेक्षण या श्रवण-पाठ से सहृदय के भावो की उद्‌बुद्धि स्वतःसिद्ध है। भावो की उद्‌बुद्धि आनन्द नही है, उनका समजन आनन्द है और यह धारणा सर्वथा मिथ्या है कि त्रासदी केवल भावो को विक्षुब्ध कर छोड देती है। कोई भी सफल त्रासदी ऐसा नही करती—यह सारभूत समजनकारी प्रभाव ही तो उसकी सफलता का कारण है, इसी के लिए प्रेक्षक समय और रुपया खर्च करता है अत. यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है, अनुभव से प्रसिद्ध है।

विरेचन-सिद्धान्त और करुण रस :

अरस्तू-प्रतिपादित त्रासद प्रभाव का भारतीय काव्य-शास्त्र के करुण रस से पर्याप्त साम्य है। त्रासद प्रभाव के आधारभूत मनोवेग हैं करुणा और त्रास और इन दोनो में ही पीडा की अनुभूति का प्राधान्य है। उधर करुण रस का स्थायी भाव है शोक जिसके कुछ प्रतिनिधि लक्षण इस प्रकार है .—

(१) शोको नाम इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धनदुःखानुभवनादिभिर्विभावैस्समुपजायते।

अर्थात् शोक नाम का भाव इष्ट-वियोग, विभव-नाश, वध, कैद तथा दुखानुभूति आदि विभावो (कारणो) से उत्पन्न होता है। (नाट्य-शास्त्र)।

(२) इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्य शोकशब्दभाक्।

अर्थात् इष्ट के नाश आदि से उत्पन्न चित्त के क्लेश का नाम शोक है। (साहित्य-दर्पण)।

(३) मृते त्वेकत्र यत्रान्य. प्रलपेच्छोक एवं स.।

एक के मरने पर जहाँ दूसरा शोक करे वहाँ शोक होता है। (दशरूपक)

इन सभी लक्षणों में शोक के अतर्गत करुणा का प्राधान्य तो है ही, किन्तु वध, बन्धन आदि के कारण त्रास का भी सद्भाव है। अतः करुण रस के परिपाक में

शोक स्थायी भाव के अन्तर्गत भारतीय काव्य-शास्त्र भी करुणा के साथ त्रास के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इष्टनाश अथवा विपत्ति शोक का कारण है—और इससे करुणा और त्रास दोनो की ही उद्भूति होती है करुणा की वास्तविक विपत्ति के साक्षात्कार से और त्रास की वैसी ही विपत्ति की आवृत्ति की आशका से। परन्तु अरस्तू और भारतीय आचार्य के दृष्टिकोण में कदाचित् एक मौलिक अन्तर यह है कि अरस्तू का त्रासद प्रभाव एक प्रकार का मिश्र-भाव है परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र का शोक स्थायी भाव मूलत अमिश्र ही रहता है। यहाँ भयानक एक पृथक् रस माना गया है। वह करुणा का मित्र रस है और अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर प्राय उसका सम्वर्द्धन करता हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में वह करुणा का उद्दीपक एव सचारी बन जाता है, उसके सयोग से किसी मिश्र रस अथवा भाव को उद्बुद्ध नही करता। और, फिर उपरिलिखित अनेक कारण ऐसे भी हैं जो त्रास उत्पन्न नही करते। जहाँ तक इष्टजन के वध का सम्बन्ध है उसमें तो त्रास अनिवार्य है किन्तु करुण के लिए वध तो अनिवार्य नहीं है—केवल मृत्यु ही अनिवार्य है, जो त्रास उत्पन्न किए बिना घटित हो सकती है। उदाहरण के लिए सीता के दुर्भाग्य से उत्पन्न करुणा में त्रास का स्पर्श नही है। अरस्तू भी ऐसी स्थिति से अनभिज्ञ नही हैं परन्तु वे त्रासहीन करुण प्रसग को आदर्श त्रासद-स्थिति नही मानते। भारतीय आचार्य इस विषय में उनसे सहमत नही हैं क्योंकि उसकी दृष्टि में सीता की कथा से अधिक 'करुण' प्रसग कदाचित् और कोई नही है। इस अन्तर के लिए दोनो के देश-काल और तज्जन्य सस्कार उत्तरदायी हो सकते हैं।

करुण रस का आस्वाद :

भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रतिनिधि मत तो यही है कि करुण रस का आस्वाद भी शृगार आदि की भाँति सुखात्मक ही होता है। करुण के साथ रस शब्द का प्रयोग ही इसके आनन्द का द्योतक है। रसवादी आचार्यों ने इस प्रश्न को प्राय स्वत सिद्ध मानकर अधिक तर्क-वितर्क नही किया—मानो करुण का रसत्व ही अपने आप में इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर हो। फिर भी उनके पास इस विषमता का निश्चित समाधान था, इसमें सन्देह नही हो सकता। इस समाधान के प्राय तीन रूप हैं — (१) काव्य-रस अलौकिक होता है अत लौकिक कार्य-कारण सम्बन्ध उसके लिए अनिवार्य नहीं है। दुख से दु ख की उत्पत्ति तो लौकिक नियम है। किन्तु कवि की अलौकिक प्रतिभा के स्पर्श से काव्य में दु ख से सुख की उत्पत्ति भी सम्भव हो जाती है—यही काव्य की अलौकिकता है।

(२) दूसरा समाधान अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है। भट्टनायक की स्थापना

के अनुसार काव्य में प्रत्येक भाव साधारणीकृत होकर अन्ततः भोग्य बन जाता है। इस प्रकार भाव की विशिष्टता नष्ट हो जाती है। व्यक्ति सम्बन्ध से मुक्त हो जाने पर उसके स्थूल लौकिक सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उनका रूप सामान्य जीवन-गत अनुभूति की अपेक्षा अधिक उदात्त और अवदात्त हो जाता है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में व्यक्तिबद्ध 'अल्प' की चेतना में सुख नहीं है, किन्तु व्यक्ति की सीमाओं से मुक्त 'भूमा' की चेतना में परम सुख की उपलब्धि है। इसी न्याय से काव्य में शोक आदि अप्रिय भाव भी साधारणीकृत होकर व्यक्ति-सम्बन्ध-जन्य दोषों से मुक्त रसमय बन जाते हैं। स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्र ने योग की 'मधुमती भूमिका' के आधार पर इसे काव्य की 'रसवती भूमिका' कहा है।

(३) तीसरा समाधान अभिव्यक्तिवादियों की ओर से प्रस्तुत किया गया है। इनका कहना है कि रस की उत्पत्ति नहीं होती, अभिव्यक्ति होती है। यदि उत्पत्ति होती तब तो शोक से शोक की उत्पत्ति का तर्क काव्य पर लागू हो सकता था किन्तु रस की तो अभिव्यक्ति होती है अर्थात् काव्य-नाट्य गुणों के प्रभाव से प्रेक्षक की आत्मा में रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव और सतोगुण का उद्रेक होता है—जिसके परिणामस्वरूप उसका आत्मानन्द 'रस' रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। सत्व का उद्रेक और रज-तम का तिरोभाव आनन्द की स्थिति है जिसमें दूसरा भाव विद्यमान नहीं रह सकता। अतः रसत्व को प्राप्त होने पर, सत्व के पूर्ण उद्रेक तथा रजोगुण-तमोगुण के नाश के कारण, शोक आदि की कटुता स्वतः नष्ट हो जाती है और आनन्दमयी चेतना शेष रह जाती है।

संस्कृत के प्रतिनिधि आचार्यों ने प्रायः ये ही तीन समाधान प्रस्तुत या व्यंजित किये हैं। किन्तु कुछ स्वतन्त्रचेता आचार्य अपवाद भी हैं। उदाहरणार्थ शार-दातनय ने शैव-दर्शन के ही आधार पर एक चौथा समाधान प्रस्तुत किया है। उनका तर्क यह है: यद्यपि यह संसार दुःखमोहादि से कलुषित है, फिर भी जीवात्मा राग, विद्या और कला—अपने इन तीनों तत्त्वों के द्वारा उसका भोग करता है। इनमें राग सुखत्व का अभिमान है, विद्या राग का वह उपादान है जिसके द्वारा अविद्या से आच्छन्न चैतन्य का ज्ञान अभिव्यक्त हो जाता है, और कला आत्मा को अभिज्वलित (प्रदीप्त) करने वाला हेतु है। इसी न्याय से प्रेक्षक भी शोक, भय, ग्लानि आदि से निष्पन्न करुण, भयानक, वीभत्स आदि रसों का अपने आत्मस्थ तीन तत्त्वों—राग, विद्या और कला के द्वारा 'चर्वण' करता है।

शारदातनय तो अन्ततोगत्वा भाववादियों की परिधि में ही रहे हैं। परन्तु रुद्रभट्ट और उनसे भी अधिक नाट्य-दर्पण के लेखक-द्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने

शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध अत्यत निर्भीक शब्दो में यह स्थापना की है "सुखदु खात्मकोरस." (नाट्यदर्पण—श्लोक ०९ पृ० ११५८) अर्थात् रस की अनुभूति सर्वत्र सुखात्मक ही न होकर दु खात्मक भी होती है। इनके अनुसार "तत्रेष्ट विभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तय श्रृंगार-हास्य-वीराद्भुत-शान्ता पचसुखात्मनोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनातात्मान करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दु खात्मान" (नाट्यदर्पण पृ० १०९) अर्थात् शृगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शात (इष्टविभावादि पर आश्रित रहने के कारण) सुखात्मक हैं और करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक (अनिष्ट विभावादि से उपनीत होने के कारण) दु खात्मक हैं। तब फिर प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में सामाजिक करुण आदि का प्रेक्षण या श्रवण क्यो करता है? नाट्यदर्पण में इसका विस्तृत उत्तर दिया गया है

"यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कवि-नटशक्तिकौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिन। अनेनैव च सर्वा गाह्लादकेन कवि-नटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धा परमानन्दरूपता दु खात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधस प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते। कवयस्तु सुखदु खात्मकससारानुरूप्येण रामादिचरित निबध्नन्त सुख-दु खात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दु खास्वादेन सुतरा सुखानि स्वदन्ते इति।"

(नाट्यदर्पण पृ० १५९)

इसका साराश यह है कि करुण, रौद्र आदि के द्वारा भी जो चमत्कार की प्रतीति होती है उसका कारण है यथार्थवस्तु-प्रदर्शन में निपुण नट का कौशल। शौर्य-गर्वित वीर शत्रु के शिरश्छेदकारी प्रहार-कौशल को देखकर भी विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। प्रेक्षक इसी चमत्कार के लोभ से करुणादि दृश्यो को देखता है—इस चमत्कार से ही प्रवचित होकर वह दु खात्मक दृश्यो में आनन्द की प्रतीति करता है। उधर कवि भी सुखदु खात्मक ससार के अनुरूप रामादि के चरित्र को सुखदु खात्मक रस से अनुविद्ध प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार मिर्च आदि के सयोग से पानक (सोठ) के स्वाद में चमत्कार आ जाता है, इसी प्रकार दु ख के तीक्ष्ण आस्वाद से सुख और भी आस्वाद्य हो जाता है।

इस विवेचन से पूर्वोक्त चार समाधानो के अतिरिक्त दो और समाधान उपलब्ध होते हैं

(५) करुण रस से प्राप्त आनन्द (चमत्कार) काव्य-कौशल अथवा काव्य तथा

नाट्य दोनो के समवेत कौशल पर आवृत रहता है। प्रेक्षक या श्रोता करुण रस में आनन्दानुभूति नही करता, वरन् उसकी अभिव्यजना करने वाले कवि तथा अभिनेता के कला-नैपुण्य से चमत्कृत होता है। इस चमत्कार से ही करुण रस में आनन्द की भ्राति अथवा आभास हो जाता है।

(६) जीवन मे अपार वैविध्य है। षट्रसो में जहाँ मधुर रस है, वहाँ तिक्त और अम्ल रस भी। विपरीत स्वादु होने पर भी सभी को 'रस' नाम से अभिहित किया जाता है और प्रपानक आदि में रसना-रसिक इनका 'रस' लेते हैं। इसी प्रकार नव रस में एक ओर रतिमूलक शृगार है तो दूसरी ओर शोकमूलक करुण भी। अनुभूत्यात्मक रूप सर्वथा विपरीत होने पर भी शास्त्र में इनका नाम 'रस' ही है और काव्य के 'प्रपानक' में सहृदय इन सभी का आस्वादन करते हैं।

इस प्रकार 'दुःख में सुख' की इस विषम समस्या के भारतीय काव्य-शास्त्र छह मौलिक समाधान प्रस्तुत करता है।

काव्य की सृष्टि अलौकिक है, वह नियतिकृत नियमो से रहित नाना चमत्कारमयी है अत लोकानुभव से भिन्न दु:ख से सुख की उद्भूति उसमे सहज-सम्भव है। यह मूलत वही तर्क है जिसको कलावादियो ने—ब्रेडले, क्लाइव बैल आदि ने बीसवी शती के प्रारम्भ मे नवीन रूप में पुन प्रस्तुत किया है . "पहले तो यह अनुभव अपना उद्देश्य आप ही है, अपने ही लिए उसकी स्पृहा की जा सकती है, इसका अपना निजी मूल्य है। दूसरे काव्य की दृष्टि से उसके इस निजी मूल्य का महत्त्व है क्योकि सामान्य अर्थ मे वस्तु-जगत् का एक अग होना या उसकी अनुकृति होना इसका स्वभाव नही है, यह तो अपने आप में ही एक दुनिया है—स्वतत्र, स्वत.पूर्ण और स्वायत्त।

(ब्रैडले—आक्सफर्ड लेक्चर्स, पृ० ५)

रस की अनुभूति साधारणीकृत अनुभूति होने के कारण व्यक्ति-बद्ध रागद्वेष से मुक्त होती है—अत करुण आदि रसो में शोकादि का दश नष्ट हो जाता है, शुद्ध भाव "आस्वाद" रूप में शेष रह जाता है। इस तर्क का सकेत वास्तव में अरस्तू मे भी मिल जाता है, किन्तु वह अत्यन्त अविकसित रूप में है प्रो० बुचर ने जिस शब्दावली में उसे प्रस्तुत किया है, वह यूरोप के विकासशील आलोचना-शास्त्र से प्राप्त आधुनिक शब्दावली है। इस दृष्टि से भारतीय आचार्य भट्टनायक का महत्त्व अक्षुण्ण है : उन्होंने अत्यन्त तर्कसंगत तथा तात्त्विक शब्दो में साधारणीकरण के द्वारा "करुण" आदि के भोग का प्रतिपादन किया है।

भट्टनायक के सिद्धान्त से एक और समाधान का सकेत मिलता है : काव्य-

निबद्ध अनुभव प्रत्यक्ष न होकर भावित अनुभव होते हैं, अत कटु अनुभवो की प्रत्यक्ष अनुभूत कटुता उनमें नही रह जाती, वरन् कल्पना के चमत्कार का समावेश हो जाता है जिससे शोक भी आस्वाद्य बन जाता है। पश्चिम के आलोचना-शास्त्र में यह मत काफी प्रचलित रहा है।

रस का परिपाक सत्त्व के उद्रेक की अवस्था में ही होता है—अर्थात् ऐसी अवस्था में होता है जब रजोगुण और तमोगुण तिरोभूत हो जाते हैं और सहृदय की चेतना सतोगुण से परिव्याप्त हो जाती है। यह अवस्था सुख की अवस्था है, इसमें तमोगुण से उत्पन्न (मोह-विकारी) शोक की कटु अनुभूति सम्भव नही है। यह शब्दावली भारतीय काव्य-शास्त्र की अपनी पारिभाषिक शब्दावली है, वर्तमान यूरोप का मनोविज्ञान अथवा प्राचीन-नवीन आलोचना-शास्त्र इससे परिचित नही है। परन्तु शब्द-भेद को हटा देने से उपर्युक्त मत अधिक अपरिचित नही रह जाता। अभिनव का सत्वोद्रेक वास्तव में अरस्तू के "विरेचन", रिचर्ड्स के अतर्वृत्तियो के सामजस्य और शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित हृदय की मुक्तावस्था से बहुत भिन्न नही है। भेद केवल विचार-पद्धति का है अरस्तू ने चिकित्सा-शास्त्र की पद्धति और शब्दावली ग्रहण की है, रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान की, शुक्लजी ने आलोचना-शास्त्र की और अभिनव आदि ने दर्शन (अधिमानस-शास्त्र)[1] की। तमोगुण और रजोगुण के तिरोभाव के उपरात सत्य का भाव शेष रहना अरस्तू के शब्दो में "कटु भावो का रेचन और तज्जन्य मन शान्ति" ही तो है। अन्तर केवल "उद्रेक" शब्द पर आश्रित है जिसका विवेचन आगे करेंगे।

शारदातनय का समाधान इसी का विकास है। उसका आधार यह है कि आत्मा नित्य आनन्दरूप है। उसकी आनन्दमयी प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि वह ससार के दु खमोहादि मायाजन्य कलुषों पर अनिवार्यत विजय प्राप्त कर उन्हें भोग्य बना लेती है। करुण रस के आस्वाद्य का मूल कारण आत्मा की यही आनन्दमयी प्रवृत्ति है। यह समाधान शुद्ध भारतीय आनन्दवाद पर आधृत है—करुणा-प्रधान मसीही दर्शन पर आश्रित पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में इसकी प्रतिध्वनि भी प्राय नहीं मिलती।

कला का सौन्दर्य करुण के उद्वेग को चमत्कार में परिणत कर देता है। कला का आधारभूत सिद्धान्त है सामंजस्य—अनेकता में एकता की स्थापना। अतर्वृत्तियो का समन्वय करने के कारण यह प्रक्रिया अपने आप में सुखद होती है इसे ही कला-सृजन या सौन्दर्य की सृष्टि का आनन्द कहते हैं। कला-सृजन के समय

---

(१) मेटाफिज़िक्स।

कवि तथा रसानुभूति के समय सहृदय का चित्त इस प्रक्रिया द्वारा समाहित होकर उक्त आनन्द का अनुभव करता है । इसके अतिरिक्त समृद्ध अभिव्यंजना, विशिष्ट पद-रचना, संगीत-गुण तथा नाटक में नाट्य-प्रसाधन आदि "काव्यालंकार"-जन्य आह्लाद भी करुण की कटुता को नष्ट करने में सहायक होता है ।

यूरोप के आलोचना-शास्त्र में भी इसी मत की स्थापना की गई है : वहाँ इसे "काव्य-रूप सिद्धान्त" के नाम से अभिहित किया जाता है । इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य-रूप के सौन्दर्य से करुण रस की कटुता नष्ट हो जाती है और सहृदय का चित्त चमत्कार का अनुभव करता है ।

अन्तिम समाधान उपर्युक्त समाधान की अपेक्षा अधिक दार्शनिक है—मानव-प्रकृति त्रिगुणात्मक है, मधुर और कटु दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ जीवन का अंग है । मानव जीवन के वैचित्र्य में रस लेता है, अत करुण आदि के प्रदर्शन या अभिव्यंजन में उसकी अभिरुचि होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । आधुनिक आलोचना-शास्त्र का "अभिरुचि-सिद्धान्त" भी इससे मिलता-जुलता है । इस सिद्धान्त के अनुसार मानव को मानव-जीवन के सभी अनुभवों में अभिरुचि है—वह जहाँ विवाह आदि मंगल-उत्सवों में रस लेता है, वहाँ मृत्यु आदि से सम्बद्ध दुर्घटनाओं में भी उसकी कम रुचि नहीं है । वरयात्रा और शवयात्रा दोनों में मानव का उत्साह द्रष्टव्य है । इसी न्याय से कामद और त्रासद दोनों प्रकार के दृश्यों में प्रेक्षक की दिलचस्पी होती है ।

इन छह समाधानों के अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन के दु खवाद पर आधृत एक और भी समाधान भारतीय शास्त्र की ओर से प्रस्तुत किया जा सकता है । बौद्ध दर्शन के अनुसार दु ख प्रथम आर्य-सत्य है । इसका सम्यक् ज्ञान जीवन की प्रथम सिद्धि है जिस पर अन्य सिद्धियाँ आश्रित हैं । अत करुण रस जीवन का आद्य रस है । सत्य की उपलब्धि में जो आनन्द निहित रहता है, वही आनन्द जीवन में करुण का अस्तित्व प्रतिपादन करने वाले काव्य से प्राप्त होता है । भारत में दु खवाद का प्रतिपादन प्रधानत बौद्ध दर्शन में ही हुआ है अत करुण रस का यह दु खवादी समाधान केवल वहीं से उपलब्ध है ।

यूरोप के दर्शन तथा आलोचना-शास्त्र में दु खवादियों प्रस्तुत ने समस्या के प्राय. इसी प्रकार के समाधान उपस्थित किये हैं । जर्मनी के प्रसिद्ध दु खवादी दार्शनिक शोपेनहॉवर का तर्क है कि त्रासदी जीवन के गम्भीर और दु खमय पक्ष को महत्त्व देती है, जीवन की व्यर्थता एवं जगत-प्रपंच की असारता को व्यक्त कर चरम सत्य का उद्घाटन उसका प्रयोजन है । सत्य की यही उपलब्धि प्रेक्षक के आनन्द का

कारण है। श्लेगेल का तर्क इससे थोडा भिन्न है उसके अनुसार त्रासदी के द्वारा हमारे मन में इस चेतना का उदय होता है कि पार्थिव जीवन का सचालन किसी अदृष्ट शक्ति (नियति) के हाथ में है जिसके समक्ष मानव का समस्त बल-वैभव तुच्छ है। यह विचार एक ओर अहकार का शमन करता है और दूसरी ओर दु ख में हमें धैर्य प्रदान करता है। जीवन के इस अलौकिक विधान की अनुभूति निश्चय ही एक उदात्त एव सुखद भाव है और यही "त्रासद आनन्द' का रहस्य है। प्रो० बुचर ने अरस्तू के विवेचन में इस सिद्धान्त का भी अनुसन्धान कर लिया है। यहाँ भी हमारा मत यही है कि अरस्तू के त्रासदी-प्रकरण में इसका बीज मात्र मिलता है, उसका विकास प्रो० बुचर ने परवर्ती शोधो के आधार पर किया है जिस विकसित रूप में बुचर ने उसे प्रस्तुत किया है, वह अरस्तू में निश्चय ही उपलब्ध नही है। भारतीय चिन्तक के लिये यह धारणा अज्ञात नही है। साहित्य में इस "नियतिवाद" की शत-शत मार्मिक व्यजनायें मिलती हैं। रामायण, महाभारत, पुराण, भक्ति-काव्य और आधुनिक साहित्य में इसकी अनुगूँज स्थान-स्थान पर मिलती है। न जाने कब से भारतीय मन यह गा-गा कर अपने को धीरज देता चला आ रहा है —

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि बसिष्ठ से पडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता-हरन मरन दसरथ को बन में विपति परी।।

परन्तु अन्तर केवल यही है कि इस धारणा ने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त का रूप कभी धारण नही किया।

क्यों ?—भारतीय काव्य-शास्त्र के प्राण रस-सिद्धान्त का विरोधी होने के कारण।

निष्कर्ष उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट है कि अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त भारत के रस-सिद्धान्त से बहुत भिन्न नही है—यह कहना कदाचित् असगत न होगा कि भारतीय रस-सिद्धान्त में प्रकारान्तर से विरेचन-सिद्धान्त अन्तर्भूत है। विरेचन-प्रक्रिया के दो अग हैं (१) अतिशय उत्तेजना द्वारा मनोवेगो का शमन और (२) तज्जन्य मन.-शाति। मनोवेगो की अतिशय उत्तेजना रस-सिद्धान्त के अन्तर्भूत स्थायी भावो के चरम उद्बोध के समानान्तर है। मन शान्ति रस-सिद्धान्त की "समाहिति" की अवस्था है जब सहृदय श्रोता का मनोमुकुर भौतिक विकार-जन्य मलिनता से मुक्त सर्वथा निर्मल हो जाता है। रस की स्फुरणा के समय कवि का मन और रस के आस्वाद के समय सहृदय का मन व्यक्ति-सम्बन्धों से मुक्त होकर अनिवार्यत समाहिति की अवस्था को प्राप्त करता है। तमोगुण तथा रजोगुण के तिरोभाव और सत्व की परिव्याप्ति की स्थिति वही है। परन्तु इसके आगे भेद हो जाता है। अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त

यहीं रुक जाता है—यदि प्रो० बुचर के व्याख्यान को स्वीकार कर लें तो भी अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि इस समाहिति की स्थिति में प्रेक्षक या श्रोता का मन कला के आनन्द का आस्वाद करने में तत्पर हो जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि त्रासदी का आनन्द या तो मन:शान्ति की सुखद स्थिति मात्र है, जिसमें भावों के परिष्करण की सुखद अनुभूति का भी समावेश है, या फिर वह कला के आनन्द से (जो पर्याप्त मात्रा में बौद्धिक होता है) एकात्म है। अर्थात् अरस्तू के अनुसार त्रासदी के आस्वाद के तीन तत्त्व हैं :

(१) उद्वेग के शमन से उत्पन्न मन शान्ति।
(२) भावों के परिष्कार की अनुभूति।
(३) कला-जन्य चमत्कार।

भारतीय काव्य-शास्त्र के करुण रस और उपर्युक्त आस्वाद में मौलिक अन्तर यह है कि करुण रस उद्वेग का (राहत) शमन मात्र न होकर उसका भोग है। भावों का परिष्कार यहाँ भी यथावत् मान्य है : भाव के साधारणीकरण में उसका परिष्कार स्वत सिद्ध है, तमोगुण तथा रजोगुण के तिरोभाव में उद्वेग का शमन भी निहित है, परन्तु रस इनसे अतिरिक्त है। रस तो भौतिक रागद्वेष से मुक्त आत्मा द्वारा 'अस्मिता' का भोग है—उसके लिए तमोगुण और रजोगुण का तिरोभाव ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए तो आनन्दरूप आत्मा से सत्त्व का प्रचुर उद्रेक अनिवार्य है। यहाँ हम वास्तव में भारतीय दर्शन की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं। भारत में आनन्द के विषय में भावात्मक और अभावात्मक दोनों सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि में आनन्द का स्वरूप अभावात्मक माना गया है—उनकी स्थापना है कि दुःख का अत्यन्त विमोक्ष ही अपवर्ग है : तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः (न्यायमंजरी १।१।२२।) किन्तु इसके विपरीत मीमांसा, वेदान्त आदि में आनन्द के भावात्मक रूप की अत्यन्त प्रबल शब्दों में प्रतिष्ठा की गयी है :

दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः।

अर्थात् कुमारिल के अनुसार दुःख का नितान्त समुच्छेद हो जाने पर आत्मा में स्थित नित्य सुख का मनसा उपभोग ही मुक्ति है। इन वेदान्ती, मीमांसक आदि आचार्यों, शैवों और वैष्णवों ने न्याय-वैशेषिक-प्रतिपादित अभावात्मक अपवर्ग का उपहास किया है। और वास्तव में अपवर्ग की भावात्मक कल्पना ही भारतीय दर्शन का प्रतिनिधि सिद्धान्त है जिसके अनुसार आनन्द दुःख का अभाव मात्र नहीं है, वह शुद्ध-बुद्ध आत्मा का "आत्म-भोग" है।

भारत का रस-सिद्धान्त, जैसा कि प्रसाद जी ने स्पष्ट किया है, शैव-दर्शन पर

आधृत है अत उसका स्वरूप भी तदनुकूल आत्मानन्द-प्रधान ही है। भारतीय काव्य-शास्त्र का शैवाचार्य अभिनव-प्रतिपादित प्राय सर्वमान्य अभिव्यक्तिवाद सिद्धान्त अत्यन्त भावात्मक "रस" की ही स्थापना करता है। यह रस शोकादि भावों के उन्नयन से भी आगे आत्मानन्द का भोग है। यह शाति-रूप नही है, भोग-रूप है। कलाजन्य चमत्कार, भावो की परिष्कृति आदि उसकी सहायक अथवा आनुषगिक उपलब्धियाँ हैं वह स्वय उनसे कही ऊपर है।

भारत के अन्य प्रमुख सिद्धान्तो की भाँति, उसका रस-सिद्धान्त भी अध्यात्म-वाद पर आधृत है उसको यथावत् ग्रहण करने के लिए आत्मा की स्थिति और उसकी सहज आनन्दरूपता में विश्वास करना आवश्यक हैं। आधुनिक आलोचक को इसमें कठिनाई हो सकती है। परन्तु उपर्युक्त स्थापना विज्ञान के विरुद्ध नही है, मनो-विज्ञान भी उसकी पुष्टि करता है। दु'ख और सुख भावों के ये दो अनुभूत्यात्मक रूप हैं। इच्छा की (प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष) विफलता की अनुभूति दु खात्मक होती है और इच्छा-पूर्ति या सफलता की अनुभूति सुखात्मक। अब प्रश्न यह है कि दु ख और सुख का परस्पर सम्बन्ध क्या है? कुछ विचारक दु ख के अभाव को ही सुख मानते हैं—उनके अनुसार दु ख की स्थिति भावात्मक है और सुख की अभावात्मक। उनका तर्क यह है कि व्यावहारिक जीवन में विभिन्न प्रकार की बाधाओ के कारण हमें दु ख की अनुभूति होती है और उनके निराकरण से सुख की, अत दु ख का अभाव ही सुख है। यह तर्क सामान्यत ग्राह्य प्रतीत होता है, परन्तु इसमें एक सूक्ष्म हेत्वाभास विद्यमान है। उदाहरण के लिए शिर-शूल दु ख का कारण है, उसके शमन से हमें राहत मिलती है—प्राय प्रसन्नता भी होती है। तो क्या शिर-शूल का अभाव ही आनन्द है? नही। वास्तव में रोगविशेष की शाति से हमने स्वास्थ्य का लाभ किया इससे मन क्लेश-मुक्त तथा विशद हो गया। यह तो रोग-शाति का तर्क-सम्मत परिणाम है, परन्तु इसके आगे जो प्रसन्नता होती है उसका कारण रोग-शान्ति नहीं है, वरन् यह आश्वा-सन है कि अब हम जीवन के भोग में समर्थ हैं जिसके पीछे कदाचित् अपनी विजय का भाव भी लगा हुआ है। ऋण-शोध से आत्मा प्राय अत्यन्त विशद हो जाती है, किन्तु एक तो यह विशदता सर्वदा अनिवार्य नहीं है—कभी-कभी ऋण-शोध के उपरान्त मन मे एक प्रकार की ग्लानि और आतक-सा भी शेष रह जाता है, दूसरे इसमें और लाभ-जन्य आनन्द में स्पष्ट अन्तर है। एक ऋणात्मक है, दूसरा धनात्मक। ऋण-शोध के पश्चात् भी प्रसन्नता का अनुभव हो सकता है, परन्तु उसका कारण ऋण-मुक्ति न होकर यह विश्वास है कि अब मेरे लिए लाभ का मार्ग प्रशस्त हो गया है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के चतुर्थ अक में कालिदास की पारदर्शिनी प्रतिभा ने इन दोनों मनोदशाओं का भेद स्पष्ट किया है—शकुन्तला को विदा करने के पश्चात् कण्व को

जो अनुभव होता है उसे कालिदास आनन्द की संज्ञा नहीं देते, वह तो आत्मा का वैशद्य मात्र है जो न्यास के भार से मुक्त होने पर या ऋण-मोक्ष के उपरान्त प्राप्त होता है—

जातो ममायं विशदः प्रकामं,
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ।

इसके अतिरिक्त चतुर्थ अंक में ही एक और प्रकरण है : शकुन्तला के इस कातर प्रश्न के उत्तर में कि अब मैं तात के दर्शन कब करूंगी कण्व कहते हैं :

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ।४।२०।

अर्थात्—बनि तिय बहुत दिवस भूपति की । सौतिनि चार कौन वसुमति की
करके ब्याह सुवन समरथ को । मारग रुके न जाके रथ को ॥
दैकं ताहि कुटुम को भारा । तजि के राजकाज व्यवहारा ॥
पति तेरो तुहि संग ले ऐहै । या आश्रम तब तू पग दैहै ॥ (लक्ष्मणसिंह)

कण्व के जीवन में यह प्रसंग आया या नहीं इसके विषय में शाकुन्तलम् मौन है और महाभारत भी । परन्तु उनकी यह मनोदशा आत्मा का वैशद्य मात्र न होकर आनन्दरूपिणी होती इसमें संदेह नहीं किया जा सकता । सहृदय पाठक कल्पनात्मक तादात्म्य के द्वारा दोनों का अन्तर स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं । कन्या की विदा और पुत्रवधू के आगमन के समय गृहस्थ की दो भिन्न मनोवृत्तियाँ मेरे कथन को पुष्ट करेंगी ।

सुख का अर्थ है सु+ख=आत्मा की वृद्धि और दुख का अर्थ है दुः+ख आत्मा की क्षति । मनोविज्ञान के शब्दों में सुख को चेतना का उत्कर्ष और दुःख को चेतना का अपकर्ष कह सकते हैं । अतः दुःख के अभाव का अर्थ हुआ आत्मा की क्षति की पूर्ति—अथवा चेतना के अपकर्ष का निराकरण । यह स्थिति भी निश्चय ही अनुकूल है परंतु आत्मा की वृद्धि अथवा चेतना के उत्कर्ष के समकक्ष तो वह नहीं हो सकती । अरस्तू-प्रतिपादित विरेचन-जन्य प्रभाव तथा भट्टनायक-अभिनव के रस में यही अन्तर है और यह अन्तर साधारण नहीं है, 'क्षतिपूर्ति' और 'लाभ' का अन्तर है ।

साधारणतः यह प्रसंग यहीं समाप्त हो जाना चाहिए । किन्तु मेरे जिज्ञासु मन का परितोष अभी नहीं हुआ और मेरी भाँति कदाचित् अन्य जिज्ञासुओं के मन में भी अभी यह शंका विद्यमान हो सकती है । मान लिया कि भारतीय करुण रस की स्थिति अरस्तू के त्रासद-करुण प्रभाव से अधिक उदात्त है, परन्तु क्या वह अधिक सत्य भी है ? इस शंका का समाधान शास्त्र की दृष्टि से ऊपर किया जा चुका है, यहाँ

हम शास्त्र का आश्रय न लेकर सहृदय के अनुभव को ही प्रमाण मानकर चलना चाहते हैं। करुण-रस प्रधान नाटक या काव्य का प्रेक्षण-श्रवण सहृदय किस लिए करता है ? इसका एक सीधा उत्तर है—आनन्द के लिए। आनन्द-उपलब्धि की प्रक्रिया और आनन्द के आधार के विषय में मतभेद हो सकता है, परन्तु आनन्द की प्रयोजनता असदिग्ध है। यदि यह उत्तर स्वीकार्य है, तब तो शंका निश्शेष हो जाती है। किन्तु हम यह देख चुके हैं कि यह उत्तर सर्वमान्य नही है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र, आई० ए० रिचर्ड्स, रामचन्द्र शुक्ल जैसे तत्त्वविद् इसे स्वीकार नही करते। आनन्द के विकल्प दो हैं—(१) मनोरागो का समजन और परिष्कार—त्रासदी आदि के प्रेक्षण से हमारी अन्तवृत्तियो का समजन और परिष्कार होता है, यही उसकी सिद्धि है—इसी के लिए हमें उसके प्रति आग्रह है। (२) जीवन में अनुराग—हमें जीवन के प्रति अनुराग है अत उसके हर्ष-विषादमय सभी रूपो के प्रति हमारी अभि-रुचि है, वरयात्रा में भी हमें उत्साह है और शवयात्रा में भी। इनमें से पहला विकल्प अर्थात् अन्तर्वृत्तियों का समन्जन और परिष्करण तो निश्चय ही एक उपलब्धि है। अन्तवृत्तियो के परिष्कार से हमारी चेतना का उत्कर्ष—अथवा आत्मा की वृद्धि होती है। दूसरा विकल्प भी अधिक भिन्न नही है—स्थूल भौतिक अर्थ में नही वरन् तात्त्विक अर्थ में जीवन के प्रति अनुराग या आस्था का नाम ही आस्तिक भाव है। जीवन की मूल वृत्ति यही है और जीवन के भोग (आनन्द) का आधार भी यही है, इसका विचलन क्लेश है और अविचल भाव आनन्द। शवयात्रा में सहृदय का उत्साह दु ख-मूलक नहीं होता, उसमें एक ओर दिवगत व्यक्ति के जीवित सम्बन्धियो के प्रति कर्तव्य का आनन्द और दूसरी ओर मृत्यु की बाधा से अनवरुद्ध जीवन-प्रवाह में आस्था का आनन्द विद्यमान रहता है। इसलिए मैं इन दोनो विकल्पों को केवल दृष्टि-भेद मानता हूँ। वास्तव में ये विकल्प आनन्द के स्वरूप की अशुद्ध धारणा पर आधृत हैं—आनन्द की परिकल्पना हमारे यहाँ बडे गम्भीर रूप में की गयी है। वह मनोरजन, लज्ज़त या प्लेज़र का पर्याय नही है। इसीलिए भारतीय दर्शन में उसकी उपमा समुद्र से दी गयी है—जीवन के सुख-दुख जिसकी लहरो के समान हैं। जिस प्रकार असख्य लहरो को अपने वक्ष पर खिलाती हुई समुद्र की अन्तर्धारा आत्मस्थ बहती रहती है, इसी प्रकार अनेक करुण-मधुर अनुभूतियो से खेलती हुई आत्मा या चेतना की अन्तर्धारा अपने सुख में निरन्तर प्रवाहित रहती है। उदात्त काव्य—वह चाहे शृगार-मूलक हो या करुण-मूलक सहृदय के मन को शृगार और करुण की लौकिक अनुभूति से नीचे इसी अन्तर्धारा में निमज्जन का सुयोग प्रदान करता है। इसी अर्थ में रस अखण्ड है और उसमें आस्वाद-भेद नही है।

भारतीय नाट्य-साहित्य

प्राचीन नाट्य-साहित्य

हिन्दी नाट्य-साहित्य

संस्कृत नाटकों का उद्भव और विकास

—डॉ० भोलाशंकर व्यास

नृतत्त्व-विशारदों ने संगीत, काव्य एवं नाटक के आदिम बीज आदिम जातियो की उन कर्मकाण्डीय पद्धतियो में ढूंढे हैं, जिन्हें वे 'टोटेम' के नाम से अभिहित करते हैं। अफ्रीका, पोलिनेशिया न्यूजीलैंड आदि की आदिम जातियाँ समय-समय पर एकत्रित होकर सामूहिक गान, नृत्य तथा अभिनय करती आज भी देखी जाती हैं, यही गान और नृत्य धीरे-धीरे सभ्य जातियो में परिष्कृत होकर एक ओर संगीत, दूसरी ओर काव्य, तीसरी ओर नाटक (रूपक) का स्वरूप धारण करते हैं। 'नाटक' शब्द का प्रयोग यहाँ हम 'नाटक साहित्य' के अर्थ में न कर उसकी प्रायोगिक या अभिनयात्मक पद्धति के लिए कर रहे हैं। जहाँ तक 'साहित्य'-विशेष के अर्थ में 'नाटक' के प्रयोग की बात है, उसे एक प्रकार से 'काव्य' का ही अंग मानना होगा। आदिम जातियो का समाज ज्यो-ज्यो विकास की ओर बढता जाता है, त्यो-त्यो उनका 'जादू' भी 'धर्म' के रूप में विकसित होने लगता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विद्वानो ने इसका कारण आर्थिक परिस्थिति का विकास माना है। जब यायावर तथा अव्यवस्थित आदिम समाज कृषि के अन्वेषण से व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने लगता है, तो उसके जीवन में एक अपूर्व गुणात्मक परिवर्तन हो आता है, और वह आदिमयुगीन जादू, जिसमें मूलत धर्म के बीज विद्यमान थे, धर्म का रूप धारण कर लेता है। इस तरह संगीत और नृत्य धर्म के भी अंग बन बैठते हैं। जब आर्यो ने भारत में प्रवेश किया, उस काल मे वे आदिम सभ्यता को बहुत पीछे छोड चुके थे। यद्यपि आरम्भ में वे घुमक्कड़ तथा पशुचारण-जीवन का यापन करते थे, किन्तु सप्तसिंधु प्रदेश में आकर वे क्रमशः कृषि से जीवन-निर्वाह करने लगे। इसी समय आर्यों ने एक निश्चित धार्मिक संगठन को जन्म दिया। वैदिक कर्मकाण्ड में संगीत एव नृत्य का समुचित विनियोग होता था। संगीत ने ही एक ओर वैदिक काव्य तथा दूसरी ओर साम-गान की पद्धति को विकसित किया, तथा नृत्य एव अभिनय ने नाट्य को। नृत्य का उल्लेख वैदिक साहित्य में बहुत मिलता है। ऋग्वेद में ही वैदिक कवि ने उषा का वर्णन करते समय उसे उस 'नृत्य' (नर्तकी) के रूप में देखा था, जो अपने अधखुले लावण्य को प्रकाशित करती है। इस प्रकार मूलतः संस्कृत या भारतीय नाटको का बीज इसी वैदिककालीन नृत्य में माना जा सकता है, जो वैदिक धर्म तथा कर्मकाण्ड का एक अंग था।

यद्यपि सस्कृत नाटको की अखड परम्परा ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्व से नही मिलती, तथापि यह निश्चित है कि अश्वघोष के बहुत पहले से जनता का रग-मच अवश्य विकसित हो गया होगा, तभी तो वह 'साहित्य' के रूप में ढल पाया। यही कारण है, सस्कृत नाटको के उद्भव के लिए हमें अश्वघोष से कई शताब्दियो पूर्व वैदिक साहित्य तक में बिखरे उन बीजो की छानबीन करनी पडती है, जो समय पाकर सस्कृत नाट्य-साहित्य के रूप में पल्लवित हुए। वैसे सस्कृत नाटको के विकास के विषय में एक परम्परावादी मत भी है, जो इसकी दैवी उत्पत्ति का सकेत करता है। इस मत का उल्लेख भरत के नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में हुआ है। इसके अनुसार त्रेता-युग में देवताओ की प्रार्थना पर पितामह ब्रह्मा ने शूद्रादि के लिए नाट्यवेद नामक पचम वेद की रचना इसीलिये की थी कि उनके मोक्ष का कोई साधन न था। नाट्यवेद की रचना में ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्ववेद से रस को ग्रहण किया तथा इस पचम वेद की रचना कर इसे भरत मुनि को प्रयोगार्थ सौंप दिया। भरत ने सौ शिष्यो तथा सौ अप्सराओ को नाट्य-कला की व्यावहारिक शिक्षा दी तथा उनकी सहायता से सर्वप्रथम अभिनय किया, जिसमें भगवान् शकर तथा भगवती पार्वती ने भी योग दिया। किन्तु इस दैवी उत्पत्ति को निश्चित प्रामाणिकता नही दी जा सकती। हाँ, वैसे इसमें भी एक तथ्य अवश्य है कि नाट्य के उदय में शूद्रो का खास हाथ रहा है, तथा प्रो० जागीरदार ने इस तथ्य पर विशेष जोर देते हुए अपनी अलग मत-सरणि स्थापित की है, जिसका सकेत हम यथावसर करेंगे।

हम देखते हैं कि नाट्य-कला में प्रमुखतया दो तत्त्व पाये जाते हैं—सवाद तथा अभिनय। इन दोनो तत्त्वो में से प्रथम तत्त्व (सवाद) ऋग्वेद में ढूँढा जा सकता है। ऋग्वेद के कई सूक्त सवादपरक हैं। इन सवाद-परक सूक्तो में इन्द्रमरुत् सवाद (१ १६५, १ १७०), विश्वमित्र-नादी-सवाद (३ ३३), पुरूरवस्-उर्वशी सवाद (१० ५६), यम-यमी सवाद (१० १०) का खास तौर पर उल्लेख किया जा सकता है। इन्ही संवादों को देखकर प्रो० मैक्समूलर ने यह स्थापना की थी कि इन सवादात्मक सूक्तो का यज्ञ के समय इस ढग से पाठ किया जाता रहा होगा कि प्रत्येक पात्र के लिए एक-एक ऋत्विक् रहता होगा, जो तत्तत् पात्र की उक्ति वाली ऋचा का शसन करता होगा। प्रो० मैक्समूलर के इस मत की पुष्टि अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने भी की है। प्रो० सिलवन लेवी ने ऋग्वेद काल में अभिनय की स्थिति मानी है। उनका कहना है कि वैदिक काल में सगीत अत्यधिक विकसित हो चुका था इसकी पुष्टि सामवेद से होती है। साथ ही ऋग्वेद में उन नर्तकियो का उल्लेख है, जो सुन्दर वेशभूषा में सुसज्जित हो नृत्य करती हैं तथा युवको को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। इसके साथ ही

अथर्ववेद में लोगों के नाचने-गाने का उल्लेख है। अत: इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई विरोध नही दिखाई देता कि ऋग्वेद के काल में नाट्यात्मक अभिनय का प्रचार था। यह नाट्यात्मक अभिनय धार्मिक प्रकृति का था, तथा पुरोहित-वर्ग देवताओं तथा ऋषियों की भूमिका में आकर उनका अभिनय करते थे। लेवी तथा मैक्समूलर की भाँति हर्टेल ने भी ऋग्वेद के सूक्तों में नाटकों के बीज माने हैं। पर इन विद्वानों के मतों मे यह त्रुटि है कि वे इन संवाद-सूक्तों को नाटक के स्थानापन्न ही समझ बैठते है इसीलिये डॉ० ए० बी० कीथ को इनके मत का प्रथम अंश तो ग्राह्य है कि ऋग्वेद मे नाटकों के बीज अवश्य विद्यमान हैं, किन्तु उक्त संवादों को नाटकीय संवाद मानने से वे सहमत नही, उनके मत से ये केवल पौरोहित्य कर्म के संवाद हैं। इस तरह इन सभी विद्वानों ने संस्कृत नाटकों का उद्गम-स्रोत भी यूनानी नाटकों की भाँति धार्मिक क्रिया-कलाप में ढूँढा है।

इसी से मिलता-जुलता एक दूसरा मत है, जो संस्कृत-नाटकों के बीज धार्मिक उत्सवों में ढूंढता है। यूनान में धार्मिक उत्सवों के समय लोग उन दु:खान्तकियों का अभिनय करते थे, जो किन्हीं वीरों की जीवनियों से संबद्ध होती थी। इस प्रकार ग्रीक 'रंगमंच' तथा नाटकों का उद्गम वीर-पूजात्मक उत्सवों में ढूँढा गया है। प्रो० वेबर जैसे विद्वानों ने ठीक यही सिद्धान्त संस्कृत नाटकों पर भी लागू किया है। उनके मत से इन्द्रध्वज आदि उत्सवों के समय होने वाले अभिनयों से ही संस्कृत-नाटकों का विकास हुआ है। किन्तु हम देखते हैं कि संस्कृत में अधिकांश नाटक वीररसात्मक नहीं हैं, अत: उन्हें वीर-पूजात्मक उत्सवों से जनित कैसे माना जा सकता है?

एक अन्य मत नाटकों का सम्बन्ध 'नृत्य' से जोड़ता है। प्रो० मैकडौनल ने नृत्य को ही नाटक का पूर्वरूप माना है। जहाँ तक विकास का प्रश्न है नाच का नाटकों के रूप में विकास मानने में कोई आपत्ति नही होती, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि एक मात्र नृत्य ही नाटकों का जन्मदाता नही। नृत्य, वैदिक मंत्रों के संवाद तथा सामवेद का संगीत तीनों ने मिल कर नाटकों को जन्म दिया होगा।

प्रो० पिशेल ने पुत्तलिका-नृत्य तथा छाया-नाटकों से भी संस्कृत-नाटकों का उद्भव माना है। छाया-नाटकों वाले मत की पुष्टि स्टेनकोनो ने भी की है। पिशेल के प्रथम मत के अनुसार भारत में पुत्तलिका-नृत्य का प्रचार बहुत पुराना है। महाभारत में पुतलियों का वर्णन मिलता है। इन पुतलियों को नचाने वाला व्यक्ति उनके डोरों को पीछे से पकड़े रहता था, इसलिये वह 'सूत्रधार' कहलाता था। यही पुत्तलिका-नृत्य का सूत्रधार नाटकों का 'सूत्रधार' बन बैठा है। किन्तु प्रो० पिशेल की इस स्थापना का यथेष्ट खण्डन हो चुका है। इसके बाद पिशेल ने छाया-नाटकों वाले मत

का प्रकाशन किया। छाया नाटकों में पर्दे के पीछे मूर्तियो या अभिनेताओं का अभिनय प्रदर्शित किया जाता है, तथा सामाजिक केवल उनकी छाया के अभिनय को देखता है। पिशेल को अपने मत की पुष्टि के लिए सस्कृत नाटको में एक छाया-नाटक भी मिल गया। किन्तु पिशेल ने अपने मत की पुष्टि के लिए जिस छाया-नाटक—सुभट्ट कृत 'दूतागद' का हवाला दिया है, वह बहुत बाद की रचना है, अत सस्कृत-नाटको को छाया-नाटकों से विकसित मानने में उसे प्रमाण-स्वरूप नही माना जा सकता।

नाटकों के अभिनय का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख यदि हमें कही मिलता है, तो वह महाभारत के हरिवश वाले अश में है, जो महाभारत के बहुत बाद की (कीथ के मतानुसार ईसा की दूसरी या तीसरी शती की) रचना मानी जाती है। इसमें बताया गया है कि वज्रनाभ नामक दैत्य का वध करने के लिए यादवो ने कपट-नटो के वेश में उसकी पुरी में प्रवेश किया तथा वहाँ रामायण तथा कौवेररभाभिसार नामक दो नाटकों का अभिनय किया। इनके सुदर अभिनय को देखकर दैत्य व उनकी पत्नियाँ अत्यधिक प्रसन्न हुईं। यदि हरिवश महाभारत के बहुत बाद की रचना है, तो उसके इस प्रकरण को अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता। वैसे, नाटक शब्द का उल्लेख तो रामायण में भी मिलना है। आरभ में ही अयोध्या के वर्णन में उसे 'वधूनाटकसघैश्चसयुक्ता' बताया है, तथा राम के अभिषेक के समय नटो, नर्तको, गायको, आदि का उपस्थित होना वर्णित है।

महाभारतोत्तर काल के साहित्य में सबसे पहले हम पाणिनि का सकेत कर सकते हैं। पाणिनि के एक सूत्र में शिलालिन् नामक आचार्य तथा अपर सूत्र में कृशाश्व नामक आचार्य के नटसूत्रो का सकेत मिलता है —'पाराशर्यशिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयो' (४ ३ ११०), 'कर्मन्द कृशाश्वदिनि' (४ ३. ११)। पाश्चात्य विद्वानो ने इस बात पर जोर दिया है कि पाणिनि में कही भी 'नाटक' शब्द का प्रयोग नही मिलता, उक्त 'नट' शब्द सभवत उस काल में पुत्तलिका-नृत्य की पुष्टि करता है। पाणिनि-सूत्रो में 'नाटक' शब्द उसके अन्य-वाचक पद का प्रयोग न होना इस बात की पुष्टि करता है कि उस समय (कीथ के मतानुसार ४०० ई० पू०) तक सस्कृत नाटकों का निश्चित विकास न हो पाया था।

पाणिनि के बाद कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'कुशीलवों' (नटो) तथा उनके द्वारा नागरिको को प्रेक्षणक (नाटक) दिखाये जाने का उल्लेख है। (कौ० अर्थशास्त्र १ ४.२८-३१) इसके बाद पतञ्जलि के महाभाष्य में तो 'कसवध' तथा 'बलिबधन' इन दो कथाओ से सबद्ध नाटको का स्पष्ट उल्लेख हैं। (महाभाष्य ३ १ २६)। ईसा

की प्रथम शताब्दी से तो हमें संस्कृत नाटकों की परिपक्व अवस्था दृष्टिगोचर होने लगती है।

इस सारे विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के विषय में शुद्ध भारतीय परंपरावादी मत दैवी उत्पत्ति में विश्वास करता है, जिसे आज का विद्यार्थी किसी भी तरह स्वीकार करने को प्रस्तुत न होगा। पाश्चात्य विद्वानों में अधिकांश इनकी उत्पत्ति वैदिक-कालीन धार्मिक कर्मकाण्ड या पौरोहित्य कर्म से मानते हैं। अब तक प्राय: सभी पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् संस्कृत नाटकों का धार्मिक उद्भव ही मानते हैं। प्रो० आर० वी० जागीरदार ने ही सर्वप्रथम इस मत का खंडन कर एक नये मत की उद्भावना की है। अपने ग्रन्थ 'दि ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर' के पंचम परिच्छेद में उन्होंने डा० कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों के इस मत का खंडन किया है कि संस्कृत नाटकों का उद्गम-स्रोत धार्मिक है। उन्होंने इस बात की स्थापना की है, कि संस्कृत नाटकों का उद्गम-स्रोत धार्मिक नहीं है।

प्रो० जागीरदार के मत के दो अंश हैं। प्रथम अंश में उन्होंने भरत तथा भारतीय नाट्य-कला के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन करते हुए, भारतीय नाट्य-कला के उद्भव पर नया प्रकाश डाला है। जैसा कि स्पष्ट है, भारत की परम्परा नाटक का संबंध भरत नामक मुनि से जोड़ती है, तथा इस किंवदंती का प्रचार कालिदास से भी पहले पाया जाता है। स्वयं कालिदास ने ही 'विक्रमोर्वशीय' के प्रथम अंक में भरत को नाट्याचार्य के रूप में माना है, तथा उनके द्वारा इन्द्र की सभा में एक नाटक खेले जाने का संकेत मिलता है। नाट्य-शास्त्र तथा नंदिकेश्वर के अभिनय-दर्पण में भी प्रस्तावना भाग में भरत का नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख है। क्या भरत कोई वास्तविक व्यक्ति थे, या इनका पौराणिक व्यक्तित्व रहा है? प्रो० जागीरदार ने इस प्रश्न को दूसरे ढंग से सुलझाया है। उनके मतानुसार नाट्य-कला के आचार्य भरत का सम्बन्ध वैदिक साहित्य की आर्य जाति की एक शाखा 'भरत' से जोड़ा जा सकता है। वैदिक साहित्य में 'भरत' आर्यों की प्रमुख जाति के रूप में प्रसिद्ध रही है। किन्तु उत्तर वैदिक-काल में आकर 'भरत' जाति का वह गौरव नहीं रहा है। इसी भरत जाति ने सर्व-प्रथम नाट्य-कला का पल्लवन किया था। वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति चिपके रहने वाले पुरोहित-वर्ग ने नाट्य-कला को हेय दृष्टि से देखा था। वे इसे कुत्सित कार्य—नीच कर्म—समझते थे। फलत: 'भरतों' के सम्मुख नाट्य-कला को छोड़कर अपने सामाजिक सम्मान की रक्षा करने या नाट्य-कला को न छोड़ने पर 'शूद्रों' में परिगणित होने का विकल्प सामने आया। 'भरत' जाति ने शूद्र बनना स्वीकार किया पर नाट्य-कला न

छोडी। प्रो० जागीरदार ने नाट्य-शास्त्र से ही इस बात की पुष्टि की है कि भरत के सौ पुत्रो को ब्राह्मणो ने रुष्ट होकर यह शाप दे दिया था कि वे शूद्र हो जायें तथा उन कावश भी शूद्र रहे। (नाट्य-शास्त्र ३६ ३४-३६)। वैदिक कर्मकाण्डीय पद्धति के प्रेमी आर्यों ने नाट्य-कला को कोई आश्रय नही दिया, फलत 'भरतो' को सप्तसिंधु प्रदेश छोडकर दक्षिण की ओर जाना पडेगा। सभवत ये राजपूताना की ओर से दक्षिण गये और वहाँ एक अवैदिक (अथवा अनार्य) राजा ने इनकी कला का आदर किया। नाटय-शास्त्र में ही इस बात का सकेत मिलता है कि 'नहुष' नामक राजा ने 'भूतो' को आश्रय दिया (वही ३६ ४८ तथा परवर्ती श्लोक)। यह 'नहुष' जैसा कि स्पष्ट है, कोई अनार्य राजा था जो इसके 'न-हुट्' (यज्ञ न करने वाला) नाम से ही सिद्ध है, तथा पुराणों में देवता तथा ब्राह्मणो से इसके विरोध की कथायें पाई जाती हैं। इस प्रकार प्रो० जागीरदार ने सस्कृत नाटको का विकास धार्मिक (वैदिक) क्रिया-कलापों में न मानकर वेद-विरोधी प्रवृत्ति में माना है।

प्रो० जागीरदार की स्थापना का दूसरा अश 'सूत्रधार' शब्द की व्युत्पत्ति से तथा सस्कृत नाटको के विकास में सूत्रधार का क्या हाथ रहा है—इस मीमासा से सम्बद्ध है। हम देख चुके हैं कि पिशेल ने 'सूत्रधार' शब्द को लेकर सस्कृत नाटको का विकास पुत्तलिका-नृत्य से माना था। जागीरदार के मतानुसार 'सूत्रधार' मूलत पुतलियो की डोर को पकड कर पीछे से नचाने वाला न होकर वैदिक क्रिया-कलाप के लिये वेदी आदि को नापने वाला शिल्पी है। इसी से नाटको से 'सूत्रधार' का सम्बन्ध जोडा गया है। वैदिक काल में सभवत 'सूत्रधार' के कई कार्य थे। वह शिल्पागमवेत्ता था तथा इसके साथ वशावली आदि सुनाने का भी कार्य करता होगा। पुराणों के 'सूत' से 'सूत्रधार' का सम्बन्ध जोड कर इस बात को सिद्ध किया गया है कि 'सूत्रधार' शब्द का प्रयोग बन्दीजन के अर्थ में किया जाता होगा। महाभारत के आदिपर्व में ही 'सूत' को 'सूत्रधार' भी कहा गया है। (**इत्यब्रवीत् सूत्रधारो सूत पौराणिकस्तया — आदिपर्व० ५१-१५**)। सूत्रधार को 'स्थपति' भी कहा जाता है तथा इस आधार को लेकर यह भी कल्पना की गई है कि नाटक के प्रस्तावना भाग का 'स्थापना' नाम इसी 'स्थपति' के सादृश्य पर रखा गया है। इस तरह 'सूत' (या सूत्रधार) का काम इधर-उधर घूम कर वीर-गीतो और लोक-कथाओ का गान करना तथा उसके द्वारा जनरञ्जन करना था। इस कार्य में धीरे-धीरे उसने अपने साथ सगीत का भी प्रबन्ध कर लिया होगा और इस प्रकार 'सूत' तथा 'कुशीलवो' (गायको) का गठबन्धन हो गया होगा। इतना ही नही आगे जाकर इसमें स्त्री नटी या नर्तकी का भी समायोग हुआ होगा, प्रो० जागीरदार ने महाकाव्योत्तर (पोस्ट-एपिक)—रामायण, महाभारत

कान के परवर्ती—सूत को ही संस्कृत नाटकों का जन्मदाता माना है। इस तरह उन्होंने महाकाव्यों से संस्कृत नाटकों का घनिष्ठ सम्बन्ध घोषित किया है।

"इस नाट्य-कला का जन्मदाता महाकाव्योत्तर सूत ही है, पुत्तलिका-नृत्यों का सूत्रधार नहीं, महाकाव्यों का पाठ ही भारती वृत्ति है, धार्मिक मन्त्रों का नहीं; सूत तथा कुशीलवों का गान ही सात्वती वृत्ति है; कैशिकी वृत्ति में नटी (नर्तकी) का समायोग किया गया; आरभटी वृत्ति नाटक को परिपूर्ण रूप में आरम्भ से अन्त तक अभिनीत करना है, संस्कृत नाटक ने अपना नायक सूत से तथा उन महाकाव्यों से लिया है, जिसका वह पाठ करता था, धार्मिक साहित्य अथवा वैदिक देव-समूह से नहीं, कदापि नहीं।" (दि ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४१)

संस्कृत नाटक-साहित्य की सर्वप्रथम रचनाएँ, जो हमें उपलब्ध हैं, तुर्फ़ान से मिले तीन नाटकों के खण्डित रूप हैं। इनमें एक नाटक शारिपुत्र प्रकरण है, अन्य दो कृतियाँ क्रमशः 'अन्यापदेशी रूपक' तथा 'गणिका-रूपक' हैं। प्रथम कृति नौ अङ्कों का एक प्रकरण है, शेष दो कृतियों के कलेवर के विषय में पूरी तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता। इन तीनों नाटकों की शैली को देख कर प्रो० ल्यूडर्स ने इन्हें अश्वघोष की कृतियाँ घोषित किया है। शारिपुत्र-प्रकरण में मौद्गल्यायन तथा शारिपुत्र के बुद्ध के द्वारा शिष्य बनाये जाने की कथा है। इसमें विदूषक का भी प्रयोग है, जो अन्य 'गणिका-रूपक' में भी पाया जाता है। शारिपुत्र की कथा शृंगार से शान्ति की ओर बहती दिखाई गई है, और इससे यह स्पष्ट है कि सौंदरानन्द की भाँति अश्वघोष की यह नाट्य-कृति भी 'मोक्षार्थगर्भा' है, तथा इसका लक्ष्य 'रतये' (मनोरञ्जनार्थ) न होकर 'उपशान्तये' (धार्मिक उपदेशार्थ) है। अन्यापदेशी रूपक (एलेगरिकल ड्रामा) में बुद्धि, कीर्ति, धृति आदि को मानवीय परिवेश में उपस्थित किया है। इसके एक पात्र स्वयं बुद्ध भी हैं इस प्रकार यह नाटक—जिसके शीर्षक का पता नहीं है—श्रीकृष्णमिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय की अन्यापदेशी शैली का अग्रदूत कहा जा सकता है। तृतीय कृति एक 'गणिका-रूपक' है, जिसमें सोमदत्त नामक नायक तथा वेश्या के प्रेम की कथा जान पड़ती है। इसके पात्र मृच्छकटिक की भाँति समाज के उच्च तथा निम्न दोनों स्तरों से लिये गये हैं—राजकुमार, दास, दासी, दुष्ट आदि। साथ ही इनमें भी विदूषक का समावेश पाया जाता है। यदि ये नाटक अश्वघोष के ही हैं—क्योंकि विद्वानों का एक दल इन्हें अश्वघोष की कृतियाँ नहीं मानता तथा इन्हें कालिदास के बाद के नाटक मानता है—तो हम कह सकते हैं कि अश्वघोष से पहले ही किसी कलाकार के हाथों ने भारतीय नाट्य-कला को सँवार दिया था, उसने नाटकों में 'विदूषक' का समावेश कर एक नवीन कौशल भारतीय नाटकों को दिया था। यह

नाटककार कौन था ? इसके विषय में हमारा इतिहास मौन है, और हम उस अज्ञात-नामा नाटककार का ध्यान आते ही श्रद्धानत हो जाते हैं, जिसने सस्कृत नाटको की अखण्ड परम्परा को जन्म दिया। यह तो निश्चित है कि अश्वघोष सस्कृत नाटको के आदिम कलाकार नही है।

अश्वघोष से कालिदास तक आने के पूर्व हम एक और नाटककार से परिचित होते हैं—भास। भास का नाम आज से ४२–४३ वर्ष पूर्व तक सस्कृत साहित्य के इतिहास में एक समस्या बना हुआ था। कालिदास, बाण तथा राजशेखर ने भास की कला की सस्तुति की थी और प्रसन्नराघवकार जयदेव ने उसे कविताकामिनी का 'हास' बताया था। पण्डितों व कवियो में एक किंवदन्ती प्रचलित थी कि भास की एक नाट्य-कृति–स्वप्नवासवदत्तम्–को आग में डाल देने पर अग्नि भी न जला सकी। सम्भवत यह पार्थिव अग्नि न हो कर आलोचको की आलोचनाग्नि थी, जिसमें तप कर भास की कृति और अधिक प्रभा-भास्वर हो उठी थी और इसी तथ्य को राजशेखर ने लाक्षणिक शैली में व्यञ्जित किया था। सन् १९१३ में म० म० गणपति शास्त्री ने सर्वप्रथम विद्वानो का ध्यान तेरह नाटको की ओर आकृष्ट किया तथा उन्हें भास की कृतियाँ घोषित किया। त्रिवेंद्रम से प्रकाशित नाटको के विषय में विद्वानो के तीन मत हैं —

(१) प्रथम मत के अनुसार ये नाटक निश्चित रूप से भास के ही हैं। इन नाटको की प्रक्रिया, शैली, भाषा आदि को देखने पर पता चलता है कि ये सब एक ही कवि की कृति हैं, तथा इनका रचनाकार कालिदास से पूर्ववर्ती है। स्वप्नवासव-दत्तम् के आधार पर इन सभी कृतियों को भास की ही मानना ठीक जान पड़ता है।

(२) दूसरे मत के अनुसार ये रचनाएँ भास की नही। इनका रचयिता सातवी-आठवी शती का कोई दाक्षिणात्य कवि जान पडता है।

(३) तीसरे मत के अनुसार ये नाटक मूलत भास की रचनायें हैं, किन्तु जिस रूप में आज ये उपलब्ध हें, वह उनका रगमचोपयुक्त सक्षिप्त रूप है।

इन तीन प्रसिद्ध मतो के अतिरिक्त एक चौथे मत का भी सकेत किया जा सकता है, जिसके अनुसार इन नाटको को दो वर्गों में बाँटा सकता है, एक वे नाटक, जिनमें अनुष्टुप पद्यो की सख्या अधिक हैं। ये नाटक भास की प्रामाणिक रचनाएँ जान पडती हैं। दूसरी कोटि के नाटक जिनमें अनुष्टुप पद्यो की सख्या बहुत कम है, भास की प्रामाणिक रचनाएँ नही है। इस मत के पोषक विद्वान् 'दरिद्रचारु-दत्त' को भास की कृति नही मानते।

भास के तेरह नाटकों को तीन वर्गों मे बांटा जा सकता है —

१. रामायण नाटक (प्रतिमा तथा अभिषेक) २. महाभारत नाटक (पंचरात्र, मध्यम व्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग तथा बालचरित), ३. अन्य नाटक (स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, अविमारक, दरिद्रचारुदत्त)। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि भास के नाटकों की कथावस्तु का स्रोत विविध है। एक ओर वह रामायण-महाभारत जैसे महाकाव्यो से अपनी कथा चुनता है, दूसरी ओर तत्कालीन लोक-कथाओ को भी अपनी कला के सांचे में ढालता है। यह विविधता भास की प्रतिभा की मौलिकता को व्यक्त करती है। इतना होते हुए भी भास के सभी नाटको में एक-सी नाट्य-कुशलता नही मिलती। रामायण वाले दोनो नाटको का कथा-संविधान शिथिल है। यहाँ नाटकीय कुतूहल का अभाव है। प्रतिमा नाटक मे एक स्थान पर जहाँ ननिहाल से लौटते भरत देवकुल में दशरथ की प्रतिमा देखकर उनकी मृत्यु से अवगत होते हैं—नाटकीयता लाने का प्रयत्न किया गया है, पर वहाँ कवि सफल नही हो सका है। वस्तुतः रामायण के दोनो नाटक रामायण की कथा का शुष्क संक्षेप है, जिन्हे मच के उपयुक्त बना दिया गया है। महाभारत वाले नाटको मे फिर भी कवि ने अधिक कौशल से काम लिया है। वैसे यहाँ भी कलाकार का परिपक्व कार्तित्व नही दिखाई देता। भास की सच्ची कुशलता का परिचय स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगंधरायण से मिलता है। स्वप्नवासवदत्तम् का घटना-चक्र विशेष कुशलता से निबद्ध किया गया है। इसमे व्यापारान्विति का पूर्ण ध्यान रखा गया है। कवि ने लोक-कथा को लेकर अपने ढग से सजाया है। नाटक की दोनो नायिकाओं—वासवदत्ता और पद्मावती—के चरित्रों को स्पष्ट रूप से निजी व्यक्तित्व दिया गया है। हर्ष की नाटिकाओं का विलासी उदयन भास के नाटक मे अधिक गंभीर रूप लेकर आता है। वासवदत्ता के चरित्र को चित्रित करने मे कवि ने बड़ी सावधानी और कुशलता बरती है। वासवदत्ता अपनी वास्तविकता को छिपा कर अपने पति के पराक्रम के लिए अपूर्व त्याग करती है। वैसे आरंभ में ही वासवदत्ता के जीवित रहने का संकेत कर देना नाटकीय कौतूहल को कुछ समाप्त कर देता है। किंतु ऐसा जान पड़ता है कि कवि यहाँ 'नाटकीय अपेक्षा' (ड्रैमेटिक एक्सपेक्टेशन) की योजना कर रहा है। कवि के रूप में भास को प्रथम श्रेणी में स्थान नहीं दिया जा सकता, किन्तु भास का लक्ष्य कविता करना न होकर नाटकीय योजना करना था। वैसे भास के नाटको में नाट्य-कला का वह प्रौढ रूप न भी मिले, जो हमे कालिदास के नाटको मे मिलता है, किन्तु भास की नाट्य-कला उस कृत्रिमता से मुक्त है, जिसने बाद के संस्कृत नाटक-साहित्य को दबोच लिया है। भास के नाटक मंचीय विनियोग को ध्यान में रखते जान पड़ते हैं, और उन्होंने कालिदास के नाटकों की सफलता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है।

कालिदास के हाथो में नाट्य-कला उस समय आई, जब वह समृद्ध हो रही थी और उसे किसी महान् कलाकार के अतिम स्पर्श की आवश्यकता थी। भास के नाटक—यदि वे मूलत इसी रूप में थे, तो शेक्सपियर के पूर्व के आग्ल मोरेलिटी तथा मिरेकिल नाटको की भाँति कलात्मक रमणीयता से रहित हैं, न उनमें कथा-वस्तु की नाटकीय सज्जा का प्रौढ सविधान मिलता है, न पात्रो का मनोवैज्ञानिक चित्रण, न काव्य की अतीव उदात्त महिमा ही। कालिदास ने नाट्य-कला के इन अभावो की पूर्ति की यद्यपि कालिदास अन्तस् से कवि हैं, तथापि उनके नाटको को देखकर कहा जा सकता है कि विश्व के चोटी के नाटककारो में उनका भी नाम लिया जा सकता है और यह उनके कवित्व के आधार पर नही, अपितु उनकी नाट्य-कला के आधार पर। कालिदास के विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुतल की कथा-वस्तु का विनियोग, इस बात का प्रमाण है कि वे जीवन के गत्यात्मक चित्र का निर्वाह करने में भी उतने ही कुशल थे, जितने कि कवि-कल्पना में। परवर्ती नाटककारो की भाँति जो मूलत कोरे कवि हैं—कालिदास ने अपने कवित्व के भार से नाटकीय कथा-वस्तु को कही भी आक्रात नही किया है। कालिदास की नाट्य-कला का इससे बढ कर क्या प्रमाण चाहिये ?

कालिदास के तीन नाटक हमें उपलब्ध हैं—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, तथा अभिज्ञानशाकुतल । अभिज्ञानशाकुतल कवि की अतिम कृति है, किंतु प्रथम कृति के विषय में विद्वानो में ऐकमत्य नही है। कुछ लोग विक्रमोर्वशीय को प्रथम कृति घोषित करते हैं, किंतु हमें मालविकाग्निमित्र ही पहली कृति दिखाई देती है। मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र तथा मालविका के प्रणय की कथा पाँच अको में निबद्ध की गई है । यद्यपि शास्त्रीय पद्धति के अनुसार यह नाटक है, किन्तु प्रकृत्या यह 'नाटिका' उपरूपको के ढग का दिखाई देता है। इसे इस दृष्टि से हर्ष की नाटिकाओ के विशेष समीप माना जा सकता है। राजप्रासाद तथा प्रमदवन से सीमित क्षेत्र में घटित प्रणय-कथा ही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है, जीवन की विशेषता के दर्शन यहाँ नही होते। राजा अग्निमित्र अपनी बडी रानी धारिणी तथा छोटी रानी इरावती से छिप-छिप कर मालविका से प्रेम करता है। इस तरह शास्त्रीय पद्धति से चाहे अग्निमित्र 'धीरोदात्त' माना जाय, हमें तो वह 'धीरललित' ही जान पडता है। कालिदास का दूसरा नाटक पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रसिद्ध प्रणय-कथा को आधार बनाकर आया है। इसकी कथा-वस्तु में निश्चित रूप से मालविकाग्निमित्र से प्रौढता दिखाई पडती है । मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा विक्रमोर्वशीय का ससार अधिक विस्तृत है, वह राजाप्रसाद की चहारदीवारी से सीमित नही। साथ ही विक्रमोर्वशीय का पुरुरवा अग्निमित्र की तरह केवल विलासी न होकर पौरुष से सपन्न है।

नाटक का आरंभ तथा अंत उनके पौरुष की उदात्त एवं गरिमामय झाँकी से समन्वित है। वह सच्चे शब्दों में 'धीरोदात्त' है। वह दानवों के द्वारा अपहृत उर्वशी को युद्ध करके छुड़ा लाता है। यही पौरुष उर्वशी के आकर्षण का कारण बनता है, और उसके मुँह से कवि ने स्वगत उक्ति कहलवा ही दी है—'उपकृत खलु दानवेंद्रसम्भ्रमेण' (विक्रमोर्वशीय प्रथम अंक)। विक्रमोर्वशीय में प्रणय का बीज सर्वप्रथम नायिका ही के हृदय में उद्भूत होता है, वही नायक से मिलने का प्रयास करती है। उर्वशी के अप्सरात्व को देखते हुए यह बात ठीक प्रतीत होती है। किंतु मालविकाग्निमित्र की भाँति विक्रमोर्वशीय का प्रणय लौकिक तथा विलासमय नहीं है। विक्रमोर्वशीय में कवि ने प्रेम को एक 'दिव्य' स्वरूप दिया है, संभवतः दैवी पात्र उर्वशी को चुनने का यह भी कारण हो, साथ ही इसकी चरम परिणति भी दिव्य वातावरण—इन्द्र की कृपा—में प्रदर्शित की गई है। दूसरे पुरुरवा तथा उर्वशी का प्रणय तब तक सफल नहीं समझा जब तक कि वह पुत्रोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। इस प्रकार कवि ने अफल प्रणय को वासना घोषित करने का संकेत किया है। कालिदास के दोनों परवर्ती नाटकों का उपसंहार नायक नायिका के प्रणय की मूर्त सफलता—एक में आयुष् के रूप में, अन्य में भरत के रूप में—में परिणत होता है। यह कालिदास के रघुवंश की प्रसिद्ध उक्ति 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' का निदर्शन दिखाई पड़ता है।

अभिज्ञानशाकुंतल में कवि ने विशेष कलाकृतित्व की व्यंजना की है। अभिज्ञानशाकुंतल दुष्यंत तथा शकुन्तला की प्रसिद्ध प्रणय-कथा पर निबद्ध सात अंकों का नाटक है। यद्यपि इस प्रणय-कथा का मूल स्रोत महाभारत तथा पद्मपुराण हैं, तथापि कालिदास ने इसे नाटकीय परिवेश में उपस्थित किया है। इतिहास-पुराणों का दुष्यंत कामुक दिखाई पड़ता है, जो अकारण शकुन्तला को विस्मृत कर देता है। कालिदास ने दो स्थानों पर दुष्यंत के कामुकत्व को बचा कर उसे खरा 'धीरोदात्त' बनाने की पूरी कोशिश की है। कालिदास का पहला प्रयास वहाँ दिखाई देता है, जहाँ दुष्यन्त तपोवन में शकुन्तला की पहली झाँकी देखते ही मोहित हो जाता है। एक राजा का तपोवन-वासिनी के प्रति मुग्ध होना राजधर्म ही नहीं, आचार के भी विरुद्ध है। और इस आचार-विरोध को कवि ने 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' कहलवा कर मिटा दिया है। आखिर दुष्यन्त जैसे पवित्र-हृदय व्यक्ति का अंतःकरण इस बात का साक्षी है कि शकुन्तला 'क्षत्रपरिग्रहक्षमा' है। इसी तरह शकुन्तला को भूलने के कारण के रूप में दुर्वासा-शाप की कल्पना करना भी कालिदास की नायक के चरित्र की अकलुषता बनाये रखने का प्रयत्न है। कालिदास के नाटकों का अध्ययन करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि उनकी नाट्य-रचना का प्रमुख लक्ष्य चरित्र-चित्रण न होकर रस-व्यञ्जना है। यही कारण है शेक्सपियर जैसी चरित्रों

की मनोवैज्ञानिक स्थिति, उनके अन्तर्द्वन्द्व का सघर्ष यहाँ नही मिलेगा फिर भी कालिदास के चरित्र कही बाहर के जीव न होकर, इसी जमीन के खाद-पानी से पनपे हुए हैं। यह दूसरी बात है कि वे यथार्थ के मर्त्यलोक और आदर्श के स्वर्ग को जोड कर इतने सुन्दर ताने-बाने में बुन दिये जाते हैं कि गेटे के शब्दो में हम उन्हें भी 'हैवन अर्थ कम्बाइड' कह सकते हैं। कालिदास के नाटककार ने उनको यथार्थ की रेखाओ में आलिखित किया है, और कालिदास के कवि ने उनमें आदर्श का रग भरकर भावना तथा कल्पना की 'लाइट और शेड' वाली द्वाभा झलका-दी है। दुष्यन्त जहाँ एक ओर रसिक-शिरोमणि है, वहाँ आदर्श राजा भी। जो दुष्टो को शिक्षा देता है, प्रजा के विवाद को शात करता है, तथा प्रजा का सच्चा बन्धु है, वह तपोवन की रक्षा के लिए, देवताओ की सहायता के लिए आततायी दानवो से सदा लोहा लेने को प्रस्तुत है। दुष्यन्त के उदात्त चरित्र की पराकाष्ठा में कालिदास अग्निमित्र जैसे कोरे शृगारी नायक का चित्र उपस्थित नही करना चाहता, अपितु वर्णाश्रमधर्म के व्यवस्थापक राजा का आदर्श भी उपस्थित करना चाहता है। खेद है, आज के नाटककार इस आदर्श को भूल से गये। हर्ष का 'उदयन' अग्निमित्र का ही 'प्रोटोटाइप' है। हाँ, भवभूति के राम में हमें फिर एक आदर्श नायक के दर्शन होते हैं। नायिकाओ के चित्रण में भी कालिदास की तूलिका अति पटु है। उनके सौकुमार्य, लावण्य तथा स्वाभाविक लीला का अकन करने में उसकी लेखनी सभवत अपना सानी नही रखती। हर्ष की प्रियदर्शिका, रत्नावली, यहाँ तक कि मलयवती भी मालविका की ही नकल है। शूद्रक की वसतसेना निस्सदेह सस्कृत नाटको की अनन्य नायिकाओ में से है, किंतु उस पर भी थोडी-बहुत उर्वशी की छाया पडी दिखाई पडती है। भवभूति की सीता का अपना निजी व्यक्तित्व है, पर वह सौकुमार्य जो कालिदास की नायिकाओ में है, वहाँ नही मिलता, वह गभीर प्रकृति की नायिका है, जिसे जीवन के समस्त हास-विषाद, सुख-दुख के अनुभवो ने अधिक प्रौढ बना दिया है, तथा उसमें 'रोमानी' नायिका-सुलभ चचलता समाप्त हो गई है। मालविकाग्निमित्र की नायिका धारिणी की सेविका बनी प्रणय-लीलानभिज्ञ राजकुमारी है, तो विक्रमोर्वशीय की नायिका रति-विशारदा उर्वशी। शाकुन्तल की नायिका एक ऐसे वातावरण में पली है, जहाँ विलास और काम-कला से दूर तपस्वी सयम का जीवन व्यतीत करते हैं, किंतु इतना होने पर भी भोली शकुन्तला आरभ के तीन अको में जिस तेजी से प्रणय-व्यापार करती है, उस दोष को तपस्या की आँच में तपाकर कालिदास ने उसके स्वर्णिम चरित्र की भास्वरता को स्पष्ट कर दिया है।

कालिदास की काव्य-कला के विषय में यहाँ कुछ कहना आवश्यक न होगा, किन्तु इतना सकेत कर दिया जाय कि कालिदास के नाटको की सफलता एक अश

तक उनकी काव्यात्मकता पर भी निर्भर करती है। कालिदास मूलतः शृंगार के कवि हैं, तथा शृंगार के विविध पक्षों का जिस बारीकी से उन्होंने चित्रण किया है, वह संस्कृत साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त कालिदास की नैसर्गिक अलंकार-योजना उनकी रस-व्यंजना में उपस्कारक सिद्ध होती है। कालिदास के नाटक इसी काव्यात्मकता के कारण भावनावादी अधिक हैं, काव्य की भाँति ये आदर्शवादी वातावरण की सृष्टि करते हैं, किन्तु यथार्थ से अछूते नहीं हैं भले ही मृच्छकटिक जैसी कठोर यथार्थता वहाँ न मिले।

संस्कृत के नाटकों में मृच्छकटिक का अपना महत्त्व है। यह अपने ढंग का अकेला नाटक है, जिसमें एक साथ प्रणयकथात्मक प्रकरण, धूर्तसंकुल भाण, हास्य-मिश्रित प्रहसन तथा राजनीतिक नाटक के विचित्र वातावरण का समन्वय दिखाई देता है। सम्पूर्ण संस्कृत नाटक-साहित्य में यही अकेला ऐसा नाटक है, जो उस काल के मध्यवर्ग की सामाजिक स्थिति का पूर्ण प्रतिबिंब कहा जा सकता है। मृच्छ-कटिक को पंडित-परंपरा शूद्रक की रचना मानती चली आ रही है, और इसका आधार स्वयं मृच्छकटिक का ही प्रस्तावना-भाग है। किन्तु शूद्रक केवल एक अर्ध-ऐतिहासिक या 'रोमैंटिक' व्यक्तित्व जान पड़ता है तथा किसी अज्ञातनामा कवि ने अपने नाम को प्रकाश में न लाकर इसे शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। मृच्छकटिक की रचना-तिथि के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। वैसे विद्वानों का बहुमत इसे ईसा की दूसरी शती की रचना मानता है, तथा इस मत के मानने वालों में वे दोनों तरह के विद्वान हैं, जो कालिदास को ईसा-पूर्व प्रथम शती तथा ईसा की चौथी शती में मानते हैं। इस तरह एक मृच्छकटिककार को कालिदास का ऋणी बताते हैं, अन्य कालिदास पर मृच्छकटिककार का प्रभाव मानते हैं। नये विद्वान् इस मत से सहमत नहीं कि मृच्छकटिक ईसा की दूसरी शती की रचना है। यह तो निश्चित है कि मृच्छकटिक कालिदासोत्तर रचना है, किन्तु स्वयं कालिदास ही इतने पुराने नहीं जान पड़ते कि उन्हें ईसा पूर्व प्रथम शती का माना जा सके। फलतः मृच्छकटिक की शैली, उसमें वर्णित सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि यह कालिदास (चौथी शती ईसवी) के परवर्ती—संभवतः गुप्त-साम्राज्य के ह्रास तथा हर्षवर्धन के उदय के बीच के काल की रचना है। हमने इस विषय का अधिक विवेचन अन्यत्र किया है, वह यहाँ अनावश्यक होगा।

मृच्छकटिक १० अंकों का एक संकीर्ण-कोटि का प्रकरण है। प्रकरण रूपक के १० भेदों में से एक है तथा नाटक से इसमें यह भेद है कि जहाँ नाटक में इतिवृत्त प्रख्यात होता है, यहाँ यह कल्पित होता है। नाटक का नायक सदा धीरोदात्त—राजन्य,

दिव्य या दिव्यादिव्य व्यक्ति—होता है, जबकि प्रकरण का नायक धीरशान्त—ब्राह्मण या वैश्य—होता है। नाटक का रस वीर अथवा शृंगार ही होता है। मृच्छकटिक में अवती के ब्राह्मण सार्थवाह चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रेम की कथा है, जिसके बीच में कवि ने प्रासंगिक कथा के रूप में गोपालदारक आर्यक की राजनीतिक क्राति वाली कथा को बुन दिया है। यह कथा मूल प्रणय-कथा से इतनी संश्लिष्ट है कि वह सम्पूर्ण रूपक में अनुस्यूत दिखाई पडती है। इतना ही नही, यह उप-कथावस्तु उस काल की सामाजिक अस्तव्यस्तता के वातावरण की सृष्टि करने मे भी पूरा योग देती है।

मृच्छकटिक की सबसे बडी विशेषता इसका घटना-चक्र, जीवन के विविध गत्यात्मक चित्रों का अकन तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण है। समस्त सस्कृत नाट्य-साहित्य पर सरसरी निगाह दौडाने पर पता चलता है कि अधिकाश सस्कृत रूपको का घटना-चक्र बडा कच्चा रहता है। इस दृष्टि से कालिदास, मृच्छकटिककार (शूद्रक ?) तथा विशाखदत्त को ही अपवाद कहा जा सकता है। नाटक की सफलता असफलता की कसौटी उसका काव्यत्व न होकर नाटकीय गतिमत्ता या व्यापार है। नाटक की कथावस्तु-व्यापार के द्वारा जितनी ही अग्रसर होगी, नाटक उतना ही खरा उतरेगा। मृच्छकटिक में व्यापार-योजना में बडी सतर्कता बरती गई है। दूसरे मृच्छकटिक कवि ने सर्व-प्रथम राजन्य-वर्ग को छोडकर मध्यवर्ग के जीवन से अपनी कहानी चुनी है। उज्जयिनी के मध्यवर्ग समाज की दैनदिन चर्चा को रूपक का आधार बनाकर कवि ने इसमें यथार्थता के प्राण डाल दिये हैं। इस दृष्टि से यह सस्कृत का एक मात्र यथार्थवादी नाटक है तथा इसकी तुलना सस्कृत के समस्त साहित्य में दण्डी के दशकुमारचरित को छोडकर अन्य किसी कृति से नही की जा सकती। दशकुमारचरित की तरह ही मृच्छकटिक भी तात्कालिक समाज पर एक करारा व्यग्य है। मृच्छकटिक के पात्र समाज के प्राय सभी तरह के वर्गों से चुने गये हैं—अत्यधिक सभ्य ब्राह्मण और पतित चोर, पतिव्रता पत्नी और गणिका, पवित्र भिक्षु और पापी शकार, न्याय और व्यवस्था के रक्षक अधिकरणिक तथा रक्षक (सिपाही), जुआरी और लफगे। और सबसे बडी विशेषता तो यह कि ये सभी पात्र सस्कृत-नाटको के अन्य पात्रो की भाँति 'टाइप' न होकर व्यक्ति हैं। पवित्र-हृदय विट, जिसे पेट के लिए नीच और मूर्ख शकार का नौकर बन कर अपमान करना पडता है, लोगो के घरो तथा युवतियो के हृदय मे सेंध लगाने की कला में पटु शर्विलक, जिसे प्रेम के लिए न चाहते हुए भी चोरी करनी पडती है, जुए के कुत्सित कर्म के प्रायश्चित्त रूप में बौद्ध भिक्षुत्व धारण करने वाला सवाहक—ऐसे

छोटे-छोटे पात्र भी अपना निजी व्यक्तित्व लेकर हमारे समक्ष अवतरित होते हैं। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त तो महार्घ गुणों से सपन्न व्यक्ति है, जिसने समस्त उज्जयिनी के मन को जीत लिया है। वह कुलीन, सभ्य, सच्चरित्र तथा त्यागी युवक है, जो अपनी त्यागशीलता के ही कारण समृद्ध सार्थवाह से दरिद्र बन गया है। वसंतसेना का चरित्र दृढ, सत्य और विशुद्ध सात्विक प्रेम, अपूर्व त्याग और गुणस्पृहा की आँच मे तपकर, गणिका-वृत्ति की कालिमा का परित्याग कर, शुद्ध भास्वर स्वर्ण के समान उपस्थित होता है। गणिका होते हुए भी वह राजवल्लभ सस्थानक (शकार) तथा उसकी सुवर्णराशि को ठुकराकर अपने शुद्ध एवं गम्भीर प्रेम का परिचय देती है। मृच्छकटिक का तीसरा महत्त्वपूर्ण पात्र राजश्याल सस्थानक है। कवि ने शकार के व्यक्तित्व में एक साथ बेवकूफी, कायरपन, हठधर्मिता, दंभ, क्रूरता तथा विलासिता के विविध उपादानो को सँजोया है। वह न केवल नाटक का 'प्रति-नायक' है, अपितु सामाजिको में अपने 'विद्रूप' से हास्य की सृष्टि करता है। हास्य-सृष्टि के लिए विदूषक मैत्रेय भी महत्त्वपूर्ण पात्र है, पर शकार और मैत्रेय के हास्य में बडा अतर है। शकार का हास्य बेवकूफी से भरा तथा विद्रूप है, विदूषक का हास्य प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा बुद्धिमत्ता का परिचय देता है। जीवन की विविध चित्रमत्ता, यथार्थ वातावरण, धूर्तसकुलत्व, विद्रूप तथा शिष्ट हास्य के समायोग ने ही मृच्छकटिक को ग्रीक 'कामेडी' के समान स्तर पर खडा कर दिया है। किंतु खेद है, मृच्छकटिक का यह गुण बाद के किसी भी सस्कृत नाटको में दिखाई नही देता। जैसा कि हमने अन्यत्र लिखा है:— "मृच्छकटिक प्रकरण ने जो परपरा सस्कृत-साहित्य को दी, उस अनुपम दाय को सँभालने वाला कोई न मिला। मृच्छकटिक के लावारिस रचयिता की विरासत कुछ लोगो ने अपनानी चाही, पर वे मृच्छकटिक के रचयिता की अमूल्य निधि का दुरुपयोग करने वाले निकले। भवभूति ने मालती-माधव प्रकरण के द्वारा सभवत इसी तरह की वातावरण-सृष्टि करनी चाही थी, पर भवभूति की गभीर प्रकृति धूर्तसकुल प्रकरण के उपयुक्त न होने से उसने हास्य और व्यंग के पुट को छोड दिया। फलत: भवभूति का प्रकरण 'कामेडी' के उस वातावरण तक न उठ सका। ...... प्रहसनो और भाणो ने मृच्छकटिक की एक विशेषता को अवश्य आगे बढाने का भार लिया, किंतु आगे जाकर भाण केवल गणिकाओ और विटो, वेश्यापणो और कोठो के इर्द-गिर्द ही घूमते रहे, मध्यवर्ग के जीवन की विविधता का दिग्दर्शन न हो सका, और संस्कृत के विपुल नाटक-साहित्य में मृच्छकटिक आज भी सर्वोन्नत स्थिति में खडा जैसे सस्कृत नाटक-साहित्य की जीवन रस से अछूती कृतियो की विडम्बना कर रहा है।"

जब साहित्य के क्षेत्र में कोई महान् व्यक्तित्व किसी भी कलात्मक कृति को

जन्म देता है, अभिनव मौलिकता का सनिवेश करता है, तो परवर्ती साहित्यिक उस की कृतियों को 'आदर्श' मानकर उनकी नकल करना शुरू कर देते हैं। कालिदास तथा मृच्छकटिककार ऐसे ही क्रातदर्शी कलाकार थे, जिन्होने सस्कृत नाटकों में नई पद्धति को जन्म दिया था और अपनी कृतियो में जीवन का प्रतिबिंब उतार कर 'नाटक मानव प्रकृति का दर्पण है,' इस उक्ति की पुष्टि की थी, किंतु बाद के नाटक-कारो ने कालिदास को ही आदर्श मान कर नाट्य-शास्त्र के नियमों का आलेखन आवश्यक समझा और इस प्रकार बाद के नाटककारों के लिये शास्त्रीय सिद्धातो का बधन बना दिया गया। श्रव्य काव्य की तरह अब दृश्य काव्य भी कला-कौशल तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन का क्षेत्र माना जाने लगा। नाटक की सफलता-असफलता की कसौटी सैद्धातिक 'टेकनीक' का पालन ही समझी जाने लगी, भले ही उनमें जीवन के गत्यात्मक चित्रों का अभाव ही क्यो न हो ? नाटककार के लिए नाटक में अर्थ-प्रकृति, अवस्था, सधि, तत्तत् सन्ध्यग आदि का विनियोग करना काफी था, भले ही रगमंच की प्रायोगिक शिक्षा का 'क ख ग' भी उसने नहीं सीखा हो। भरत के नाट्य-सिद्धातों की लीक पर कदम-ब-कदम चलने की इस प्रवृत्ति ने जिन दो नाटककारो को जन्म दिया, वे हैं— हर्षवर्धन तथा भट्टनारायण।

कान्यकुब्जाधीश्वर महाराज हर्षवर्धन के नाम से तीन रूपक प्राप्त होते हैं, इनमें एक नाटक है, दो नाटिकायें। कुछ लोगों ने इन्हें हर्षवर्धन की कृतियाँ न मानकर हर्ष के किसी दरबारी कवि की रचना माना है, पर प्रमाणाभाव में इन्हें हर्षवर्धन की की ही कृतियाँ मान लेने के सिवाय कोई दूसरा चारा नज़र नही आता। हर्ष कृतियाँ प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानद हैं। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली दोनो की कथा वत्सराज उदयन के अन्त पुर-प्रणय से सबद्ध है तथा ये दोनो नाटिकायें मालविकाग्निमित्र की साफ तौर पर नकल जान पडती है। प्रियदर्शिका तो पूर्णतया असफल नाटिका है। सभवत प्रियदर्शिका की असफलता ने ही कवि को उसी प्रकार की वस्तु से सबद्ध अन्य नाटिका-रत्नावली की रचना करने को उत्तेजित किया हो। रत्नावली की कथा-वस्तु अधिक चुस्त तथा गठी हुई है। घटना में गतिशीलता है, किंतु जब हम हर्ष की तुलना कालिदास तथा मृच्छकटिककार से करते हैं तो वह मध्यम श्रेणी का कलाकार ही दिखाई पडता है। नागानद बोधिसत्व जीमूतवाहन के अपूर्व त्याग की कहानी पर पाधृत पाँच अको का नाटक है। इसकी योजना देखकर ऐसा जान पडता है कि यह प्रियदर्शिका तथा रत्नावली के मध्य-काल की रचना है। यद्यपि यहाँ जीमूतवाहन की अपूर्व दानशीलता तथा त्याग की झाँकी दिखाना ही कवि का प्रमुख लक्ष्य है, तथापि ऐसा जान पडता है, कवि अपनी 'रोमानी' प्रकृति को नहीं भुला सका है। नागानद के प्रथम तीन अकों के प्रणय व्यापार—जीमूतवाहन तथा

मलयवती के प्रणय—को देखते हुए इसे भी नाटिका रूपकों की प्रवृत्ति से अत्यधिक प्रभावित कहना होगा। संभवतः हर्ष अपनी प्रणयाभिरुचि को नही छोड पाया है तथा प्रियदर्शिका के प्रभाव से उसने नागानद में भी उसका समावेश कर दिया है। यदि नागानद कही तीसरे अंक पर ही समाप्त हो जाता, तो यह प्रियदर्शिका रत्नावली के समान प्रणय-रूपक (लव कामेडी) होता। आगे के दो अंको को इन तीन अंकों से जिस सूक्ष्म सूत्र से जोडा गया है, वह कवि की असफलता का व्यजक हैं। कुल मिलाकर यह नाटक असफल कृति है, यदि इसमें विशेषता है तो वह जीमूतवाहन के त्यागशील चरित्र की झाँकी कही जा सकती है। इस प्रकार स्पष्ट है, हर्ष की सारी कीर्ति केवल एक ही कृति रत्नावली के बूते पर टिकी है। नाट्य-शास्त्र के परवर्ती ग्रंथो ने तो उसे एक आदर्श नाट्य-कृति माना है तथा धनिक एवं विश्वनाथ ने दशरूपकावलोक तथा साहित्यदर्पण में तत्तत् नाटकीय टेकनीक के उदाहरण इनी कृति से या भट्टनारायण के वेणीसहार से उद्धृत किये हैं।

हर्ष के मूल्याकन के विषय में विद्वानो के दो मत हैं। एक मत के अनुसार हर्ष कालिदास के ही मार्ग के पथिक हैं, तथा रत्नावली की रचना उसने सैद्धातिक टेकनीक को ध्यान में रख कर कभी नही की है, यद्यपि बाद के शास्त्रकारो ने उसकी एक कृति को आदर्श नाट्य-कृति मान लिया है। काव्य-कला की दृष्टि से भी हर्ष संयोग शृगार के कुशल चित्रकार हैं। अन्य मत के अनुसार हर्ष की कृतियाँ मानव-जीवन के रस से सर्वथा अछूनी है। हर्ष ने नाटक के क्षेत्र में सैद्धातिक 'टेकनीक' को बढावा दिया है। वह नाटककार बनने के योग्य नही था। उसने अपनी कथा-वस्तु दूसरो से ली है तथा दूसरे नाटककारो की नकल की है। कथा-वस्तु की नाटकीय योजना में वह असफल सिद्ध हुआ है तथा उसके पात्र चेतनताशून्य हैं, वे केवल कवि के हाथ की कठपुतली दिखाई देते हे। यह निश्चित है कि हर्ष एक कुशल कवि है, किंतु नाटककार के रूप मे वह पूर्णत: असफल हुआ है। प्रो० जागीरदार के शब्दो में, "हर्ष के लिए कविता केवल विनोद का साधन मात्र थी, स्वाभाविक स्फूर्ति नहीं; साथ ही नाटक भी उसके लिए मानव-जीवन की झाँकी न हो कर नाट्य-शास्त्र के अध्ययन का फल था।" प्रो० जागीरदार यही नही रुकते, वे जन-समाज की मानसिक एव सामाजिक क्राति के प्रधान अस्त्र नाटक को एक राजा के हाथ पडे देख कर दु:खी होते हैं, और कह उठते हे —"यद्यपि हर्ष ने अपनी नाट्य-कला की सफलता के केवल २५ प्रतिशत श्रेय का भागी अपने आपको घोषित किया है, तथापि साहित्य के लिए वह एक कुसमय था जब साहित्य के प्रमुख जनवादी अंगों में से एक (नाटक) एक राजा के हाथों जा पडा। न्याय और व्यवस्था का नियम साहित्य के क्षेत्र में भी लागू हो गया। कौन जानता है कि हर्ष ने बुद्धिवादी जनतान्त्रिकों तथा

निरकुश कलाकारों को निर्वासित करते हुए कुछ रूढ़िवादी पण्डितों को स्वयं उसी के नाटकों के सम्बन्ध में इन नये सिद्धान्तों (नियमों) का विधान बनाने को प्रोत्साहित किया हो और इस तरह उस काल की म्रियमाण संस्कृत भाषा में रचना कर उन पर अपनी राजकीय सम्मति दी हो।"

नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तो को ध्यान में रख कर लिखा गया अन्य नाटक भट्ट-नारायण का वेणीसहार है, जो हर्ष के कुछ ही दिनो के बाद की रचना है। भट्ट-नारायण आदिसूर आदित्यसेन (राज्यकाल ६७१ ई० तक) के समय में विद्यमान थे। वेणीसहार महाभारत की कथा पर लिखा गया ६ अको का नाटक है। इसका अगी रस वीर है। वेणीसहार रत्नावली की भाँति नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तो के निदर्शन के लिए प्रसिद्ध है तथा धनिक और विश्वनाथ ने इससे भी कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इतना होने पर भी वेणीसहार नाटकीय दृष्टि से एक असफल कृति है। वेणीसहार की कथा-वस्तु गठी हुई नही है, इसमें व्यापारान्विति का अभाव है, यद्यपि नाटक में अत्यधिक व्यापार पाया जाता है। कवि व्यापार को नाटकीय ढग से सजाने में असफल हुआ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उसने समस्त महाभारत-युद्ध को नाटक में वर्णित करने की चेष्टा की है, यह प्रयत्न नाटक की अन्विति मे बाधक हुआ है। वैसे वेणीसहार में कुछ छटपुट दृश्य ऐसे हैं, जिनमें प्रभावोत्पादकता है, किन्तु कुल मिला कर समग्र नाटक की प्रभावात्मकता में वे योग नही देते। इतना होने पर भी वेणीसहार में दो-तीन गुण हैं। पहला गुण उसका चरित्र-चित्रण है। यद्यपि वेणीसहार के पात्र 'व्यक्ति' नहीं हैं, फिर भी परवर्ती नाटको की तरह वे चेतनाशून्य न होकर सजीवता से समवेत हैं। कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम तया दुर्योधन के चरित्रो को कवि की तूलिका ने सुन्दर चित्रित किया है। दूसरा गुण, इसके सवाद हैं। तृतीय अक का कर्ण तथा अश्वत्थामा का सवाद अपना विशेष महत्व रखता है। भट्ट-नारायण ने इस सवाद के द्वारा वाक्-युद्ध की जो परम्परा दी है, वह भवभूति के महावीर-चरित, मुरारि के अनर्घराघव तथा जयदेव के प्रसन्नराघव तक चली आई है, और यही से उसे तुलसी ने परशुराम-लक्ष्मण सवाद के रूप में तथा केशव ने रावण-बाणासुर सवाद के रूप में अपनाया है। काव्य की दृष्टि से भी भट्टनारायण का नाटक विशेष प्रसिद्ध है, पर कवि के रूप में भट्टनारायण गौडीय मार्ग के ही पथिक हैं, तथा कृत्रिम एव अलकृत शैली के शौकीन हैं। इतना सब होते हुए भी सस्कृत नाटको का इतिहासकार भट्टनारायण की सस्तुति करते समय सतर्कता ही बरतेगा, क्योकि नाटक के रूप में उसकी कृति कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त या भवभूति के नाटको के समकक्ष नही रक्खी जा सकती, और यहाँ तक कि पुराने आलोचको ने भी भट्टनारायण को एक दोष के लिए कोसा था कि उन्होने व्यर्थ ही वीर रस के नाटक

में (द्वितीय अंक में) भानुमती तथा दुर्योधन के प्रेमालाप का चित्रण किया था, जो सर्वथा अस्वाभाविक तथा अनुपयुक्त है। भट्टनारायण पर निर्णय देते समय आलोचक डॉ० दे के स्वर में यही कहेगा —"**यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भट्ट-नारायण की कृति निम्न कोटि का नाटक है तथापि उसके नाटक में सुन्दर कविता विद्यमान है किन्तु कविता में भी, नाटक की ही तरह, भट्टनारायण की सशक्त कृति को विकृत बनाने वाला तत्त्व यह है कि उसकी शैली अत्यधिक कृत्रिम तथा अलंकृत है, और बुरी कदर अलंकृत होना उदात्त-काव्य या नाटक से मेल नहीं खाता।**"

उक्त सैद्धांतिक नाटको की प्रतिक्रिया हमें विशाखदत्त के मुद्राराक्षस मे मिलती है, जो सम्भवत. भट्टनारायण का ही समसामयिक था। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस सस्कृत के उन गिने-चुने नाटको मे है, जो काव्य के लिए न लिखे जा कर नाटकीय विनियोग के लिए लिखे गये हैं। इतना ही नही, विशाखदत्त पहला नाटक-कार है, जिसने सैद्धातिक रूढियो को झकझोरा। कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण तथा काव्य-शैली सभी मे वह मौलिकता का परिचय देता है। विशाखदत्त के नाटक की कथा चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य से सम्बद्ध है। चाणक्य नन्दवंश का उच्छेद कर चन्द्र-गुप्त को मूर्धाभिषिक्त करता है, किंतु उसका कार्य तो पूर्ण तब होगा, जब वह नन्द के स्वामि-भक्त अमात्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का शुभचिंतक अमात्य बना सके। इसी कार्य के लिए वह चालें चलता है। राक्षस उसकी चालो से सतर्क रहता है, पर आखिर चाणक्य की 'गुणवती' नीति-रज्जु राक्षस-रूपी मस्त वन्य हाथी को बाँध ही लेती है। इस प्रकार मुद्राराक्षस के सात अंको में मुख्य रूप मे चाणक्य तथा राक्षस का नीति-युद्ध है, और इस नाटक का अगी रस वीर होते हुए भी न यहाँ एक भी रक्त की बूँद गिरी है, न तलवारो की झनझनाहट ही सुनाई देती है। मुद्राराक्षस की कथा-वस्तु राजनीति के दाव-पेंच से सम्बद्ध होने के कारण अत्यधिक गम्भीर है। उसमें कालिदास या शूद्रक के नाटको का रोमानी वातावरण नही, न हर्ष की नाटिकाओं की विलासवत्ता है, न भट्टनारायण के नाटक की भयानक दृश्यों की योजना ही। चाहे यहाँ भवभूति के नाटको की गीतिमत्ता भी न हो, फिर भी मुद्रा-राक्षस मे अपनी निजी विशेषता विद्यमान है, जो अन्य किसी सस्कृत नाटक में नही पाई जाती। "**सम्भवतः सहृदय भावुक ऐसे नाटक की प्रभावात्मकता के विषय में शंका कर सकता है, जिसमें न प्रेम-व्यापार की मधुरिमा है (मुद्राराक्षस में स्त्री-पात्रों का अभाव है, केवल एक नगण्य पात्र चन्दनदास की पत्नी मंच पर आती है), न संगीत की तान, न नृत्य का लास्यमय पदविक्षेप, न सीन-सिनेरी से रमणीय प्रकृति-परिवेश हो; किन्तु इसमें कोई शक नहीं कि नाटक की वस्तु-योजना इतनी चुस्त और गठी हुई है कि व्यापार की गत्यात्मकता कहीं क्षुण्ण नहीं होती, और पात्रों का प्रवेश उस व्यापार**

को गति देने के लिए कराया जाता है।" यही कारण है, मुद्राराक्षस के लिए विशिष्ट कोटि के सामाजिक (दर्शक) की आवश्यकता है। साथ ही मुद्राराक्षस की रसानुभूति भी इस दृष्टि से अन्य नाटको की रसानुभूनि से भिन्न कोटि की है। जैसा कि मुद्राराक्षस की प्रभावोत्पादकता के विषय में हमने अन्यत्र लिखा है, **"मुद्राराक्षस की लड़ाई चाणक्य और राक्षस की लड़ाई नहीं, उनकी मंत्रशक्तियों की लड़ाई है, और नाटक का सारा कौतूहल दोनों की चाल और अपने मोहरे को बचाकर दूसरी चाल चलने तथा प्रत्येक पक्ष के द्वारा अपर पक्ष को शै देने के प्रयत्न में है, दर्शक पास में बैठा शतरंज के इन दो खिलाड़ियों की चालें देखकर अभिभूत होता रहता है।"**

नाटक के नायक को चुनने तथा उसके चरित्र में गहरे रग भरने में भी विशाखदत्त की तूली ने क्रातिकारिता का परिचय दिया हैं। उसके नाटक का नायक 'धीरोदात्त' है, निस्सदेह, किन्तु क्या उसे रूढिवादी 'धीरोदात्त' मानेगा ? पहले तो यही विवाद हो सकता है कि इसका नायक कौन है, चन्द्रगुप्त या चाणक्य। परम्परावादी आलोचक चन्द्रगुप्त के पक्ष में मतदान करेगा, किंतु विशाखदत्त चन्द्रगुप्त को कभी भी नायक के रूप में नही देखना चाहता। मुद्राराक्षस का नायक वस्तुत चाणक्य है। क्या रूढिवादी उसे 'धीरोदात्त' मानेगा, सभवत चाणक्य का ब्राह्मणत्व इसमें बाधक सिद्ध हो। कुछ भी हो, कलाकार ने अपनी समस्त कलाविता का रग चाणक्य तथा प्रतिनायक राक्षस के चित्राकन में ही उँडेल दिया है। चाणक्य नि स्वार्थ, दृढप्रतिज्ञ, कूटनीति-विशारद एव महान् राजनीतिज्ञ है। उसकी सबसे बडी जीत तो यह है कि मित्र एव शत्रु सभी उसकी नीति की प्रशसा करते हैं। भागुरायण को तो चाणक्य की नीति नियति की तरह चित्र-विचित्र रूप वाली दिखाई पड़ती है। बाहर से चाणक्य का चरित्र कठोर प्रतीत होता है, पर उसके अन्तस् के नवनीतत्व की झाँकी भी कलाकार ने एक आध स्थान पर दिखा कर उसे लोकोत्तर चरित्र बना दिया है। **"चाणक्य वस्तुत पत्थर से भी ज्यादा सख्त तथा मोम से भी ज्यादा मुलायम है।"** प्रतिनायक राक्षस का चरित्र जिस प्रोज्ज्वल रूप में सामने आता है, ऐसा कम प्रतिनायको में मिलेगा। राक्षस में मानवोचित उदात्तता इतनी कूट-कूट कर भरी है कि यही उसकी पराजय का कारण बनती है। राक्षस चाणक्य की तरह दृढ बुद्धिवादी न होकर भावुक है, वह अपने हृदय को पूर्णत वश में नही कर सका है, फलत प्रत्येक व्यक्ति का विश्वास कर बैठता है। यद्यपि नाटक के निर्वहण में राक्षस की हार होती है, पर उसकी पराजय भी इतनी भव्य एव उदात्त है कि सामाजिक उसके आगे श्रद्धानत हो जाता है और यह तथ्य चाणक्य पर उसकी नैतिक विजय सिद्ध करता है। राक्षस हार कर भी जीतता है, और चाणक्य जीत कर भी हार जाता है। काव्य-शैली की दृष्टि से भी विशाखदत्त को मध्यम श्रेणी का कवि कदापि नही कहा जा सकता।

विशाखदत्त के वाद हम सस्कृत साहित्य के एक और महान् नाटककार की कृतियो से अवगत होते हैं। जिस प्रकार विशाखदत्त के नाटक को पूर्ववर्ती सैद्धान्तिक नाटको की प्रतिक्रिया माना जा सकता है, उसी प्रकार भवभूति मे उनकी प्रतिक्रिया अन्य रूप में उद्भिन्न दिखाई पडती है। भवभूति के तीन नाटक हमे उपलब्ध हैं —मालतीमाधव, महावीरचरित एव उत्तररामचरित। मालतीमाधव दस अको का प्रकरण है, जिसमे कवि ने मालती तथा माधव की कल्पित प्रेमकथा को निवद्ध किया है। यह अवश्य है कि कवि को इसकी प्रेरणा बृहत्कथा की किसी प्रेमकथा से मिलती होगी, क्योकि वैसी कई कथानक-रूढियो का प्रयोग इसमे पाया जाता है। भवभूति की यह प्रथम कृति विशेष सफल नही कही जा सकती। इस प्रकरण में व्यापारान्विति का अभाव है, तथा वस्तु-सविधान की रूढ पुनरुक्ति भी पाई जाती है, जैसे एक स्थान पर मकरंद मालती का वेश धारण करता है, अन्यत्र माधव लवगिका का; इसी तरह माधव मालती को अघोरघट के पजे से छुडाता है, मकरन्द मदनिका को शेर से बचाता है। वैसे 'मालतीमाधव' में कतिपय उत्तेजक एवं प्रभावोत्पादक घटनाओ का सकलन पाया जाता है। काव्य की दृष्टि से यह कवि की प्रथम कृति होते हुए भी उत्कृष्ट कृति कही जा सकती है।

मालतीमाधव के कथावस्तु-शैथिल्य को कवि ने महावीरचरित मे हटाने की चेष्टा की है। यह रामायण की कथा पर निवद्ध सात अको का नाटक है। वैसे रामायण की कथा को लेकर सस्कृत में दर्जनो नाटक लिखे गये हैं, पर भवभूति का महावीर-चरित उन सब मे उत्कृष्ट है, (यहाँ हम राम के जीवन के उत्तरार्ध का समावेश नही कर रहे हैं)। भवभूति ने भट्टनारायण की तरह महाकाव्य की कथा को ज्यो का त्यो न लेकर उसमे से कुछ घटनाओ को चुन कर इस प्रकार से सजाया है कि एक ओर यह रावणवध तथा राज्याभिषेक तक के राम-जीवन की पूरी कथा भी हो जाय, दूसरी ओर नाटकीयता का भग भी न हो। इसके लिए भवभूति ने कथा में कुछ आवश्यक परिवर्तन भी किये हैं, जिन्हे ज्यो का त्यो पीछे के कवि-नाटककार—मुरारि, राजशेखर व जयदेव—अपनाते रहे हैं। इतना होते हुए भी नाटक की कथा-वस्तु विशेष प्रभावोत्पादक नही वन पाती **"नाटकीय संघर्ष की मूल भित्ति दुर्बल दिखाई पड़ती है। माल्यवान् की कूटनीति की असफलता का कारण राम की शक्तिमत्ता नहीं जान पड़ती, अपितु भवितव्यता ही दिखाई गई है।"** परवर्ती रामायण-नाटककारो की भाँति भवभूति के राम विष्णु के अवतार नही हैं अपितु मानवी रूप में ही हमारे सामने आते हैं। महावीरचरित के राम मानव हैं, वैसे शक्ति, कुलीनता तथा शौर्य की दृष्टि से कवि ने उन्हे एक आदर्श नायक के रूप मे अवश्य चित्रित किया है। भवभूति के चरित्र इसी पृथ्वी पर चलते-फिरते जान पडते हैं, और उत्तररामचरित के रूप मे

तो भवभूति ने जो मानवोचित चित्र हमारे समक्ष उपस्थित किया है, वह सस्कृत साहित्य की अपूर्व निधि है।

भवभूति का तीसरा नाटक, जिसके कारण उन्हें मजे से कालिदास के साथ बिठाने का साहस किया जा सकता है, उत्तररामचरित है। यह कृति कवि के जीवन के प्रौढ अनुभवो की देन हैं। उत्तररामचरित की कथावस्तु नाटकीय 'टेकनीक' तथा चरित्रचित्रण की दृष्टि से अत्यधिक प्रौढ है। कार्य के रूप में भी यह नि सन्देह प्रथम कोटि की रचना है। वैसे उत्तररामचरित में उक्त गुण होते हुए भी व्यापार की कमी है। इसका खास कारण भवभूति की अत्यधिक भावुकता है। यदि उत्तररामचरित को 'गीति-नाट्य' की कसौटी से परखा जाय, तो इसका यह दोष नही खटकेगा। उत्तर-रामचरित के सात अको में राम के उत्तर जीवन की कथा निबद्ध है। यह कथा सीता-बनवास से सम्बद्ध है। कवि ने एक करुण कथा को चुनकर उसे अपनी भावुकता से और अधिक करुण बना दिया है। उत्तररामचरित में भवभूति ने दाम्पत्य-प्रणय के उस महनीय पवित्र चित्र की झाँकी दिखाई है, जिसकी अन्य सभी सस्कृत कवियो और नाटककारो ने उपेक्षा की थी। भवभूति के राम और सीता की कहानी वस्तुत राम और सीता की कहानी न होकर सामाजिक रूढियो व पुरुष के द्वारा नारी पर किये गये अत्याचार की तथा नारी के उत्कृष्ट त्याग की कहानी है। उत्तर-रामचरित में कवि ने राम और सीता के चरित्रो को सुचारुरूप से अकित किया है। सीता का चरित्र आत्मा की पवित्रता, दृढता और सहनशीलता में बेजोड है, तो राम का चरित्र कर्तव्यनिष्ठा के आदर्श वातावरण से सम्पन्न दिखाई देते दुए भी मानव-सुलभ भावात्मक दुर्बलताओ से समवेत है। उत्तररामचरित के अन्य पात्रो में लव, जनक तथा कौशल्या के चरित्र मार्मिक बन पडे हैं। उत्तररामचरित के काव्यत्व के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक होगा। भवभूति कोमल तथा गम्भीर दोनो तरह के भावो के सफल चित्रकार हैं। दाम्पत्य-प्रणय के वियोग वाले चित्र उत्तरराम-चरित में अत्यधिक मार्मिक बन पडे हैं, जो भवभूति के ही शब्दो में 'पत्थर को भी रुला देते हैं वज्र के हृदय के भी टुकडे-टुकडे कर देते हैं' (अपिग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्)। भवभूति की सबमें बडी विशेषताओ में एक उनका प्रकृति-चित्रण भी है। भवभूति सस्कृत के अन्तिम कवि हैं, जिन्हे प्रकृति से—मानव-प्रकृति ही नही, जड प्रकृति से भी विशेष अनुराग था। उत्तर-रामचरित का द्वितीय अक का जनस्थान-वर्णन इस दृष्टि से सस्कृत साहित्य की अमूल्य निधियो में अन्यतम है, जहाँ एक साथ प्रकृति के कोमल तथा भीषण स्वरूप को फिल्म पर उतारा गया है। "भवभूति जहाँ एक ओर कमलवनों को कम्पित करने वाले मल्लिकाक्ष हसों या पादपशाखाओं पर झूमते शकुन्तों की कोमल भगिमा का अवलोकन करते हैं, वहाँ प्रचड ग्रीष्म में अजगर

के पसीनो को पीते प्यासे गिरगिटों को भी देखने में आनन्द लेते हैं। वे एक साथ दण्डकारण्य के 'स्निग्ध श्याम' तथा 'भीषणाभोगरूक्ष' सौंदर्य को वाणी देने में समर्थ हैं।" पद-योजना की दृष्टि से भवभूति जैसा कुशल सगीतज्ञ सस्कृत-साहित्य मे ऐसा कोई नही, जो पचम की कोमलता तथा धैवत की गम्भीर धीरता का एक-सा निर्वाह कर सके। कालिदास केवल पचम के गायक हैं, तो माघ केवल धैवत के, पर भवभूति कालिदास के मार्ग पर चल कर वैदर्भी के अपूर्व निदर्शन का परिचय देते है, वहाँ गौडी के ऊबड-खावड मार्ग पर उसी तेज़ी से चलते दिखाई पडते हैं। भवभूति की कविता का नाद-सौंदर्य भी इस काम में हाथ बँटाता है। "उनकी पदयोजना स्वत प्रकृति के वर्ण्य विषय की ध्वनि को उपस्थित कर देती है, चाहे वह कलकलनिनादिनी निर्झरिणियो की ध्वनि हो, या श्मशान के पेड पर टँगे शवो के सिरो की माला के सरन्ध्र भागो में गूँजते और श्मशान की पताका को हिलाकर उसकी घटियो को बार-बार बजाते वायु की भयंकरता हो।" भवभूति जैसी तीव्र पर्यवेक्षण शक्ति कालिदास और बाण को छोडकर शायद किसी सस्कृत कवि में नही दिखाई पडेगी। भवभूति के व्यक्तित्व में हमें सस्कृत नाटक-साहित्य का अन्तिम महान् कलाकार दिखाई देता है, जिसके बाद के आने वाले सभी विख्यात (कुख्यात ?) नाटककार उसकी जूठन खाकर ही सन्तुष्ट रहे, वे भवभूति से आगे बढना तो दूर रहा, पीछे हटते रहे। भवभूति की प्रतिभा और पाण्डित्य, भावकता और अनुभवदक्षता, रसप्रकरणता और कल्पना-तति में उन्होने केवल पाण्डित्य को ही अपना लक्ष्य बनाया और अपने नाटकों को व्याकरण-ज्ञान, वाग्वैदग्ध्य और कृत्रिम अलंकार के भार से इतना लाद दिया कि उसका दम ही टूट गया।

भवभूति के साथ ही सस्कृत नाटको का ज्वलन्त युग समाप्त हो जाता है। वैसे भवभूति के बाद में सस्कृत में जितने रूपक लिखे गये, उनकी गणना कई सौ के ऊपर होगी—अकेले रामचन्द्र (जैन साधु) ने ही लगभग सौ रूपको की रचना की थी—किन्तु ये सब नाटक कोरे नाम भर के लिये दृश्य काव्य हैं। यद्यपि इस काल में नाटक, प्रकरण तथा नाटिका के अतिरिक्त, प्रहसन, भाण आदि अन्य प्रकार के रूपक भी लिखे गए, पर ये सभी रूढिबद्ध होने के कारण उदात्त कला के स्तर तक नही उठ पाते। पिछले खेवे के नाटको के रचयिता मूलत. कवि रहे है, वे भी मध्यम श्रेणी के कलावादी कवि, नाटक के रंगमचीय विनियोग का उन्हें रचमात्र ज्ञान नही है। साथ ही कथा-वस्तु के चयन और गत्यात्मक निर्वाह, चरित्रो की सजीव मूर्ति उपस्थित करने की क्षमता आदि की दृष्टि से भी वे असफल हुए है। भवभूति के साक्षात् उत्तराधिकारी मुरारि (८५० ई०) में ये ही दुर्गुण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। अनर्घराघव पुराने पण्डितो को कितना ही प्रिय प्रतीत होता हो, दो कौडी का नाटक है। कृत्रिम

कलात्मकता की दृष्टि से चाहे इसे उच्च कोटि का काव्य मान लिया जाए। मुरारि उन्ही के शब्दो में, (नाटक नही लिखना चाहते थे किन्तु) 'वाचोयुक्ति' का प्रदर्शन करना चाहते थे। ठीक यही दशा राजशेखर (९५० ई०) के बालरामायण तथा जयदेव (१२५० ई०) के प्रसन्नराघव की है। इन तीनो नाटको के पात्र भी कठपुतलियाँ भर हैं। कालिदास से लेकर भवभूति तक के नाटको में (जिनमें हर्ष व भट्टनारायण अपवाद हैं) मानव-जीवन की स्पन्दनशील झाँकी दिखाई देती है। उनके नाटक मानव-प्रकृति के दर्पण हैं, उनके चरित्र इसी जमीन पर चलते फिरते सचेतन प्राणी हैं, बाद के किसी नाटक ने इस गुण को नही अपनाया है। इन्ही दिनो में सस्कृत में अन्यापदेशी नाटकों (एलेगरिकल ड्रामा) की परम्परा भी चल पडी है। श्रीकृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' इस मार्ग का अग्रदूत है, जिसमें नाटक के बहाने अद्वैत वेदान्त के मत की स्थापना की गई है। इसी ढग पर कवि कर्णपुर का 'चेतनाचन्द्रोदय' लिखा गया था। नाटक के लिए सबसे बडा दुर्भाग्य का दिन तो वह था जब आनदराय मखि ने वैद्यक के सिद्धान्तो को लेकर भी एक आयुर्वेदीय अन्यापदेशी नाटक की रचना की। 'जीवानद' में ज्वर, विसूचिका जैसे रोग भी मानवी-रूप में मच पर प्रविष्ट होते बताये गये हैं। इस काल में दो-तीन प्रकरण अवश्य लिखे गये, पर वे भी असफल कृतियाँ है उद्दण्डी का 'मल्लिकामारुत' तो भवभूति के 'मालतीमाधव' की हूबहू नकल है। इस काल में प्रहसनो तथा भाणो में हास्य तथा व्यग्य की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया। इन कृतियो में शखधर का 'लटकमेलक' प्रहसन, वामन भट्ट बाण तथा युवराज रविवर्मा के भाण प्रमुख हैं। पर प्रहसनो का हास्य छिछले ढग का रहा, उसमें शिष्ट हास्य का वातावरण नही बन पाया, और भाण श्रव्य काव्य के स्तर से अधिक ऊपर न उठ पाये। वैसे सस्कृत में नाटक बीसवी सदी तक लिखे जाते रहे हैं। उदाहरण के लिए भट्टाचार्य जी के 'अमर मगल' का नाम लिया जा सकता है। कुछ अनुवाद भी सस्कृत में हुए है, जैसे शेक्सपियर के 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' का अनुवाद भी सस्कृत 'वासतिकास्वप्न' पर ये सब गडे मुर्दे उखाडना ही होगा।

सस्कृत नाटको की इसी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं (प्राकृत तथा अपभ्रश) के साहित्य में यह परपरा विकसित न हो सकी। वैसे प्राकृत में एक-दो सट्टक कृतियाँ मिलती हैं, जिनमें राजशेखर की 'कर्पूर-मजरी' विशेष प्रसिद्ध है, तथापि इन्हें अपवाद ही मानना होगा। अपभ्रश में तो एक भी साहित्यिक नाटक नही पाया जाता। ठीक यही हाल देश्य भाषाओ के साहित्य का रहा है। मैं जनता के लोकमंच की बात नही करता, हाँ जनता का रगमच अवश्य मध्ययुग में भी अक्षुण्ण रहा होगा, और वही आगे जाकर पूरब की 'कजरी' 'भडैती' 'नौटकी', 'स्वाग', राजस्थान के 'ख्यालो' और गुजरात की 'भवायी' के रूप में विक-

गित हुआ है। पर संस्कृत के साहित्यिक नाटकों से इनका संबंध जोड़ना हठधर्मिता और दुराग्रह ही कहा जायगा : संस्कृत के नाटकों की चेतना मध्यकाल ही में विलुप्त हो गई थी। इस साहित्यिक मृत्यु के कई कारण थे।

(१) संस्कृत नाटकों की रचना सामंत-वर्ग तथा पंडित-मण्डली को ध्यान में रख कर की गई थी। प्राकृत काल में फिर भी ये नाटक कुछ लोकप्रिय इसलिये रहे होंगे कि साधारण जनता भी थोड़ी-बहुत संस्कृत समझ लेती होगी (चाहे वह बोल न पाती हो) और साथ ही उनमें उनकी अपनी भाषा प्राकृत का भी प्रचुर समावेश रहता था। अपभ्रंश काल में आकर जन-भाषा में अधिक भाषा-शास्त्रीय परिवर्तन होने के कारण जनता के लिए संस्कृत तथा प्राकृत दोनों दुरूह बन गईं।

(२) कालिदासोत्तर काल के कवियों ने—शूद्रक तथा विशाखदत्त को छोड़-कर—नाटक में श्रव्य-काव्य की प्रचुर कलात्मकता भरना शुरू किया।

(३) पूर्ववर्ती काल में संस्कृत नाटकों का रंगमंच से कोई संबंध नहीं रहा, नाटक का रंगमंच केवल रचयिता की बुद्धि तथा पाठक (दर्शक नहीं) की कल्पना-शक्ति में ही सीमित हो गया।

(४) इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक तथा राजनीतिक कारण भी थे। बौद्धों व जैनों ने नाटक-साहित्य की उपेक्षा की; इसका कारण उनकी धार्मिक प्रवृत्ति थी, मध्यकालीन भारत की राजनीतिक स्थिति बड़ी डाँवाडोल रही तथा इस्लामी साम्राज्य की स्थापना ने भी इसके ह्रास में योग दिया।

इन्हीं कारणों से जब हम आधुनिक भारतीय भाषाओं के नाटक-साहित्य का अनुशीलन करते हैं, तो उन्हें संस्कृत नाटकों की परम्परा का अंग नहीं मान सकते : हिन्दी साहित्य के नाटकों को भी (कतिपय संस्कृत-नाटकों के अनुवादों या पुराने गतानुगतिक नाटकों को अपवाद मान लें) संस्कृत-नाटकों की परंपरा का अंग नहीं माना जा सकता : जैसा कि स्पष्ट है, हिंदी के नाटक बीसवीं सदी तथा पाश्चात्य साहित्य की देन है। आजकल हर हिन्दी की चीज को अपभ्रंश में ढूँढने का फैशन-सा हो चला है, और एक विद्वान् ने तो 'संदेशरासक' को हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक मान लिया है। पर यह सब से बड़ी साहित्यिक भ्रांति है, जिसमें और नये लेखक बहने दिखाई पड़े हैं। संदेशरासक हिन्दी का प्रथम नाटक होना तो दूर रहा, नाटक ही नहीं है, वह शुद्ध श्रव्य-काव्य है। मध्ययुग के हिन्दी के 'हनुमन्नाटक' (हिन्दी अनुवाद) आनंदरघुनन्दन नाटक आदि तथा आधुनिक काल के 'शाकुन्तल' (राजा लक्ष्मणसिंह कृत) तथा हरिश्चन्द्र के कतिपय अनूदित संस्कृत-नाटक भी हिन्दी नाटकों की निजी

प्रकृति के परिचायक नही हैं । स्वय भारतेन्दु के ही नाटकों में सस्कृतेतर प्रभाव परिलक्षित होता है । बाद में तो प्रसाद के नाटको में पाश्चात्य नाटको तथा बगाली नाटकों (जो स्वय पाश्चात्य नाटकों से प्रभावित हैं) का पर्याप्त प्रभाव है । ठीक यही बात परवर्ती हिन्दी नाटक-साहित्य के विषय में कही जा सकती है, जिस पर इब्सन, शॉ तथा गाल्सवर्दी के यथार्थवादी तथा बुद्धिवादी नाटको का प्रभाव है । इतना होने पर भी सस्कृत-नाटक हिन्दी-साहित्य के सदा प्रेरक बने रहेंगे, वे इस बात की चेतावनी भी देते रहेंगे कि नाटककार को सदा रगमच का, दृश्य काव्यत्व का, सामाजिक का, ध्यान रखना है, कोरी कलात्मकता और श्रव्य-काव्यत्व का अधिक पुट उसकी कृति को विकृति कर देगा, ऐसा करने पर वह अपने हाथो अपनी ही कला का गला घोंट देगा ।



संस्कृत के प्रमुख नाटककार

—डॉ० सूर्यकान्त

प्रस्तुत विषय पर विचार करने से पहले इस बात का संकेत कर देना उचित होगा कि नाटक किसे कहते हैं और संस्कृत में नाटक का आविर्भाव कब हुआ। निश्चय ही नाटक शब्द का आधार 'नट' शब्द है और 'नट' शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'नाचना' है। 'नृत्' धात्वंतर्गत 'ऋ' के कारण 'त्' के स्थान में मूर्धन्य 'ट्' हो गया है, जैसा कि संस्कृत के भट, कट, पट, जठर तथा आढ्य आदि शब्दों में देखा जाता है।

और ज्यों ही—हम 'नट' शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत्' धातु से मान लेते हैं त्यों ही नाटक का उद्भव हमारे सामने साकार हो जाता है। भूखण्ड की किसी भी आदिम जाति को ले लीजिये, सभी के जीवन में नृत्य एवं गीति की मात्रा पर्याप्त दीख पड़ेगी—क्योंकि प्रसाद एवं अवसाद, संयोग एवं वियोग सभी के जीवन में आते रहते हैं और इनका प्ररोचन और प्रतीकार नृत्य एवं गीति के द्वारा किया जाता है।

हम देखते हैं कि सूर्य भगवान प्रातःकाल के समय आकाश में उभरते और धरती-अंबर को तपा-खिलाकर शाम के समय पश्चिम में अपने अस्त (घर) की ओर सरक जाते हैं। फिर चाँद और तारे खिलते हैं। ये भी कुछ याम आँख-मिचौनी खेलकर प्रातःकाल के क्षण में तिरोहित हो जाते हैं। नक्षत्रों के उतार-चढ़ाव पर ऋतुएँ निर्भर हैं और ऋतुओं के मनकों से ही संवत्सर की माला सजी है। आदि मानव को नक्षत्रों की इस नियतगति के पीछे किसी छिपे देवता का हाथ दीख पड़ता था—इसी रहस्यमय देव के विविध रूपों की अर्चना से उसके धर्म एवं कर्मकाण्ड का उद्भव हुआ है।

हम लोग हर घड़ी रोते बच्चों को उनके संमुख भाँति-भाँति का नाच करके रिझाया करते हैं। नृत्य में एक प्रकार का अजीब कौतुक है जिस पर छोटे-बड़े सभी समान रूप से रीझ जाते हैं। जब नृत्य को देख आदि मानव का सरदार वशंवद बन सकता था तब उसे देख उसका देवता क्यों न रीझ जाता होगा? कर्मकाण्ड में देवताओं के सम्मुख नाचने-गाने की प्रथा का मूल इसी बात में संनिहित है।

ससार की अन्य आदिम जातियो की न्याई आदिम आर्य भी नृत्य-गीति में पनपते आये थे और वे भी अपने देवी-देवताओ को इन्ही के द्वारा रिझाया करते थे। वैदिक सूत्रो के मध्य आने वाले अवकाशो में नृत्य-गीति द्वारा मनोरजन की प्रथा चलती रही होगा ऐसी कल्पना युक्तिसगत प्रतीत होती है।

आर्यों का परिष्कृत कर्मकाड वैदिक कर्मकाड के रूप में अमित काल के लिये अडिग बन गया, वह जैसा आदि युग में था वैसा ही शाखा-भेद के अनुसार आज भी हमारे देश में प्रवर्तमान है। उसमें किचित-सी हेराफेरी से भी अनर्थ हो जाने की आशका बनी रहती है। किन्तु परिष्कृत कर्मकाड के साथ-साथ आर्यों की दैनिक चर्या भी चलती रही होगी और उस दैनिक जीवन में सताप एव अवसाद के साथ प्रसाद और प्रमोद का होना भी अनिवार्य रहा होगा। और इनके प्ररोचन एव प्रतीकार के लिये आर्य लोग भी नृत्य और गीति का सहारा लेते रहे होगे। बस सामान्य जनता के इस सामान्य नृत्य-गान में ही हमारे नाटक का आदि मूल छिपा हुआ है।

नाट्य-शास्त्र के प्रवर्तक भरत मुनि ने अपने निम्नलिखित श्लोक में इसी तथ्य की ओर सकेत किया है—

न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्य. शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापर वेदं पचम सार्ववर्णिकम्॥

अर्थात् वैदिक क्रिया-कलाप को जानने-सुनने का अधिकार शूद्र को नही है। इसलिए ऐसा पाँचवाँ वेद बनाइये जिसे देखने-सुनने का सभी वर्णों को समान अधिकार हो। उक्त श्लोक से स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाड के मध्य आने वाले अवकाश में मनोरजनार्थ किये जाने वाले नृत्य-गान में अभिनय के बीज सनिहित होने पर भी साक्षात् उससे सस्कृत-नाटक का जन्म नही हुआ, अपितु सामान्य जनता में प्रवर्तमान नृत्य-गान से ही सामान्य जनता के लिये रचे गये नाटक का अविर्भाव हुआ है।

एक बात और—यदि वैदिक कर्मकाड का उद्देश्य एक प्रकार के अदृष्ट का सृजन करना है तो नाटक का प्रयोजन तो इस से सुतरा भिन्न है और वह है *सामान्य* लोक का मनोरजन। भरत कहते हैं :—

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्॥
दु खार्तानां समर्थानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥

मेरा बनाया नाट्य-शास्त्र उत्तम, मध्यम एवं अधम लोगो के क्रिया-चक्र पर निर्भर है। उसका प्रयोजन क्षेमकारी आदेश देना, मनोविनोद एवं प्रसाद उपजाना और दुःखियों का, समर्थों का, शोकार्तों एवं तपस्वियों का समान रूप से दिल बहलाना है।

उक्त श्लोक से निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकार के उद्देश्य वाले नाटक का जन्म वैदिक क्रिया-कलाप से सम्बद्ध नृत्य-गान से न होकर आर्यों की आम जनता में प्रवर्तमान नृत्य-गान से हुआ है—फिर भी नाट्य को गौरवान्वित करने की दृष्टि से भरत ने उसके घटकों को चारों वेदों से सग्रह करने की बात कही है :—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

अर्थात् भरत ने नाट्य का पाठ्यांश, (अर्थात् भाषा) ऋग्वेद से ली, गीत सामवेद से लिये, अभिनय (क्रिया-कलाप) यजुर्वेद से लिया और रस अथर्ववेद (के भैषज्य) से लिया, और इस प्रकार इस पाँचवें वेद की रचना की। किन्तु यह बात युक्ति-विपरीत है—क्योंकि नाटक के चारों ही घटक मूल रूप से जनता में पहले से ही वर्तमान थे और वहीं से इनका संनिवेश वेदों में भी हुआ था—तथापि नाट्य को आदर देने की दृष्टि से भरत ने उक्त प्रकार से नाट्य-सग्रह की बात कही है।

भरत के सकेत से स्पष्ट है कि सस्कृत मे रूढ़ नाटक का आविर्भाव उस युग में हुआ था जब कि आर्यों की वर्ण व्यवस्था पूरी तरह फल-फूल कर झड़ने की ओर उन्मुख हो रही थी और उसके अनुसार शूद्र को वेद-श्रवण का अधिकार नहीं रह गया था। हमारी दृष्टि में भारतीय सभ्यता के विकास में ऐसा युग उस समय आया था जब कि रूढ़ कठोरताओं को दूर करने के निमित्त इस देश में बुद्ध आदि सुधारकों का अवतरण हुआ था और साथ ही हमारी आतरिक कमजोरियों से प्रेरित होकर फारस तथा यूनान के आक्रमणकारी इस देश में घुस आये थे। और यद्यपि नाटक की आदिम रूपरेखा आर्ष-काव्यों में आने वाली महापुरुषों की जीवनियों के अभिनय के रूप में आम जनता में पहले ही से चली आ रही थी तथापि उसका उपलभ्यमान विकास देश में यूनानी सामतों के आने पर ही हुआ था, जो कि ग्रीक-बैक्ट्रियन राजाओं के दरबारों में खेले जानेवाले नाटकों से चुनकर लिये हुए घटकों को अपने में सम्मिलित करके ही परिपक्वता को प्राप्त हुआ। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में हमें नाटक के उसी परिपुष्ट रूप का वर्णन मिलता है और भास आदि नाटककारों की रचनाओं में हमें नाटक का वही परिपुष्ट रूप जगमगाता दीख पड़ता है।

सस्कृत नाटक का जन्म आम जनता के सामान्य जीवन में हुआ है न कि वैदिक क्रिया-चक्र में, यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब कि हम उसके पाठ्याश अर्थात् भाषा-तत्त्व पर ध्यान देते हैं। स्मरण रहे कि नाटक का पाठ्याश केवल सस्कृत ही नहीं, अपितु प्राकृत भी है और वह भी अपने विविध रूपो में, जो कि नाटक में भाग लेने वाले पात्रो के सामाजिक स्तर के अनुसार उनमें सदा के लिये बाँट दी गई हैं। निश्चय ही मागधी, शूरसेनी एव महाराष्ट्री आदि प्राकृतो का सम्बन्ध मूल रूप से उस प्रदेश विशेष के साथ रहा होगा, जिस-जिसमें कि वे बोली जाती थीं—किन्तु नाटकों में पहुँच कर उनका यह सम्बन्ध देश-विशेष के साथ जुडा न रह कर पात्र-विशेष के साथ बँध गया है, यहाँ तक कि गीत के लिये तो हर देश के लिये महाराष्ट्री ही नियत कर दी गई है। प्राकृतो के प्रयोग की यह परिस्थिति ऐसे युग में उभरी होगी जब कि प्राकृत भी निरी बोलियाँ न रहकर साहित्यिक भाषाएँ बन चुकी थी और उनके जीवन-तन्तु देश-विशेष से छूट कर श्रेणी-विशेष एव सरणि-विशेष के साथ जुड चुके होंगे। प्राकृतों की यह परिस्थिति हमें ईसा की बारहवी शती में उभरती प्रतीत होती है और तभी से हमें सस्कृत में नाटक का उत्थान भी होता दीख पडता है।

सस्कृत में दु खात नाटको का अभाव है, और यह तथ्य हमारे देश की उस दार्शनिक दृष्टि की ओर सकेत करता है जिसके अनुसार कि हमारी दृष्टि हमेशा परलोक की ओर लगी रहती है और जिसके अनुसार हमारे जीवन का चरम अवसान प्रसाद में होता है, न कि अवसाद में। किंतु इस बात का यह आशय कदापि नही कि सस्कृत के नाटको में अवसाद का सुतरा अभाव है। सस्कृत के नाटको में जगह-जगह ऐसी घटनाएँ आ खडी होती हैं जो रोमाचकारी हैं और जिनमें विषाद एव अवसाद अपने सघन स्वर में साकार हुए हैं। किंतु इन सभी सतापो एव उत्पातो का चरम परिणाम प्रसाद में किया गया है—क्योकि जीवन "जीने" का नाम है और हमारे अशेष क्रियाकलापो का एकमात्र उद्देश्य इस 'जीने' में से मरण के अधकार को सदा के लिये धो डालना है।

हमारे लक्षण-ग्र थों में नाटक के दो विभाग किये गए हैं रूपक और उप-रूपक। रूपक को नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अक और ईहामृग-इन दस उपविभागो में और उपरूपक को नाटिका और सट्टक आदि अठारह उपविभागो में बाटा गया है। इन उपविभागो का प्रमुख आधार पात्रो की विधा एव अक आदि की सख्या है, जिसमें उलझना इस समय हमारे लिये अनुचित है क्योकि नाटक की आत्मा अर्थात् 'सघर्ष' का तो सभी नाटको में विद्यमान होना वाछ-नीय है।

आइये, अब सस्कृत के प्रमुख नाटककारों का दिग्दर्शन भी कर लीजिये —

सस्कृत में सब से पहले नाटक अश्वघोष के हैं, जिनके खडित हस्तलेख मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं और जिनके पुनरुद्धार एव सपादन में प्रोफेसर ल्यूडर्स ने सच-मुच नाटकीय करामात दिखाई है - किन्तु ये नाटक त्रुटित हैं इसलिये इन पर विचार करना अनुपयुक्त है।

बाण और कालिदास ने कवि के रूप में भास का आदर के साथ नाम लिया है और सस्कृत के अन्य लेखकों ने भी नाटककार के रूप में उनकी प्रशसा की है। १९११ ईसवी में म० म० गणपति शास्त्री ने सस्कृत के तेरह नाटकों का उद्धार किया था और उन सभी का लेखक उन्होंने भास को ठहराया था। नाटकीय कला की दृष्टि से ये तेरहों नाटक कालिदास से पहले के स्तर में आते हैं। इन सभी में सूत्रधार के प्रवेश के बाद नांदी-वाचन है, प्रस्तावना के स्थान मे स्थापना का प्रयोग है और व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों के छींटे जगह-जगह छपे पड़े हैं। भास के एक नाटक का नाम स्वप्नवासवदत्त पहले से सुनिश्चित है। इन तेरह नाटकों में एक का नाम स्वप्नवास-वदत्त है और क्योंकि स्वप्नवासवदत्त का कर्ता भास है और यह नाटक इन तेरह नाटकों में उन्हीं के साथ मिला है, इस लिये गणपति शास्त्री के मत मे ये सभी नाटक भास की रचना हैं। उनके इस मतव्य से बहुत से विद्वान् सहमत हैं।

किंतु कुछ विद्वान् इस निष्कर्ष को नहीं मानते। उनका कहना है कि कला की निर्दिष्ट विशेषता व्यक्ति विशेष की विशेषता न होकर उस देश विशेष की विशेषता है जहाँ कि ये नाटक उपलब्ध हुए हैं। क्योंकि ये विशेषताएँ उस प्रदेश के इतर नाटकों मे भी पाई जाती हैं—जैसे कि मत्तविलास प्रहसन में, जो कि भास की रचना नहीं है। अनार्ष प्रयोगों का सबध भी परिस्थिति-विशेष, काल-विशेष एवं प्रदेश-विशेष के साथ है न कि लेखक विशेष के साथ—क्योंकि बौद्धकाल के युग-विशेष मे खडित सस्कृत का प्रयोग आम प्रचलित था। साथ ही—ऐसे उद्धरण, जो कि सस्कृत कवियों ने स्वप्न-वासवदत्त से लिये बताए जाते हैं वर्तमान स्वप्नवासवदत्त में नहीं मिलते—और यह युक्ति प्रबल है, जिसकी उपेक्षा करना अनुचित है। इन विद्वानों के मत में ये तेरहों नाटक भास की मौलिक रचनाओं के रूपान्तरण हैं जो कि सभवत पल्लवराज नरसिंह वर्मा के द्वितीय के राजकाल में (६८०-७०० ई० स०) रगमंच सबधी धारणाओं एव सुविधाओं को ध्यान में रख कर किसी नाटककार ने कर दिये होंगे। ये नाटक स्वय भास की रचना हो या किसी अन्य कवि की, इनकी मौलिकता और गुण उत्कृष्ट कोटि की है और इन्हें ये नाटक सस्कृत नाट्य-कला के कण्ठहार के रूप में सजे दीख पड़ते हैं।

इन नाटको में दो का आधार रामायण, छह का महाभारत, एक का कृष्ण-जीवन और चार का आधार काल्पनिक कथाएँ हैं।

रामायण प्रसूत प्रतिमा नाटक में सात अक हैं। इसमें राजा दशरथ की मृत्यु से आरभ करके राम के राज्याभिषेक तक की कथा का मौलिक अभिनय है। भरत ननिहाल से अयोध्या लौटते समय मृत सम्राटो की पक्ति में अपने पिता दशरथ की प्रतिमा को देख चौंक जाते हैं—इस प्रतिमा के आधार पर ही नाटक का 'प्रतिमा' नाम पडा है। सीताहरण का समाचार पाकर भरत अपनी सेना श्रीराम की सहायता के लिये पठाते हैं, किंतु सेना के वहाँ पहुँचने से पहले ही रामचन्द्र शत्रु-विजय पूरी करके लौट आते हैं। राज्याभिषेक के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

अभिषेक नाटक के छह अको में बालि-वध से लेकर रामाभिषेक तक की कथा का अभिनय है। पर बालि-वध दिखा कर भास ने भारतीय परिपाटी का उल्लघन किया है।

पचरात्र का आधार महाभारत है और इस में तीन अक हैं। दुर्योधन यज्ञ रचता है और उसमें आचार्य द्रोण को मुँहमाँगी वस्तु देने की प्रतिज्ञा करता है। द्रोण पाडवो को उनका राज्य लौटा देना माँग लेते हैं। विचार-विनिमय के बाद दुर्योधन इस शर्त पर उनकी माँग पूरी करना स्वीकार कर लेता है कि उस दिन से पाँचवी रात तक के समय में पाडवो को खोज निकाला जाय। निदान कौरव विराट नगर पर धावा बोल देते हैं और वहाँ की गौओ को खदेड लेते हैं। युद्ध होता है और वृहन्नला के रूप में अर्जुन कौरवो को परास्त कर देता है। पाडवो का पता चल जाता है और दुर्योधन अपना वचन पूरा कर देता है।

दूतवाक्य में एक अक है और इसमें कृष्ण पाडवो के दूत बन कर दुर्योधन के दरबार में आते हैं। इस नाटक में प्राकृत का एक भी सदर्भ नही है और यह बात ध्यान देने योग्य है।

मध्यम व्यायोग में भी एक ही अक है। घटोत्कच अपनी माता की पारणा के लिये एक ब्राह्मण के मझले पुत्र को ले जा रहा है। ब्राह्मण-पुत्र पानी की तलाश में इधर-उधर चला जाता है। घटोत्कच उसे 'मध्यम' कह कर आवाज देता है। इस नाम को सुनकर भीमसेन उधर आ निकलते हैं। और घटोत्कच के साथ ऊँची-नीची करते हैं। दोनो में युद्ध होता है किंतु इससे पूर्व की भीमसेन घटोत्कच को धराशायी कर दें, घटोत्कच की माता उधर आ निकलती है और दोनो का बीच-बिचाव कर देती है। भेद खुल जाने पर तीनो प्रसन्न होते हैं और घटोत्कच आगे से किसी भी ब्राह्मण को न मारने की प्रतिज्ञा करता है।

दूत घटोत्कच में एक ही अंक है। इसमें अभिमन्यु के वध के बाद घटोत्कच आता है और अर्जुन के हाथ कौरवो के समूल विनाश की भविष्यवाणी करता है।

कर्णभार मे एक ही अक है। इसमे इ द्र वेष भरकर कर्ण का अमोघ कवच उससे माँग लेता है।

उरुभग के एक ही अंक में भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध वर्णित है। मच पर दुर्योधन की मृत्यु दिखाकर भास ने परिपाटी का उल्लंघन किया है।

बालचरित के पाँच अको में कृष्ण की बाल-लीला का अभिनय है। नाटकवर्णित कृष्ण विषयक घटनाएँ भागवत, विष्णुपुराण एव हरिवंश आदि में नही मिलती। कृष्ण को वसुदेव का सातवाँ पुत्र बताया गया है और नाटक मे राधा का नाम तक नही आता। कृष्ण-लीला की आत्मा शृंगाररस का नाटक में अभाव है और यह बात ध्यान देने योग्य है। इस नाटक में भास ने कृष्ण और अरिष्ट का पारस्परिक युद्ध दिखाकर मच पर ही अरिष्ट का निधन भी दिखाया है जो कि सस्कृत-परिपाटी के प्रतिकूल है।

प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में चार अक हैं इसमे उज्जैन का प्रद्योत राजा उदयन राजा को कैद कर लेता है क्योकि वह उसके साथ अपनी कन्या वासवदत्ता का विवाह करना चाहता है। उदयन का मंत्री यौगन्धरायण अपने स्वामी को छुडाने का सकल्प करता है और अत में अपने लक्ष्य मे सफल हो जाता है। भामह ने (७०० ई० पू०) में इस नाटक के कथनक की समालोचना की है।

स्वप्नवासवदत्त में छह अक हैं। उदयन वासवदत्ता के साथ विवाह करने के बाद उसमें इतना रम जाता है कि शत्रु उसके राज्य का बडा भाग उससे छीन लेते हैं। उसके मत्री को खोया राज्य वापस लेने की युक्ति सूझ जाती है। एक दिन जब कि राजा शिकार के लिये जगल में दूर निकल जाता है मत्री झूठमूठ यह प्रचारित कर देता है कि मत्री और वासवदत्ता दोनो शिविर में लगी आग मे जल मरे हैं। सन्यासी का वेश धारण करके वह वासवदत्ता को मगधराज की पुत्री पद्मावती के पास ले जाता है क्योकि पद्मावती का विवाह वह उदयन के साथ कराना चाहता है जिससे कि उनके पिता की सहायता से शत्रु का दमन कर राजा का खोया हुआ राज्य फिर से प्राप्त कर लिया जाये। वासवदत्ता पद्मावती की देख-रेख करती है। उदयन वासवदत्ता को मरा जान बेहाल हो जाता है और न चाहने पर भी पद्मावती से विवाह कर लेता है। विवाह के बाद एक दिन पद्मावती की तबीयत खराब होती है और राजा लीला भवन में रह जाता है। वासवदत्ता भी पद्मावती की सेवा के लिये वहाँ

पहुँचती है। राजा की आँख लग जाती है और सोते-सोते उसके मुँह से कातर स्वर में 'वासवदत्ता' 'वासवदत्ता' यह नाम निकल पडता है। राजा के मुँह से स्वप्न में अपना नाम सुनकर वासवदत्ता प्रसन्न होती है किंतु उसके जाग जाने के भय से वह वहाँ से सरक जाती है और मत्री सब बातो का भेद कर प्रकट देता है। उदयन पद्मावती और वासवदत्ता के साथ आनन्द से रहने लगता है।

स्वप्नवासवदत्त में नाटकीय तत्त्वो का उत्कर्ष देख कर किसी ने यह कहावत प्रचलित कर दी थी —

भास नाटकचक्रेऽपि छेकै क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य पावकोऽभून्न दाहक. ॥

अर्थात् भास के और सब नाटक तो अग्नि में भस्म हो गए, किंतु स्वप्नवासवदत्त अपने तत्त्वो के उत्कर्ष के कारण आग से अछूता बच गया।

चारुदत्त में चार अक हैं - चारुदत्त एक गरीब ब्राह्मण हैं। वह वसन्तसेना नामक वेश्या के साथ प्रेम करता है और वह भी उसे दिल से चाहती है। एक रात चोरो के भय से वसन्तसेना अपने आभूषण चारुदत्त के पास रख देती है। शर्विलक नाम का चोर चारुदत्त के घर से उन आभूषणो को चुरा लेता है और अगले दिन उन्हे वसन्तसेना के समुख पेश करके उससे अपनी प्रेयसी को मुक्ति दिलाना चाहता है। इसी प्रसग पर नाटक की समाप्ति हो जाती है।

अविमारक में छह अक हैं। कुन्तिभोज राजा की पुत्री कुरगी राजकुमार अविमारक के साथ प्रेम करती है, किंतु अविमारक शाप के कारण अपना राज खो बैठा है। वह छिपे-छिपे राजकुमारी से मिलता है। अत में नारद मुनि भेद खोल देते हैं और दोनो का धूमधाम से विवाह हो जाता है।

भास के नाटको की सब से बडी विशेषता उनके कथातत्त्व की मौलिकता है, जो सरलता की छाप के कारण शतधा आकर्षक बन कर प्रेक्षको के समुख उपस्थित होती है। कथा-तत्त्व को आगे चलाने की प्रक्रिया भी इन नाटको की अत्यत सुन्दर है, निराली है क्योकि यह चलती न दीखने पर भी तेजी के साथ कथा को आगे बढाती है। भास की शैली परिपक्व है। उनकी रचनाओ में दैवी सरलता है जो कालिदास के सिवाय और किसी भी नाटककार में नही मिलती। प्रतिमा-नाटक के पाँचवें अक के तीसरे श्लोक में आता है —

योऽस्या. करः श्राम्यति दर्पणेऽपि

स नैति खेदं कलशं वहन्त्या
कष्टं वनं स्त्रीजन सौकुमार्यं
समं लताभिः कठिनीकरोति ॥

इस पद्य में राम ने पौधो को सीचती हुई सीता के सौकुमार्य का अत्यंत ही मनोरम वर्णन किया है। श्लोक की प्रथम पंक्ति मार्मिक है: सीता का जो हाथ दर्पण में खड़ा हुआ भी थक जाता है यह वाक्य सीता के सौकुमार्य को चार चांद लगा देता है और उसे सौंदर्य की उसी परिधि में ला विठाता है जिसके विषय में तुलसीदास ने कहा था की "सुन्दरता कहु सुन्दर करही"

इस प्रकार की छोटी-छोटी पक्तियाँ उन पिचकारियो का काम करती हैं जो कि देखने में तो छोटी हैं किंतु जिनका फुहारा दूर तक जाता है। और सहज ही प्रेक्षक को आमूलचूल रस में सरावोर कर देता है। सीता का सौकुमार्य वन-तापसो की दृष्टि में तो वदनीय था ही स्वत' राक्षसराज रावण 'स्वरपदपरिहीणा हव्यधारा' कह कर उसकी वदना करता है। इस प्रकार की सारगर्भ उक्तियाँ भास के नाटको में भरी पडी हैं इनकी सर्चलाइट मे भास की मौलिकता सहस्रधा फूटी पडती है ।

ईसा के वाद की पांचवी शती में कालिदास के रूप मे साक्षात् नाट्य-कला धरावाम पर उतरती और उनकी रचना मालविकाग्निमित्र एव विक्रमोर्वशीय मे किशोरावस्था विताकर उनके अमर नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रफुल्ल यौवन का रसास्वादन करती है ।

मालविकाग्निमित्र में पांच अक हैं। मालविका, मालवा के राजा माधवसेन की वहिन है। उसका विवाह विदिशा के राजा अग्निमित्र के साथ ठहर चुका है। माधवसेन वहिन के साथ विदिशा को प्रस्थान करता है। मार्ग में उसका भतीजा यज्ञसेन उस पर आक्रमण कर देता है। माधवसेन कैद हो जाता है, किंतु उसके साथी आगे निकल जाते हैं। मार्ग में उन पर डाकू छापा मारते हैं और मालविका भी रास्ते से भटक जाती है। चलती-चलती वह विदिशा के प्रान्तरक्षक के घर पहुँचती और वहाँ से अग्निमित्र की रानी धारिणी की शरण में जा पहुँचती है। अग्निमित्र उसके साथ प्रेम करने लगता है और विदूषक के द्वारा उसके साथ मेल-जोल वढ़ाता है। किंतु उसकी छोटी रानी इरावती दोनो की प्रेमलीला में प्रतिरोधक वनती है। कुछ दिन वाद माधवसेन के दल के दो आदमी जो कि मार्ग में भटक गए थे, अग्निमित्र के दरवार में आ पहुँचते हैं और मालविका की असलियत को प्रकाशित कर देते हैं। राजा मालविका के साथ विवाह करके आनन्दपूर्वक जीवन विताते हैं ।

कालिदास का शकुन्तला नाटक प्रेम-सवलित जीवन का आदर्श अभिनय है। इसका एक-एक पद और एक-एक वाक्य अपनी जगह पर विधा रखा है और कथा को आगे बढाने में अनिवार्य कडी का काम कर रहा है। शब्दो के चुनाव में एक ऐसे पारखी का हाथ दीख पडता है, जिसकी दृष्टि में शब्द और अर्थ घुल-मिल कर एक हो चुके हैं और जिसकी चुकटी में अर्थ-रहित शब्द-पुष्प आने ही नही पाता। और फिर कालिदास के अर्थ को तो देखिए—कितना परिपूत एव मगलमय है यह ! प्रतीत होता है कि चेतनाचेतन जगत का सारा ही मगल इन शब्द-पुष्पो की पखडियो में एकत्र कर दिया है। कालिदास के काव्य पढिये, पक्तियाँ पढिये—रस की पिचकारियाँ छूटती दीख पडेंगी जिनमें प्रेक्षक का हृदयपटल रस मे सरावोर हो जाता है और वह एक ऐसे काव्य-जगत् में सरक जाता है जहाँ रस ही रस का आसार है, और जो, "कुछ न होने" पर भी कवि के हाथो "सब कुछ" मे परिणत हो गया है। और फिर वह "सब कुछ" कितना अनायास, कितना स्वारसिक ! कुछ न करने पर भी विश्व का सारा मगल मूर्त बन कर सामने उत्तान होता चला जाता है। कालिदास की कला सचमुच निराली है— उसकी वाजीगरी अपने जैसी आप है।

भरतखड पर अनेक कवि आये और यहाँ के मनु-जगत् को कुछ कह कर, कुछ सुनाकर अपने जगत् में चले गए। भरतखड के मानव ने उनकी वाणी को सुना और उन्हें साधुवाद भी दिये, और, बस, बात समाप्त हो गई। कालिदास के अवतरण पर अशेष भरतखड चौकन्ना होकर खडा हो गया और प्रशान्त मुद्रा के साथ उसने उसकी शाश्वत वाणी को सुना और उसके अभिनय को देखा। उसकी वाणी में और उसके अभिनय में यहाँ के मानव को अपना चिरविस्मृत रूप फिर से सबल होता दीख पडा; उसकी (सरस्वती) मुद्रा को देख इसे अपनी चिति-शकुन्तला की सुध आ गई और तत्परता के साथ इन्द्रियशत्रुओ का दमन करके यह अपनी प्रेयसी परमार्थता से मिलकर एक हो गया। अन्य कवियो की वाणी में और कालिदास की भारती में हमें यही मौलिक भेद दीख पडता है।

कालिदास की वाणी को हमने जानकर भारती के नामसे पुकारा है—क्योकि इसमें भरतखड की समस्त मागलिक शक्तियाँ एक साथ मुखरित हो उठी हैं और इसके भीतर की किरणो के प्रकाश में यह सारा भरतखड परिपूत होकर अमित काल के लिये जगमगा उठा है।

कालिदास की रचनाओ में हमे जीवन की वही उदात्त व्यापकता दीख पडती है जो कि वाल्मीकि और व्यास की रचनाओ में छिपी पडी है और जिसके होने पर ही किसी कवि को हम विश्व-कवि कहा करते हैं। कालिदास के बाद की रचनाओ में यह

व्यापकता नहीं रह जाती। अब कवित्व का प्रयोजन उदात्त जीवन न रह कर सामान्य जीवन बन जाता है और कवियों की रचनाएँ हमें अवदात जीवन की ओर न ले जाकर जीवन के उन कोनों की ओर ले जाती हैं जिनका होना तो जीवन में अनिवार्य है किन्तु जहाँ प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार की मात्रा अधिक रहा करती है। शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक में हमें जीवन के ऐसे ही कोनों की झाँकियाँ मिलती हैं।

चारुदत्त एक निर्धन ब्राह्मण है। वह वसन्तसेना नाम की वेश्या से प्रेम करता है, जो कि वेश्या होने पर भी शिष्ट एवं साधन-सम्पन्न महिला है। वहाँ के महाराज का साला शकार भी उससे प्रेम करता है किन्तु वह उसे दुतकार चुकी है। शकार का सारा क्रोध अब चारुदत्त पर आ टूटता है। उपवन में चारुदत्त से मिलने के लिये वसन्तसेना एक गाड़ी पर सवार होती है। किन्तु यह गाड़ी दुर्भाग्य से शकार की है और वसन्तसेना अनजाने ही उसमें बैठ शकार के यहाँ जा पहुँचती है। शकार मारे प्रसन्नता के फूला नहीं समाता और प्रेम करने के लिये आगे बढ़ता है; किन्तु वसन्तसेना घृणा के साथ उसे दुतकार देती है। इस पर शकार उसे धरती पर मार गिराता है। अगले दिन उस अपराध को वह चारुदत्त के सिर थोपता और दरबार में उस पर मुकदमा दायर करता है। चारुदत्त को दोषी ठहराया जाता है और उसे फाँसी की सजा सुना दी जाती है। इसी बीच आर्यक राजगद्दी पर अधिकार कर लेता है और अपने उपकारी चारुदत्त को फाँसी से बचा लेता है। वसन्तसेना, जो कि चोट के कारण बेहोश हो गई थी, होश में आ जाती और अपने प्रेमी चारुदत्त से आ मिलती है।

नाटक की विशेषता इस बात में है कि इसमें कवि ने उदात्त जीवन का अभिनय न करके जीवन के उन पहलुओं को सहलाया है जो कि अत्यन्त सामान्य हैं और अभिजात समाज में जिनका होना किसी सीमा तक वाञ्छनीय समझा जाता रहा है। शूद्रक की दृष्टि में अभिजात-वर्ग के लिये वेश्याओं के यहाँ आना-जाना शिष्टता का चिह्न था। फलतः चारुदत्त वसन्तसेना के साथ प्रेम करके भी ब्राह्मण बना रहता है और समाज में उसका आदर बना रहता है। वेश्याओं के साथ द्यूत एवं नाचने-गाने का समवाय सम्बन्ध है और इन सभी पहलुओं पर इस नाटक में अच्छा प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में शूद्रक ने जीवन के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार प्रयोजनों में से बीच के दो प्रयोजनों को अपनी रचना का आधार बनाया है। वात्स्यायन मुनि के काम-शास्त्र में हमें इन्हीं दोनों की चर्चा मिलती है।

शूद्रक का दृष्टिकोण दरबार के आस-पास फलने-फूलने वाले जीवन तक सीमित था। उसकी दृष्टि में साहित्य का लक्ष्य जीवन को सत्य, शिव, सुन्दर की ओर ले

जाना न होकर, जीवन की व्याख्या करना मात्र था—वह जीवन भला है या बुरा इस बात से उसे क्या सरोकार ? वह तो बढ़ई है जिसका काम खिलौने घडना है, लकडी भली है या बुरी इससे उसे क्या मतलब ! शूद्रक का बनाया खिलौना सचमुच सलौना है, उसके अनेक पहलू हैं, बहुत से अग हैं और सभी अग अपनी-अपनी जगह चतुराई से बिठाए गए हैं। उसकी शकटी सुनहरी न हो कर सचमुच मिट्टी की है और उसने जान-बूझ कर अपना खिलौना मिट्टी से बनाया है वह इसलिये कि दुनिया स्वय मिट्टी की बनी है और इसलिये वह मिट्टी के खिलौनो को अधिक पसन्द करती और उन्ही में रमती-रमती जीवन से उपरत भी हो जाती है। शूद्रक की कथा का लक्ष्य आम लोगो के जीवन का अभिनय करके आम लोगो का दिल बहलाना है।

और यदि शूद्रक के मृच्छकटिक में कामसूत्र-निर्दिष्ट शिष्ट जनो के जीवन का अभिनय है तो विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक में देश के तात्कालिक राजनीतिक पहलू का अभिनय किया गया है। कथा यो है —राक्षस नन्दो का भक्त है और वह चन्द्रगुप्त से जलता है। उसकी दृष्टि में राज्य के अधिकारी नद हैं, जिन्हे कपट से मारकर किसी ने चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बिठा दिया है। वह चन्द्रगुप्त को राज्यच्युत करने के लिये दिन-रात उपाय करता है किन्तु चाणक्य उनकी एक नही चलने देता। इतना ही नही—दूतो द्वारा वह राक्षस की मुद्रा हथिया लेता है और उसकी मुहर लगा कर एक पत्र राक्षस के सहायको के पास भेजता है। इसे पाकर राक्षस के सहायक टूट जाते हैं और राक्षस विचारा अकेला रह जाता है, इसी बीच राक्षस के एक अभिन्न मित्र को फांसी का हुक्म होता है। राक्षस उसे बचाने का यत्न करता है किन्तु सब विफल। अन्त में चाणक्य उसके मित्र को इस शर्त पर छोड देने के लिये राज़ी होता है कि राक्षस चन्द्रगुप्त का प्रधान मन्त्रित्व स्वीकार कर ले। कोई चारा न पा कर राक्षस इस शर्त को मान लेता है और नाटक की प्रसाद में समाप्ति हो जाती है।

मुद्राराक्षस का वस्तु-तत्त्व राजनीतिक है और इस दृष्टि से यह नाटक सस्कृत में अद्वितीय है दरबारों में दिन-रात खेले जाने वाले दाँव-पेचों का इसमें फडकता अभिनय है जो इस बात पर बल देता है कि धन-प्राप्ति के लिये किसी प्रकार का पाप भी पाप नही है क्योकि राजनीति में सफलता ही पुण्य है और उसे प्राप्त करने के लिये शासक को सभी प्रकार के पाप क्षम्य हैं। यदि शूद्रल अपने समकालिक समाज के सामान्य पहलू का अभिनेता है तो विशाखदत्त अपने युग के राजनीतिक चित्रपट का चतुर चितेरा है। सामाजिक जीवन की व्याख्या करना दोनों का समान लक्ष्य है।

रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द नाटक हर्षवर्धन के बताए जाते हैं,

किन्तु कुछ लोग उन्हें उनके दरबारी कवि बाणभट्ट की रचना बताते हैं। तीनों ही नाटक सामान्य कोटि के हैं और यह बाण की कादम्बरी को देखते हुए उसकी रचना नहीं माने जा सकते।

रत्नावली के चार अंकों में उदयन की प्रेम-गाथा का अभिनय है। कौशाम्बी का राजा उदयन लंका की राजकुमारी सागरिका से प्रेम करता है। इस बात से जल कर वासवदत्ता सागरिका को कैद कर लेती है; किन्तु उदयन एक जादूगर की सहायता से उसे कैद से छुड़ा लेता है। लंका का राजा सागरिका को अपनी पुत्री घोषित करके उसे उदयन के साथ मिला देता है।

प्रियदर्शिका के चार अंकों में उदयन और आरण्यिका के प्रेम की गाथा है।

नागानन्द में पाँच अंक हैं। विद्याधरों का राजकुमार जीमूतवाहन शंखचूड़ नामक साँप को गरुड़ के मुँह से, अपना शरीर उसके सम्मुख प्रस्तुत करके, बचाता है। उसके त्याग को देख कर गरुड़ भी हिंसा से मुँह मोड़ लेता है और सभी मरे साँपों को फिर से जीवित कर देता है। जीमूतवाहन को गौरी फिर से जीवन-दान देती है और उसे विद्याधरों का राजा बना देती है।

तीनों नाटक सामान्य कोटि के हैं। रत्नावली में आने वाला लंका की राजकुमारी का वर्णन एवं जादूगर के हाथों उसका स्वतन्त्र किया जाना पद्मावत वर्णित घटनाओं की याद दिलाता है, जबकि नागानन्द पर बुद्ध-धर्म का प्रभाव सुव्यक्त है।

भट्टनारायण कृत वेणीसंहार के छह अंकों में भीमसेन द्रौपदी के केशपाश को सजाकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता है। द्यूतभवन में दुःशासन द्वारा अपमानित होकर द्रौपदी ने अपनी वेणी खुली छोड़ दी थी और उसे तब तक खुली रखने की प्रतिज्ञा की थी जब तक कि दुर्योधन को मार कर भीमसेन स्वयं उसे न बाँधे। इस नाटक में भीमसेन की इसी कथा का वीररसपूर्ण अभिनय दिखाया गया है। नाटक के कुछ दृश्यों में नाटकीय छटा खिल उठी है—किन्तु कथानक कुछ ढीला-ढाला है और यह बात इस नाटक को प्रथम कोटि से नीचे गिराने के लिए पर्याप्त है।

ईसा के पश्चात् सातवीं सदी में भवभूति ने महावीर-चरित, मालती-माधव और उत्तररामचरित नाम के तीन नाटक लिखे। महावीर-चरित के सात अंकों में राम विवाह से प्रारम्भ करके उनके अभिषेक तक की कथा का अभिनय है। सीता को वरने के लिए रावण भी अपना दूत पठाता है, किन्तु राम शिवधनुष को तोड़ देते हैं और रावण का दूत मुँह मारा रह जाता है। रावण का मन्त्री माल्यवान् राम से

बदला लेने की ठान लेता है। शूर्पणखा, मथरा के वेष मे अयोध्या पहुँचती और कैकेयी की ओर से राजा दशरथ के सामने दो वर प्रस्तुत करती है। माल्यवान् ही वालि को राम पर धावा बोलने की सलाह देता है। अन्तिम अक में राम विमान में बैठ कर अयोध्या को लौट आते हैं।

भवभूति की दूसरी रचना मालती-माधव है जो कि दस अकों मे है। इसमें विदर्भराज के मन्त्री देवरात के पुत्र माधव का पद्मावती के राजा के मन्त्री भूरिवसु की पुत्री मालती से विवाह सम्पन्न होता है और साथ ही माधव के मित्र मकरद का मालती की सहेली मदयतिका से परिणय होता है।

नाटक में शृगाररस की प्रधानता है और मालती-माधव के विरहोद्गारो में एक गहरी कूक है जो पाठको के दिल में गाँस की नाई धँसती चली जाती है।

भवभूति का तीसरा नाटक उत्तररामचरित है, जिसमें सात अक हैं। इसका आधार रामायण का उत्तरकाड है। अन्त मे राम का सीता एव उनके पुत्र लव-कुश के साथ पुनर्मिलन सुन्दर तरीके से दिखाया गया है।

नि सन्देह उत्तररामचरित की कथावस्तु उदात्त कोटि की है और उसमें करुण रस का परिपाक परा कोटि पर जा पहुँचा है। नाटक की कुछ सूक्तियाँ मन को मोह लेती हैं और कथा का प्रवाह भी त्वरित, समपद एव गौरवशाली है। किन्तु यह सब होते हुए भी हम कहेंगे कि भवभूति नाट्य-पडित हैं, उत्कृष्ट कोटि के नाट्यकार नही। उनकी भाषा दुरूह है, उनके श्लोको के जगड्वाल में प्रेक्षक घबरा जाता है और उनकी रचना में एक ऐसी बनावट है जो सहृदय प्रेक्षको को अखरती है।

भवभूति के साथ सस्कृत नाटक की विभूति समाप्त हो जाती है और कवित्व का यह पहलू पगु बन जाता है। कहने को तो नाटक बाद में भी लिखे गये और पर्याप्त मात्रा में लिखे गये, किन्तु वे लिखने के लिए लिखे गये, देखे जाने के लिये नहीं। और नाटक के विषय में इस प्रवृत्ति का उदय होना उसकी आत्मा को नष्ट कर देना है।

और अब डालिये शब्द ब्रह्म की क्रममयी काव्य-जाह्नवी पर एक विहंगम दृष्टि, कितना विशाल है इसका आयाम और कितना विपुल है इसका व्याम ? इस जाह्नवी के दो तट हैं पहला विशुद्ध श्रव्य-काव्य और दूसरा दृश्य-काव्य। पहले तट पर आपको वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि अनेक कविपुङ्गव इसकी अर्चना में करबद्ध होकर खडे मिलेंगे—इनकी अजलियो के अमर प्रसूनो ने कविता-जाह्नवी के इस तट को सदा के लिये परिपूत एव भास्वर बना दिया है। फिर देखिये इसके

हृदय-तट को। सैकड़ों मील के अन्तराल के बाद आपको इस पर भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त और भवभूति अपनी अंजलियों मे नाट्य-प्रसून लिये भव्यमुद्रा में खड़े दीख पड़ेंगे। ये सारे ही कविपुङ्गव भरतखण्ड के अमर दूत हैं; इन सभी के अभिनय में इस खण्ड के मानव की आत्मा साकार हुई है। किन्तु जहाँ कालिदास की नाट्य-शाला में स्वयं प्रतिरोधी एवं अभ्यनुज्ञा शक्तिरूप कालब्रह्म अपनी झाँकी ले रहा है वहाँ इतर नाटककारों की नाट्य-कला कुछ काल के लिये बुलन्द होकर सहसा मंद पड़ जाती है और कविता-सरित् के इस तट पर सुनसान छा जाता है। इस नीरव में ही हमारी काव्य सरित् एक टीस के साथ, एक विषादपूर्ण निःश्वास के साथ आगे बढ़ती दीख पड़ती है—इस आशा को मन मे रखकर कि आगे कहीं कोई कालिदास फिर मिलेगा और भारती के यशोगान से दूसरी बार भूखण्ड को भर देगा।



अपभ्रंश नाट्य-साहित्य

—डॉ० हरिवंश कोछड़

अपभ्रंश-भाषा का समय भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने ५०० ई० से १००० ई० तक बताया है किन्तु इस का साहित्य हमें लगभग ८वी शती से मिलना प्रारम्भ होता है। प्राप्त अपभ्रंश-साहित्य में स्वयम्भू सब से पूर्व हमारे सामने आते हैं। अपभ्रंश-साहित्य का समृद्ध युग ९वी शताब्दी से १३वी शताब्दी तक है। इसी काल हैं स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयनन्दी, कनकामर, धाहिल इत्यादि अनेक प्रभावशाली अपभ्रंश-कवि हुए।

जैनो द्वारा लिखे गए महापुराण, पुराण, चरिउ आदि ग्रन्थों में, बौद्ध सिद्धों द्वारा लिखित स्वतन्त्र पदों, गीतो और दोहो में, कुमारपाल-प्रतिबोध, विक्रमोवशीय, प्रबन्ध-चिन्तामणि आदि सस्कृत एव प्राकृत ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ कुछ स्फुट पद्यों में और वैयाकरणो द्वारा अपने व्याकरण-ग्रन्थो में उदाहरणार्थ दिये गये अनेक फुटकर पद्यों के रूप में हमें अपभ्रंश-साहित्य प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त विद्यापति की कीर्तिलता और अब्दुलरहमान के सदेश-रासक आदि ग्रन्थो में अपभ्रंश-साहित्य उपलब्ध है।

जिस प्रकार जैनाचार्यों ने सस्कृत-वाङ्मय मे अनेक काव्य, पुराण-ग्रन्थ, कलात्मक एव रूपक-काव्यादि ग्रन्थों का निर्माण किया इसी प्रकार उन्होंने अपभ्रंश-भाषा में भी इस प्रकार के ग्रन्थो का प्रणयन कर अपभ्रंश-साहित्य को समृद्ध किया।

जैनियो के अपभ्रंश को अपनाने का कारण यह था कि जैन पण्डितों ने अधिकांश ग्रन्थ प्रायः श्रावको के अनुरोध से लिखे। ये श्रावक तत्कालीन बोलचाल की भाषा से अधिक परिचित होते थे अतः जैनाचार्यों एव भट्टारको द्वारा श्रावकगण के अनुरोध पर जो साहित्य लिखा गया वह तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश में ही लिखा गया। जैसे बौद्धो ने तत्कालीन प्रचलित पाली को अपने प्रचारार्थ अपनाया इसी प्रकार जैन विद्वानो ने तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश-भाषा को अपने विचारों का माध्यम बनाना अभीष्ट समझा। जैन, बौद्ध और इतर हिंदुओ के अतिरिक्त मुसलमानो

ने भी अपभ्रंश में ग्रन्थ-रचना की। सन्देश-रासक का लेखक अब्दुलरहमान इस का प्रमाण है।

जैन कवियों ने किसी राजा, राजमन्त्री या गृहस्थ की प्रेरणा से काव्य-रचना की अतः इन की कृतियों में उन्हीं की कल्याण-कामना के लिये किसी व्रत के माहात्म्य का प्रतिपादन या किसी महापुरुष के चरित का व्याख्यान किया गया है। राजाश्रय में रहते हुए भी इन्हें धन की इच्छा न थी क्योंकि ये लोग अधिकतर निष्काम पुरुष थे, और न इन कवियो ने अपने आश्रयदाता के मिथ्या-यश का वर्णन करने के लिये या किसी प्रकार की चाटुकारी के लिए कुछ लिखा। इन जन कवियो ने अपने मत का प्रचार करने की दृष्टि से भी कुछ काव्यो का निर्माण किया। बौद्ध सिद्धो की कविता का विषय अध्यात्मपरक होने के कारण उपरिलिखित विषयो से भिन्न है। अपनी महत्ता के प्रतिपादन के लिए प्राचीन रूढियों का खण्डन, गुरु की महिमा का गान, रहस्यवाद आदि ही इनकी कविता के मुख्य विषय रहे। अपभ्रंश-साहित्य की पृष्ठभूमि प्रायः धर्म-प्रचार है। जैन कवि प्रथम प्रचारक हैं फिर कवि।

अपभ्रंश-साहित्य में हमें महापुराण, पुराण और चरित-काव्यो के अतिरिक्त रूपक काव्य, कथात्मक ग्रन्थ, सन्धि-काव्य, रास, स्तोत्र आदि भी उपलब्ध होते हैं। अपभ्रंश कवियो का लक्ष्य जन-साधारण के हृदय तक पहुँच कर उनको सदाचार की दृष्टि से ऊँचा उठाना था। इन कवियो ने शिक्षित और पण्डित-वर्ग के लिए ही न लिखकर अशिक्षित और साधारण वर्ग के लिये भी लिखा। उपरिनिर्दिष्ट अपभ्रंश ग्रंथो के अतिरिक्त चूनरी, चर्चरी, कुलकादि नामांकित कुछ अपभ्रंश ग्रन्थ भी मिले हैं।

अपभ्रंश-साहित्य के जिन भी ग्रंथो का ऊपर निर्देश किया गया है वे सब अपभ्रंश के महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रन्थो में अनेक काव्यात्मक सुन्दर स्थल दृष्टिगत होते हैं।

उपरिलिखित विषयो के अतिरिक्त अपभ्रंश में अनेक उपदेशात्मक ग्रन्थ भी मिलते हैं। इनमें काव्य की अपेक्षा धार्मिक-उपदेश भावना प्रधान है। काव्य-रस गौण है, धर्म-भाव प्रधान। इस प्रकार की उपदेशात्मक कृतियां अधिकतर जैन धर्म के उपदेशकों की ही लिखी हुई हैं। इनमें से कुछ में आध्यात्मिक तत्त्व प्रधान है कुछ में लौकिक-उपदेश तत्त्व।

जैन-धर्म सम्बन्धी उपदेशात्मक रचनाओं के समान बौद्ध सिद्धों की भी कुछ फुटकर रचनायें मिलती हैं जिनमें वज्रयान और सहजयान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन

किया गया है। इन धार्मिक कृतियो का भाषा की दृष्टि से उतना महत्त्व नही जितना भाव-धारा की दृष्टि से।

अपभ्रंश-साहित्य अधिकाश धार्मिक आवरण से आवृत है। माला के तन्तु के समान सब प्रकार की रचनाएँ धर्मसूत्र से ग्रथित हैं। अपभ्रंश कवियो का लक्ष्य था एक धर्म-प्रवण समाज की रचना। पुराण, चरित, कथात्मक कृतियाँ, रासादि सभी प्रकार की रचनाओ में वही भाव दृष्टिगत होता है। कोई प्रेम कथा हो चाहे साहसिक कथा, किसी का चरित-वर्णन हो चाहे कोई और विषय सर्वत्र धर्म-तत्त्व अनुस्यूत है मानो धर्म इन लेखको का प्राण था और धर्म ही इनकी आत्मा।

राजशेखर (१०वी शताब्दी) ने राजसभा में सस्कृत और प्राकृत कवियों के साथ अपभ्रंश-कवियो के बैठने की योजना भी बताई है। इससे स्पष्ट होता है उस समय अपभ्रंश कविता भी राज-सभा में आदृत होती थी। उसी प्रकरण में भिन्न-भिन्न कवियों के बैठने की व्यवस्था बताते हुए राजशेखकर ने सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश कवियो के साथ बैठने वालों का भी निर्देश किया है। अपभ्रंश कवियो के साथ बैठने वाले चित्रकार, जौहरी, सुनार, बढई आदि समाज के मध्यम कोटि के मनुष्य होते थे। इससे प्रतीत होता है कि सस्कृत कुछ थोडे से पण्डितो की भाषा थी, प्राकृत जानने वालो का क्षेत्र अपेक्षाकृत बडा था। अपभ्रंश जानने वालो का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत था एव अपभ्रंश का सम्बन्ध जन-साधारण के साथ था। राजा के परिचारक-वर्ग का 'अपभ्रंश भाषण प्रवण' होना भी इसी बात ओर सकेत करता है।

श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा सपादित 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' नामक ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अनेक अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। इस ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि अनेक राज-सभाओ में अपभ्रंश का आदर चिरकाल तक बना रहा। राजा भोज या उनके पूर्ववर्त्ती राजा अपभ्रंश कविताओं का सम्मान ही नहीं करते थे, स्वय भी अपभ्रंश में कविता लिखते थे। राजा भोज से पूर्व मुंज की सुन्दर अपभ्रंश-कविताएँ मिलती हैं।

इस विवेचन से हमारा अभिप्राय अपभ्रंश-साहित्य की आलोचना प्रस्तुत करना नहीं। हमारा इतना ही निवेदन है कि अपभ्रंश साहित्य पर्याप्त समृद्ध था और पूर्ण रूप से आदृत था। जैन विद्वानों ने अनेक काव्य आख्यायिका, चम्पू, नाटकादि ग्रन्थो का यद्यपि सस्कृत भाषा में निर्माण किया किंतु अपभ्रंश में नाना काव्यादि के उपलब्ध होने पर भी कोई नाटक उपलब्ध नही हुआ।

जो भी अपभ्रंश-साहित्य अद्यावधि प्रकाश मे आ सका है वह अधिकांश जैन-भाण्डारों से उपलब्ध हुआ है। जैन-मन्दिरो में मन्दिर के साथ एक पुस्तकालय भी संलग्न होता था। मन्दिर में जा कर प्रतिमा-पूजनादि के साथ-साथ जैनी लोग वहाँ ग्रन्थो का स्वाध्याय भी करते थे। किसी ग्रन्थ की हस्त-लिखित प्रतिलिपि कर या करवा कर अन्य श्रावकों के लाभार्थ मन्दिर मे रखवा देना एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। फलतः मन्दिरों में पर्याप्त ग्रन्थो का सग्रह हो गया। अभी तक अनेक जैन-भण्डारों के ग्रन्थो का सम्यक् निरीक्षण, वर्गीकरण एव अनुशीलन नही हो सका है। प्रचुर साहित्य अभी तक वहाँ प्रच्छन्न पड़ा है। ऐसी अवस्था में यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि अपभ्रंश-साहित्य में नाटको का सर्वथा अभाव है। हो सकता है कि नवीन अनुसन्धान के परिणाम-स्वरूप अतीत के गर्भ में लीन कोई अपभ्रंश-नाटक प्रकाश मे आ सके। जैन भण्डारों की अधिकांश ग्रन्थ राशि प्राय. धर्म-प्रधान है। अत ऐसा भी सम्भव है कि अपभ्रंश में नाटक लिखे तो गये हो किन्तु धार्मिक ग्रन्थो के साथ मन्दिर में प्रवेश न पाने के कारण सुरक्षित न रह सके हो। सस्कृत में लिखित अनेक नाटक श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत हो जाते हैं। दृश्यत्व रूप से नाटक रचना के लिये शान्तिमय वातावरण का होना आवश्यक है। यवनो के आक्रमण से विक्षुब्ध परिस्थितियो में संभवत. ऐसे नाटको की रचना न हो सकी हो। कारण कुछ भी हो अपभ्रंश-भाषा में लिखित नाटको का अभी तक अभाव है। ऐसी अवस्था में पर्याप्त सामग्री के न होने से अपभ्रंश नाट्य-साहित्य की पूर्ण विवेचना सम्भव नहीं।

अपभ्रंश भाषा में नाटक लिखे गये या नही इस विवाद को छोड दीजिए। श्री मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' के अन्तर्गत एक प्रकरण से ऐसा आभास मिलता है कि हास्य-विनोद के लिये अपभ्रंश-नाटक लिखे जाते थे। राजा भोज ने 'सिद्ध रस' बनाने वाले योगियो को बुलवा कर यह रस बनवाना चाहा। जब वे इस प्रकार का रस न बना सके तो उनकी हँसी उड़ाने के लिये अपभ्रंश में एक नाटक लिखवाया गया। नाटक के अभिनय के बीच पात्रों के सभाषण को सुन हँसी में लोट-पोट होते हुए राजा भोज को सम्बोधन कर एक सिद्धरस-योगी कहता है —

अत्थि कहंत किंपि न दीसइ।
नत्थि कहंतउ मुहगुरु रूसइ॥
जो जाणइ सो कहइ न कोसइ।
अज्जाणं तु विपारद ईसई।-

अपभ्रंश में यद्यपि कोई नाटक उपलब्ध नही तथापि चर्चरी, रास इत्यादि कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जिनसे अपभ्रंश के लोक-नाट्य पर कुछ प्रकाश पड़ता है। चच्चरी, चाचरि, चर्चरी ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। चर्चरी शब्द ताल एव नृत्य के साथ, विशेषतः उत्सव आदि में गाई जाने वाली रचना का बोधक है। इस का उल्लेख विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अक के अनेक अपभ्रंश पद्यो में मिलता है। वहाँ अनेक पद्य चर्चरी कहे गये हैं। समरादित्य-कथा, कुवलय-माला कथा आदि ग्रन्थो में भी इस का उल्लेख मिलता हैं। श्री हर्ष ने अपनी रत्नावली नाटिका के आरम्भ मिलता हैं—

अये यथाऽयमभिहन्यमान मृदु मृदंगानुगत गीतमधुर' पुरः पौराणां समुच्चरति चर्चरी ध्वनिस्तथा तर्कयामि .इत्यादि

अपभ्रंश के वीरकवि (वि० स० १०७६) ने अपने 'जबुसमिचरिउ' में भी एक स्थान पर चच्चरि का उल्लेख किया है—

चच्चरि बंधि विरइउ सरसु, गाइज्जइ सतिउ तारु जसु। १४

नयनदी कवि (वि० स० ११००) ने अपने 'सुदसण चरिउ' में वसन्तोत्सव वर्णन के प्रसग में लिखा है—

जिणहरेसु आढविय सुचच्चरि, करहिं तरुणि सवियारी चच्चरि। ७ ५

श्रीचन्द्र कवि (वि० स० ११२३) के 'रत्न करण्ड शास्त्र' में अनेक छन्दों के साथ चच्चरि का उल्लेख किया गया हैं।

अब्दुल रहमान ने अपने 'सदेश-रासक' में वसन्त वर्णन के प्रसंग में चच्चरी गान का उल्लेख किया हैं—

चच्चरिहि गेउ भुणि करिवि तालु,
नच्चीयइ अउव्व वसंतकालु।
घण निविड हार परि खिल्लरीहिं,
रुणझुण रउ मेहल किंकिणीहिं ॥२१९

इस से प्रतीत होता है कि चर्चरी, आनन्दोत्सव के अवसर पर जनसाधारण में या मन्दिरो में ताल और नृत्य के साथ गाई जाती थी। मलिक मोहम्मद जायसी ने अपने 'पद्मावत' में वसन्त, फाग एव होली के प्रसग में चाचरि या चाँचर का उल्लेख किया हैं, जो कि अपभ्रंश-कालीन चर्चरी के अवशिष्ट रूप के सूचक है।

जिनदत्त सूरि ने विक्रम की १२वी शती के उत्तरार्ध में 'चर्चरी' की रचना की थी। रचनाकर ने सूचित किया है कि यह कृति पढ (ट) मजरी भाषा-राग में

गाते हुए और नाचते हुए पढ़ी जानी चाहिये। इस में कृतिकार ने ४७ पद्यो में अपने गुरु जिनवल्लभ सूरि का गुणगान किया है और नाना चैत्य विधियो का विधान किया है।

इस चर्चरी के अतिरिक्त प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह में सोलन कृत चर्चरी का व्याख्यान है। एक वेलाउली राग में गीयमान ३६ पद्यो की 'चाचरि स्तुति' और गुर्जरी राग में गीयमान १५ पद्यो की 'गुरुस्तुति चाचरि' का पाटण-भण्डार की ग्रन्थ-सूची मे निर्देश मिलता है।

अपभ्रंश में कुछ रास ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए हैं। इन मे से कुछ की भाषा को प्राचीन गुजराती या प्राचीन राजस्थानी कहा जाता है। किन्तु प्राचीन गुजराती, प्राचीन राजस्थानी सब अपभ्रंश के ही रूप हैं और इन सब का सामान्य आधार एवं स्रोत अपभ्रंश या उत्तरकालीन अपभ्रंश ही है।

रास, रासो या रासक शब्द का क्या अर्थ है, क्यो इन ग्रन्थों का नाम रास पड़ा ? इस विषय में विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत हैं। किसी ने इसे ब्रह्मवाचक रस से, किसी ने साहित्यिक रस से, किसी ने स्त्री-पुरुषो के मंडलाकार नृत्य-वाची रास से, किसी ने राजयश से और किसी ने काव्य-वाचक रसायन से इस शब्द की व्युत्पत्ति मानी है।

संस्कृत के अलकार-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थो मे रास शब्द का उल्लेख है। वहाँ इस का लक्षण इस प्रकार दिया है—

षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नाय (यि) काः।
पिंडी बन्धादि विन्यासै रासकं तदुदाहृतम्॥

इस प्रकार ८, १२, १६ स्त्री-पुरुषो के मडलाकार नर्त्तन को रासक कहा गया है। किन्तु प्रश्न होता है कि रासक केवल नृत्त है या नृत्य या उनमें अभिनय का भी होना आवश्यक है ? नाट्य नृत्त और नृत्य से भिन्न है। धनंजय ने अपने दश-रूपक में तीनो पर विचार किया हैं। नृत्त में ताल-लय पर आश्रित पद-सचालनादि क्रियाएँ होती हैं (नृत्तं ताललयाश्रयम्)। नृत्त में केवल गात्र-विक्षेप होता है, नृत्य में गात्र विक्षेप के साथ-साथ अनुकरण भी पाया जाता है, नृत्य में भाव-प्रदर्शन भी होता है (भावाश्रय नृत्यम्)। नृत्त और नृत्य से आगे नाट्य आता है। नृत्य और नाट्य में यह भेद है कि नृत्य केवल भावाश्रित होता है और नाट्य रसाश्रित। नृत्य में आङ्गिक अभिनय का और नाट्य में वाचिक अभिनय का प्राधान्य होता है। नृत्य और नाट्य दोनो में अभिनय-साम्य होने पर भी नृत्य मे पदार्थ-रूप अभिनय होता है और नाट्य

में वाक्यार्थ-रूप अभिनय। नाट्य का लक्षण किया गया है—**"अवस्थानुकृति-र्नाट्यम्"** अर्थात् शारीरिक और मानसिक अवस्थाओ के अनुकरण को नाट्य कहा जाता है। यह अनुकरण आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक चार प्रकार का होता है। इस प्रकार नाट्य में इन चारो प्रकार के अभिनयो के द्वारा सामाजिको में रस का सचार किया जाता है।

साहित्यदर्पणकार ने उपरूपको का विभेद प्रदर्शित करते हुए नाट्य-रासक और रासक दोनो को विभिन्न उपरूपक माना है और दोनो के अलग-अलग लक्षण दिये हैं।[1]

इससे प्रतीत होता है हि विश्वनाथ के समय (११वी शती) तक नाट्य-रासक और रासक उपरूपको के एक भेद के रूप में स्वीकार किये जाने लगे थे। इस प्रकार इन में केवल नृत्य ही न होता था अपितु अभिनय भी किया जाता था। नृत्य और नाट्य दोनो का योग नाट्य-रास और रासक में होता था। नाट्य-रास और रासक दोनो एकाकी होते थे। नाट्य-रास में उदात्त-नायक और वासकसज्जा नायिका होती थी, रासक में कोई ख्यात नायिका किन्तु मूर्ख नायक होता होता था और इसमें भाषा और विभाषा का अर्थात् प्राकृत और अशिक्षित एव जन-साधारण से प्रयुक्त लोक-भाषा का प्राधान्य होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक में जन-साधारण द्वारा किसी लोक-प्रचलित नायक को लेकर प्रदर्शित उपरूपक को

---

१. नाट्यरासकमेकाकं बहुताललयस्थिति ॥
उदात्तनायकं तद्वत् पीठमर्दोपनायक ।
हास्योऽङ्गयत्र स श्रृगारो नारी वासकसज्जिका ॥
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ।
केचित्प्रतिमुख सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलं ॥

चौखंभा सस्कृत सीरीज प्रकाशन षष्ठ, परिच्छेद, २७७—२७९।

रासक पंचपात्र स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।
भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम् ॥
असूत्रधारमेकांक सवीथ्यंगं कलान्वितम् ।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुख सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते ॥

छ० २८१—२९०.

अलकारियो ने रासक का नाम दिया और शिक्षित एव शास्त्र-प्रचलित नायक के आधार पर रचित उपरूपक को नाट्य-रास का नाम दिया ।

अलकार-ग्रन्थो के अतिरिक्त सस्कृत-साहित्य मे भी रासक का निर्देश मिलता है। बाण ने अपने हर्षचरित में हर्षवर्धन की उत्पत्ति पर पुत्र-जन्मोत्सव के वर्णन में इस रासक शब्द का प्रयोग किया है।[1] वहाँ रासक शब्द मण्डलाकार नृत्य के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।

अपभ्र श-साहित्य में भी रास और रासक के कुछ उल्लेख मिलते हैं। 'जबु सामि चरिउ' के कर्त्ता (वि० स० १०७६) ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है :

कविगुण रस रंजिय विउससह, वित्थारिय सुद्दय वीर कह ।
चच्चरि बंधि विरइउ सरसु, गाइज्जइ सतिउ तारु जसु ।
नच्चिज्जइ जिणपय सेवयहिं, किउ रासउ अंबा देवयहिं ॥ १ ४

यहाँ जिनपद-सेवको द्वारा नृत्यपूर्वक गीयमान रास का निर्देश है । इस उद्धरण से एक और बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना है । 'चच्चरि बधि' पद से प्रतीत होता है कि 'पद्धडिया बध' के समान 'चच्चरि बध' भी प्रयुक्त होता था। अर्थात् चच्चरि छद में रचित रचना ही 'चच्चरि बध' कहलाती थी। विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अक में प्रयुक्त अनेक अपभ्र श छन्दो मे चच्चरि के प्रयोग का पीछे निर्देश किया जा चुका है। श्रीचन्द्र-रचित (वि० स० ११२३) 'रत्न करण्ड शास्त्र' नामक अपभ्र श ग्रन्थ में एक स्थल पर अन्य छन्दो के साथ चच्चरि, रासक और रास का उल्लेख किया गया है—

छंदणियारणाल आवलयहिं, चच्चरि रासय रासहिं ललियहिं ।
वत्थु अवत्थु जाइ विसेसहिं, अडिल मडिल पद्धडिया अंसहिं ॥ १२ ३

अपभ्र श के अनेक छन्द ग्रन्थो मे भी रासा छन्द का निर्देश मिलता है। इन से प्रतीत होता है कि सभवत पहले चच्चरि और रास ग्रन्थो में यही छन्द पूर्णत या अधिकत. प्रयुक्त होता था पीछे से विषय और प्रकार की दृष्टि से चच्चरि और रास शब्द ग्रन्थो के अर्थ में भी रूढ हो गये। अपभ्रश के 'सदेश-रासक' नामक ग्रन्थ मे

---

१ शनैःशनैस्यंजृम्भत च क्वचिन्नृत्तानुचित चिरंतन शालीन कुलपुत्रक लोक लास्य प्रवित पार्थिवानुरागः......सपर्वत इव कुसुम राशिभिः, सधाराग्रह इव सीधुप्रपाभि ...... सावर्त इव रासकमण्डलैः, ... सप्ररोह इव प्रसावदानैरुत्सवामोदः ।
हर्ष० च० चतुर्थ उच्छ्वास

रासा (रासक) का, जिसे आभाणक भी कहा गया है, प्रचुरता से प्रयोग किया गया है।

रास शब्द का उल्लेख 'संदेश-रासक' में भी एक स्थल पर मिलता है। वहाँ कवि सामोरु—मूल स्थान—मुल्तान नामक नगर का रासा छन्द में वर्णन करता हुआ कहता है—

कह व ठाइ चउवेईहिं वेउ पयासियइ,
कह बहुरूवि णिबद्धउ रासउ भासियइ ॥ ४३

अर्थात् "उस नगर में किसी स्थान पर चतुर्वेदियो द्वारा वेद प्रकाशित किया जा रहा है, कही चित्र-विचित्र वेशधारी बहुरूपियो द्वारा निबद्ध रासक का पाठ किया जा रहा है।" यहाँ रासक शब्द के साथ यद्यपि 'भाष्' धातु का ही प्रयोग किया गया है तथापि 'बहुरूवि णिबद्धउ' वाक्याश से रामलीलादिवत् प्रदर्शन का भी आभास मिलता है।

सन्देश-रासक का आरम्भ और अन्त मगलाचरण से किया गया है—

रयणायर धर गिरितरुवराइं गयणंगणमि रिक्खाइं,
जेणऽज्ज सयल सिरियं सो बुहयण वो सिवं देउ ॥१
माणुस्सदिव्व विज्जाहरेहिं णहमग्गि सूर-ससि बिंबे।
आएहिं जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तारं ॥२

ग्रन्थ समाप्ति पर कवि कहता है—

जेल अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्ध खणद्धि महंतु,
तेम पढंत सुणतयह जयउ अणाइ अणंतु ॥ २२३

आदि और अन्त के ये मगलाचरण के पद्य रूपक और उपरूपक के अन्तर्गत नान्दी और भरत-वाक्य का आभास देते हैं।

कथा-वस्तु में स्थान-स्थान पर सुन्दर कथोपकथन भी दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ—

पहिउ भणइ पहि जत अमंगलु महु म करि,
रुयवि रुयवि पुणरुत्त वाह संवरिवि धरि।
पहिय! होउ तुह इच्छ अज्ज सिज्झउ गमण,
मइ न रुन्नु विरहग्गि धम लोयण सवणु ॥ १०९

पथिक कहता है—(हे सुन्दरि !) रो-रो कर, मार्ग में जाते हुए मेरा अमगल मत करो, अपने इन आंसुओं को रोक कर रखो।

विरहिणी कहती है—हे पथिक ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, तुम्हारा आज गमन सिद्ध हो। मैं रोई नहीं, विरहाग्नि के धूमाधिक्य से आंखों में जल आ गया।

सदेश-रासक में पात्रो की संख्या अधिक नहीं। उन की वेशभूषा, सौन्दर्य-चेष्टा अवस्थादि का निर्देश पद्यो द्वारा ही किया गया है। शब्द-योजना द्वारा वर्ण्य-वस्तु को साक्षात् चित्रवत् उपस्थित किया गया है। जैसे—

वयण णिसुणेवि मणमत्थ सरवट्टिया,
भयउसर मुक्क एं हरिणि उत्तट्ठिया।
मुक्क दीउन्ह नीसास उस संतिया,
पढिय इय गाह णियणयणि वरसंतिया ॥८३

अर्थात् पथिक के वचनो को सुनकर काम के बाण से विद्ध वह विरहिणी शिकारी के बाण से विद्ध हरिणी के समान छटपटाने लगी। लम्बे-लम्बे उष्ण उच्छ्वास छोड़ने लगी। आहें भरते-भरते और आंखो से आंसू बरसाते हुए उस ने यह गाथा पढी।

वातावरण को सजीवता प्रदान करने के लिये यथास्थान उद्यान-शोभा और विविध ऋतुओं का दृश्य भी पद्यो द्वारा अकित किया गया है।

इस प्रकार अपभ्रंश-काल मे गद्य के विकसित न होने के कारण जैसे अनेक अपभ्रंश-ग्रन्थो में उपन्यास के तत्त्व सूक्ष्म रूप से दृष्टिगत होते हैं, वैसे ही सन्देश-रासक में सूक्ष्म रूप से नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी कुछ तत्त्वो का आभास मिल जाता है और ये गद्य के विकास-काल में लिखित रूपको के पूर्वरूप से प्रतीत होते हैं।

सन्देश-रासक के अतिरिक्त अन्य रास-ग्रन्थ प्रायः राजस्थान मे उपलब्ध हुए हैं। जैन-धर्मानुयायियो की अधिकाश जनता राजस्थान में रहती है अत. वहाँ इस प्रकार के रास-ग्रन्थो का बाहुल्य से मिलना अस्वाभाविक नहीं।

सन्देश-रासक का समय विद्वानो ने ११वी-१३वी शताब्दी के बीच निर्धारित किया है। सन्देश रासक अद्दहमाण (अब्दुलरहमान) नामक मुसलमान जुलाहे का लिखा काव्य है। सन्देश-रासक के अतिरिक्त जिनदत्त सूरि कृत 'उपदेश रसायन रास' नामक रास भी उपलब्ध है। जिनदत्त सूरि वि० स० ११३२ मे उत्पन्न हुए थे।

'उपदेश रसायन रास' ८० पद्यो की एक छोटी-सी कृति है। इस का आरम्भ भी मगलाचरण से होता है। 'कृति के जल को जो कर्णांजलि से पान करते हैं वे अजरामर होते हैं' इस वाक्य से मगलकामना-पूर्वक कृति समाप्त होती है। रास में कवि ने गृहस्थोचित नाना धार्मिक कृत्यो का उल्लेख किया है।

'गय सुकुमार रास' की रचना वि० स० १३०० के आस-पास मानी जाती है। इस में वसुदेव की पत्नी देवकी जी कृष्ण के समान गुण-रूप-निधान एक और पुत्र की कामना करती हैं। इन की अभिलाषा के पूर्ण होने का वर्णन इस में किया गया है।

उपरिनिर्दिष्ट रासो के अतिरिक्त राजस्थानी से प्रभावित अनेक रास-ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

शालिभद्र सूरि-रचित—'भरत वाहुबलि रास' की रचना वि० स० १२४१ में हुई। यह वीररस-प्रधान रास-ग्रन्थ है। इस मे पुष्पदन्त के महापुराण मे वर्णित कथा के आधार पर ऋषभ के पुत्र भरत और उसके छोटे भाई बाहुवली के युद्ध का वर्णन है।

धर्मसूरि ने वि० स० १२६६ में जबू स्वामी के चरित के कथानक के आधार पर 'जबू स्वामि रासु' की रचना की थी। विजयसेन सूरि ने वि० स० १२८८ में 'रेवत गिरि रास' की रचना की। इसमें सोरठ देश में रेवत गिरि पर नेमिनाथ की प्रतिष्ठा के कारण रेवत गिरि की प्रशसा और नेमिनाथ की स्तुति की गई है।

अवदेव (वि० स० १३७१) रचित 'समरारासु' में सघपति देसल के पुत्र समर सिंह की दानवीरता का वर्णन किया गया है। उसी वर्ष इस ने शत्रुजय तीर्थ का उद्धार किया। तीर्थ का भी सुन्दर भाषा में वर्णन मिलता है।

रास-ग्रन्थो के इस सक्षिप्त विवरण से प्रतीत होता है कि विपय-प्रतिपादन की दृष्टि से रास-ग्रन्थो में धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, नैतिक, लौकिक आदि सभी विपयो का वर्णन होता था। जैन मन्दिरो में प्राय धार्मिक रासो का ही गान और नृत्य-पूर्वक पाठ एव प्रदर्शन होता था।

उपरिनिर्दिष्ट रासो के अतिरिक्त ताला-रास और लकुट-रास का भी निदश 'उपदेश रसायन रास' में मिलता है—

उचिय थुत्ति-थुयपाठ पढिज्जहिं,
जे सिद्ध तिहिं सहु सधिज्जहिं ।

तालारासु वि दिति न रयणिहिं,
दिवसि वि लउडारासु सहुं पुरिसिहि ।।३६

तालियों के ताल और लकडी की डडियो के साथ गाये जाने वाले रास—ताला-रास और लकुट-रास—कहलाते है। लकुट रास तो गुजराती 'गर्बा' से बहुत मिलता-जुलता है।

डॉ० दशरथ ओझा ने 'हिन्दी-नाटक . उद्भव और विकास' नामक अपने प्रबन्ध में रास-ग्रन्थो का विशद विवेचन किया है। उन की सम्मति मे 'गय-सुकुमार रास' हिन्दी-साहित्य का प्रथम नाटक है। उन का अभिप्राय यह है कि इन रास-ग्रन्थो ने ही आगे चल कर हिन्दी-नाटको का विकास हुआ।

उपरिलिखित रास-ग्रन्थो के विवेचन का साराश यह है कि ११वी से १८वी शताब्दी तक प्राप्त अनेक अपभ्रंश रासक एव रास-ग्रन्थ लोक-नाट्य के लिये उत्सवो एव मन्दिरो में किये जाते थे। साधारण जनता इन्ही से मनोविनोद करती थी, किंतु शिष्ट समाज मे सस्कृत-नाट्य किये जाते थे और उनका प्रचार भी अभी तक चल रहा था। इन रास-ग्रन्थो मे यद्यपि उत्तरकालीन नाटको के नाट्य-तत्त्वो का सूक्ष्म रूप मे आभास मिल जाता है तथापि इन रासो के पद्य रूप मे होने के कारण वे तत्त्व पूर्णरूप से विकसित न हो सके थे। इन रासो मे दृश्यत्व पूर्ण रूप से दृष्टिगत नही होता। नृत्य और सगीत का ही प्राधान्य था ऐसा प्रतीत होता है। सदेश-रासक के कर्त्ता ने अपने ग्रन्थ को मध्यवर्ग के सन्मुख बार-बार पढने का निर्देश किया है।[1] ग्रन्थ की समाप्ति पर भी लेखक ने इस के पढने और सुनने का ही निर्देश किया है।[2] 'उपदेश रसायन रास' मे भी कवि ने कृति के जल को कर्णामृत से पान करने वालो के लिये अजरामरत्व की मगल-कामना की है। 'समरारास' मे भी इसके पढने की ओर सकेत किया गया है।[3] क्रमश इन रासो मे श्रव्यत्व के स्थान पर दृश्यत्व का भी प्रचार होने लगा और इन के रूपक तत्त्व उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होने लगे।

---

१ जिण मुक्ख न पंडिय मज्झयार,
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्व वार ।।२१

२ जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्ध खणद्धि महंतु,
तेम पढ़ंत सुणंतयह जयउ अणाइ अणंतु ।।२२३

३ एह रासु जो पढ़ई गुणई नाचिउ जिणहरि देई ।

हिन्दी नाटक का उद्भव

—डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल

"नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।"
लोक वृत्तानुकरणं नाट्यमे तन्मया कृतम् ॥ (नाट्य-शास्त्र १।१०६)

नाटक लोक-वृत्ति का अनुसरण है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने अपने कथन में इसकी पुष्टि की है। किसी न किसी परम्परागत अथवा कल्पित कथा की अनुकृति नाटक में प्रदर्शित की जाती है। साहित्य लोक-जीवन के कार्यकलापो में ही नाटक का उद्भव खोजता है। आदियुग से नाटको के उद्गम का क्रम-बद्ध इतिहास चला आ रहा है। भारतीय सस्कृति के इतिहास का आविर्भाव वैदिक काल से है। नाटक की उत्पत्ति के विषय में लोक-प्रचलित प्राचीन किंवदन्तियाँ भी हैं। देवराज इन्द्र ने वेदो के रचयिता ब्रह्मा से जन-साधारण के मनोरजनार्थ एक ग्रन्थ की रचना करने की प्रार्थना की[1] जिससे कि सर्वसाधारण का मनोरजन हो सके। ब्रह्मा ने पाठ्य सामग्री ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से एव रस-तत्त्व अथर्ववेद से लेकर एक पचम वेद की रचना की जिसे नाट्यवेद कहते हैं। इसका सूत्रधार भरत मुनि को बना कर नाट्याभिनय के कार्य-सचालन का भार इन्हे सौंपा। नाट्य की उत्पत्ति की प्रथम किंवदन्ती के रूप में यह कथा व्यापक रूप से प्रचलित है।

भारतीय साहित्य की प्राय सभी साहित्यिक प्रेरणाओ का सूत्र वेदों में है। नाटको की उत्पत्ति का आरभिक विकासमान स्वरूप वेदो में विद्यमान है। सवादो की परपरा का उद्भव वेदो में दिखाई देता है। ऋग्वेद में 'सवाद सूत्र' विद्यमान हैं। उनमें नाटकीय प्रयोजन की प्रथम भूमिका उपस्थित प्रतीत होती है। ऋग्वेद में सवाद तथा स्वगत-कथन उपस्थित हैं। उदाहरण के रूप में[2] सवाद-सूक्तो में क्रमश

---

१ "जग्राह पाठ्य ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।"
यजुर्वेदादभिनयान्रसानाथर्वणादपि ॥१७॥
वेदोपवेदैः सबद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना (१) ॥१८॥
(नाट्य-शास्त्र, प्रथम अध्याय)

२ ऋग्वेद—मडल १०,१०,१,८

यम तथा यमी, पुरुरवा और उर्वशी, अगस्त्य और लोपामुद्रा, इन्द्र तथा वाक् आदि का कथोपकथन मिलता है। स्वगत कथनों में इन्द्र अथवा सोमरस से छके हुये व्यक्ति का स्वगत कथन विद्यमान है। वस्तुतः यह मानना कि 'सवाद सूक्त वैदिककालीन रहस्यात्मक नाटकों के अवशिष्ट चिन्ह हैं' युक्तिसंगत होगा।

नाटक के उद्गम के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों के दो मत हैं। एक वर्ग भारतीय नाट्य का उद्भव धार्मिक कार्य-कलापों से प्रेरित मानता है परन्तु दूसरा उसका उदय लौकिक और सामाजिक कृत्यों द्वारा मानता है। प्रो० मैक्समुलर, लेवी तथा डाक्टर हर्तेल आदि आचार्यों का मत है कि नाटक का उदय वैदिक ऋचाओं के गान से हुआ है। यज्ञों के अवसर पर ये ऋचाएँ समवेत स्वर में गाई जाती थीं जिनके बीच कथोपकथन भी आते थे। नाटकीय संवादों की प्रेरणा सभवतः इन्हीं कथोपकथन युक्त ऋचाओं से मिलती है।

अभिनय का स्वरूप नृत्त और नृत्य में विद्यमान प्रतीत होता है। नृत्त में ताल-स्वर के अनुसार पद-सञ्चालन का भाव प्रदर्शित किया जाता है। उसका भाव-निरूपण पद चालन की गति पर निर्भर है। नृत्य के भावों में अभिनयमूलक प्रेरणा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। नृत्य में भाव बना कर मूक इंगितों में अवयवों का परिचालन किया जाता है। नृत्त तथा नृत्य की प्रेरणा का उदय शंकर तथा पार्वती के ताण्डव तथा लास्य से माना गया है। पाश्चात्य विद्वानों में डा० रिजवे नाटक का उदय वीर-पूजा से मानते हैं। यह मत पाश्चात्य नाट्य के लिए उपयुक्त हो सकता है परन्तु पौर्वात्य नाट्योद्भव के लिए युक्ति-सगत नहीं है।

महाकाव्य-काल में वाल्मीकीय रामायण में नटों तथा नर्तकों का उल्लेख आया है। महाभारत काल में काष्ठ-पुत्तलिका के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। पिशेल ने इन्हीं उल्लेखों के आधार पर नाटक की प्रारंभिक अवस्था कठपुतलियों के नाच तथा उनके द्वारा किये हाव-भाव पर आधारित की है। यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य में कठपुतलियों के प्रचलन का उल्लेख तो मिलता है परन्तु यह प्रामाणिक रूप में नहीं कहा जा सकता कि अभिनय का प्रारंभ इन्हीं की प्रेरणा का फल है। यद्यपि नाटकों में आने वाले सूत्रधार में उपयुक्त कथन की पुष्टि सार्थकता का भान होता है। प्रो० कीथ ने भी उपर्युक्त कथन पर अपना मतव्य अपनी पुस्तक 'संस्कृत ड्रामा' में दिया है। उन्होंने छाया-नाटकों के उल्लेख में पुतलियों के प्रचलन को आधार माना है।

कामसूत्र के द्वितीय भाग में वात्स्यायन ने नटों द्वारा प्रस्तुत मनोरञ्जन का

उल्लेख किया है। उनके वर्णन में 'कुशीलवो' द्वारा सामाजिक उत्सवो में प्रदर्शित कौतुक-क्रीडा का वर्णन है। पाणिनि के नट-सूत्रो में भी नाट्य-बोध की गरिमा है। अत वैदिक काल से विक्रम के समय तक अनेक रूपो में बिखरे हुये नाटक के परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप मिलते हैं।

भारतीय नाट्य-साहित्य की रूपरेखा सस्कृत नाटको मे विद्यमान है। ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण तथा द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध मे सस्कृत-साहित्य के प्रथम नाट्यकार अश्वघोष का रचनाकाल प्रमाणित किया गया है। इनके 'सारिपुत्र' प्रकरण में नाटकीय अवयवो की व्यवस्थित रूपरेखा है। सस्कृत नाट्य-साहित्य के प्रमुख नाटककार अश्वघोप, भास, शूद्रक, श्रीहर्ष, विशाखदत्त, राजशेखर, कालिदास, भवभूति, क्षेमीश्वर, भट्टनारायण, मुरारि, श्रीदामोदर मिश्र तथा जयदेव आदि हैं। सस्कृत नाट्य-साहित्य में पौराणिक तथा सामाजिक आख्यायिकाओ के वर्णमय चित्र हैं।[1] ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण से बारहवी शताब्दी तक सस्कृत नाट्य-साहित्य का विकास हुआ है। सस्कृत के नाटक प्रसादान्तक नीड पर विश्राम करते प्रतीत होते हैं। फलप्राप्ति की कल्पना हर्षातिरेक की भावना लेकर चलती है। मनोरजन में भी मानव हर्ष तथा आह्लाद पाकर सुखानुभूति प्राप्त करता है अत इसी विचारधारा से प्रेरित सस्कृत के नाटक सुखान्तक रखे गये हैं। पाश्चात्य त्रासदी का सस्कृत नाट्य-साहित्य में अभाव है। नाटकों में नाट्यशास्त्रानुसार सैद्धान्तिक मर्यादाओं का पालन किया गया है। नाटक के विभिन्न अवयवो में कथा-वस्तु कथोपकथन, पात्र तथा रस सभी विद्यमान प्रतीत होते हैं। सवादो में गद्य तथा पद्य शैली दोनो ही विद्यमान है। सस्कृत नाट्यकारो ने बडा ही प्रौढ तथा सुसस्कृत साहित्य विश्व नाट्य-साहित्य के सम्मुख रखा है। अपनी अनूठी-कल्पना शक्ति और विलक्षण नाट्य-नैपुण्य के कारण सस्कृत के नाट्यकार एक परम्परा-सी बना गये हैं। हिन्दी के आरभिक नाट्यकारों ने उन्हीं का अनुकरण किया है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य को वास्तविक प्रेरणा सस्कृत नाट्य-साहित्य से प्राप्त हुई है। हिन्दी के आरम्भिक नाटक सस्कृत-नाटको के अनुवादो के रूप में उपस्थित हुये हैं। हिन्दी नाट्य-साहित्य को सर्वप्रथम सस्कृत-नाटक के पद्यात्मक सवादो ने आकृष्ट किया था। वस्तुतः यह कहना उपयुक्त है कि हिन्दी नाटक का उदय सस्कृत के नाटकीय काव्य (Dramatic Poetry) से हुआ था। प्रारम्भिक रचनाओं में से

१ "अश्वघोषस्तथा भास शूद्रकश्चापि भूपति। कालिदासश्च विघ्नागो नृपति हर्षवर्धनः।
भवभूतिर्विशाखश्च भट्टनारायणस्तथा। मुरारि शक्तिभद्रश्च पुन' श्रीराजशेखर.॥
क्षेमीश्वरश्च मिश्रौच कृष्ण दामोदरा वुभो। जयदेवश्च वत्सश्च ख्याता नाट्यकारकाः।

हनुमन्नाटक तथा समयसार आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। रचना-क्रम के अनुसार प्रबोध-चन्द्रोदय हिन्दी-साहित्य का सर्वप्रथम नाटक है। इसका अनुवाद जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्तसिंह ने संस्कृत के मूल नाटक प्रबोध-चन्द्रोदय से किया था। हिन्दी नाटक के उदय-काल में भाषा का स्वरूप पद्य तथा गद्य मिश्रित व्रजभाषा था। संस्कृत नाटकों के आधार पर उनके अनुवादों में यथास्थान गद्य तथा पद्य संवाद प्रस्तुत किये जाते थे। उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम व्रजभाषा ही थी। हिन्दी के आरम्भिक नाट्यकारों ने अपने अनूदित नाटकों में मूल नाटकों का अक्षरशः अनुवाद करने का प्रयास किया है।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आनन्द रघुनन्दन नाटक रीवा-नरेश विश्वनाथ सिंह द्वारा प्रस्तुत किया गया। यह नाटक हिन्दी नाटक-साहित्य का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। प्रस्तुत नाटककार ने भी प्रचलित रचना-शैली के अनुसार इसकी भाषा गद्य तथा पद्य मिश्रित व्रजभाषा रखी है। तदुपरान्त उपर्युक्त नाटककार द्वारा गीत रघुनन्दन की रचना की गई। आदिकाल के नाटक केवल संस्कृत-नाटकों के अनुवाद मात्र ही रहे हैं, परन्तु कालान्तर में हिन्दी नाटक दो विशिष्ट वर्गों में विभक्त हो गया। अनूदित तथा मौलिक नाटकों का प्रचलन हिन्दी नाट्य-साहित्य में अपनाया गया। यह परम्परा चिरकाल तक हिन्दी नाट्य-साहित्य का अंग बनी रही। हिन्दी नाटक के आरम्भिक विकास-काल में इन्हीं मनोवृत्तियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य में संस्कृत नाट्य-प्रणाली की प्रतिच्छाया लिए हुए नाटकों की रचना हुई है, प्रायः उनका मूलाधार धार्मिक आख्यानों की कथा-वस्तु रही है। हिन्दी साहित्य का आदि युग वीरगाथा काल से आरम्भ होता है। इस युग में वीर नर-पुंगवों की गाथा पद्यमय वर्ण-चित्रों में उपस्थित की गई थी। इन्हीं वीर-गाथाओं का काव्य-वर्णन पद्यमय कथोपकथनों के रूप में भी प्रस्तुत किया गया था। कथोपकथन नाटक-साहित्य का विशिष्ट अंग है। वस्तुतः यह पद्यमय कथोपकथन भी हिन्दी नाट्य-साहित्य के प्रोत्साहन का कारण रहा है। अतः कहा जा सकता है कि काव्य का यह स्वरूप नाट्योद्भव का प्रेरक है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि पूर्व-भारतेन्दु-काल से भारतेन्दु-युग तक नाट्यकारों की प्रवृत्ति संस्कृत नाट्य-साहित्य तथा पौराणिक आख्यायिकाओं को भाषान्तर रूप देकर हिन्दी नाट्य-साहित्य की परंपरा का आविर्भाव करना ही रहा है। मौलिक नाटकों का अभाव इस काल में खटकने वाली वस्तु थी, यद्यपि मौलिक नाटकों की रचना कालान्तर में अवश्य हुई है जिसका इस युग के साहित्य में नगण्य स्थान है। नाटककारों की मूल प्रवृत्ति अनुवादों की ही ओर थी।

आरम्भ के मौलिक नाटक अधिकाश पद्यमय ही थे। प्राणचन्द चौहान कृत 'रामायण महानाटक', रघुराम नागर कृत 'सभासार', लच्छीराम कृत 'करूणाभरण' आदि को मौलिक रचनाओ की कोटि में रखा जा सकता है। इस युग के नाटको का निर्माण-काल भक्ति और रीतिकाल के वीच का युग है। सम-सामयिक वातावरण के प्रभाव से इस युग की रचनाएँ अछूती नही रह सकी हैं। पौराणिक गाथाओ में शृगारिक भावना का प्रयोग इस युग की मूल मनोवृत्ति प्रतीत होती है। इस युग के नाटककारो ने प्रेम-व्यापार के साथ वीररस की अभिव्यक्ति से कथानको को अनुप्राणित किया है। उपर्युक्त शैली का प्रयोग सस्कृत नाट्य-साहित्य मे पूर्व ही विद्यमान था। हिन्दी नाटको में भी उसका अनुसरण किया गया था।

सत्रहवी शताब्दी में सस्कृत नाट्य-साहित्य से प्रभावित पद्यमय हिन्दी नाटक का आविर्भाव हुआ था। आगे चलकर आलोच्य-काल में हिन्दी नाट्य-प्रवाह दो प्रमुख धाराओ में विभक्त हो गया। इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से करना उपयुक्त होगा सर्वप्रथम साहित्यिक नाटको का उदय तथा विकास हुआ, जिसने आगे चलकर हिन्दी साहित्य के अक्षय भाण्डार की अभिवृद्धि की है। परन्तु युग का साहित्यकार अपने समुचित प्रसाधनो में ही सीमित न रह सका। वह रूपक के दृश्य-काव्यत्व की सार्थकता का उपयोग करना चाहता था। वैदिक युग में ही भरत मुनि द्वारा रगमच की उपयोगिता का महत्व बताया गया था। सस्कृत साहित्य के नाटक भी अपने काल में रगमच के हेतु प्रयोग में लाये गये थे। इस युग में साहित्यिक नाटक इतने परिष्कृत न थे कि उनका प्रयोग रगमच पर सरलता से किया जा सके। पद्यमय सवाद अथवा वर्णनात्मक लम्बे गद्यात्मक कथोपकथन बाधा के रूप में उपस्थित हो जाते थे। नाटक के उपाग के रूप में जन नाट्य रगमच पर प्रयुक्त किया गया, धीरे-धीरे इसी अभिनय-मूलक रगमच ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। यद्यपि यह प्रश्न युक्तिसगत है कि रगमचीय नाटको को साहित्यिक-नाटको से पृथक् क्यो न रखा जाये जबकि उनका अस्तित्व साहित्यिक नाटको से भिन्न जान पडता है परन्तु स्मरण रहे कि नाटक दृश्य-काव्य है और अभिनेय होना उसका आवश्यक लक्षण है। इस दृष्टिकोण से आदर्श कहे जाने वाले नाटक तो उसी वर्ग के कहे जायेंगे जिनमें साहित्य के साथ-साथ अभिनेय गुण भी होगा, रगमचीय नाटकों को साहित्य से पृथक नही किया जा सकता है, वे भी नाट्य-सिद्धान्त के एक मुख्य अश के प्रतिनिधि हैं।

जन-नाट्य को रगमचीय प्रेरणा चैतन्य महाप्रभु के कीर्तन सप्रदाय तथा महाप्रभु वल्लभाचार्य की भक्ति-भावना से मिली। रासलीला, यात्रा तथा रामलीला के स्वरूपरगमचीय प्रयोजन की परितुष्टि करते प्रतीत होते थे। हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाले मनोरजनो में सभवत रास-लीला सबसे प्राचीन है। भगवत चर्चा के साथ-साथ यह

मनोरंजन का भी सुलभ साधन था। हिन्दी रंगमंच भी साहित्यिक नाटकों के अनुरूप ही मनोवृत्तियों का पोषक रहा है। पौराणिक वृत्तों को ही लीला का स्वरूप दिया गया, रास में कृष्ण-लीला तथा राम-लीला में रामकथा वर्णित तथा अभिनीत की जाती थी जिस परम्परा का निर्वाह आज भी होता है। रंगमंच-नाट्य की परम्परा अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के विकास सम्बन्ध की आवश्यक शृंखला प्रस्तुत करती है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि नाट्य लोक का अनुकरण है, अतएव लोक में जो कुछ है उसकी छाया नाटकों में प्रदर्शित की जाती है। साहित्य, वास्तु-कला, चित्र-कला, संगीत-नृत्यादि, ज्ञान-विज्ञान सभी कुछ नाटक में यथास्थान प्रयुक्त हो सकते हैं। नाटक की उद्भावना इसी अभिप्राय से प्रेरित है। हिन्दी के नाटकों में भी उन्हीं संस्कारों की छाप विद्यमान है जो उसे प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य से प्राप्त हुये हैं। हिन्दी नाटकों का उद्भव प्राचीन भारतीय नाट्य-परम्परा से है जिसकी देन प्रौढ़ संस्कृत नाट्य-साहित्य है। हिन्दी का नाटक प्रारम्भ में संस्कृत नाट्य-साहित्य से पूर्ण प्रभावित था तथा संस्कृत साहित्य के नाट्यकारों ने यह मार्ग प्रदर्शित न किया होता तो संभवत हिन्दी के नाट्य-साहित्य का लोप हो गया होता, और हिन्दी के साहित्यकारों में साहित्य के इस अंग की कल्पना भी न उत्पन्न हुई होती।



भारतेंदु के नाटक

—डॉ० सत्येन्द्र

भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं।

यो तो, स्वय भारतेन्दु जी ने लिखाहै :

'हिन्दी-भाषा में वास्तविक नाटक के आकार में ग्रन्थ की सृष्टि हुए पचीस वर्ष से विशेष नही हुए। यद्यपि नेवराज कवि का शकुन्तला नाटक, वेदान्त विषयक भाषा ग्रन्थ समयसार नाटक, ब्रजवासी दास के प्रबोधचन्द्रोदय प्रभृति नाटक के भाषानुवाद नाटक नाम से अभाहित हैं किन्तु इन सबो की रचना काव्य की भाँति है अर्थात् रीत्यनुसार पात्र प्रवेश इत्यादि कुछ नही है। भाषा-कवि-कुल-मुकुट-माणिक्य देव कवि का देवमाया प्रपच नाटक और श्री महाराज काशिराज की आज्ञा से वना हुआ प्रभावती नाटक तथा श्री महाराज विश्वनाथसिह रीवा का आनन्द रघुनन्दन नाटक यद्यपि नाटक रीति से बने हैं किन्तु नाटकीय यावत् नियमों का प्रतिपालन इनमें नहीं है और ये छद प्रधान ग्रन्थ हैं। विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्यचरण श्री कविवर गिरिधरदास वास्तविक नाम बाबू गोपाल चन्द्र जी का है। इसमें इन्द्र को ब्रह्महत्या लगना और उसके अभाव में नहुष का इन्द्र होना, नहुष का इन्द्रपद पाकर मद, उसकी इन्द्राणी पर कामचेष्टा, इन्द्राणी का सतीत्व, इन्द्राणी के भुलावा देने से सप्तऋषि को पालकी में जोत कर नहुष का चलना, दुर्वासा का नहुष को शाप देना और फिर इन्द्र का पूर्व पद पाना यह सब वर्णित है। मेरे पिता ने बिना अग्रेजी शिक्षा पाए इधर क्यो दृष्टि दी, यह वात आश्चर्य की नही। उनके सब विचार परिष्कृत थे। बिना अँग्रेज़ी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म के विषय में ही वे परिष्कृत थे कि वैष्णवव्रत पूर्ण पालन के हेतु उन्होने अन्य देवतामात्र की पूजा और व्रत घर से उठा दिये थे। टामसन साहब लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के समय काशी में पहला लडकियो का स्कूल हुआ तो हमारी बडी बहन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत कठिन था क्योंकि इसमें बडी ही लोक निन्दा थी। हम लोगो को अग्रेज़ी शिक्षा दी। सिद्धान्त यह है कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है। नहुष नाटक बनने का समय मुझको स्मरण है आज पच्चीस वर्ष हुए

होंगे जब कि मैं सात बरस का था नहुष नाटक बनता था। केवल २७ वर्ष की अवस्था में मेरे पिता ने देह-त्याग किया, किन्तु इसी अवसर में चालीस ग्रन्थ जिनमें बलराम कथामृत, गर्गसंहिता, भाषा वाल्मीकि-रामायण, जरासंध-वध महाकाव्य और रस रत्नाकर ऐसे बड़े-बड़े भी हैं, बनाए।

हिन्दी भाषा में दूसरा ग्रन्थ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मणसिंह का शकुन्तला नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणों से यह नाटक उत्तम ग्रन्थों की गिनती में है। तीसरा नाटक हमारा विद्यासुन्दर है। चौथे के स्थान में हमारे मित्र लाला श्रीनिवास दास का तप्ती संवरण, पंचम हमारा वैदिकी हिंसा, षष्ठ प्रिय मित्र बाबू तोताराम का केटोकृतान्त और फिर तो और भी दो चार कृतविद्य लेखकों के लिखे हुए अनेक हिन्दी नाटक हैं।"

इस दृष्टि से पहला नाटक नहुष होना चाहिए। किन्तु भारतेन्दु जी ने ही विद्यासुन्दर की द्वितीय आवृत्ति का उपक्रम लिखते समय बताया कि "विद्यासुन्दर की कथा बंग देश में अतिप्रसिद्ध है ... प्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र राय ने इस उपाख्यान को बंगभाषा में काव्य स्वरूप में निर्माण किया है......महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलम्बन करके जो विद्यासुन्दर नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह बरस हुए यह हिन्दी भाषा में निर्मित हुआ है। विशुद्ध हिन्दी-भाषा के नाटकों के इतिहास में यह चौथा नाटक है। निवाज का शकुन्तला या ब्रजवासी दास का प्रबोध चन्द्रोदय नाटक नहीं काव्य हैं। इससे हिन्दी भाषा में नाटकों की गणना की जाय तो महाराज रघुनाथसिंह का आनन्द रघुनन्दन और मेरे पिता का नहुष नाटक यही दो प्राचीन ग्रन्थ भाषा में वास्तविक नाटककार मिलते हैं यों नाम को तो देवमाया प्रपंच, समयसार इत्यादि कई भाषा ग्रन्थों के पीछे नाटक शब्द लगा दिया है। इनके पीछे शकुन्तला का अनुवाद राजा लक्ष्मण सिंह ने किया है। यदि पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों को ब्रजभाषा मिश्र[1] होने के कारण हिन्दी न मानो तो विद्यासुन्दर गुणों में अद्वितीय न होने पर भी द्वितीय है।"[2]

यहाँ स्वयं भारतेन्दु जी ने नहुष को हिन्दी का नाटक नहीं माना।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का अभिमत है कि 'यद्यपि भारतेन्दु ने आनन्द रघुनन्दन को हिन्दी के सर्वप्रथम नाटकों में स्थान देने में संकोच किया है क्योंकि नाटकीय यावत् नियमों का उसमें पालन नहीं है, और वह छंद प्रधान है, किन्तु उनका

१ ब्रज-भाषा मिश्र नहीं, मात्र ब्रज-भाषा में ही यह नाटक लिखा गया है। इसका एक अंक पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रंथ में प्रकाशित हुआ है।

२ वही विद्यासुन्दर नाटक की द्वितीय आवृत्ति का उपक्रम।

यह मत युक्तिसगत प्रतीत नही होता । उसमें छन्दो का प्रयोग अवश्य है किन्तु गद्य का प्रयोग भी कम नही । कथोपकथनों का अधिकाश गद्य में ही है । नाटकीय नियमों का पालन भी उसमें पाया जाता है । भारतेन्दु जी के पिता कविवर गिरधरदास कृत 'नहुष नाटक' के साथ-साथ आनन्द रघुनन्दन की गणना हिन्दी के प्रथम नाटको में की जानी चाहिए"[1] ।

वार्ष्णेय जी ने इसे आगामी नाट्य-युग का अग्रदूत माना है ।[2] साथ ही एक स्थान पर लिखा है कि 'ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है और भाषा प्रधानत ब्रजभाषा है ।'[3] इन नाटक की शैली सस्कृत की नाटय-शैली के अनुकरण पर हुई है ।

भाषा का स्वरूप और नाट्य-शैली ये दोनों ही स्वय ये सिद्ध करते हैं कि इन्हें हिन्दी के आधुनिक नाटकों का पूर्वगामी नही माना जा सकता । आधुनिक युग की आत्मा के मर्म को ये नाटक नहीं अपना सके थे । इस दृष्टि से भारतेन्दु जी का विद्यासुन्दर ही पहला नाटक माना जाना चाहिये और इसी लिए भारतेन्दु जी हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं ।

हिन्दी के इस युग-प्रवर्त्तक महान् पुरुष ने निम्नलिखित नाटक लिखे —

१. मुद्रा राक्षस	११ दुलर्भबन्धु
२ सत्य हरिश्चन्द्र	१२ प्रेम योगिनी
३. विद्यासुन्दर	१३. जैसा काम वैसा परिणाम
४ अधेर नगरी	१४. कर्पूरमजरी
५. विषस्य विषमौषधम	१५. नील देवी
६ सती प्रताप	१६ भारत दुर्दशा
७ चन्द्रावली	१७ भारत जननी
८. माधुरी	१८. धनजय विजय
९ पाखडविडबन	१९ वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति
१० नवमल्लिका	२० रत्नावली

बाबू ब्रजरत्नदास जी ने माधुरी, नवमल्लिका, जैसा काम वैसा परिणाम इन तीनो को भारतेन्दु नाटकावली में सम्मिलित नही किया । नाटक नामक ग्रन्थ में ये तीनों भारतेन्दु जी की रचनाएँ मानी गयी हैं । ब्रजरत्नदास जी ने रत्नावली को सम्मिलित किया है जब कि भारतेन्दु जी ने उसे अपनी रचनाओं में सम्मिलित नही किया ।

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ४९६ ।

२ वही पृ० ४९८

३ वही पृ० ४९७

रत्नावली के सम्बन्ध में बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है :

'रत्नावली की भूमिका से उसके पूरे अनुवाद हो जाने की ध्वनि निकलती है पर इतनी ही प्राप्त है ।'[1]

उधर डा० दशरथ ओझा लिखते हैं कि :

'परन्तु यह विषय संदिग्ध है कि जो रत्नावली की प्रति इस समय उपलब्ध है और उनकी कृति बतलाई जाती है, वह वास्तव में उन्हीं की रचना है ।.......यह विषय अभी अत्यन्त विवादास्पद है ।'[2]

यह प्रश्न भी विचारणीय है कि भारतेन्दु जी ने स्वयं अपनी कृतियों की सूची में इसे क्यों सम्मिलित नहीं किया ।[3] रत्नावली की जो भूमिका उपलब्ध है उसमे एक वाक्य यह भी है :

'मुझे इसका उल्था करने मे पण्डित श्री शीतलाप्रसाद जी से बहुत सहायता मिली है ।'

कुछ भी कारण हो यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी ने रत्नावली को कहीं भी अपना नाटक नहीं माना ।

एक विद्वान ने लिखा है 'क्या यह सम्भव नहीं कि उनकी वास्तविक रचना इस समय अप्राप्य हो और उपलब्ध रचना किसी अन्य की प्रतिलिपि हो ? यदि भारतेन्दु जी ने रत्नावली लिखी होती तो वे उसे अपनी कृतियों में तो अवश्य सम्मि-

---

१ भारतेन्दु ग्रंथावली, पहला भाग ब्रजरत्नदास, भूमिका पृ० २

२ हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास डा० दशरथ ओझा प्रथम संस्करण पृ० १६५ ।

३. सूची में सम्मिलित नहीं किया गया केवल इतनी सी बात नहीं, नाटकों के इतिहास का उल्लेख करते हुए भी उन्होंने अपनी रत्नावली का कहीं संकेत नहीं किया । नाटक में स्वभाषा नाटक शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दी के चार नाटकों की गिनती में पहला नहुष उनके पिताजी का, दूसरा शकुन्तला राजा लक्ष्मणसिंह का, तीसरा विद्यासुन्दर उन का अपना, चौथा तपती संवरण लाला श्रीनिवास दास का, पाँचवां वैदिकी हिंसा उनका अपना, छठा केटोकृतान्त बाबू तोताराम का—इसमें कहीं भी रत्नावली का उल्लेख नहीं । आगे रत्नावली के किसी अनुवाद की कटु आलोचना उन्होंने की है, वहाँ भी अपने अनुवाद का कोई संकेत नहीं । विद्यासुन्दर की द्वितीय आवृत्ति की भूमिका में भी रत्नावली का उल्लेख नहीं । शकुन्तला के बाद विद्या-सुन्दर का उल्लेख है जिससे सिद्ध होता है कि वे विद्यासुन्दर को ही अपना पहला नाटक मानते थे ।

लित करते, फिर भले ही वह अप्राप्य ही क्यो न होती।' उदाहरण के लिए 'नव मल्लिका' आज अप्राप्य है पर उसे भारतेन्दु जी ने अपनी कृति माना है और उसे सूची में अपने नाम से सम्मिलित किया है। यदि रत्नावली की भूमिका को भारतेन्दु लिखित माना जाय तो एक विकल्प तो यह होता है कि यह भूमिका या तो अनुवाद से पूर्व ही लिखी गयी या अनुवाद का जितना अंश प्राप्त हुआ है उतना ही लिखकर उसकी भूमिका लिख डाली गयी, यह समझ कर कि अब यह काम पूरा हुआ समझना चाहिये। पर पीछे यह काम पूरा नहीं हो सका और सम्भवत: अनुवाद में प० शीतला प्रसाद जी का हाथ विशेष रहा या उनसे कुछ मतभेद हो गया और भारतेन्दु जी ने उसे अपनी कृतियो में स्थान नहीं दिया।

जो कुछ भी हो भारतेन्दु जी ने 'रत्नावली' को अपनी कृति माना ही नही, और हम भी इसे उनकी कृतियों में नही स्वीकार करते।

'माधुरी' को बाबू ब्रजरत्नदास ने भारतेन्दु जी की कृतियो में स्थान नही दिया। इस सम्बन्ध में 'नयापथ' में भी सर्वश्री श्री नारायण पाडेय और डा० महादेव साहा ने जो लिखा है उसे उद्धृत किया जाता है

"बाबू ब्रजरत्नदास ने अपने ग्रन्थ 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' सस्करण द्वितीय सन् १९४८ के पृष्ठ २०७ पर माधुरी को हरिश्चन्द्र-कृत नहीं बताया है। उनका कहना है कि यह नाटक रावकृष्ण देवशरण सिंह कृत है, जो भरतपुर नरेश राजा दुर्जबसाल के पुत्र तथा हरिश्चन्द्र के अन्तरग मित्र थे। यह कविता में अपना 'गोप' उपनाम लिखते थे। इस रूपक के एक पद का 'गोपराज' शब्द उन्हीं का द्योतक है। परन्तु प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि क्या फिर 'नाटक' नामक ग्रन्थ हरिश्चन्द्र का लिखा हुआ नही है ? यदि हरिश्चन्द्र लिखित है जिसे स्वत ब्रजरत्नदास भी मानते हैं, तो उसमें हिन्दी नाटको की तालिका के अन्दर आये 'माधुरी' को हम क्यो न हरिश्चन्द्र-कृत मानें, जिसे हरिश्चन्द्र स्वत स्वीकार करते हैं। जहा तक गोपराज के एक पद का प्रश्न है, यदि वह 'गोपराज' का है भी तो हो सकता है कि उसे अगर हरिश्चन्द्र ने अपने नाटको में ले लिया हो तो कोई बात नहीं, जैसा कि वे पद्माकर आदि को ले लिया करते थे। विना ठोस आधारो के यह बात अभी समस्या-सी बनी है। इसी के आधार पर वार्ष्णेय ने अपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में इसको रावकृष्ण-कृत माना है, मात्र सूचना के विशेष प्रमाण वहाँ भी नही है।"

इन लेखक-द्वय ने ऊपर यह भी बताया है कि जहाँ तक माधुरी का सम्बन्ध है वह तो खड्गविलास प्रेस से रामदीन सिंह द्वारा सम्पादित नाटकावली में छपी भी है। यहाँ

इसका नाम 'माधुरी' अथवा 'वृन्दावन दृश्यावली' लिखा गया है। यही नहीं श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने अपने आधुनिक हिन्दी साहित्य' के आठवें संस्करण में इस नाटक से एक उद्धरण भी दिया है। आदि।

भारतेन्दु जी ने 'माधुरी' को अपनी कृति माना है। खड्गविलास प्रेस ने उसे उनके संग्रह में स्थान दिया है। अतः माधुरी को उनके नाटकों में सम्मिलित किया जाना चाहिये।

'नवमल्लिका' का कोई पता नहीं चला। इसे भारतेन्दु जी ने तो अपनी सूची में लिखा ही है, रामदीन सिंह जी ने भी इस नाटक का नामोल्लेख किया है। १८८४ में गंगाशंकर व्यास ने भी एक अंग्रेजी लेख (Kashmir flower) में इसका उल्लेख किया है। यह नाटक अभी तक अनुपलब्ध है।

'जैसा काम वैसा परिणाम' नाम के नाटक का उल्लेख भारतेन्दु जी ने अपनी कृतियों की सूची में किया है। हमने 'हिन्दी एकांकी' नामक पुस्तक में लिखा है :

'अब एक हिन्दी प्रहसन भी इसी युग का हमें मिलता है, यों तो 'अन्धेर नगरी' और 'विषस्यविषमौषधम्' भी प्रहसन हैं, पर वे तो विख्यात व्यक्ति के लिखे हुए हैं।'

उस काल के अन्य व्यक्ति साधारणतया कैसे प्रहसन लिखते थे यह हम 'हिन्दी-प्रदीप' में ही प्रकाशित "जैसा काम वैसा परिणाम' के अध्ययन से जान सकते हैं। यथा—दृश्य खुलता है—स्थान—जनानखाने में रसोई का घर। प्रदीप हाथ में लिये शशिकला का प्रवेश। शशिकला पतिव्रता स्त्री, उसका पति तीन दिन से गायब है, वह जानती है वह कहाँ गया है फिर भी वह उसकी चिन्ता में है। राधावल्लभ उसका पति आता है और भोजन में शोरवा न होने के कारण उसे धक्का देकर चला जाता है। वह गिर पड़ती है, खाना फैल जाता है, उसकी पड़ोसिन दूध लेने आती है वह पूछती है तो कहती है कि मैं ठोकर खाकर गिर पड़ी वे भूखे चले गये, दुखी है। तब दूसरा गर्भाङ्क : स्थान-मोहिनी का घर। मोहिनी और राधावल्लभ बैठे हैं, पास भोजन और ग्लास रखा है। मोहिनी वेश्या है और बसन्त की रखेली है, वही सब खर्च करता है। राधावल्लभ से बातें हो रही हैं, कि बसन्त आ जाता है। मोहिनी राधावल्लभ को स्त्री के वस्त्र पहना कर छिपा लेती है। उसे माँ बताकर पहले बसन्त को पेड़ा लेने बाजार भेजती है, फिर पानी मंगाती है, फिर धोती मंगाती है और माँ के नाम से राधावल्लभ को विदा कर देती है। बसन्त कहता है वह तो आदमी था तो मोहिनी उसे छोड़ जाती है। बसन्त को अब ज्ञान होता है। वह अन्त में कहता है :

"दर्शक महाशयो, बचे रहना देखिये कहीं यही परिणाम आप लोगों का भी न हो।" 'जवनिका पतन।'

यह एकांकी तो है पर दो दृश्यो मे दृश्य को नाटककार ने 'गर्भाङ्क' नाम दिया है। दृश्य के लिए गर्भाङ्क का प्रयोग इस समय प्रचलित-सा हो गया था, यह हमें पण्डित वदरीनारायण चौधरी प्रेमघन की एक साक्षी से भी विदित होता है। लाला श्रीनिवासदास के **'सयोगिता स्वयवर'** की बडी विस्तृत और कठोर समालोचना कादबिनी में करते आपने लिखा है —

" ...एक गँवार भी जानता होगा कि स्थान परिवर्तन के कारण गर्भाङ्क की आवश्यकता होती है, अर्थात् स्थान के बदलने में परदा बदला जाता है और इसी परदे के बदलने को दूसरा गर्भाङ्क मानते हैं सो आपने एक ही गर्भाक में तीन बदल डाले।"

इस एकाकी का विषय सामाजिक है। नाटककार ने पतिव्रता और वेश्या का अन्तर प्रकट किया है। पहला दृश्य तो गम्भीर करुणा पैदा करने वाला है, हास्य का नाम भी नहीं। दूसरे में राधावल्लभ के माँ बनने में हास्य माना जा सकता है, पर उतना ही इसे प्रहसन बनाने के योग्य नही। वह हास्य भी पाठको में कम स्थित होगा, पात्रो में ही अधिक। पात्र साधारण और हीन है, हीन वश से नही कर्म से। यर्थाथत. किसी रस का भी पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया। कथानक में बसन्त को इतना वृद्ध बनाना भी व्याघात पैदा करता है सामाजिक नाटको में स्वाभाविकता की सबसे अधिक रक्षा होनी चाहिए।

इन दो उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि आरम्भ—कालीन एकाकियो में न तो सस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियमों का पालन होता था न किसी अन्य विशेष परिपाटी का।

इसी सम्बन्ध में आगे पृष्ठ १९ पर यो लिखा है

"आरम्भ में जिस प्रहसन का उल्लेख किया गया है "जैसा काम वैसा परिणाम" वह भट्ट जी का ही हो सकता है। उस पर लेखक का नाम न होने से इस अनुमान को स्थान मिलता है।"

पर विदित होता है कि यह नाटक भारतेन्दु जी का ही लिखा हुआ है। भट्ट

---

१ हिन्दी एकाकी, द्वितीय संस्करण पृष्ठ १५, १६।

जी ने उन पर अपना नाम नहीं दिया और भारतेन्दु जी ने उसे अपनी सूची में स्थान दिया है। तब भारतेन्दु जी की बात ही माननी होगी।

इनके अतिरिक्त रामदीनसिंह जी ने निम्नलिखित दो नाटकों का और नामोल्लेख किया है।

१ पुरागीजात।

२ गौरचन्द्रोदय। "गौरचन्द्रोदय" तो वह नाटक प्रतीत होता है जिसके सम्बन्ध मे बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है :

भारतेन्दु जी के गोस्वामी श्री राधाचरण जी ने लिखे एक पत्र से ज्ञात होता है कि यह श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु की लीला को नाटक रूप मे लिखना चाहते थे और उसके लिए उनसे कुछ साधन मांगा गया था। परन्तु इसका भी कोई अंश प्राप्त नही है। अत: यह समझ लेना पड़ता है कि यह आरम्भ ही नही किया गया था।

एक "प्रवास" नाटक का उल्लेख बाबू ब्रजरत्नदास ने और किया है, पर उस का भी कोई अंश प्राप्त नही होता।

भारतेन्दु जी के इन नाटको के प्रकाशन का ऐतिहासिक क्रम यह है :

१ विद्यासुन्दर	१९२५ संवत्	सन् १८६८ नाटक अनु० बंगाल से १८५६, १८५८ प्रथम संस्क० जतीन्द्र मोहन, १८६५ द्वितीय संस्करण
२ पाखंड विडंबन	१९२९ ,,	१८७२ रूपक अनु०
३ वैदिकी हिंसा	१९३० ,,	१८७३ प्रहसन
४ धनंजय विजय	१९३० ,,	,, व्यायोग अनु०
५ मुद्राराक्षस	१९३२ ,,	१८७५ नाटक अनु०
६ सत्य हरिश्चन्द्र	१९३२ ,,	१८७५ नाटक
७ प्रेमजोगिनि	१९३२ ,,	१८७५ हरिश्चन्द्र चन्द्रिका [नाटिका में सन् १८७४ से छपना आरम्भ]
८ विषस्यविषमौषधम्	१९३३ ,,	१८७६ भाण मल्हाराव गायकवाड़ १८७३, १८७५
९ कर्पूरमंजरी	१९३३ ,,	१८७६ सट्टक अनु०
१० श्री चन्द्रावली	१९३३ ,,	१८७६ नाटिका, चन्द्रावली १८६६
११ भारत दुर्दशा	१९३३ ,,	१८७६ नाट्य-रासक, लास्यरूपक
१२ भारत जननी	१९३४ ,,	१८७७ आपेरा भारतमाता १८७३ (छाया)

१३	नील देव	१९३७ ,,	१८८० गीति रूपक
१४	दुर्लभबन्धु	१९३७ ,,	१८८० नाटक (छाया)
१५	अधेर नगरी	१९३८ ,,	१८८१ प्रहसन
१६	सती प्रताप	१९४१ ,,	१८८४ गीति-रूपक, सावित्री सत्यवान १८५८

जैसा काम वैसा परिणाम स० १९३५/सन् १८८७। १ अक्तूबर १८७८ के 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुआ।

प्रहसन वगाल में 'येमन कर्म तमन फल' १८६६

यह किंचित् असमजस में डालने वाली बात है कि 'सतीप्रताप' १९४१ सवत् में प्रकाशित हुआ, किन्तु यह १९४० में प्रकाशित होने वाले 'नाटक' नामक ग्रन्थ में भारतेन्दु की कृतियो में छठे स्थान पर सम्मिलित है। विदित होता है कि ऐसा किसी बाद के सस्करण में किया गया है। ऐसे कुछ सवर्द्धनो का उल्लेख तो सपादक बाबू ब्रजरत्नदास जी ने जहाँ-तहाँ पाद-टिप्पणियों में कर दिया है। जैसे 'नाटक' के पृष्ठ ७५२ पर ५९वीं० पाद-टिप्पणी है। यहाँ भी उन्हें वैसी टिप्पणी देनी चाहिये थी। सभवत यह भूल ही है। और हमें यह मानना चाहिये कि 'सतीप्रताप' पहले 'नाटक' नामक पुस्तक के बाद लिखा गया और उसके बाद के सस्करणो में 'सती-प्रताप' को भी सूची मे सम्मिलित कर लिया गया।

इन नाटकों में से, स्वय भारतेन्दु जी ने, कुछ के सम्बन्ध में सूचना दी है

"विद्यासुन्दर"—'महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलबन करके जो विद्यासुन्दर नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह वर्ष हुए यह हिन्दी भाषा में निर्मित हुआ'।

(द्वितीय आवृति के उपक्रम में)।

पाखड विडबन—"इति श्री प्रबोधचन्द्रोदय नाटक मे पाखण्ड विडम्बन नाम यह तीसरा खेल समाप्त हुआ।"

धनजय-विजय—विदित हो कि यह जिस पुस्तक से अनुवादित किया गया है वह सवत् १५३७ की लिपि है। यह काचन कवि के सस्कृत नाटक का अनुवाद है।

मुद्राराक्षस—महाकवि विशाखदत्त का बनाया 'मुद्राराक्षस'।

सत्य हरिश्चन्द्र—'इसकी कथा शास्त्रो में बहुत प्रसिद्ध है और सस्कृत मे राजा महिपाल देव के समय में आर्य क्षेमीश्वर कवि ने चण्ड कौशिक नामक नाटक

इन्ही हरिश्चन्द्र के चरित्र में बनाया है। अनुमान होता है कि इस नाटक को बने चार सौ वर्ष के ऊपर हुए क्योंकि विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्य ग्रन्थ में इसका नाम लिखा है।'

कर्पूरमंजरी पारिपार्श्वक : हां आज सट्टक न खेलना है!

सूत्र : किसका बनाया ?

पारि० : राज्य की शोभा के साथ अंगो की शोभा का और राजाओं मे बड़े दानी का अनुवाद किया।

सूत्र : (विचार कर) यह तो कोई कूट सा मालूम पड़ता है। (प्रकट) हां, हां, राजशेखर का और हरिश्चन्द्र का।

भारतेन्दु के इन निजी उल्लेखो से विदित होता है कि विद्यासुन्दर, पाखण्ड विडम्बन, धनजय-विजय, मुद्राराक्षस, और कर्पूरमजरी तो निश्चय ही अनुवाद हैं या छायानुवाद।

'सत्य हरिश्चन्द्र' के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी ने यह नहीं लिखा कि 'चण्ड-कौशिक' से उन्होंने इसका अनुवाद किया है। किन्तु 'चण्डकौशिक' का जिस रूप में उन्होंने उल्लेख किया है, उससे ध्वनि कुछ यही निकलती है कि यह यदि उसका अनुवाद नही तो उसके मूल कथानक के आधार पर निर्मित किया है, किन्तु 'प्रस्तावना' में जिस रूप मे 'भारतेन्दु जी' ने अपना वर्णन किया है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह उन्ही का लिखा हुआ है। इसकी कथा वही से ली गई है जहाँ से 'चण्ड-कौशिक' भी ली गई है। इधर शुक्ल जी ने सूचना दी कि "सत्य हरिश्चन्द्र मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बँगला नाटक देखा है, जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास)

बगाल में मनमोहन बोस ने १८७४ के दिसम्बर में हरिश्चन्द्र नाटक लिखा था। यह नाटक 'बऊ बाजार थियेटर' के लिए लिखा गया था पर यह वहाँ एक दुर्घटना हो जाने के कारण न खेला जा सका।[1] भारतेन्दु जी का 'सत्य हरिश्चन्द्र' १८७५ में लिखा गया विदित होता है।[2] सवत् १९३२ सन्

१ इण्डियन स्टेज दूसरा भाग पृ० १३२

२ देखिये 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त पृ० ३८ तथा पृ० ६८२। डा० गुप्त ने पृ० ३८ पर सत्य हरिश्चन्द्र का रचनाकाल १८७५ देते हुए उसके आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया है। इससे यह सब कुछ संदिग्ध हो जाता है।

१८७५ के निकट ही बैठेगा। सन् १८७४ तक यदि पहुँचेगा भी तो उसकी समाप्ति के ओर-पास ही रहेगा। यह सन्-सवत् हर दशा में मनमोहन बोस की कृति की रचना-तिथि के इतना निकट होगा कि इन दोनो में किसी प्रकार के पारस्परिक लेन देन का सम्बन्ध सिद्ध नही हो सकेगा। भारतेन्दु जी का सत्य हरिश्चन्द्र फलत एक स्वतन्त्र रचना विदित होती है। शुक्ल जी ने बँगला का कौन-सा नाटक देखा, वह कब लिखा गया और किसने लिखा यह विदित नही। पर बँगला के नाटक-साहित्य में मनमोहन बोस का हरिश्चन्द्र प्रसिद्ध है। वह नाटक भारतेन्दु का सहारा नही बन सकता यह हम देख चुके हैं। हरिश्चन्द्र का पौराणिक आख्यान अत्यन्त लोकप्रिय आख्यान है, और एक महान् आदर्श प्रस्तुत करता हैं। अत. 'सत्य हरिश्चन्द्र' को उस समय तक हरिश्चन्द्र का मौलिक नाटक ही मानना होगा जब तक कि वह बँगला नाटक हस्तगत नही होता जिसे शुक्ल जी ने देखा था।

'भारत जननी' के सम्बन्ध मे भी मतभेद हैं। शुक्ल जी ने बताया है कि यह नाटक भारतेन्दु जी के किसी मित्र ने बगला के 'भारतमाता' नामक नाटक से अनुवाद किया था, भारतेन्दु जी ने उसका सशोधन किया। ऐसा संशोधन किया कि उसको एक नया ही रूप दे दिया। डा० महादेव साहा तथा श्रीनारायण पाडे ने अपने लेख में लिखा है कि 'भारत जननी' के भी मुखपृष्ठ पर रामदीनसिंह की प्रथम प्रकाशित नाटकावली में 'बग भाषा' की 'भारत माता' के आशय के अनुसार भारत—भूषण हरिश्चन्द्र ने सकलित किया का उल्लेख है।[1] इन लेखक द्वय ने इसमें से 'सकलित' को पकडा है। फिर शुक्ल जी के इतिहास का उक्त हवाला भी दिया है। साथ ही 'क्षत्रिय-पत्रिका' के एक विज्ञापन का उद्धरण देकर उसमे आये 'अनुमति' शब्द से भी कुछ निष्कर्ष निकालना चाहा है जो उन्हीं के शब्दो मे यो प्रकट हुआ है

"बाद में बहुतेरे लेखको ने भी इसको अनुवाद बताया है, परन्तु आज भी बहुतेरे इसे मौलिक बनाने का मोह न जाने क्यो नही छोड पा रहे हैं।" 'आज भी बहुतेरों' में लेखक-द्वय ने डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी को सम्मिलित किया है। इसी प्रसग में इन लेखक-द्वय ने आगे लिखा है "**हरिश्चन्द्र ने प्रारम्भ में २, ३ भाग जोड़े हैं। बीच में यवनों को लाकर तथा महारानी की भूरि-भूरि प्रशसा कर इस नाटक को घोर साम्प्रदायिक तथा राजभक्तिपूर्ण बना दिया।**"

---

१ यहाँ हम अपनी पुस्तक 'हिन्दी एकाकी' के द्वितीय सस्करण के पृ० ११ की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। श्री राधाचरण गोस्वामी ने हिन्दी प्रदीप के एक विज्ञापन में 'भारतमाता' का रूपान्तर 'भारत-जननी' माना है।

इस अन्तिम कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वय लेखक-द्वय के मत से इस नाटक का अभिप्राय बगला के नाटक से एकदम भिन्न हो जाता है। फिर भारतेन्दु जी ने दो तीन भाग तो प्रारम्भ में बढ़ाये और बीच में यवनो का समावेश कर दिया। यह बातें क्या सिद्ध करती हैं ? इतना बदलने, जोड़ने, घटाने के बाद भी यह नाटक क्या बगला की 'भारत माता' का अनुवाद ही कहा जायेगा। "वंग भाषा में एका और उत्साह का प्रवेश भी दिखलाया है किन्तु इस देश में अभी न एका है न उत्साह। इस हेतु त्याग यहाँ नही लाए।[1]

इन समस्त कथनो का निष्कर्ष यही निकलता है कि 'भारत जननी' का 'प्रबन्ध विधान' बँगला की रचना 'भारत माता' से लिया गया है और उसमें भारतेन्दु जी ने अपने मनोनुकूल परिवर्तन करके प्रस्तुत किया। ऐसी स्थिति में उसे मौलिक भी कहा जाय तो विशेष आपत्ति नहीं हो सकती। भले ही स्वय भारतेन्दु ने अत्यन्त विनम्र भाव से यही क्यो न लिखा हो कि :

'भारत-जननी' रूपक जो गत नवम्बर १८७८ ई० मे छपता है उसके ऊपर मेरा नाम लिखा है। वह मेरा बनाया नही है। बगभाषा में 'भारतमाता' नामक जो रूपक है यह उसी का अनुवाद है जो मेरे एक मित्र का किया है जिन्होंने अपना नाम प्रकाश करने को मना किया है। मैंने उसको शोधा है और जो अश कुछ भी अयोग्य था उसको बदल दिया है। कवि कीर्ति का लोभ नहीं करता। अतएव यह प्रकाश करना मुझ पर आवश्यक हुआ।"

अब प्रश्न 'दुर्लभ बन्धु' का है। 'दुर्लभ बन्धु' अग्रेजी के मर्चेन्ट आफ वेनिस नामक शेक्सपियर के नाटक का अनुवाद है, इसमें कोई सदेह नही। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इसके सम्बन्ध में यह लिखा है कि :

"दुर्लभबन्धु" अर्थात् वशपुर का महाजन। महाकवि शेक्सपियर के बाधुत्व निदर्शन के अपूर्व सयोगान्त नाटक 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' का साधु भाषा में अनुवाद। निजबन्धु श्री बाबू बालेश्वर प्रसाद बी० ए० की सहायता से और बँगला पुस्तक 'सुरलता' की छाया से हरिश्चन्द्र ने लिखा।[2]

---

1 भारतेन्दु ग्रन्थावली पृ० ५१४

२. देखिये 'नया पथ' 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कुछ नाटक'—लेखक श्रीनारायण पांडे, महादेव साहा।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'दुर्लभ बन्धु' में पात्रों के नामो का भारतीयकरण वंगला पुस्तक 'सुरलता' की प्रेरणा पर किया है। वस्तुत 'दुर्लभवन्धु' के अनुवाद में प्रमुख माध्यम वँगाली 'सुरलता' का रहा है। भारतेन्दु जी ने नामों के भारतीय-करण में अ ग्रेजी की निकटता का बहुत ध्यान रखा है जैसे पोर्शिया का पुरश्री।

भारतेन्दु जी के उक्त नाटको के अतिरिक्त कुछ अन्य नाटक भी ऐसे हैं जिनके नामराशी अथवा विषय-विषयक नाटक तो वँगला में मिल ही जाते हैं। जैसे '**विषस्य विषमौषधम्** का विषय-विषयक **मल्हारराव गायकवाड** भारतेन्दु के भाण से तीन वर्ष पूर्व लिखा गया।

श्री **चन्द्रावली** का नामराशी '**चन्द्रावली**' भारतेन्दु की कृति से दस पूर्व लिखा गया था।

"**जैसा काम वैसा परिणाम**" का नामराशि "**येमन कार्य तैमन फल**" भारतेन्दु कृति से १२ वर्ष पूर्व लिखा गया। **सती प्रताप** विषय-विषयक "**सावित्री सत्यवान**" भारतेन्दु कृति से २६ वर्ष पूर्व लिखा गया।

भारतेन्दु जी ने अपने 'नाटक' नामक ग्रन्थ में एक वाक्य कह दिया है

"**आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बनते जायेंगे और अपनी सम्पत्तिशालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षय रत्न भांडागार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करे।**" यह वाक्य भारतेन्दु के यथार्थ स्रोत को भली प्रकार बता देता हैं।

भारतेन्दु जी के नाटकों के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि 'उनकी प्रेम-योगिनी,'[1] नीलदेवी, विषस्य-विषमौषधम, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, भारत दुर्दशा, भारत जननी, सती प्रताप एकाकी नाटक ही हैं। यह ध्यान देने की बात है, कि भारतेन्दु जी के लिखे मौलिक नाटको में से चन्द्रावली और अन्धेर नगरी[2] तो नाटक हैं, शेष सब एकाकी हैं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में लिखे तो गये हैं 'अ क' पर

१. प्रेमयोगिनी में नाटककार ने प्रस्तावना दी है और आरम्भ में 'पहिला अंक, पहिला गर्भा क' दिया है। इससे विदित है, कि भारतेन्दु जी इसे नाटक का रूप देना चाहते थे एकांकी का नहीं, यह अपूर्ण है। अपूर्ण होने के कारण ही इसमें केवल चार गर्भा क हैं—जिससे यह एकांकी जैसा लगता है।

२. अन्धेर नगरी में अक इतने छोटे हैं, कि वे गर्भा क ही लगते हैं। ऐसी अवस्था में इस प्रहसन को भी वस्तुत एकाकी माना जा सकता है। वस्तुतः अक संज्ञा उसे ही मिलनी चाहिए जिसमें कई गर्भांक हों या जो बहुत बड़ा हो।

ये 'अंक' यथार्थ में 'दृश्य' ही हैं। इस समय दृश्य के लिए किस शब्द का प्रयोग किया जाय यह किंचित् अनिश्चित था। 'गर्भाङ्क' का प्रयोग 'दृश्य' के लिए ही होता था, 'सती प्रताप' में भारतेन्दु जी ने गर्भाङ्क का प्रयोग किया है।[1] 'दृश्य' शब्द का भी प्रयोग होता था, नीलदेवी में 'दृश्य' का प्रयोग किया गया है। सम्भवतः सबसे पहले 'अङ्क' शब्द को ही 'दृश्य' का पर्याय माना गया होगा। संस्कृत नाटकों में 'अंक' का विधान तो होता है, 'दृश्य' का नहीं। फलतः नयी प्रणाली की नाटक योजना में 'अंक' को वही स्थान दिया जा सकता था जो दृश्य को है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के तीन अंक इतने लघु व्यापार के प्रदर्शक हैं कि वे 'Act' के पर्याय अंक के द्योतक नहीं हो सकते। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' भारतेन्दु जी का पहला मौलिक नाटक है। उस समय नयी और पुरानी परिपाटी के सामंजस्य का कोई मार्ग ढूँढ़ने के लिए वे व्यस्त होंगे। उन्होंने तब 'अंक' को 'दृश्य' अर्थ में ग्रहण कर लिया होगा। तब बाद के विचार से अंक को Act का अर्थवाचक और गर्भाङ्क को Scene का पर्याय माना गया। फिर 'दृश्य' शब्द का ही उपयोग कर डाला। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' एकांकी नाटकों का पूर्व रूप है। इसी प्रकार 'नीलदेवी' भी। प्रो० ललिता प्रसाद सुकुल ने 'नीलदेवी' का सम्पादन करते हुए उसकी भूमिका में लिखा है :—

"अब प्रश्न है शास्त्रोक्त नियमों के पालन का। जैसे ऊपर कहा जा चुका है रूपक का यह भेद या उपभेद[2] प्राचीन नहीं है, अतः प्राचीन शास्त्र में उसके नियम खोजना व्यर्थ है। इसमें हम देखते हैं, कि अंकों के आधार पर इसका विभाजन नहीं हुआ है वरन् केवल दस दृश्यों में इसकी सामग्री पेश की गई है। यह एक विशेष नवीनता है। यदि इसे आधुनिक एकांकी का पूर्व रूप कहा जावे तो अनुचित न होगा।"

अङ्क में विभाजित न कर दृश्यों में विभाजित करना एक विशेष नवीनता बतायी गयी है, पर यह नवीनता नहीं। यह तो प्रथा उस समय प्रचलित हो गयी थी—और निस्सन्देह यह हिन्दी के एकांकियों की प्रथमावस्था है। 'नीलदेवी' में हमें न तो सूत्रधार के दर्शन होते हैं, न नान्दी के। पहले दृश्य में तीन अप्सरायें गाती हैं;—

---

१. भारतेन्दु जी ने अपनी 'नाटक' नाम की रचना में यह आदेश दिया है—"प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है।" यहाँ गर्भांक के अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है। पृष्ठ ७२३ की पहली पद टिप्पणी 'वर्तमान समय में जहाँ जहाँ ये दृश्य बदलते हैं, उनको गर्भांक कहते हैं।'

२. इसको (नीलदेवी को) गीत-रूपक नाम दिया गया है। इसी से यहाँ अभिप्राय है।

दो गीत हैं पहले में भारत की क्षत्राणियो की स्तुति है, यह नाटक का मूल सन्देश है। दूसरे गीत में प्रेम की बधाई है। इन अप्सराओं का शेष नाटक से कोई सम्बन्ध नही। दूसरा दृश्य कथारम्भ करता है। बिना किसी भूमिका के नाटक में गति का आरम्भ हो जाता है। हमें इस दृश्य में एकदम विदित होता है, कि सूरजदेव राजपूत से शरीफ परेशान हैं और वह इस निश्चय पर पहुँचता है कि लडकर फतह पाना मुश्किल है, किसी रात को सोते हुए उसे गिरफ्तार कर लाना चाहिए। नाटक के कथा-सूत्र का एकदम इस प्रकार गतिवान हो जाना 'एकाकी' का सबसे प्रमुख लक्षण है, जो हमे नीलदेवी में मिलता है। 'नीलदेवी' में पारसी स्टेज का भी किंचित् प्रभाव दिखायी पडता है। आरम्भ में अप्सराओ द्वारा गायन, तथा स्थान-स्थान पर सगीत का प्रयोग। 'भारत-दुर्दशा' को भारतेन्दु जी ने 'नाट्यरासक' वा 'लास्यरूपक' नाम दिया है। इसमें नान्दी तो नही मगलाचरण अवश्य मिलता है, पर यह मगलाचरण नाटक का उस प्रकार का कोई भाग नही जिस प्रकार का नान्दी होता है। पर इसका भी प्रथम दृश्य रूप में नीलदेवी के प्रथम दृश्य के समान है। इसमें एक योगी आकर एक गीत द्वारा भारत की दुर्दशा की ओर सकेत करता है और प्रथम दृश्य समाप्त हो जाता है, इस योगी का शेप नाटक से कोई सम्बन्ध नही रहता।

भारतेन्दु जी के अधिकाश एकाकियो की प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें सस्कृत शैली का अनुकरण नहीं मिलता। जिन विद्वानो ने यह आरोप उन पर किया है, उन्होने गहरी दृष्टि नही डाली। इनका विषय मुख्यत भारत के गौरव का ज्ञान, उसकी दुर्दशा पर रोना तथा भारत के राष्ट्रीय कल्याण की आशा-निराशा का द्वन्द्व-भारतेन्दु जी में फिर भी भारत के सम्बन्ध में भविष्य सम्बन्धी दु खद भाव ही प्रधान थे। 'भारत दुर्दशा' में भारत मूर्च्छित है, भारत भाग्य उसे छोड जाता है। नीलदेवी में यद्यपि नीलदेवी के शौर्य, को वरेण्य और श्लाघ्य दिखाया गया है, किन्तु सूर्यदेव को एक देवता ने जो भविष्यवाणी सुनायी, उससे नाटक में प्रदर्शित नीलदेवी की वीरता और शरीफ का घात कर डालना भी किसी प्रकार नाटक को अवसाद से बाहर नहीं निकाल सके। 'सब भांति दैव प्रतिकूल होइ रहि नासा। अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा से समस्त नाटक पर दु ख की छाया लम्बी होकर जा पडी है।

इन नाटको का तन्त्र बहुत सीधा-सादा है। नाटककार ने एक कथा भाग की कल्पना करली है, उसमें से उसने कुछ दृश्य चुन लिए हैं और उन दृश्यो को अपने अन्दर पूर्ण बनाकर इस प्रकार उनको व्यवस्थित कर दिया है कि कथा-सूत्र सम्बद्ध प्रतीत होता है। कही-कही महत्त्वहीन दृश्यों का भी समावेश है। ऐसे दृश्य या तो

पूर्व की घटना और आगे आने वाली घटना में समय का विशेष व्यवधान उत्पन्न करने के लिए अथवा शुद्ध-पात्रों वाले हीन विष्कम्भक की तरह किसी स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए हैं। नीलदेवी में सराय का दृश्य साधारणतः कथा-सूत्र सम्बन्धी कोई महत्त्व नहीं रखता। इस प्रकार कथा-सूत्र दृश्यों में हलके-हलके आगे बढ़ता चला जाता है। एक भारी घटना घटित होती है, जिससे नाटक का अणु-अणु काँपने लगता है और नाटक समाप्त हो जाता है। भारतेन्दु जी के एकांकियों में दृश्य के स्थान बदलते हैं, समय का कोई निबन्धन विशेष नहीं प्रतीत होता।

भारतेन्दु जी के स्वतन्त्र एकांकी नाटकों की यही व्यवस्था है। अतः भारतेन्दु जी को हिन्दी का प्रथम एकांकीकार मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आज के विकसित एकांकियों की साहित्य-धारा में जो प्रथमावस्था हो सकती है वह भारतेन्दु जी से हमें स्वतः मिलती है। यद्यपि एकांकी के नाम से भारतेन्दु जी परिचित नहीं थे, और उसे साहित्य का अलग अङ्ग नहीं मानते थे।

'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण को हम संस्कृत प्रणाली का एकांकी कह सकते हैं।

भारतेन्दु के समस्त नाटकों को रूप की दृष्टि से विभाजित किया जाय तो उन्होंने ग्यारह प्रकार अनुवाद और मौलिक नाटकों के रूप में प्रस्तुत किये हैं जिन्हें उनकी परिभाषा के साथ यहाँ लिखा जाता है :

१. नाटक : काव्य के सर्वगुण-संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज (जैसा दुष्यन्त) वा ईश्वरांश (जैसा राम) वा प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसा श्री कृष्ण) होना चाहिए। रस शृंगार वा वीर। अंक पाँच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिए। (भारतेन्दु)

नवीन नाटकों के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी का परामर्श है कि जिनमें कथा भाग विशेष और गीतिन्यून हो वह नाटक। भारतेन्दु जी की रचनाओं में से विद्यासुन्दर, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र और दुर्लभ-बन्धु को नाटक संज्ञा दी गयी है। इनमें से "सत्य हरिश्चन्द्र" पर भारतेन्दु जी का कुछ मौलिक अधिकार है। शेष पर यह अधिकार नहीं।

२. रूपक : 'रूपक' की भारतेन्दु जी ने कोई परिभाषा नहीं दी। संस्कृत नाट्य-शास्त्रों में "रूपक" जिस विशद अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसमें "पाखण्ड विडम्बन" या ऐसे ही अन्य नाटकों को इस स्थान में स्थान नहीं दिया गया। इसे स्पष्ट करने लिए मैं अपना ही एक उदाहरण यहाँ देता हूँ।

उक्त विज्ञापन में 'नाटक' नाम नही दिया गया है, 'रूपक' शब्द का प्रयोग है। यह रूपक शब्द विशेषार्थक ही कहा जायेगा। सस्कृत नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से यो प्रत्येक नाटक ही रूपक है, पर 'रूपक' नाम का कोई नाटक नही है। या तो लेखक अपने नाटक को शास्त्रीय दृष्टि से उचित नाम नही दे सका इसलिए उसने जाति के नाम का उपयोग किया है, या जिसकी अधिक सम्भावना प्रतीत होती है, ऐसे छोटे नाटक जो किसी विशेष सामयिक उपयोग के लिए लिखे गए हो बंगला में रूपक कहे जाते रहे हो। जो भी हो गोस्वामी जी ने 'भारत-जननी' और 'भारतवर्ष में यवन लोग' इन रचनाओ को 'रूपक' सज्ञा दी है। बंगला में ऐसे नाटक रूपक कहे गये इसका प्रमाण हमें मिलता है। १५ फरवरी १८७३ में हिन्दू मेले के अवसर पर 'नेशनल थियेटर' में एक राष्ट्रीय नाटक खेला जिसका नाम 'भारत-माता-विलाप' था। हो सकता है यही वह नाटक हो जिसका 'भारत-माता' नाम से ऊपर उल्लेख हुआ है, और जिसका अनुवाद भारतेन्दु जी ने 'भारत-जननी' नाम से किया। इसके सम्बन्ध में कार्तिक १२८० b s. के बग दर्शन में टिप्पणी दी गयी :

'A Burlesque or allegory, Mother India, the presiding deity of fortune, some Indians and two Europeans, Patience and courage were its characters. It was a tolerably good production'

तो रूपक का प्रयोग अलकार्य अर्थ में है—जिसमें ऐसे पात्रो की रूप-कल्पना की जाय जो मनुष्य-शरीरधारी नही। उदाहरण के लिए न तो 'भारत-लक्ष्मी' जैसा कोई व्यक्तित्व कही है, न भारत माता ही मानव के रूप में कही मिलेगी। यह मनुष्यत्व का आरोप (Personification) ही इनके रूपक होने का कारण है। (हिन्दी एकाकी पृ० १२, १३) भारतेन्दु जी का 'पाखड विडबन' रूपक माना गया है।

३. प्रहसन : हास्यरस का मुख्य खेल। नायक, राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रो का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अक होना चाहिये किन्तु अब अनेक दृश्य दिए बिना नही लिखे जाते। उदाहरण 'वैदिकी हिंसा' अन्धेर नगरी। इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि "वैदिकी हिंसा" तथा अन्धेर नगरी में आये हुए अक "दृश्य" के समान ही हैं। अत दोनो को एक अक वाला ही माना जा सकता है। भारतेन्दु जी के दोनो ही प्रहसन मौलिक हैं।

४. व्यायोग : युद्ध का निदर्शन, स्त्री पात्र रहित और एक ही दिन की कथा का होना है। नायक कोई अवतार या वीर होना चाहिये। अन्य नाटक की अपेक्षा छोटा। उदाहरण "धनंजय विजय"।

५. नाटिका : नाटिका में चार अंक होते हैं और स्त्री पात्र अधिक होने हैं तथा नाटिका की नायिका कनिष्ठा होती है अर्थात् नाटिका के नायक की पूर्व प्रणयिनी के वश मे रहती है।

भारतेन्दु की रचनाओं में "प्रेम जोगिनी" और "चन्द्रावली" नाटिका कही गयी है। प्रेम जोगिनी के प्राप्त पृष्ठों में नाटिका के कोई लक्षण नहीं दिखायी पड़ते। प्रथम अंक के चार गर्भाङ्कों मे एक भी स्त्री पात्र नहीं आता। चन्द्रावली में नाटिका के लक्षण सिद्ध हैं।

६. भाण : भाण में एक ही अंक होता है। इसमें नट ऊपर देख-देख कर जैसे किसी से बातें करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीच में हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना, इत्यादि आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा उत्तम और बीच-बीच मे संगीत भी होता है। उदाहरण "विषस्यविषमौषधम्"। यह भाण भी भारतेन्दु जी की मौलिक रचना है, भले ही विषय की प्रेरणा कहीं अन्यत्र से मिली हो।

७. सट्टक : जो सब प्राकृत में हो और प्रवेशक, विष्कम्भक, जिसमें न हो और शेष सब नाटिका की भाँति हो वह सट्टक है। उदाहरण "कर्पूर मंजरी"। इसको भारतेन्दु जी ने अनुवाद करके प्रस्तुत किया है।

८. नाट्यरासक या लास्यरूपक : इसमें एक अंक, नायक उदात्त, नायिका वासक-सज्जा, पीठमर्द उपनायक, और अनेक प्रकार के गान नृत्य होते हैं। भारतेन्दु की रचनाओं मे "भारत दुर्दशा" नाट्य-रासक माना गया है।

९ आपेरा : भारतेन्दु जी ने आपेरा के लिए 'संगीत-नाट्य' पर्याय दिया है। नाटक पृ० ७५८। भारत जननी को 'आपेरा' कहा गया है। १८८३ फरवरी के बंगला-दर्शन नामक बंगाली पत्र में 'आपेरा' के सम्बन्ध में यह टिप्पणी है :

"क्येक बत्सर हैला, आर एक पद्धतिर यात्रा आरम्भ हइयाछे। इहा के केह-केह अपेरा वाले, केह वा उपहास करिया 'ओप्पेपेरा' वले।

> **इहाते सामला आचे, पेंटुलुन आचे, तखारी आचे, साधु भाषा आचे, वक्ता आचे, चीत्कार आचे, पतन आचे, उत्थान आचे, इहाते देखिबार जिनिस यथेष्ठ, पूर्व लोके यात्रा सुनित, एखन लोके यात्रा देखे। ताहातेइ एइ नूतन यात्राते वेषभूषार एत जाक संगीत ओ काव्यरसेर एत अभाव"**

१० **गीत-रूपक :** भारतेन्दु जी ने लिखा है कि

> **"ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं : एक नाटक, दूसरा गीति-रूपक। जिनमें कथाभाग विशेष और गीति न्यून हो वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हो वह गीति रूपक। 'नीलदेवी' तथा 'सती-प्रताप' को गीतिरूपक माना गया है।**

इस प्रकार भारतेन्दु जी ने दस प्रकार के नाट्य-रूप अपनी लेखनी से अनुवाद अथवा मौलिक कृति के रूप में प्रस्तुत किये। इन दस में से तीन रूप ऐसे हैं जिनका प्राचीन नाट्य-शास्त्र में उल्लेख नहीं रूपक, आपेरा तथा गीतिरूपक, और सात रूप ऐसे हैं जो प्राचीन शास्त्र के अनुकूल हैं, प्रश्न यह है कि भारतीय शास्त्र के अन्य रूपों को प्रस्तुत क्यों नही किया गया। इसमें कोई सदेह नही कि भारतेन्दु जी की मृत्यु अत्यन्त ही छोटी अवस्था में हो गयी थी। यदि वे जीवित रहते तो सभवत शेष नाटको के रूपो के उदाहरण भी वे प्रस्तुत करते। पर ऐसी बात नही प्रतीत होती। क्योंकि एक तो उन्होंने 'नाटक' नामक ग्रन्थ लिख डाला जो ऐमा विदित होता है कि उनकी नाटक रचना के क्रम में अन्त में ही लिखा जाना चाहिये था। किन्तु एक दूसरा कारण इसी नाटक नामक पुस्तक के अध्ययन से विदित होता है। उन्होंने ग्रन्थ मे प्राचीन शास्त्र की दृष्टि से निम्न भेदों का उल्लेख किया है .

रूपक-भेद

१. नाटक	
२. प्रकरण	
३. भाण	
४ व्यायोग	
५. समवकार	उदाहरण भाषा में नही है।
६. डिम	उदाहरण नही।
७. ईहामृग .	उदाहरण नही।
८. अक .	उदाहरण नही।

९. वीथी : उदाहरण नहीं ।
१०. प्रहसन
११. महानाटक

उपरूपक-भेद

१२. नाटिका
१३. त्रोटक
१४. गोष्ठी : उदाहरण नहीं ।
१५. सट्टक
१६. नाट्यरासक

इनमें से ५, ६, ७, ८, ९, ११, १४, ये सात ऐसे भेद हैं जिनके सम्बन्ध में भारतेन्दु जी ने यह स्वीकार किया है कि उदाहरण नहीं। संस्कृत-साहित्य के अध्ययन की उस समय तक जो स्थिति थी, उस समय तक इन समस्त रूपों के उदाहरण ग्रन्थ भारतेन्दु जी को प्राप्त नहीं हो सके तो आश्चर्य नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में केवल शास्त्र ज्ञान के आधार पर ही नाटक के किसी रूप की रचना नहीं की जा सकती थी। पर केवल प्रकरण और त्रोटक ये दो रूप ही ऐसे हैं जिनके उदाहरणों से भारतेन्दु जी परिचित थे पर जिन पर उन्होंने लेखनी नहीं उठायी। इनमें से 'प्रकरण' और नाटक में केवल कथावस्तु के प्रकार भेद-मात्र के कारण संभवतः उन्होंने उसका प्रसंग उदाहरण देने का प्रयत्न नहीं किया। केवल त्रोटक ही ऐसा रहता है जिसके न लिखने के लिए कोई कारण प्रतीत नहीं होता सिवाय उस कारण के जो उन्होंने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :

अथ शेष उपरूपक

यों ही थोड़े-थोड़े भेद में और भी शेष उपरूपक होते हैं। न तो इन सबों का काम ही विशेष पड़ता है। इससे सविस्तार वर्णन नहीं किया गया। (नाटक)

इससे भारतेन्दु जी के दृष्टिकोण का कुछ पता चलता है। उन्होंने प्रायः उन्हीं नाटक-भेदों की रचना की है जिनका कुछ विशेष काम पड़ सकता है।

जिन नाटकों के प्रकारों की रचना की गयी है उनके स्वभाव में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण अन्तर है। नाटक तो सामान्य लक्षणों से युक्त कृति होती ही, इसलिए इसकी रचना तो सहज ही अनिवार्य है। प्रहसन में हँसी की प्रमुखता होती है इसलिए इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। 'भाण' सभी नाटक-प्रकारों में एक

अत्यन्त ही अद्भुत प्रकार है, केवल एक ही कवि या पात्र अभिनय करता है। इसमें अभिनय-कला की आधुनिक दृष्टि से सभावना मानी जा सकती है। यह इतना अनोखा रूप है कि अनायास ही ध्यान आकर्षित करता है। 'व्यायोग' की तीन विशेषतायें भारतेन्दु के युग के लिए महत्त्वपूर्ण थी :

१. स्त्री पात्रो का अभाव।

२. युद्ध का निदर्शन, जिससे वीर रस का परिपाक होता।

३. एक ही दिन की कथा यानी छोटा वृत्त।

इन विशेषताओं के कारण यह रूप स्वय ही भारतेन्दु के लिए आकर्षक हो गया होगा और तत्कालीन दृष्टि से उन्हें सभावनाशील लगा होगा।

नाटिका में स्त्री पात्रो की बहुलता और प्रधानता ने उनके कृष्ण-भक्ति पूर्ण मानस को मुग्ध कर लिया होगा। यह उनकी चन्द्रावली से सिद्ध है। इसीलिए नाटिका मे उनका मन रमा।

नाट्यरासक या लास्यरूपक विविध नाम नृत्यो के समावेश के कारण प्रिय हुआ, पर इससे भी अधिक इसलिए कि यह वगाल में प्रचलित हो गया था।

प्राचीन रूपो में केवल 'सट्टक' ऐसा रहता है जिसके लिए कोई महत्त्वपूर्ण कारण प्रतीत नही होता। पर इसमें प्रवेशक, विष्कभक न होने से यह भी नये नाटकों के निकट पहुँचता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु जी ने नाटक-रचना में इस बात का ध्यान रखा है कि नवीन दृष्टि से बनने वाले नाट्य-शास्त्र के लिए सभी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण भेदों के उदाहरण प्रस्तुत कर दिये जायें।

रूपक, आपेरा और गीतिरूपक किसी सीमा तक नये प्रयत्न माने जा सकते हैं। रूपक में अलौकिक तत्त्वो का मानवीयकरण तो प्रधान होता ही है, और इस रूप में 'प्रबोधचन्द्रोदय' सस्कृत में भी लिखा गया था, पर इसके साथ ही भारतेन्दु-काल में रूपक को प्राय एक ही अक में समाप्त किया जाता था। भारतेन्दु-युग में 'रूपक' की आवश्यकता थी क्योकि इस बहाने उन विविध विकारो की व्याख्या रोचक रूप में की जा सकती थी और दर्शक या पाठक उन विकारो के प्रभाव को पूरी तरह हृदयगम कर सकता था।

'आपेरा' में नाटक के अन्य भेदो से कुछ अधिक सगीत नाट्य रहता है। वगाल में इसका उस समय विशेष रिवाज था।

'गीतरूपक' में गीतिमयता की प्रधानता रहती थी इसलिए भारतेन्दु जी को पसन्द आया।

भारतेन्दु जी के इन नाटकों की कथावस्तु के स्रोत एक तो बगाली और दूसरे संस्कृत के नाटक थे जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। स्वतन्त्र रचनाओं में वैदिकी हिंसा का कथानक, प्रेमजोगिनी का, विषस्यविषमौषधम् का कल्पना से लिया गया है। इनके द्वारा नाटककार ने अपने समय का यथार्थ चित्र देने की चेष्टा की है।

'वैदिकी हिंसा' का कथानक यह है :

गृध्रराज नामक राजा मांस, मदिरा, महिला-सेवन को वैदिक धर्म के रूप में मानता है। उसके पुरोहित उसके पोषक हैं जो अपनी तरह विविध प्रमाणों का अर्थ लगाते हैं। विविध धर्मावलबी राजा के यहाँ आते हैं, पर केवल धूर्त ही वहाँ टिकते हैं। मास-मदिरा का खूब जोर रहता है। तब अन्त में सब यमलोक पहुँचते हैं। राजा के अनुयायी नरक पाते हैं और शेष वैष्णव स्वर्ग।

इससे नाटककार ने अपने समय के बढते हुए मासाचार पर चोट की है: मास खाने वालों पर, पुनर्विवाह करने वालो पर, स्त्री की स्वतन्त्रता पर, मत्स्य को मास न मानने वालों पर, तन्त्र पर, अग्रेजी पढे हिन्दुओं पर, मिथ्यावादियों पर, बाबू राजेन्द्रलाल पर, शाक्तो पर, घूँस देने वालो पर। प्रेमजोगिनी तो स्वय भारतेन्दु जी की अपनी जीवनी के रूप में लिखी जा रही थी। उसके पात्र तो यथार्थ जगत के पात्र विदित होते हैं जिनके नाम नाटक के लिए बदले गये हैं।

"विषस्यविषमौषधम्" मे तत्कालीन ऐतिहासिक और अन्य स्थिति का वर्णन किया गया है। मल्हारराव होल्कर के गद्दी से उतरवाने की घटना का चित्रण है। "चन्द्रावली" का आख्यान कृष्ण चरित्र से लिया गया है। नील देवी ऐतिहासिक वृत्त है। "अधेर नगरी" लोकवार्ता से है। इस लोकवार्ता का सक्षिप्त उल्लेख हैनरी ईलियट ने अपने मेमोयर्स में किया है।[1] उन्होने "हरबोग का राज" शीर्षक के अन्तर्गत बताया है कि इस शब्द का अर्थ है अव्यवस्था तथा कुप्रबन्ध। हरबोग ने "हरभूम" का मतलब है जो आजकल झूँसी या झूसी कहलाती है। इस हरभूम का राजा हरबोग था और इसी के सम्बन्ध में यह विख्यात है कि :

अंधेर नगरी बेबूझ राजा।
टका सेर भाजी टका सेर खाजा॥

---

1. Memories on the history, folklore and distribution of the Races of the North Western Provinces of India Vol I

इसकी मृत्यु की कहानी में गोरख और मछन्दर का हाथ था। गोरख को फांसी का हुक्म हुआ पर मछन्दर ने युक्ति से स्वर्ग का प्रलोभन दिखाकर स्वय राजा को ही फांसी पर चढ़ने के लिए प्रेरित किया।

"चन्द्रावली" नाटिका शुद्ध भक्ति-भावना के परिपाक के लिए लिखी गई है और पूर्णत सफल है। शेष उनके मौलिक प्राय समस्त नाटको में सामयिक छाप बहुत गहरी है। "नील देवी" स्त्रियो में शौर्य को उभारने के लिए है और धर्म सम्बन्धी सकुचित दृष्टिकोण को त्यागने के परामर्श से युक्त हैं। "वैदिकी हिंसा" विविध धर्मों की कलई खोलने और वामाचारी व्यक्तियो की बखिया उधेड़ने के लिए लिखी गयी है। इसमें शैव वैष्णव की प्रतिष्ठा स्थापना का भाव भी है। भारतेन्दु स्वय वैष्णव थे। "प्रेम जोगिनी" में धर्म के अड्डो पर होने वाले मिथ्याचारों का दिग्दर्शन और भडाफोड है। अधेर नगरी में भी तत्कालीन स्थिति की जहाँ-तहाँ झलक है। यो समस्त नाटक ही उनके अपने अनुभवों पर निर्भर न्याय-व्यवस्था पर गभीर व्यग हैं। उनका सदेश बहुत स्पष्ट है।

यदि सामयिकता की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटकों पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि

शृगार विद्यासुन्दर : उन्मुक्त प्रेम तथा विवाह और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा पितृ अनुशासन के समझौते का परामर्श देता है।

समाज संस्कार, पाखंड विडबन : धर्म को लेकर विविध पाखडो का खंडन तथा कृष्ण-भक्ति का प्रतिपादन।

समाज सस्कार, वैदिकी अहिंसा धर्मवंचको और वामाचार का उद्घाटन और भर्त्सना तथा वैष्णव शैव की प्रतिष्ठा।

समाज संस्कार, धनंजय विजय : १ ऐतिहासिक गौरव
२ गोरक्षा तथा
३ वीर रस का परिपाक

देशवत्सल मुद्राराक्षस : १ ऐतिहासिक गौरव
२ स्व राजा के राज्य की रक्षा प्रतिष्ठा पर राजा और उसका साथ देने वाले स्वजन के पराभव के लिए कुटिल नीति अथवा चैतन्य तत्परता और युक्ति से मार्गच्युत। स्व विरोधी स्वजन को पुन अपनाना। युक्तिपूर्ण राजनैतिक अहिंसा का प्रयोग।

समाज संस्कार : सत्य हरिश्चन्द्र : १ सत्य के स्वरूप का आदर्श, मन-वचन-कर्म तीनो में सत्य की साधना : सत्य की महत्ता : व्यक्ति, समाज और राज्य सबके ऊपर सत्य।
२ प्राचीन भारतीय इतिहास का गौरव।

हास्य : प्रेमजोगिनी : १ अपने समय में भारत के जन मे ह्रास और दुर्गति के लक्षणों का निरूपण।

देशवत्सल : विषस्य : विषयोषधम : १ अंग्रेजी राजनीति का दुपहलू स्वरूप।
२ भारतीय राजाओं में लगे घुन का स्वरूप, चरित्र दौर्बल्य परिणाम।

शृंगार : कर्पूर मंजरी १ संस्कृत से, भाषा का महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए।
२ शृंगार रस।

समाज संस्कार-भक्ति चन्द्रावली : श्रीकृष्ण-भक्ति

देशवत्सल : भारत दुर्दशा : १ भारत की दुर्दशा करने वाले कारणों का निरूपण।
२ प्राचीन गौरव का स्मरण।
३ वियोगान्त।

देशवत्सल : भारत जननी : १ भारत की हीन दशा।
२ अंग्रेज़ो की दुपहलू नीति।

देशवत्सल : नीलदेवी : १ स्त्री जाति मे शौर्य भाव।
२ भारतीय गौरव।

शृंगार : दुर्लभ बंधु : १ वधुत्व
२ रक्तशोषक की व्यापारिक नीति ; देते समय कुछ लेते समय कुछ।
३ स्त्री साहस
४ करुणा और न्याय
५ प्रेम

हास्य : अंधेर नगरी। १ अन्याय का मोहक स्वरूप
२ लोभ के परिणाम
३ विवेकहीन राज्य का अभिशाप

समाज संस्कार   सतीप्रताप · १ भारतीय गौरव

२ सतीत्व का महत्व, सभवत: विधवा-विवाह के विरोध में।

भारतेन्दु जी ने नवीन नाटक-रचना के पांच मुख्य उद्देश्य बताये हैं :—

(१) शृगार (२) हास्य (३) कौतुक (४) समाज-सस्कार (५) देशवत्सल।

१ शृगार—शृगार रस प्रधान – भारतेन्दु जी के नाटको में विद्यासुन्दर तथा कर्पूर-मजरी व दुर्लभबन्धु भी इस कोटि में हैं।

२. हास्य—प्रहसन 'अधेर नगरी', जितना अश प्राप्त है उसके अनुसार प्रेमयोगिनी भी।

३ कौतुक—भारतेन्दु जी के शब्दो में "कौतुक वह है जिसमें लोगो के चित्त विनोदार्थ किसी यन्त्र विशेष द्वारा या और किसी प्रकार अद्भुत छटा दिखाई जाय।" कौतुक का उदाहरण भारतेन्दुजी के नाटको में नही।

४. समाज सस्कार—के 'नाटको में' देश की कुरीतियो का दिखलाना मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। यथा-शिक्षा की उन्नति, विवाह सम्बन्धी कुरीति-निवारण अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयो में सशोधन इत्यादि। "किसी प्राचीन कथा-भाग का इस बुद्धि से सगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अन्तर्गत है।" 'भारतेन्दु'।

इसके उदाहरण—(१) पाखण्ड विडवन (२) वैदिकी हिंसा (३) धनजय-विजय (४) सत्य हरिश्चन्द्र (५) सती प्रताप (६) चन्द्रावली।

५. देशवत्सल—इन नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालो वा देखने वालो के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्राय करुण और वीर रस के होते हैं।" उदाहरण—(१) भारत जननी (२) नीलदेवी (३) भारत दुर्दशा (४) विषस्यविषमौषधम् (५) मुद्राराक्षस।

इस सूची से यह स्पष्ट विदित होता है, कि भारतेन्दु जी की रचना में मुख्य दृष्टि समाज-सस्कार तथा देशवत्सल-विषयक थी। समाज-सस्कार के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने की है कि भारतेन्दु जी आदर्शवादी सुधारक थे। प्राचीन आदर्शो के

विस्तृत रूप को वे शुद्ध करने के पक्षपाती थे। देशवत्सल नाटकों के देखने से कहीं-कहीं यह भ्रम होता है, कि वे साम्प्रदायिक हो गये हैं। कहीं-कहीं यह भी प्रतीत होता कि वे अंग्रेजों अथवा राजराजेश्वरी की खुशामद कर रहे हैं।

वस्तुतः भारतेन्दु जी के समस्त साहित्य की आत्मा को समझ कर ही ऐसा आपत्तियाँ की जानी चाहिये। साहित्य की आत्मा का छद्म भाषा में दिखायी पड़ता है, 'जैसा देश वैसा भेष' के सिद्धान्त को भारतेन्दु जैसी शक्ति कभी स्वीकार नहीं कर सकती, पर सृजन-धर्म की संजीवनी के लिए शक्तिनद को कुछ कूल किनारों की सीमायें तो माननी ही पड़ती हैं। युग की लॉजिक की ओर आँखें नहीं बन्द की जा सकतीं। भारतेन्दु की आत्मा के शब्द तो ये हैं —

> भला इसमें पाखंड का विडवन क्या होना है? यहाँ तो तुम्हारे सिवा सभी पाखंड है, क्या हिन्दू क्या जैन? क्योंकि मैं पूछता हूँ कि बिना तुमको पाए मन की प्रवृत्ति ही क्यों है, तुम्हें छोड़कर मेरे जान सभी झूठे हैं चाहे ईस्वर हो चाहे ब्रह्म, चाहे वेद हो चाहे इंजील। तो इससे यह शंका न करना कि मैंने किसी मत की निन्दा के हेतु यह उत्था किया है क्योंकि सब तुम्हारा है इस नाते से तो सभी अच्छा है और तुमसे किसी से सम्बन्ध नहीं इस माने सभी बुरे हैं।
>
> (समर्पण—पाखंड विडवन)

यह वास्तविक वैष्णव-भाव भारतेन्दु जी की कृतियों में प्रकट है। फिर जहाँ-जहाँ साम्प्रदायिकता का आरोप किया जा सकता है वहाँ भारतेन्दु जी ने धर्म को नहीं स्पर्श किया। उन्होंने व्यक्ति और उसके उस संगठन के उन दुष्कृत्यों का विरोध किया है, जो मुसलमान संज्ञा धारण कर हिन्दू नाम के व्यक्ति मात्र के साथ अत्याचार के रूप में किये जाते रहे; उनमें भी केवल आक्रमणकारी रूप का। उस आक्रमणकारी रूप में भी गर्हित विलासिता का उन्होंने विरोध किया। ऐसे अवसरों पर मुसलमान यवन-विदेशी आक्रमणकारी। इस लॉजिक से उनका असंतोष अंग्रेजों पर ही होता है।

फलतः न तो उन पर साम्प्रदायिकता का लांछन लगाया जा सकता है, न अंग्रेजों की खुशामद का। उनकी आत्मा में राष्ट्रीयता का भाव था। वे परदासता की घृणा करते थे। हिन्दुओं की दुर्दशा से वे त्रस्त थे भारत को दुर्भाग्य का शिकार बनते देख रहे थे और इनका मूल कारण वे उस नैतिक हीनता को मानते थे जिसे उन्होंने बारबार नाटकों में दिखाया है।

भारतेन्दु जी के नाटको का यह अध्ययन यह सिद्ध करता है कि भारतेन्दु जी ने समस्त भारतीय नाटक-प्रणालियों को समझने की चेष्टा की और हिन्दी के लिए उपयोगी शैली निर्धारित की, जिसमें पूर्व का पूर्ण परित्याग न हो, पर नूतन का उचित आदर हो । वे वस्तुत युग-प्रवर्तक हैं ।



भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाटक

—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व भारत में नाटकों का पूर्ण प्रचार हो चुका था और उनकी परम्परा में आगे चलकर विश्व-विश्रुत नाट्य-रचनाओं का निर्माण हुआ। यह क्रम ईसा की लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी तक निरन्तर सुरक्षित रहा। सम्राट् हर्ष की मृत्यु (सातवीं शताब्दी) के बाद भारतवर्ष का संपर्क एशिया की एक नवोदित संस्कृति के साथ स्थापित हुआ। प्रारम्भ में यह प्रभाव सैनिक और राजनीतिक क्षेत्रों तक सीमित रहा। किन्तु शीघ्र ही इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होने लगा। यद्यपि मध्ययुगीन जीवन वीर-दर्प-पूर्ण और उत्तेजना-पूर्ण था, और दो संस्कृतियों के पारस्परिक संपर्क द्वारा साहित्य, कला, शिल्प, संगीत, धर्म आदि के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रियाशीलता का जन्म हुआ, तो भी तत्कालीन जीवन विस्तार-भार से उसी प्रकार बोझिल रहा जिस प्रकार रीतिकालीन कविता, तत्कालीन चित्रकलांतर्गत सज्जा और शिल्प की पच्चीकारी और सजावट में बोझिलता थी, उसमें तीव्र गति का अभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आविर्भाव-काल उन्नीसवीं शताब्दी में जो एक महत्वपूर्ण बात दिखाई देती है वह यह कि इस समय पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का अविश्वसनीय रूप में तीव्र प्रभाव पड़ा; उसने कई शताब्दियों से अलसाए जीवन को एकदम झकझोर डाला। प्रेस, तार, डाक, रेल तथा अन्य प्रकार की मशीनों और एंजिनों आदि का प्रभाव एक-दो पीढ़ियों में ही मालूम होने लगा था और फलस्वरूप, जीवन के मानदण्ड बदलने लगे थे। मध्ययुगीन मानसिक निष्क्रियता में स्पन्दन और नई संभावनाओं का जन्म हुआ। बाह्य संसार के साथ परिचय प्राप्त करने, देश के राजनीतिक एकसूत्रता में बद्ध हो जाने, और समान शिक्षा-प्रणाली के प्रचलित हो जाने से जीवन व्यापक धरातल पर स्थित और ऐक्य-संपन्न हुआ। यूरोपीय औद्योगिक क्षेत्र में प्राप्त विकास, भू-गर्भ में प्रवेश करने, समुद्र-तल तक पहुँचने आदि की साहसिक एवं रोमांचकारी कहानियाँ, मनुष्य-शरीर के सम्बन्ध में ज्ञात अनेक नवीन बातें हिन्दी-मन को उत्तेजित करने लगीं। भारतवासियों ने देखा कि वैज्ञानिक आविष्कारों और मशीनों के द्वारा मनुष्य ने नवीन शक्ति अर्जित कर अपने को पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली बना लिया था। प्रेस और बारूद ने तो अपना प्रभाव दिखाया ही था, किन्तु कम्पस, दूरबीन आदि ने भी मनुष्य को अपने

चारो ओर की परिस्थिति पर अधिकार प्राप्त करने योग्य बना दिया था । अस्तु, जीवन के साथ-साथ साहित्य में भी यह परिवर्तन-क्रम काफी तीव्र गति धारण कर अवतरित हुआ जिसका सर्वप्रमुख उदाहरण साहित्य में गद्य की क्रमबद्ध परम्परा के जन्म में मिलता है । वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी खडी बोली गद्य भारत-प्रचलित उस यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का प्रतीक बना जो, ग्रियर्सन के शब्दो में 'कलकत्ता सिविलाइज़ेशन' की देन के रूप था । इसी गद्य की एक शाखा भारतेन्दु-युगीन नाटक के रूप में प्रस्फुटित हुई । ईसा की आठवी-नवी शताब्दी के बाद नाट्य-रचना की दृष्टि से हिन्दी में ही नही, सपूर्ण भारतवर्ष में उन्नीसवी शताब्दी ही उल्लेखनीय है ।

भारतीय इतिहास के मध्य युग में सस्कृत विद्या का ह्रास हो गया था । फलत उस समय उच्च श्रेणी के साहित्यिक नाटको और अभिनय-कला का लोप हो गया । उस समय नाट्य-कला उठ-सी गई । यही कारण है कि श्रव्य-काव्य से सम्बधित अनेक लक्षण-ग्रन्थो की रचना तो हुई, किन्तु दृश्य-काव्य के लक्षणो की ओर किसी का ध्यान न गया । केवल गाँवो में रूपक के कुछ हीन भेदो का प्रचार बना रहा । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ये भेद भी भ्रष्ट हो गए थे । उनसे नाट्य-रचना के लिए कोई प्रेरणा प्राप्त न हो सकी । उन्नीसवीं शताब्दी में देशी-विदेशी प्रयासो द्वारा प्राचीन साहित्य की खोज और अध्ययन प्रारम्भ हुआ और साथ ही पाश्चात्य साहित्य के सपर्क ने नवीन प्रेरणा प्रदान की । इसके अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थों के, जिनमें नाटक भी थे, अनुवाद प्रस्तुत किए गए । भारतवासियों द्वारा अग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन तो हुआ ही, किन्तु ईस्ट इडिया कम्पनी के काल में अग्रेज़ों ने भी अठारहवी शताब्दी उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, पटना आदि बडे-बडे नगरो में अपने मनोरजन के लिए अभिनय-शालाओ की स्थापना कर भारतीय शिक्षित समुदाय का ध्यान नाट्य-कला की ओर आकृष्ट किया । वे अगरेज़ी नाटको या कालिदास के शकुन्तला नाटक का प्राय अभिनय किया करते थे । सर विलियम जोन्स द्वारा तथा फोर्ट विलियम कॉलेज में 'शकुन्तला' के दो तीन अनुवाद प्रस्तुत हो ही चुके थे । साहित्यिको में रुचि उत्पन्न करने के लिए यह बहुत था । और फिर प्राचीन भारतीय और एलिज़बेथन युग की नाटकीय रचना-पद्धतियो में बहुत-कुछ साम्य होने से भी नाट्य-रचना को काफी प्रोत्साहन मिला; शेक्सपियर तथा अन्य नाटककारो का अध्ययन होने ही लगा था । वास्तव में सच तो यह है कि उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्द्ध में नवोत्थान-कालीन भावना से प्रेरित सस्कृत और फिर अगरेज़ी साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप और फिर से अनुकूल वातावरण पाकर—क्योकि इस्लामी सस्कृति ने नाट्य-साहित्य तो कोई प्रोत्साहन प्रदान न किया था—हिन्दी नाट्य-साहित्य का जन्म हुआ । काल-गति से जो वृक्ष सूख गया था वह फिर से पुष्पित-पल्लवित हो

उठा। जिस समय भारतेन्दु का उदय हुआ उस समय नाटककारों, अभिनेताओं और अभिनय-शालाओं का कोई मान नहीं था। ऐसे लोगों और स्थानों को 'निम्नस्तर' का समझा जाता था। नवोत्थान-कालीन चेतना के अंतर्गत संस्कृत और यूरोपीय नाट्य-साहित्य के अध्ययन ने नाटक की ललित कला के रूप में फिर से स्थापना की, उसे साहित्य के एक प्रमुख अंग के रूप में स्वीकार किया गया, अनेक प्राचीन-नवीन नाटकों का अध्ययन करने के पश्चात् कालानुसार एक नवीन नाट्य-शिल्प की रूपरेखा प्रस्तुत की गई, और प्रेक्षागृहों और अभिनय के सिद्धान्तों के निर्धारण का प्रयास हुआ। उस समय नाट्य और अभिनय-कला की पूर्ण उन्नति तो न हो सकी, किन्तु जन-जीवन का प्रधान अंग बनने में उसे देर न लगी। नवोदित राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों ने विचार-सामग्री और उपकरण जुटाने में सहायता प्रदान की।

आधुनिकतम नाट्य-कला की अभिव्यंजना के चार साधन हैं: रंगमंच, ऑपेरा, सिनेमा और रेडियो (तथा टेलिविजन)। वास्तव में सिनेमा और रेडियो तथा टेलिविजन प्रथम दो के ही विकास मात्र हैं। इन प्रथम दो का जन्म भारतीय और और पश्चिमी कलाओं के समन्वय से भारतेन्दु युग मे ही हुआ था और स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मूल प्रेरक-शक्ति थे। उन्होंने अनुवादों और मौलिक रचनाओं के द्वारा कथा-वस्तु के संगठन, चरित्र-चित्रण, रस-निष्पत्ति, कथोपकथन, नाट्यालोचन आदि की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम का अद्भुत समन्वय उपस्थित कर अन्य नाटककारों का मार्ग-प्रदर्शन किया। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व शाश्वत रूप से अक्षुण्ण बना रहेगा। भरत मुनि ने नाट्य-कला को पंचम वेद माना है जिसमें शूद्रों तक को अधिकार है। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के नवजागरण काल में, जब कि जीर्ण-शीर्ण जन-जीवन के पुनस्संस्कार की अत्यधिक आवश्यकता थी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक को प्रमुख साधन बनाने में नेतृत्व ग्रहण किया और वे भावी नाटककारों के लिए प्रेरणा-स्रोत बने।

भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र तथा उनके युग के नाटककारों ने अपने चारों ओर के जीवन और भारतीय पुराणों तथा इतिहास से संवेदना स्वीकार की और जीवन को पुष्ट कर जन-मन की वीणा से नवीन स्वर झंकृत करने का सराहनीय प्रयास किया। किसी भी अनूदित, रूपान्तरित और मौलिक नाट्य-रचना के अध्ययन से तत्कालीन जीवन और लेखकों की आकांक्षाओं पर प्रकाश पड़े बिना नहीं रह सकता। नवोत्थान काल के इस प्रथम चरण में भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान ने उन्हें निर्माण और विकास के लिए बेचैन कर दिया था। स्वयं

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मौलिक रचनाएँ सामाजिक, राजनीतिक, पौराणिक और प्रेम-सबंधी कोटियों में आती हैं। इन्ही में हिन्दी नाट्य-साहित्य की तत्कालीन कोटियाँ निर्धारित हुई। पहले दो का साहित्यिक मूल्य कम है, यद्यपि सख्या में वे तीसरी और चौथी से अधिक हैं। नवोत्थान ने नाटककारो को सप्रदायगत सीमित और सकुचित दृष्टिकोण के स्थान पर व्यापक और उदार दृष्टिकोण ग्रहण करना सिखाया था। धार्मिक असहिष्णुता और विद्वेष, व्यर्थ का वितण्डावाद और मतमतातरो का सघर्ष उन्हे अरुचिकर और देश-हित के लिए घातक प्रतीत होने लगा। विदेशी सत्ता से मोर्चा लेने के लिए भी तो अपने दोषो का परिहार करना अनिवार्य था। उन्होने विविध भारतीय मतो की समान गति में विश्वास उत्पन्न किया और तदनुकूल व्यवहार करने की चेष्टा की। सकुचित मनोवृत्तियाँ--जो मध्य युग मे उत्पन्न हो गई थीं--और अध-विश्वासों से मुक्त हो उन्होंने स्वस्थ समाजोन्मुख व्यक्तित्व को जन्म दिया। उनकी स्वस्थ सास्कृतिक परम्परा उन्हें बल प्रदान करती थी। यहाँ तक कि मनुष्यता के नाते उन्हें इस्लाम, मसीही धर्म या अन्य किसी विदेशी मत से कोई विद्वेष नहीं था। देश की अधोगति पर विचार करते समय उनका ध्यान बरबस विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव और भारत के प्राचीन आर्य-गौरव और वीरतापूर्ण ज्वलन्त उदाहरणों की ओर चला जाता था और उनका नीरव राष्ट्रीय-गान जग उठता था। किन्तु इतने पर भी उनमें सकीर्णता का प्रादुर्भाव न हो पाता था। सत्य की खोज के लिए ही वे साधनारत हुए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन तथा अन्य अनेक नाटककारों की विविध प्रकार की रूपक-रचनाओ में जीवन की कुरूपताओ और उनके निराकरण और परिष्कार की भावना प्रधान है। भारत की दुरवस्था पर वे आँसू बहाते हुए रोग, महर्घ, कर, मद्य, आलस्य, धनहीनता, बलहीनता, अविद्या, पारस्परिक फूट, कलह, पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अन्ध-विश्वास, छूआछूत, दम्भ, पाखण्ड, भूत-प्रेत तथा अनेक देवी-देवताओ की पूजा, दुर्भिक्ष, निज भाषा के प्रति उदासीनता और फलत अध पतन, स्वदेशी के प्रचार का अभाव, देश के उद्योग-धन्धो का पतन, देश का आर्थिक शोषण, नाना प्रकार के मतो का बहुल्य, अनैक्य, असगठन, अन्ध परम्परा आदि का उल्लेख और भारत में चारो ओर छाए हुए अँधियारे का उन्होने अत्यन्त क्षोभपूर्ण शब्दो में वर्णन किया है। भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण करते ही और अपने हृदयोद्गारों को रोक न सकने के कारण वे आशा-निराशा के बीच डूबने-उतरने लगते और विचलित हो उठते थे। उनकी तत्कालीन राजनीतिक चेतना ने उन्हें अपने अधिकारो के प्रति सजग बना दिया था, किन्तु अगरेजी राज्य से पूर्णत सम्बन्ध विच्छेद की भावना

अभी पैदा नहीं हुई थी। भारतवर्ष में छोटे-छोटे अंगरेज कर्मचारियों का जातीय पक्षपात, काले-गोरे का भेद भाव, भारतवासियों के साथ दुर्व्यवहार, सरकारी पदों पर भारतवासियों का नियुक्त न होना, भारत की निर्धनता और आर्थिक दुरवस्था आदि बातें उन्हें मानसिक पीड़ा पहुँचाती थी और अवसर मिलने पर वे इस प्रकार की अनीतियों का विरोध किए बिना भी न रहते थे। लेकिन साथ ही वे भारत और इंगलैंड के बीच भाईचारे-भाव भी सुरक्षित बनाए रखना चाहते थे। सच तो यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके युग के अन्य नाटककारों की रचनाओं में अधिकतर सरकारी नीतियों की आलोचनाएं भरी पड़ी हैं। वैसे सामाजिक जीवन के किसी क्षेत्र में वे अभारतीयता और 'अँगरेजों के औगुन' अपनाने के कट्टर विरोधी और पाश्चात्य सभ्यता की अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करने के पक्षपाती थे। भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य में नवोत्थान-कालीन भावना पूर्णतः मुखरित हो उठी थी उसमें आधुनिक, नवीन भारत का स्वर स्पष्टतः घोषित है। देश-काल की परिधि में बँधे रहने पर भी उसमें युग-युग के जीवन को स्फूर्ति प्रदान करने वाली प्रेरक शक्तियों का भी अभाव नहीं है।

भारतेन्दु युगीन नाटकों की साहित्यिक परम्परा के अतिरिक्त एक ऐसी परम्परा भी थी जो पारसियों की वणिक्-वृत्ति का शिकार बन गई थी और वह प्रारम्भ ही से हिन्दी के पुष्ट नाट्य-साहित्य के सम्यक् विकास में अनुल्लंघीय बाधा के रूप में सिद्ध हुई। साहित्य-रसिकों को इससे मर्मान्तिक पीड़ा होती थी। किन्तु वे केवल ग्रन्थ-प्रकाशन के अतिरिक्त और कुछ न कर पाए। उच्च कोटि के अनूदित और मौलिक ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए भी उन्हें निराश होना पड़ा। वास्तव में हिन्दी की अपनी साधु नाट्य परम्परा के अभाव में 'शायरजी मशान वाले भट्ट सेनों' की इतिश्री करना कोई सहज कार्य नहीं था। हिन्दी के साहित्यिकों के पास न अपनी अभिनय-शालाएँ थी—परम्परा के रूप में—और न अधिकतर लेखकों के पास रंगमंचीय अनुभव ही था। अभिनेता साहित्यिक लेखक नहीं थे और साहित्यिक लेखक अभिनेता नहीं था। साथ ही हिन्दी की शिक्षित जनता का अभाव था। अँगरेजी के मोह में ग्रस्त शिक्षित समुदाय को तो हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति कोई रुचि थी ही नहीं। इसलिए हिन्दी के नाटककारों के सामने जो जनता थी वह मूढ़ और अज्ञानान्धकार के गर्त में डूबी हुई थी। वह केवल साहित्यिक नाटकों का अनादर करना ही नहीं जानती थी, वरन् नाटककारों को उपहासास्पद दृष्टि से देखना भी जानती थी। पारसी नाटकों और अभिनयों की ओर आकृष्ट होकर अपने कुसंस्कारों का परिचय देने के साथ-साथ उसने श्रेष्ठ साहित्यिकता को भी कालिमा-मण्डित किए बिना न छोड़ा। समाज का अधिकांश भाग, जो निम्नमध्य-वर्ग और निम्न-वर्ग से निर्मित

था, वस्त्र रूप में अशिक्षित था। उसे सस्ते और भद्दे ढग के पारसी थिएटरो में बडा आनन्द आता था। उनकी तडक-भडक और चलते हुए सस्ते गानो से अशिक्षित जनता का काफी मनोरञ्जन हुआ और वह उन्ही की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक नाटककार रुपए के लोभ से जनता की रुचि के अनुकूल रचनाएँ करने लगे। प० अयोध्यासिंह उपाध्याय, वाबू रामकृष्ण वर्मा आदि विचारवान् साहित्यिको ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु के बाद इस प्रथा को साहित्य की सम्यक् प्रगति के लिए सर्वथा हानिकारक बताया और लोगों का ध्यान देश-हितैषिता और नाट्य-कला-चातुर्य की ओर आकृष्ट करना चाहा। परन्तु उन्हे अपने पुनीत कार्य में सफलता प्राप्त न हो सकी। सच तो यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ही जनता की रुचि विकृत हो गई थी। उनके जीवन-काल में और विशेषत उनकी मृत्यु के पश्चात् सस्ते नाटको की हिन्दी में भरमार हो गई। परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके अनेक साथी अपनी प्रतिभा के बल पर उच्च कोटि के और प्रभावशाली नाटको की रचना कर साहित्य के निर्माण में योग दे रहे थे, उधर अनेकानेक नाटककार विषय की दृष्टि से पुराणों तथा लीलाओं के विषय ग्रहण कर प्रचलित पारसी रगमच के लिए नाटक-रचना कर रहे थे। इन नाटको से जनता की धार्मिक वृत्ति की तुष्टि हुई। श्रद्धा-परायण जनता की मानसिक परितुष्टि और मन-बहलाव के साथ-साथ नाटककार उसे सद्वृत्ति की की ओर ले जाना चाहते थे। उसके मृतप्राय जीवन में जान फूँकने के लिए ये रचनाएँ काफ़ी थी। सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी आदि का पातिव्रत धर्म, भक्तो की सहनशीलता और प्रेम-गाथाओं की रसीली बातें लोगो को अत्यन्त प्रिय लगती थी। उन्हें देख कर जनता में उत्साह का समुद्र उमड पडता था। इन सब बातो के साथ नाच-गानो और चमकीली पोशाकों से उनकी तबियत फडक उठती थी। ऐसी रचनाओ में श्रेष्ठ नाटकीय गुण और कला-तत्त्व की आशा करना व्यर्थ है।

साधु अभिनयशाला के अभाव और पारसी रगमच के विनाशकारी प्रभाव के अलावा, जो स्वय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'चन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा' और 'नीलदेवी' नाटको में भी दृष्टिगोचर होता है, भारतेन्दु के अनुगामियो के ही हाथो हिन्दी नाट्य-साहित्य का ह्रास हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाट्य-कला में ही दक्षता नही दिखलाई, वरन् उन्होंने अपनी रचनाओं में देश की दुरवस्था का दिग्दर्शन करा कर उसके प्रतिकार की चेष्टा भी की है, क्योकि नाटक में केवल हृद्गत भावनाओं का ही स्पष्टीकरण नही रहता, उसमें समाज के बाह्य जीवन का अनुकरण भी रहता है, उसमें मनोरजन ही नही, वरन् समाज-हित की भावना भी निहित रहती है। उनकी आँखों के सामने समाज नाशोन्मुख हो रहा था। भारत के पुनर्जीवन के लिए जीर्ण-

जीर्ण सामाजिक जीवन को प्राणदान देना अत्यन्त आवश्यक था। बाल-विवाह, नशाखोरी, वेश्यावृत्ति, अविद्या, फिजूलखर्ची, पश्चिम का अन्धानुकरण, विदेशी वस्तुओं का अत्यधिक प्रयोग आदि कुरीतियां समाज में घुन का काम दे रही थीं। आर्यसमाज बड़ी तत्परता के साथ समाज-सुधार में प्रवृत्त था ही। मुसलमानों द्वारा गो-वध, हिन्दुओं को मुसलमान बनाना आदि धार्मिक अत्याचार याद कर सब भारतीय तिलमिला उठते थे। भारतेन्दु के बाद इंडियन नेशनल कांग्रेस ने भी देश के जीवन में काफ़ी उन्नति कर ली थी। नए करों, धार्मिक दुरवस्था, शासन-सुधार, नवीन शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता के कुप्रभावों, राजनीतिक प्रगति, शिक्षा का अभाव, काले-गोरे का भेद-भाव आदि बातों ने उस समय उग्र रूप धारण कर लिया था। ऐसी अवस्था में किसी भी साहित्यिक के लिए इन आन्दोलनों के प्रभाव से बचना कठिन था। प्रत्येक लेखक को देश-हित और समाज-सुधार की धुन पैदा हो गई थी। बड़े-बड़े विद्वान् इस ओर विशेष रूप से चिन्तित थे। भारतेन्दु, श्रीनिवास दास आदि जैसे लेखक जब तक जबर्दस्ती समाज से विमुख होने का प्रयत्न न करते तब तक उनका उससे बचना दुष्प्राय ही था। 'चन्द्रावली' और 'तप्तासंवरण' मे विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से कला को प्रधानता मिली है। परन्तु देश के संक्रांति-काल में इस ओर वे अधिक योग न दे सके। अन्ततोगत्वा उन्हें समाज की ओर मुड़ना ही पड़ना था। दूसरे लेखकों ने भी उनका अनुसरण किया। चारों तरफ नाट्य-साहित्य द्वारा सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ हल करने का प्रयत्न होने लगा। धार्मिक अराजकता दूर करने में लेखकों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। परन्तु इन महत्त्वपूर्ण विषयों का सुन्दर रूप से प्रतिपादन करने के लिए प्रतिभावान् कलाकार की आवश्यकता होती है, ऐसे कलाकोविद की जो साधारण घटनाओं को जन-साधारण के धरातल से ऊपर उठ कर विस्तृत दृष्टिकोण से देख सके। भारतेन्दु ने समाज-हित के लिए जो साधन चुना उसमें अन्य लेखकों को अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। नाटक साहित्य का एक परिमित रूप है और अनेक जटिल नियमों से बद्ध है। यह ठीक है कि उसके द्वारा संसार का कल्याण किया जा सकता है, परन्तु उसके लिए लेखक में सूक्ष्म बुद्धि द्वारा संक्षेप में मनुष्य की हृद्गत भावनाओं और बाह्य कार्य-कलाप का समावेश करने की दक्षता और कला-नैपुण्य होना परमावश्यक है। अधिकांश हिन्दी-लेखक कला के इस शिखर तक न पहुँच सके। हिन्दी में ऐसे भी एक सुरुचि-सम्पन्न शिक्षित समुदाय का अभाव था। फलतः हिन्दी नाट्य-साहित्य का पतन होना अवश्यम्भावी था। हिन्दी नाटकों का जन्म जिस धार्मिक, सामाजिक और नैतिक अराजकता के युग में हुआ था उसमें नाट्य-कला की उन्नति सम्भव नहीं थी। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के फलस्वरूप हिन्दी-लेखकों के सामने नए-नए

विचार और आदर्श उपस्थित हो रहे थे। ज्ञान की वृद्धि के लिए लोग व्यग्र हो रहे थे। देश में पाश्चात्य-शिक्षा का प्रचार हो चुका था और, इतिहास इस बात का साक्षी है कि, शिक्षा के प्रचार से प्रत्येक युग में जनता की सभ्यता नहीं, वरन् मानसिक व्याकुलता बढ़ी है। ज्ञान-वृद्धि की प्रबल आकांक्षा के फलस्वरूप यहाँ मानसिक असन्तोष बढ़ा। ऐसी परिस्थिति में साहित्य का स्थूल कलेवर तो बढ गया, परन्तु स्थायी साहित्य की उत्पत्ति न हो सकी। नाटककार एक प्रकार से अपना सयम खो बैठे थे। बहुत-कुछ हद तक आर्यसमाज आन्दोलन भी हिन्दी नाटकों के लिए घातक सिद्ध हुआ। आर्यसमाज ने अनेक विषय सुझाए, इसमें कोई सन्देह नही। किन्तु आर्यसमाज की प्रचार-शैली और शास्त्रार्थ-शैली से नाटको की कलात्मकता को क्षति पहुँची। अनेक रचनाओ में ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वय लेखक विविध पात्रो के रूप में आर्य-समाज के प्लेटफार्म से बोल रहा हो। लेखक समाजी उपदेशक की भाँति समाज-सुधार के आवेग में अपने कर्त्तव्य से विचलित हो कर कथानक और कथोपकथन के क्रमिक विकास को भी ले डूबता है। अस्तु, काल-प्रभाव के कारण नाट्य-साहित्य की जसी उन्नति होनी चाहिए थी, वैसी न हो सकी। वास्तव में अपने शैशव-काल में ही वह रोग-ग्रस्त हो गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ही साहित्यिक कोटि के नाटको का स्थान प्रचारात्मक नाटकीय कृतियो ने ले लिया। साथ ही मानसिक अस्तव्यस्तता के कारण अन्तर्जगत के अनुभवो का भी ठीक-ठीक स्पष्टीकरण न हो सका। परिणाम वही हुआ जिसकी आशा ऐसी दशा में की जा सकती है—साहित्यिक मूल्य का ह्रास।

रूपक और उपरूपक के विविध भेदो में से सबसे अधिक रचना नाटकों और प्रहसन की हुई है। भारतेन्दु युग में भी इन्ही दो की प्रधानता रही—यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अन्य भेदो के उदाहरण-स्वरूप कुछ अनूदित और मौलिक रचनाएँ भी प्रस्तुत की। नाटक और प्रहसन के अतिरिक्त अन्य भेदों को लोकप्रियता प्राप्त न हो सकी—सस्कृत में भी सम्भवत उन्हें अधिक लोकप्रियता प्राप्त न हो सकी थी। जहाँ तक प्रहसन से सम्बन्ध है सस्कृत नाट्य-शास्त्रियो ने नवरसों में हास्यरस की गणना की है। रूपको में प्रहसन हास्यरस-प्रधान है। परन्तु सस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार प्रहसन की रचना का मुख्य उद्देश्य हास्य-विनोद हैं, न कि समाज की निन्दनीय बातो पर व्यग्य करना। पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अनुकरण पर भारतीय लेखकों ने भी तदनुसार रचना करना आरम्भ कर दिया। वे तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक कुरीतियो और दौर्बल्य पर तीव्र व्यग्य कसने लगे। हिन्दी में पहले-पहल १८७३ ई० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन लिखा जिसमें उन्होने मासाहारियो, मद्यपान करने वालो, पशु-बलि आदि का मज़ाक बनाया

है। १८८१ ई० में उनके 'अन्धेर नगरी' के बाद प्रहसन लिखने का अत्यधिक प्रचार हो चला और उसका क्षेत्र भी निरंतर विस्तृत होता गया। देवकीनंदन त्रिपाठी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, लाल खड्ग बहादुर मल्ल, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने अपनी-अपनी रचनाओं में बहुविवाह, वेश्यावृत्ति, बाल-विवाह, नशेबाजी, स्त्रियों की हीन दशा, अविद्या, सूदखोरी, पाश्चात्य सभ्यता, खान-पान और आचार-विहीनता, अंग्रेजी शिक्षा और फैशन के कुत्सित प्रभावों आदि से पीड़ित भारतीय समाज का क्रन्दन अभिव्यक्त किया। इन सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों और कुप्रथाओं तथा कट्टरता और अन्ध-विश्वासों का उन्होंने खूब मजाक उड़ाया है। व्यापारी-वर्ग में प्रचलित अनेक सामाजिक एवं धार्मिक कर्म-काण्डों और पुरोहितों, पण्डों, ज्योतिषियों आदि का आधिपत्य, उनका स्वार्थपूर्ण दृष्टि से दान और तीर्थ-यात्रा, धन का मोह या कंजूसी, अत्यधिक ब्याज लेना, विवाहिता स्त्रियों की ओर से उदासीन होकर वेश्यावृत्ति, जुआ खेलना, मद्यपान, डरपोकपन, बाल-विवाह, बहु-विवाह, अपव्यय आदि बातें उन्होंने विशेष रूप से लक्ष्य बनाईं। पश्चिमी सभ्यता से उत्पन्न तीन बातों ने उनका ध्यान अधिक आकृष्ट किया--मांसाहार, मद्यपान तथा अपव्यय, और भारतीय आचार-विचारों और अंग्रेजी न पढ़े-लिखे लोगों की अवहेलना। इन हास्यरसात्मक ग्रन्थों से पता चलता है कि सामाजिक और धार्मिक विषयों की ओर लेखकों का कितना ध्यान जा रहा था। किन्तु उनमें अधिकतर अर्थहीन प्रलाप देखने को मिलता है। हास्य निम्न श्रेणी का है और व्यंग्य प्राणहीन। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, देवकीनन्दन त्रिपाठी और राधाचरण गोस्वामी को छोड़कर अन्य लेखकों ने उच्च कोटि के तीक्ष्ण व्यंग्य की सृष्टि नहीं की। उनका परिहास असंगत और स्वाभाविकता की सीमा का उल्लंघन करने वाला है। मालूम होता है जबर्दस्ती हास्य और व्यंग्य प्रकट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। एक तो पराधीन देश का हास्य ही क्या, दूसरे, इन रचनाओं के पात्र निम्न श्रेणी के हैं। अधिकतर हमें कोई बुड्ढा, निगुरा, वेश्या, कुटनियाँ, चरित्रहीन स्त्रियाँ, नशेबाज, मोटा महाजन, मसखरा और वाक्पटु नौकर, ओझा आदि ही मिलते हैं। उस अशिक्षित और असंस्कृत जन-समूह में हमें किसी अधकचरे समाज-सुधारक और देश-सेवक के भी दर्शन हो जाते हैं। परन्तु उनका सामाजिक कुरीतियों का मजाक भी ऊटपटांग, भद्दे और अश्लील ढंग का है। भारतेन्दु युग में ऐसे परिहास की सृष्टि न हो सकी जो साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन सकता और जो सीधा हृदय पर चोट करता।

भारतेन्दु-युगीन नाट्य-साहित्य हिन्दी का प्रारम्भिक नाट्य-साहित्य है। उसकी परम्परा जनता में प्रचलित उपरूपक के हीन भेदों—जिन्हें स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'भ्रष्ट' कहा—से अलग स्थापित हुई और उस पर नवयुग के मन और मस्तिष्क

दोनों का प्रभाव है। भारतीय नवोत्थान का विद्यार्थी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित है कि यूरोपीय और भारतीय सस्कृतियो के अपूर्व सम्मिलन में जहाँ भारतवर्ष ने ज्ञान-विज्ञान के व्यावहारिक क्षेत्र में अनेक नवीन बातो का स्वागत किया, वहाँ दूसरी ओर पूर्व और पश्चिम का सघर्ष भी प्रारम्भ हुआ—आध्यात्मिकता और भौतिकता का सघर्ष, ऐसी भौतिकता के साथ सघर्ष जो भारतीय आध्यात्मिकता का हनन करने वाली समझी गई। जैसा कि रौनेल्ड्स्रो का मत है, इसी सघर्ष का एक वाह्य स्थूल प्रतीक विदेशी सत्ता के प्रति विद्रोह में था। भारतेन्दु-युगीन नाटय-साहित्य का नाटय-कला के उच्च और श्रेष्ठ मापदण्डों के अनुसार जो भी मूल्याकन हो— और जो वास्तव में उसके प्रारम्भिक नाटय-साहित्य होने के नाते ही किया जाना चाहिए, किन्तु इतना निश्चित है कि उसमें पूर्व और पश्चिम के सघर्ष के बीच आध्यात्मिक पुनस्सस्कार की अथक चेष्टा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में तो उसका स्थान है ही, लेकिन भारतीय सास्कृतिक इतिहास की लम्बी यात्रा में, नवीन परिस्थितियो—दो विरोधी परिस्थितियो—के बीच भारतीय मन की विवृति होने की दृष्टि से उसका कही अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। बीसवी शताब्दी के हिन्दी-जीवन में जो स्थान उपन्यास-साहित्य का है, या जो पूर्व-आधुनिक कालो में महाकाव्य का था, वही स्थान भारतेन्दु-युग में नाट्य-साहित्य का था। उसमें जीवन के नवीन सत्यो की उपलब्धि और आत्म-सस्कार का मागलिक एव अभिनदनीय प्रयास है।



'प्रसाद' के नाटक

—डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

सामान्य परिचय और पृष्ठभूमि

मानव-अभिव्यक्ति के समस्त व प्रभावशाली माध्यमों में रूपक अथवा नाटक का मूर्धन्य स्थान है। कला और साहित्य का समस्त अन्तःसौन्दर्य, मन के सक्रिय सहयोग से श्रवणेन्द्रिय एव नेत्र द्वारा चर्वणीय और आस्वादनीय होता है। कला एव साहित्य के अन्तर्गत आने वाले समस्त रूप अथवा प्रकार (नृत्य, सगीत, चित्र, स्थापत्य, मूर्ति, कविता, उपन्यास, कहानी, गद्यगीत आदि) उक्त दोनो इन्द्रियो में से प्राय केवल एक के ही उपयोग (मन सहित) की अपेक्षा और आकाक्षा करते हैं अतः वे आँख, कान व मन इन तीनों के सामूहिक उद्योग से अर्जनीय रस अथवा आनन्द की मात्रा से न्यून का ही भरोसा बँधाते हैं। साहित्य के प्रकारो में परिगणित 'रूपक' अथवा 'नाटक' वस्तुतः ललित कला एव साहित्य का एक मिश्रित रूप है। उसमें गीत वाद्य, नृत्य, अभिनय, चित्र, मूर्ति (अतिम दोनों प्रेक्षागृह, मच-सौन्दर्य, पट-दृश्यावली, पात्र-पात्रियों के सुन्दर रूपाकार आदि के द्योतक हैं) का संगम हो जाता है। रूप, रग और स्वर की इस ससृष्टि के साथ प्रेक्षकों अथवा सामाजिकों की कल्पना के सक्रिय सहयोग से प्राप्त आनंद, मनोरजन और नाट्य-कृति में निहित 'कान्तासम्मित' लोक-शिक्षण आदि मानसिक तत्त्वों एवं मंचसज्जा, मेक-अप, प्रकाश-क्रीडा के विधान, पर्दे, वातावरण आदि उपकरणों को मिला कर देखने से नाट्य-सृष्टि की व्यापक-गंभीर प्रभविष्णुता का सहज ही अनुमान हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि किसी महा-काव्य या खण्ड-काव्य आदि को पढ़कर भी हम कल्पना के बल से नाट्य-सुलभ सामूहिक प्रभाव और वातावरण की प्रतीति कर सकते हैं किन्तु जीवित-जाग्रत प्रत्यक्ष की चाक्षुष प्रतीति एक ऐसा विशिष्ट प्रभाव रखती है, जिसे कि कल्पना, उक्त प्रतीति का स्थानापन्न होकर और गभीरतम क्षमताओं और शक्तियों से सम्पन्न होते हुए भी, सभवतः उसी मात्रा में व वेग के साथ सम्पादित नहीं कर सकती। सम्पूर्ण अन्तः-करण पर गभीर प्रभाव डालने के उद्देश्य से आविष्कृत नाटक नामक कला-साहित्य-रूप मानव की एक परमोच्च सफलता है।

हिंदी में नाटक-रचना का श्रीगणेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हाथ होता है। उन्होंने संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती आदि समृद्ध भाषाओं के नाटकों से प्रेरणा

ग्रहण कर हिन्दी में मौलिक नाटको के सृजन का सूत्रपात किया । पुराण, इतिहास, समाज, और कल्पना के क्षेत्रो से रोचक वृत्त लेकर उन्होंने लोक-शिक्षा, समाज-सगठन और मनोरजन के गभीर और व्यापक उद्देश्य से प्रवाहपूर्ण, व्यग्य-विनोद मिश्रित चटपटी और सरल लोक-भाषा में, जीवन के यथार्थ व आदर्श का सामञ्जस्य करते हुए, बहुत से ऐसे नाटको की रचना की, जो अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुए। रचना-तन्त्र (Technique) की दृष्टि से उन्होंने प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र का ही अनुसरण किया । भारतेन्दु का ध्यान मुख्यत जन-जागरण, समाज-सुधार व राष्ट्र-प्रेम सम्बन्धी भावनाओ तक ही सीमित रहा । अत कल्पना की कुशल कारीगरी, मानव और प्रकृति का सामञ्जस्य, नाटक-शैली-शिल्प, मनोवैज्ञानिक व सजीव चरित्र-सृष्टि, समग्र व शाश्वत मानव-जीवन की व्याख्या आदि उन बहुमूल्य नाट्य-तत्त्वो की ओर वे उतना ध्यान न दे सके जो नाटक को श्रेष्ठतम साहित्य-रूप एव जीवन की विशद व्याख्या बना देते हैं । पर इसमें कोई सन्देह नही कि भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम मौलिक, श्रेष्ठ, लोकप्रिय एव रससिद्ध नाटककार हैं ।

भारतेन्दु के बाद न्यूनाधिक महत्त्व के सैकडो नाटककार हुए हैं किन्तु उनमें से अपनी प्रतिभा का उज्ज्वलतम प्रकाश फैलाने वाले नाटककार हैं श्री जयशकर 'प्रसाद' । नाटक के ही क्षेत्र में नही, साहित्य के प्राय सभी अन्य क्षेत्रो कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि—में वे नई-नई शैलियो और रूपो के प्रवर्तक हैं । हिन्दी नाटको के क्षेत्र में तो उनकी प्रतिभा अद्भुत व अपूर्व हैं । प्रसाद जी का नाटक-रचना का काल-प्रसार सन् १९१० से १९३३ तक है । उन्होने 'सज्जन' (एकाकी, सन् १९१०), 'कल्याणी-परिणय' (१९१२), 'करुणालय' (गीति-नाट्य, १९१३), 'प्रायश्चित्त' (एकाकी, १९१४), 'राज्य श्री' (१९१५), 'विशाख' (१९२१), 'अजातशत्रु' (१९२२), 'कामना' (अन्यापदेशिक नाटक, १९२३-१९२४ में लिखित व १९२७ में प्रकाशित), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९२३), 'स्कन्दगुप्त' (१९२८-२९), 'एक घूंट' (एकाकी, १९२९ में लिखित व१९३० में प्रकाशित), 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (१९३१), और 'ध्रुव-स्वामिनी' (१९३३) आदि नाटकों की रचना की है । वस्तुत प्रसाद जी अपने मूल रूप में कवि हैं । उनकी समस्त साहित्य-सृष्टि में काव्य के व्यजन प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं । साथ ही कल्पना के धनी होने से जीवन की नाटकीय स्थितियो के वे इतने कुशल आविष्कर्त्ता व प्रयोक्ता हैं कि उनके द्वारा कविता कहानी, उपन्यास आदि अन्य साहित्य-रूपों में भी मनोरम नाटकीय परिस्थितियो की सहज ही अवतारणा हो गई है । नाटक में कविता व कविता में नाटक के तत्त्व, आमने-सामने से आती हुई कारो की सर्चलाइट की किरणो की तरह, एक दूसरे में मिल गये हैं ।

यों तो प्रसाद जी की प्रत्येक नाट्य-कृति अपना स्वतंत्र महत्व रखती है किन्तु 'राज्य-श्री', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त मौर्य' और 'ध्रुव-स्वामिनी' आदि कृतियाँ उनकी अक्षय कीर्ति की आधार हैं। प्रारंभ से ही 'प्रसाद' एक प्रयोगशील कलाकार रहे हैं। 'सज्जन' से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' तक प्रयोगों की एक अविराम शृंखला जारी है। ये प्रयोग 'प्रसाद' जी ने एक अत्यन्त सजग व प्रबुद्ध कलाकार की भाँति देश-विदेश के नाट्य-शिल्प के क्षेत्र में होने वाले प्रयोगों व परीक्षणों पर आलोचनात्मक दृष्टि रखकर, भारतीय नाट्य-तंत्र के व्यापक और समृद्ध ढाँचे में ही रहते हुए किये हैं। ये प्रयोग स्थूलतः चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किये जा सकते हैं। —(१) कथानक-निर्माण अथवा वस्तु-संगठन-कौशल सम्बन्धी, (२) प्रभावशाली चरित्र-कौशल सम्बन्धी, (३) साहित्यिक शैली-शिल्प सम्बन्धी, तथा (४) मंच-प्रभाव सम्बन्धी। प्रत्येक सजग कलाकार प्रयोगों की अटूट शृंखला के माध्यम से निर्दोष कृतित्व की सिद्धि की ओर बढ़ता जाता है। यह पूर्ण निर्दोषता तो मानव-अभिव्यक्ति के क्षेत्र में एक अज्ञात वस्तु ही है। 'प्रसाद' भी उस नियम के अपवाद नहीं।

'प्रसाद' मूलतः कवि हैं। उन्होंने अपने कवित्व को इतिहास की विराट् रंग-स्थली में मानव-जीवन के जटिल क्रिया-कलापों के बीच दिखाकर पूर्ण व्यवहार्य व अमिट प्रभावशाली बना दिया है। मानव-जीवन की विशद व्याख्या के उद्देश्य से भावमूलक कवित्व का मानवाश्रित उपयोग व ललित विन्यास ही उनकी नाट्य कला की मूल प्रेरणा है। नाटकों में जीवन-व्याख्या की प्रेरक विचारधारा का समावेश और कवित्व का यह ग्रहण भी प्रसाद की एक नवीन व मौलिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित व प्रभावित है। अतः 'प्रसाद' की नाट्य-सृष्टि पर कुछ विस्तार से विचार करने से पूर्व उस जीवन-दृष्टि के विधायक तत्वों और उसके स्वरूप पर दृष्टिपात करना अत्यन्त आवश्यक है। इस जीवन-दृष्टि को हम नवीन 'रोमांटिक' जीवन-दृष्टि कह सकते हैं जिसके विधायक तत्त्व रूढ़ परम्परा का त्याग, नवीन जीवन-दर्शन का ग्रहण, सौन्दर्य-चेतना के प्रति एक अभिनव आकर्षण-कुतूहल, प्रेम की मानवीय संवेदना, अतीत के प्रति एक रहस्यात्मक मोह, प्रकृति तथा मानव का भावुकतापूर्ण तादात्म्य, उच्चादर्शों के प्रति उत्कट अनुराग और शैली-शिल्प की स्वच्छन्दता आदि तत्त्व हैं। इस जीवन-दृष्टि का स्वरूप, जीवन के विविध अनुभूति-क्षेत्र में अविर्भूत आनन्द-वाद, रसवाद, जीवनवाद, भाग्यवाद, प्रकृतिवाद और भोगवाद आदि विचारधाराओं से सपुष्ट एवं समृद्ध हुआ है। भारतीय उपनिषद् और शैव-दर्शन में उपलब्ध आनन्द या शिवत्व की चराचर-व्यापी विराट् चेतना प्रसाद की जीवन-दृष्टि का मूलाधार है। यह आनन्द-भावना प्रसाद-साहित्य में अनन्त रूप से प्रवाहित हो रही है।

रसवाद उसी आनन्द या शिवत्व की भावना का साहित्यिक रूपान्तर मात्र है। 'प्रसाद' विवेकवादी न होकर रसवादी हैं अत उनके साहित्य में सर्वत्र अनुभूति की ही प्रधानता है। जीवनवाद से 'प्रसाद' की वह विचारधारा फूटी है जो 'निगेटिव' अथवा निवृत्ति-मूलक जीवन-दर्शनो के विरुद्ध पौजिटिव अर्थात् प्रवृत्ति-मूलक जीवन-दर्शनो को स्वीकृति देती है। 'प्रसाद' में कर्म-प्रेरणा और उत्साह की कही भी कमी नहीं। यद्यपि 'प्रसाद' जीवन की इस पौजिटिव फिलॉसफी के प्रचारक हैं पर वे इस निष्ठुर सत्य से भी अपरिचित नही कि मनुष्य पुरुपार्थी होने पर भी उसका जीवन प्रत्येक क्षण किसी ऐसी अन्ध शक्ति के हाथ का क्रीडा कन्दुक है जिसे वे नियति, भाग्य, अदृष्ट, अनागत आदि नामो से पुकारते हैं। उन के समस्त साहित्य में भाग्य सम्बधी सैकडो उक्तियां बिखरी मिलेंगी। वे मानव-जीवन को विश्वात्मा का ही अश होने के नाते प्रकृति से रहित कही भी नही देख पाते। प्रकृति उनकी मानवीय सृष्टि की अनिवार्य सगिनी है। भोगवाद को हम आनन्दवाद, रसवाद, जीवनवाद और प्रकृतिवाद में ही समाविष्ट कर सकते हैं, पर आत्म-भाव से इन्द्रियो के द्वारा स्वस्थ भोग का उनके साहित्य में (विशेषतः कामना, लहर, कामायनी, एक घूँट, इरावती आदि में) इतनी अधिक स्वीकृति है कि उसे स्वतत्र दृष्टि के रूप में ही रखना उचित होगा। रोमाटिक जीवन-दृष्टि के उक्त तत्त्वों एव उसकी पोषक धाराओ को समझ लेने पर ही 'प्रसाद' के नाटकों में निहित सामाजिक-सास्कृतिक विचार-धारा, रचनातत्र-गत प्रयोग और भाव-विभूति के सौन्दर्य का समवेत महत्त्व व सौन्दर्य आँका जा सकता है। यथार्थ के ठठलो पर आदर्श की घनी हरियाली और नाटकों के गभीर 'टोन' का सीधा सम्बध इसी जीवन-दृष्टि से है।

'प्रसाद' ने इस जीवन-दृष्टि का निर्माण, परिष्कार, पुष्टि और विकास (१) जन्मातरीण सस्कार अथवा प्रतिभा (Intuition), (२) अध्ययन, (३) निरीक्षण, (४) चिन्तन और (५) अनुभव द्वारा किया है। प्रातिभ-ज्ञान उपरोक्त विविध साधनों के मूल में है क्योंकि, सब साधनो से सम्पन्न होने पर भी, इसके बिना उनमें समन्वय, व्यवस्था, सगठन और स्फूर्ति आदि गुण नही आ सकते। भारतीय सस्कृति, साहित्य व कला आदि के गभीर अनुशीलन से 'प्रसाद' की दृष्टि सतुलित व प्रौढ़ हुई। जीवन (व्यक्ति व समाज) के निरीक्षणो द्वारा प्रयोग-सिद्ध होकर वह प्रामाणिक हो गई, चिन्तन के ताप से तरल होकर वह रसमयी हो गई और अनुभव द्वारा सहृदय-सवेद्य होकर वह प्रेषणीय हो गई। 'प्रसाद' की जीवन-दृष्टि ऐसे आँवे में पक कर खरी व दृढ हुई है। इसलिए उनकी उक्त दृष्टि से सम्पन्न समस्त कला-सृष्टि में दृढता और अन्विति है। उसके जीवन के गभीर विश्वास अथवा अवस्थाये इसी दृष्टि से प्रसूत हैं। उनकी समस्त चरित्र-सृष्टि भी इसी

संश्लिष्ट जीवन-दृष्टि की उपज है। नाटकों में जीवन की व्याख्या इसी दृष्टि से हुई है और नाटकों की समाप्ति के स्वरूप का नियन्त्रण व शासन भी इसी के द्वारा हुआ है। सांस्कृतिक नव-निर्माण के लिये नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापनायें 'प्रसाद' जी ने अपनी इसी जीवन-दृष्टि पर पूरा भरोसा रख कर की हैं।

जीवन-दृष्टि की इस व्याख्या के उपरांत अब हम 'प्रसाद' के नाटकों का एक सामूहिक व परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

कथानक और देशकाल—'प्रसाद' ने अपने नाटकों के कथानकों का संकलन इतिहास-पुराण, प्रस्तुत समाज और शुद्ध कल्पना—इन तीनों क्षेत्रों से किया है। 'करुणालय', 'विशाख', 'राज्य श्री', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटकों के कथानकों का वृत्त ऐतिहासिक-पौराणिक, 'एक घूँट' का वर्तमान सामाजिक एवं 'कामना' का शुद्ध काल्पनिक है। लुप्त इतिहास की शृंखलाओं को जोड़ कर अपनी जीवन-दृष्टि को प्रसारित करने एव नाटकीय प्रभावोत्कर्ष के लिये, ऐतिहासिक नाटकों में भी नवीन पात्रों व घटनाओं के निर्माण में कल्पना का पर्याप्त समावेश हुआ है, किन्तु सामान्यतः इस वर्ग के सब नाटक इतिहासनिष्ठ हैं। नाटकों में संकलित इतिहास का काल-विस्तार भी ध्यान देने योग्य है। महाभारत काल और पुराण काल से लेकर ठेठ सम्राट हर्षवर्धन तक के काल का विस्तृत वृत्त लेकर 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में अपने प्रगाढ़ इतिहास-प्रेम, दीर्घ कालव्यापिनी अखण्ड व समन्वयात्मक ऐतिहासिक-दृष्टि और गभीर इतिहासानुशीलन का बड़ा ही भव्य परिचय दिया है। प्रभाव (Appeal) की दृष्टि से विविध क्षेत्रों के कथानकों को लेकर विभिन्न नाट्य-रूपों (गीति-नाट्य, नाट्य-रूपक, अन्यापदेशिक नाटक आदि) के निर्माण में भी उन्होंने अपना हाथ आजमाया है। यद्यपि ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास ही प्रमुख विषय है किन्तु कहीं-कहीं तो वह सर्वथा निमित्त मात्र ही रह गया है और कहीं-कहीं काल विशेष का पूर्ण विश्वसनीय वाहक। सभी प्रकार के नाटकों में रस-सिद्धि ही प्रमुख उद्देश्य दिखाई पड़ता है। मंच पर इतिहास की पुनरावृत्ति रस-सिद्धि की दृष्टि से बहुत ही प्रभाव-शालिनी होती है। अत. 'प्रसाद' ने इतिहास को ही अपनी नाट्याभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनाया। इस माध्यम का प्रयोग इन पाँच विशिष्ट उद्देश्यों से किया गया जान पड़ता है—(१) भारत के अतीत की भव्य झाँकी दिखा कर भारतीय धर्म-संस्कृति का गौरव गान करने के लिये, (२) इतिहास के विराट् रंगमंच पर सुख-दुःख, हास-रुदन, जय-पराजय, उत्थान-पतन के झूलों के बीच प्रवाहित और मानव-जीवन की गति-विधि के चित्रण द्वारा शाश्वत मानव-जीवन का वास्तविक

स्वरूप दिखाकर जीवन की व्याख्या करने के लिये, (३) अप्रत्यक्ष रूप में युग-समस्यायें सुलझा कर वर्तमान का कुहरा साफ करने के लिये, (४) राष्ट्रीयता का सदेश देकर अन्तर्राष्ट्रीयता व शुद्ध मानवीयता के सनातन आदर्शों के प्रचार के लिये, तथा (५) सात्त्विक मनोरजन अथवा रससिद्धि के लिये।

नाटक की पूर्ण सफलता के लिये यह आवश्यक नही कि कथानक सदा ऐतिहासिक-पौराणिक ही हो, अथवा काल्पनिक-सामाजिक ही हो। वस्तुतः इनमें से कोई भी ढाँचा अपनाया जा सकता है। वास्तविक प्राण-प्रतिष्ठा तो रचना-तन्त्र पर अधिकार, भाव-विचार की गभीरता व उद्देश्य की स्पष्टता पर ही निर्भर करती है। बढिया चिकनी मिट्टी के साथ ही हाथो की सफाई, चित्त की एकाग्रता और रूप-पारखी आँखो की भी अपेक्षा है। कथानक के बहुत रोचक होने पर भी विन्यास की अकुशलता से वह बडा अशक्त व निस्तेज प्रमाणित हो सकता है। इसी प्रकार साधारण कथानक स्निग्ध, स्वच्छ व सुडौल ढँग से सँवारा जाकर अत्यत प्रभावशाली हो जाता है। प्रसिद्ध अथवा रोचक कथानक की उपस्थिति मात्र ही नाटक की सफलता की गारटी नही देती अत रसोत्पत्ति की दृष्टि से वस्तु का पुष्ट सगठन, उसके विविध अगो का कौशलपूर्ण अवस्थान, व सुस्निग्ध घटना-क्रम स्थापन आदि बातें अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। 'प्रसाद' ने अपने कथानक-निर्माण में नाट्य-शास्त्र के अन्तर्गत प्राप्त विशिप्ट रचना-विधियो का पर्याप्त उपयोग किया है और उसे पुष्ट व निर्दोष बनाने का प्रयत्न भी किया है पर वे इस क्षेत्र में आशिक सफलता ही प्राप्त कर सके हैं। इसका एक प्रमुख कारण है। 'प्रसाद', जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मूलत एक कवि थे अत स्थूल-बाह्य कथानक के निर्माण में शिल्पाधिकार-प्रदर्शन की अपेक्षा वे भाव-सृप्टि के सूक्ष्म सौन्दर्य के उद्घाटन एव जीवन की गभीर व्याख्या के कार्य में ही अपेक्षाकृत अधिक दत्तचित्त थे। उन्होने कथानक को भी जो सजाने-सँवारने का प्रयत्न किया है वह भी वस्तुत अपनी चरित्र-सृप्टि की सफलता के लिए किये गये उद्योग का अगभूत मात्र है। (स्कन्दगुप्त, और ध्रुवस्वामिनी जैसी कृतियाँ इस कथन की अपवाद है)। यदि 'प्रसाद' दूसरे पक्ष की ओर इतने आकृष्ट न होते तो वे कदा-चित् अध्यवसायपूर्वक कथानक निर्माण की निर्दोष सिद्धि सहज ही प्राप्त कर सकते थे, इसमें भी सदेह नहीं। पर जब दूसरी ओर हम यह देखते हैं कि उनकी उत्तरका-लीन प्रौढ कृतियाँ (स्कन्दगुप्त व ध्रुवस्वामिनी आदि) ही कथानक-निर्माण-कौशल की दृप्टि से अधिक परिपुप्ट, स्वच्छ व कातिमान् है तो यह भी सहज ही कल्पित किया जा सकता है कि 'प्रसाद' वस्तु-सगठन की कला में भी निपुणता के आकाक्षी थे। उन्हें वाछित सफलता काफी समय के बाद ही मिली। जो हो 'प्रसाद' का कथा-नक-निर्माण-कौशल प्रयोग पथ पर अनेक सीढियो को पार करता हुआ ही सफलता

की ओर अग्रसर होता हुआ दिखाई पड़ता है। इस पर थोड़ा और अधिक विस्तार से विचार किया जाय।

सामान्य प्रेक्षकों के मनोरंजन व रंगमंचीय सामूहिक प्रभाव की दृष्टि से देखने पर अधिकांश कृतियाँ भले ही मनोरंजन सिद्ध हों किन्तु प्रयोगसिद्ध शास्त्रीय रचना-विधान की कसौटी पर, वस्तु-संकलन की दृष्टि से अधिकांश कृतियाँ निर्दोष नहीं हैं। वस्तु-संगठन और चरित्रांकन के सन्तुलन की दृष्टि से 'प्रसाद' की केवल दो ही रचनायें अधिकतम सफलता की अधिकारिणी समझी जाती हैं—स्कन्द-गुप्त और ध्रुवस्वामिनी। शेष कृतियाँ न्यूनाधिक त्रुटियों, असंगतियों व अभावों से युक्त हैं। 'सज्जन', 'प्रायश्चित्त', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय', 'विशाख' आदि कृतियों में तो कथानक के अनुरंजनकारी और चमत्कार-पूर्ण विन्यास का कोई विशेष प्रश्न ही नहीं, क्योंकि यह सब अपने गुणदोषों को लिये हुए प्रयोगकालीन कृतियाँ हैं। सब में कहानी की मृदु मंथर धारा साधारण वैचित्र्य लिए दिखाई पड़ती है। स्थितियों के भावान्दोलक आरोह-अवरोह, चरित्र-चित्रण-कौशल या कोई गूढ़ मंच-प्रभाव लक्षित नहीं होता। हाँ, 'राज्यश्री' से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' तक रचना-कौशल अवश्य परिष्कार की एक सजग व प्रौढ़ दृष्टि लेकर सोत्साह यात्रा करता हुआ दिखाई पड़ता है। 'कामना' में मन के भावों को नराकार बना कर उन्हें नाटकीय पात्रता प्रदान की गई है। इस कृति में घटना-व्यापार तो बहुत है पर पात्रों के चरित्र-विकास की कोई गुंजाइश नहीं, क्योंकि मनोजगत में भावों की मूल प्रकृति प्राय. सर्वत्र एकरस ही बनी रहती है। हाँ, नाटकीय चमत्कार उत्पन्न करने के आग्रह से उनके चारित्र्य में मानवोचित उत्कर्षापकर्ष का आरोप भले ही कर दिया जाय। 'एक घूँट' की आत्मा नाटकीय न होकर विचारात्मक है। एक विशिष्ट तथ्य तक पहुँचने के उद्देश्य से पात्रों के संवाद चलते रहते हैं। नाटकीय वातावरण के उपयुक्त बीच-बीच में कुछ उपकरण हैं अवश्य पर वे नाटक के गद्यात्मक अथवा विचारात्मक रूपाकार के शासन के कारण अशक्त से ही हैं। इस प्रकार नाट्य-सौन्दर्य की दृष्टि से विचारणीय कृतियाँ केवल पाँच-छः ही बच रहती हैं—'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'। इन कृतियों के संबंध में समीक्षा-जगत में स्थिर किये गये या किये जा सकने वाले कुछ तथ्य ये हैं:—

लघुकाय 'राज्यश्री' के पहले संस्करण का साहित्यिक सौन्दर्य कोई विशेष महत्वपूर्ण नहीं। 'राज्यश्री' के अधिकांश दृश्य बहुत छोटे-छोटे हैं। घटना-शृंखला इस छोटी-सी कृति के लिए बहुत बोझीली है। दूसरे संस्करण में जोड़ा गया योग अंक आवश्यक ही है क्योंकि यह हर्षवर्धन व राज्यश्री के चरित्रगत दिव्य गुणों

का विशिष्टीकरण और विस्तार मात्र है। सामूहिक प्रभाव की दृष्टि से यह कृति पर्याप्त सशक्त है। घटना-विस्तार के कारण राज्यश्री को छोड कर और किसी का भी चरित्र विकसित नही हो पाया है।

'अजातशत्रु' मे कोशल, मगध और कौशाम्वी—इन तीन घटना-केन्द्रो तक कथा का विस्तार आवश्यक ही किया गया है। प्रसेनजित्, उदयन, वासवदत्ता आदि पात्रों की कोई विशेष सार्यकता नहीं। मगध की मुख्य कथा कुल २९ में से केवल ८ दृश्यो में ही समाप्त हो गई है। कार्य-व्यापार की अधिकता और सघर्षमूलक ऐतिहासिक परिस्थितियो (अजात-बिम्बसार गृह-कलह, विरुद्धक-प्रसेनजित्-गृहकलह, करुणा-हिंसा अथवा गौतम- देवदत्त-सघर्ष) के चित्रण के कारण चरित्र-प्रस्फुटन का बहुत कम अवकाश बचा है। फलत अजातशत्रु आदि के चरित्र परिवर्तन अस्वाभाविक ढग से करने पडे हैं। मागन्धी-शैलेन्द्र जैसे प्रासगिक-काल्पनिक उपकथानक मूल कथा के प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं। अन्तर्द्वन्द्व के अभाव में बलात् हुए चरित्र-परिवर्तन ऐतिहासिक परिस्थितियो के विस्तार का सीधा परिणाम है। नाटक का नायक कौन है—मल्लिका, गौतम अथवा अजातशत्रु ? यह विषय भी इस भाग-दौड में विवादास्पद ही बना रह गया है। नायक के मुख्य गुण किसी एक ही पात्र में केन्द्रित न होकर अनेक पात्रो में इधर-उधर बिखरे पडे है। हाँ, तीनअको में कार्य की पाँचो अवस्थाओ को बैठाने का प्रयास अवश्य सतोषजनक दिखाई पडता है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' में लेखक का ध्यान ब्राह्मण-क्षत्रिय-सघर्ष व तत्सम्बन्धी घटनावली तथा वतावरण-निर्माण पर ही अधिक टिका है। फलत मनसा, सरमा जैसी पात्रियो के चरित्र का ही विकास कुछ अच्छा हो पाया है, अन्य पात्र बौने रह गये ह। कार्य की अवस्थाओ, सधियो आदि का विधान भी बहुत अकुशल और दुर्बल है। नाटक के आरम्भ में पात्रो के कुलशील का भी वैसा रोचक व जिज्ञासा-वर्धक परिचय नही मिलता जैसा 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' आदि में। नाटक की समाप्ति पर जो सामूहिक प्रभाव उत्पन्न होता है वह भी कथा की मूल धारा के वेगवान् व स्वाभाविक पर्यवसान के रूप में नहीं। सवाद (भाषण !) भी अनेक स्थानो पर बहुत बडे-बडे व उकताने वाले हो गये हैं। घटना-व्यापार और चरित्र की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया भी नाटक के प्रतिपाद्य के साथ एकजीव नही हो पाती। इसप्रकार अगी और अगों का सुन्दर सगठन नही हो पाया है।

'स्कन्दगुप्त' नाट्य-तत्र की दृष्टि से 'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ कृति कही जाती है। पाँच अको में कार्य की पाँच अवस्थाओ, सधियो और अर्थ-प्रकृतियो का सफाई के साथ कलापूर्ण अवस्थान हुआ है। कथानक यद्यपि स्कन्द-कालीन व्यापक राजनीतिक-

धार्मिक ऊहापोह से लबालब भरा है पर वह अनुपात-बुद्धि द्वारा इस कौशल से सजाया गया है कि इतिहास के वातावरण की सफल अवतारणाओं के साथ ही पात्रों का अन्त-प्रकृति-प्रकाशक चारित्र्य अपने पूर्ण वैचित्र्य के साथ सतोषजनक रूप में चित्रित हो गया है। स्कन्दगुप्त, देवसेना, विजया, भटार्क आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण अन्तर्द्वन्द्व व बहिर्द्वन्द्व की स्वाभाविक क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से, बहुत सुडौल-न स्पष्ट, न महीन-रेखाओं में उभर आया है। नाटक में आदि से अत तक जिज्ञासा-कौतूहल बराबर बना रहता है। स्कन्द की आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक कथाएँ (अनन्तदेवी, पुरुगुप्त-प्रपचबुद्धि, देवसेना-विजया, बंधुवर्मा-जयमाला) बहुत सफाई के साथ गुँथी हुई हैं। अनावश्यक प्रसंगो की अवतारणा नही के बराबर है। कार्य-व्यापार और चरित्र-चित्रण में सतुलन है। प्रत्येक अक कई दृश्यो में विभाजित है किन्तु दृश्यो का परिवर्तन दृश्य-सख्या के द्वारा सूचित नही किया जाकर पट-परिवर्तन के द्वारा किया गया है।

'चन्द्रगुप्त' प्रसाद की एक अत्यन्त सशक्त कृति है। सामूहिक प्रभाव की दृष्टि से यह बहुत रोचक है। किन्तु कथानक में इतिहास-निष्ठा के आग्रह से लगभग २५-३० वर्षों की दीर्घकाल-व्यापिनी घटनाओ के ठूँस दिये जाने से उसमें 'विशाख' अथवा 'ध्रुवस्वामिनी' का सहज-प्रसन्न प्रवाह नहीं रह गया है। घटना-बाहुल्य के कारण बहुत बाते केवल सूचित कर दी जाती हैं। ऐतिहासिक युग के चित्रण के आग्रह से पात्रों के चरित्रो में विकास का अवकाश बहुत ही कम रह गया है। केवल चाणक्य के चरित्र में ही अच्छा विकास हो पाया है। उसका मस्तिष्क तो नाटक में सूर्य की तरह तप रहा है पर हृदय-पक्ष (जिसका उद्‌घाटन चाणक्य के चरित्र को मानवीय बनाने के उद्देश्य से नाटककार का लक्ष्य है) अनावृत-सा ही रह गया है। शेष पात्र अविकसित से हैं। प्रासगिक कथाएँ (अलका-सिंहरण, कल्याणी-पर्वतेश्वर, राक्षस-सुवासिनी, चन्द्रगुप्त-मालविका) संख्या में इतनी अधिक व विस्तार में विषम अनुपात में है कि मूल कथा का प्रवाह अवरुद्ध होता जाता है। चतुर्थ अक ऊपर से जुड़ा हुआ जान पड़ता है—चाहे वह प्रथम तीन अको से निकाले गये बहुत महीन रेशमी धागो से ही सिला हो। तृतीय अंक के बाद चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया विवाह, सिंहरण द्वारा चन्द्रगुप्त की अधीनता-स्वीकृति व राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त के मंत्री-पद के लिये स्वीकृति आदि बातें चन्द्रगुप्त को निष्कटक अवश्य प्रगट करती हैं पर तृतीय अक की समाप्ति के साथ ही दर्शक-मन की सब जिज्ञासाएँ पूरी तरह शान्त हो चुकने से चौथा अक आसौज के बादलों-सा जान पड़ता है। नायक-नायिका के निर्णय का प्रश्न भी बहुत गभीर है। नायक चन्द्रगुप्त है अथवा चाणक्य ? नायिका कार्नेलिया है अथवा अलका है, कल्याणी या मालविका ? इस सम्बन्ध में लेखक का मन्तव्य भी

बहुत स्पष्ट नही दिखाई पडता । समन्वित प्रभाव की दृष्टि से अवश्य 'चन्द्रगुप्त' एक शक्तिशाली व रोचक रचना है ।

'ध्रुवस्वामिनी' मच-सज्जा व अभिनय, वस्तु-सगठन व चरित्र-चित्रण, समस्या व उसका समाधान तथा वातावरण-चित्रण आदि सभी दृष्टियो से एक अत्यन्त श्रेष्ठ कलाकृति है। कोई प्रासगिक उपकथा नही। कहानी अगहन की नदी सी-सहज गति लिये बढती जाती है। आद्यन्त जिज्ञासा बनी रहती है। कार्य-व्यापार की शृखला बराबर जुडी चलती है। कार्य की अवस्थाओ, सन्धियो व अर्थ-प्रकृतियो का विधान भी अत्यन्त कौशलपूर्ण ढग से हुआ है। सारी कथा केवल तीन अको में विभाजित है, अको का दृश्यो में विभाजन कही नही। स्थान, समय व कार्य-व्यापार में अन्विति अच्छी प्रकार बैठ गई है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व व बहिर्द्वन्द्व का बहुत ही मार्मिक चित्रण हुआ है जो सम्भवत. कहानी की सुडौलता के कारण ही सम्भव हो सका है।

कथानक से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध रखने वाली कुछ अन्य बातो का भी उल्लेख यहाँ असगत न होगा। आकाश-भाषित, स्वगतकथन, अतिप्राकृतिक तत्त्वो का समावेश (ध्रुवस्वामिनी व स्कन्दगुप्त में धूम्रकेतु का कथानक में सगुफन) 'प्रायश्चित्त', 'करुणालय', 'सज्जन', 'राज्यश्री' (प्रथम सस्करण), 'ध्रुवस्वामिनी' आदि कृतियों में हुआ है जो स्वाभाविक नहीं जान पडता। 'सज्जन' व 'राज्यश्री' (प्रथम सस्करण) में नादी-पाठ, नट-नटी, सूत्रधार आदि का विधान किया गया है जो आगे चल कर छोड दिया गया। 'करुणालय', 'सज्जन', राज्यश्री' व 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि नाटकों में शास्त्रीय भरत-वाक्य के ढग पर मगल-कामना या मगल-घोष का विधान, विष्कभक, गर्भाक आदि का प्रयोग उन कृतियो के बाद नही हुआ। कविता में सवादो की जो भद्दी परम्परा 'विशाख', 'सज्जन', आदि में दिखाई पडती है, यह भी आगे चलकर छूट गई है। 'विशाख' में बातचीत में पुराने ढग की तुकबाजी का भी भद्दापन प्रकट हुआ है। मच पर व्यस्त पात्रों के वाक्य के पकडते हुए आना भी बडा अस्वाभाविक लगता है। स्कन्दगुप्त में भी यह (देवकी की मृत्यु के आयोजन पर स्कन्द का प्रवेश) दिखाई पडता है। प्रसाद ने प्राचीन ढग के विदूषक भी रखे हैं—यथा, 'विशाख' में राजा का सहचर महापिंगल व 'स्कन्दगुप्त' में मुदगल आदि। महापिंगल का आचरण बहुत हलका हो गया है। 'प्रसाद' ने प्राचीन नियमो का उल्लघन (परिष्कार ?) करते हुए मच पर हत्या, मृत्यु आदि के दृश्य भी दिखाये हैं। अनेक स्थानो में तो मृत्यु केवल सूचित ही कर दी जाती हैं। इस सम्बन्ध में 'प्रसाद' ने पूर्ण स्वतन्त्रता बरती है। दृश्य या अक के आरम्भ में रग-सकेत की शैली भी ('एक-घूँट', 'करुणालय',

'ध्रुवस्वामिनी' आदि में) पाश्चात्य नाटकों के अनुकरण पर प्रयुक्त की गई है। 'प्रसाद' ने गीतों का विधान भी किया है। कहीं-कहीं तो वे अवसरोपयोगी, साभिप्राय, सरल व महत्वपूर्ण हैं। किन्तु जहाँ वे बार-बार गाये जाते हैं, अत्यधिक कलापूर्ण व अलकृत हैं, नवादों में तुकबाजी के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ वे बड़े उबाने वाले हो गये हैं।

कथानक और देश-काल का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कथानक किसी भी प्रकार का हो—चाहे काल्पनिक ही—उसमें किसी न किसी देश और काल की अवतारणा है। ऐतिहासिक कृतियों से, विश्वसनीयता और रसोद्बोधन की दृष्टि से, देश-काल के चित्रण इतिहासानुमोदित होना अत्यन्त आवश्यक है। उनके द्वारा भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक-राजनीतिक, धार्मिक-नैतिक-आध्यात्मिक आदि सभी परिस्थितियों का सम्यक् ज्ञान कराने के लिए तत्सम्बन्धी युग के रहन-सहन, बोल-चाल, खान-पान, आमोद-प्रमोद, वेश-भूषा, रीति-नीति, युद्ध-विग्रह, मत-विश्वास, सस्या-विचार आदि का यथातथ्य रूप में इस सीमा तक प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है कि हम कृति अथवा नाट्य का आनन्द लेते समय उस युग के पवन में ही साँस लेते जान पड़ें। किन्तु यह भी विस्मृत न हो जाय की साहित्य में कल्पना भी एक अनिवार्य तत्व है अत नाटक में इतिहास की अवतारणा इस जड सीमा तक भी न हो जाय कि कल्पना के लिए किञ्चित् भी अवकाश न रहे। अत प्रमुख इतिहासनिष्ठ घटना-व्यापारों व परिस्थितियों के ठूँठों पर कल्पना का रमणीय हरीतिमा-प्रसार किया जा सकता है। 'प्रसाद' ने भारतीय इतिहास को इतिहास के प्रबुद्ध अन्वेषक की तीक्ष्ण दृष्टि से पूर्णतया शोध कर प्रस्तुत किया है अत वह प्रामाणिक तथा 'इतिहास-रस' का सचार कराने में पूर्ण समर्थ हैं। 'प्रसाद' के नाटकों में एक मासल व प्राणवान् अतीत मुसकरा रहा है। देश-काल को प्रत्यक्ष कराने वाले घटना-व्यापरों के साथ ही चन्द्रभु, कुभा, शिप्रा, सिन्धु, विपाशा, रावी, कपिशा, उद्‌भाण्ड, अवन्ती, उज्जयिनी, दशपुर, विदिशा, मूलस्थान, मगध, कोशल, कौशाम्बी, तक्षशिला, पाटलीपुत्र, कुसुमपुर, गान्धार, मालव, अन्तर्वेद, पंचनद, सप्तसिन्धु, आर्यावर्त, लौहित्य, स्कन्धावार, शिविर, गिरिसंकट, आर्य, महादेवी, भद्र, आर्यपुत्र, वत्स, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य, महाप्रतिहार, महादण्डनायक, परमभट्टारक, महासन्धिविग्रहिक, युवराजभट्टारक, अश्वमेघपराक्रम, महेंद्रादित्य व ऐसे ही सैकडों विशिष्ट शब्दों का प्रयोग समस्त नाट्य-सृष्टि में इतिहासोपयोगी सजीव वातावरण की सृष्टि में बहुत सहायक होता है।

पर, देश-काल-सबधी बात यहीं समाप्त नहीं होती। यों तो किसी युग का तटस्थ चित्रमात्र ही मनोरजन व रस-सचार की दृष्टि से पर्याप्त शक्तिशाली सिद्ध

होता है पर ध्वनि अथवा अनुरणन उत्पन्न करने में समर्थ कुशल कलाकार अपने अंकित चित्र को प्रस्तुत देश-काल की परिस्थितियो-समस्याओ और उनके चित्रण-समाधान के दोहरे उद्देश्य की सिद्धि से साभिप्राय बना देते हैं। वस्तुत इस विशिष्ट प्रयत्न में ही लेखक की जातीय जीवन अथवा विश्व-जीवन-सम्बन्धी व्याख्या निहित रहती है। पराधीन भारत की शारीरिक, मानसिक व आत्मिक स्थिति का गूढ चित्रण व पादाक्रात, लु ठित व धूलिसात् भारतीय जीवन की विषम समस्याओ का सर्वांगपूर्ण समाधान किस मनोयोग के साथ प्रसाद जी ने किया है, यह कृतियो का अनुशीलन करके जाना जा सकता है।

पात्र-सृष्टि

'प्रसाद' के नाटकों का सर्वाधिक आकर्षक उपकरण उनकी बहुरगी व गम्भीर पात्र सृष्टि है। नाटक के तत्वो में पात्र-सृष्टि एक अत्यन्त व्यापक तत्व है जिसमें सवाद, शैली व उद्देश्य तत्त्व भी सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं। कथानक का अपना सौन्दर्य जो भी हो पात्र-सृष्टि ही वास्तव में इसे प्राणवान बनाती है। 'प्रसाद' के नाटको में कथानक का वैशिष्ट्य न हो कर पात्र-सृष्टि का ही अधिक महत्त्व है। वस्तुत 'प्रसाद' को अपने नाटकों के माध्यम से जो कुछ कहना है उसके लिए कथानक कदाचित् निमित्त मात्र ही है, कथानक के सौन्दर्य का महत्त्व चरित्र-सृष्टि की सफलता की सिद्धि में सहायक होने भर में है। रसात्मक कथानक तो भारतीय नाटको की अपनी विशेषता है। 'प्रसाद' उसके साथ पाश्चात्य ढग का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण मिलाकर नाटक के स्वरूप को पूर्ण व समृद्ध करना चाहते हैं। इस सामजस्य में ही उनकी मौलिकता है। अस्तु, ज्यो-ज्यो 'प्रसाद' की नाट्य-कला का विकास होता गया त्यों-त्यों उसमें सधे व सुडौल हाथो के रेखाकन की स्थिरता व सुगढता आती गई। पात्र-सृष्टि और चरित्र-चित्रण-कौशल में ही लेखक की प्रतिभा की खरी परीक्षा होती है। जीवन के अन्तरग का व्यापक अनुभव, लोक-व्यवहार का ज्ञान, वस्तु-व्यापार-स्थिति, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति, जगत व जीवन के प्रति विकसित हुई अपनी मौलिक दृष्टि, मानव-जीवन की व्याख्या और मनोविज्ञान की गहराई, रचना-तत्र (Technique) के अभ्यास से प्राप्त सिद्धहस्तता और लेखक के व्यक्तित्व के निर्माण करने वाले तत्वो—अध्ययन, पांडित्य, भावुकता, कल्पना आदि—का उत्कर्ष आदि समस्त गुणो व शक्तियों का समवेत परिचय हमें उसकी चरित्र-सृष्टि के द्वारा ही प्राप्त होता है। वस्तुत इन गुणो व शक्तियो के उत्कर्ष के अनुपात में ही उस सृष्टि की सफलता एव प्रभावशालिता दिखाई पडती है। प्रसाद की पात्र-सृष्टि भी इस सत्य का अपवाद नहीं।

पात्र-सृष्टि में प्रसाद की अन्तर्बाह्य दृष्टि का बोध उनके बहुविध क्षेत्रो से चुने

हुए पात्रो की विविधता से होता है। इस विविधता को हम लिंग, जाति, वर्ग, पद-व्यवसाय, विचारधारा, वृत्ति, प्रकृति आदि में विभाजित कर सकते हैं। समस्त स्त्री-पुरुष पात्र निम्नलिखित आधारो पर वर्गीकृत किये जा सकते हैं :—

(१) जाति-वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—जन्म के आधार पर निर्धारित वर्गों से पात्रो का चयन किया गया है। ब्राह्मण-वर्ग मे केवल यज्ञोपवीत-धारी द्विज ही न होकर उन सब वर्गों के पात्र सम्मिलित हैं जो सार्वभौम ब्राह्मणत्व नामक आचारचिंता-विशिष्ट सात्विक गुण के अभ्यासी अथवा धारणकर्त्ता हैं। सारिपुत्र और मिहिरदेव जैसे आचार्य; गौतम, दाण्ड्यायन, वशिष्ठ, दिवाकरमित्र, विश्वामित्र, च्यवन, शौनक, प्रेमानन्द एव जगत्कारू जैसे महात्मा, ऋषि, मुनि, सन्यासी और तपस्वी, तुरकावपेय, सोमश्रवा और काश्यप जैसे पुरोहित, प्रपञ्चबुद्धि एवं सत्यशील जैसे बौद्ध कापालिक और बौद्ध महंत अपने समस्त गुणावगुणों के साथ इस वर्ग में समाविष्ट किये जा सकते हैं। क्षत्रियो में चन्द्रगुप्त मौर्य, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु आदि राजा-सम्राट, राज-माताएँ, राजकुमारियाँ, सेनापति, राज-परिजन आदि सम्मिलित हैं। विजया वेश्या-वर्ग की है। झाड़ूवाला (एक घूँट) शूद्र जाति का है। इसी प्रकार तक्षक, आर्य, यवन, शक, हूण आदि जातियो के पात्र भी गुण-कर्म आदि के आधार पर किसी न किसी वर्ग के अधिकारी हैं।

(२) पद-व्यवसाय · यह वर्ग प्रथम से अधिक सूक्ष्म है क्योकि पद-व्यवसाय, गुण-रुचि व प्रवृत्ति के अनुसार कोई भी व्यक्ति प्राप्त अथवा ग्रहण कर सकता है। इस वर्ग के पात्रो में पर्याप्त विविधता है। मालिन (सुरमा), विदूषक (मुद्गल, वसंतक, चदुला), दस्यु (शान्तिदेव, विकटघोष), झाड़ूवाला (एक घूँट में), प्रहरी, सैनिक, दूत (साइवर्टीयस, मेगास्थनीज़), दौवारिक, नर्तकी, कञ्चुकी, दासी, वेश्या (श्यामा), शिकारी (लुब्धक, भद्रक), वैद्य (जीवक), कवि (मातृगुप्त, रसाल), सेनापति (बन्धुल,पर्णदत्त, चण्डभार्गव) श्रमण स्थविर (प्रख्यातकीर्ति), यात्री (हुएनस्यांग), भिक्षु (धर्मसिद्धि, शीलभद्र) दण्डनायक, अमात्य, सहचर, दास, विद्यार्थी (उत्तंक, त्रिविक्रम), हिजडे, बौने, कुबडे आदि विविध पद-व्यवसाय के पात्र 'प्रसाद' की पात्र-सृष्टि को विस्तार व विविधता प्रदान करते हैं।

(३) विचार-धारा व वृत्ति-प्रकृति : इसी प्रकार इस तृतीय आधार पर भी पात्रो का वर्गीकरण हो सकता है। यह आधार प्रथम दो आधारो से भी अधिक सूक्ष्म है। चाणक्य और मुकुल (एक घूँट) तार्किक हैं। रसाल व मातृगुप्त कवि हैं। आनन्द प्रेम का प्रचारक है। प्रेमलता, ध्रुवस्वामिनी, देवसेना, वाजिरा, कोमा, राज्यश्री,

चन्द्रलेखा, मणिमाला, कल्याणी, कार्नेलिया आदि पात्रियाँ स्नेहमयी, अनुरागमयी, कल्पनाशील और अनुभूति-प्रवण नारियाँ है। इसी प्रकार गौतम, मातृगुप्त, चाणक्य, दाण्ड्यायन, स्कन्द, प्रेमानन्द आदि भी अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण पात्र-विभाजन का एक स्वतत्र आधार प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण-विभाजन से यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' ने सहस्रमुखी जीवन के सभी स्तरो और अंचलों—अभिजात-दीन, जटिल-सरल, महत्वाकाक्षी-सतोषी, भौतिक-आध्यात्मिक, यथार्थवादी, तर्क-प्रधान, अनुभूति-प्रधान, अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी, निवृत्तिमूलक-प्रवृत्तिमूलक, पुरुषार्थी-नियतिसमर्पित, श्रमिक-विलासी, ग्रामीण-नागरिक, कृत्रिम-स्वाभाविक—का अनुशीलन किया है। फिर भी यह मानना होगा कि उनकी दृष्टि समाज के अभिजात, दार्शनिक व राजकीय वर्ग की ओर जितनी थी उतनी समाज के निम्न वर्ग की ओर नही। उनके पात्रो में अतिशय निम्न वर्ग के पात्र हैं किन्तु प्राय वे सब एक विशाल यन्त्र के पुर्जे ही बनकर चल रहे हैं। उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही। हाँ, भरत-वाक्या या मगल-घोषो में प्राणिमात्र (जिसमें शोषित, दीन-हीन मानव-वर्ग सम्मिलित है) की सुख-शान्ति आनन्द-कल्याण की भावना सर्वत्र व्यक्त की गई है। किन्तु युग-प्रवृत्ति के अनुसार अथवा शुद्ध मानवीयता के नाते उनके किसी स्वतन्त्र नाटकीय विश्लेषण-विवेचन का एकाग्र प्रयत्न प्राय कहीं नही दिखलाई पडता। 'एक घूंट' में भी उच्च, भद्र व बौद्धिक-हार्दिक जीवन का ही व्याख्यान अधिक है जब कि वहाँ समाज के दीन प्राणियो के जीवन चित्रण की पर्याप्त गुंजाइश निकल सकती थी। वास्तव में 'प्रसाद' के लिये यह स्वाभाविक ही था क्योंकि प्रत्येक कलाकार अपने ही सस्कार, वातावरण व रुचि आदि से ही सहज-स्वाभाविक रूप में नियन्त्रित रहता है। अत इसे हम कोई त्रुटि भी नही कह सकते। जो कुछ भी हमारे सामने है हमें तो उसी का विश्लेषण-विवेचन करना है।

ऊपर पात्रों का वर्गीकरण-विभाजन जिन आधारो पर किया गया है वे आधार अपने आप में वस्तुत बडे स्थूल व बाह्य हैं। चरित्रों के विभाजन का एक मात्र सूक्ष्म व पक्का आधार सार्वदेशिक व सार्वकालिक मानवी प्रवृत्तियाँ अथवा मानसिक वृत्तियाँ ही हो सकती हैं और इस आधार को ग्रहण करने पर 'प्रसाद' की चरित्र-सृष्टि का विश्लेषण करना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। गीता में सात्विक, राजसिक, तामसिक इन तीन वृत्तियों अथवा प्रकृति-गुणों के ढाचे में सूक्ष्म-स्थूल आदि सब का सम्यक् विवेचन पूर्ण सम्भव हो सका है। अत हम भी सात्विक, राजसिक व तामसिक—इन वर्गों में ही पात्रो का विभाजन करके अपना काम चलायेंगे। कहने

की आवश्यकता नहीं कि ससार में न तो कोई व्यक्ति पूरा सात्विक ही होता है, न पूरा राजसिक ही और न पूरा तामसिक ही। हाँ, कुछ अत्यन्त विरल अपवाद भले ही हो सकते हो। सामान्यतः मानव-प्राणियों में आत्यंतिक प्रवृत्ति नही देखी जाती। वे तीनो ही गुणो में डूबते-उतराते रहते है।

'प्रसाद' की पात्र-समष्टि में सात्विक वृत्ति के पात्रों की संख्या काफी बड़ी है। गौतम, सारिपुत्र, मोग्गलायन, मिहिरदेव, प्रेमानन्द, च्यवन, शौनक, चाणक्य, बिम्बसार, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, बन्धुवर्मा, मणिमाला, मल्लिका, कल्याणी, अलका, देवसेना, चन्द्रलेखा, कार्नेलिया आदि पात्र अपनी सात्विक ज्योति से समस्त नाट्य-सृष्टि को आलोकित किये हुए हैं। गहराई से विचार करने पर ये पात्र चार श्रेणियो में विभक्त किये जा सकते है—(१) जो जन्मान्तरीण सस्कारो के कारण प्रकृति से ही शुद्ध सात्विक है ...यथा, गौतम, मणिमाला, देवसेना, ध्रुवस्वामिनी आदि, (२) जो परिस्थितिवशव घटना-प्रवाह में पड़कर जीवन-सग्राम में चोट खाकर, अपने व्रणो को सहलाते हुए एक कोमल-स्निग्ध व सहानुभूतिपूर्ण हृदय व दार्शनिक मस्तिष्क के सम्बल से जीवन का पथ पार कर रहे है यथा, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि (३) जो राग-भोगो से तृप्त होकर स्वभावत परिपक्व फल की तरह जीवन-तरु से मुक्त हो चुके हैं अथवा होने के लिये विवेक- वैराग्य आदि का अभ्यास कर रहे हैं, जैसे राजा बिम्बसार, प्रसेनजित्, राजमाताएँ आदि और (४) जो बीज-रूप से सात्विक प्रकृति के तो हैं किन्तु अवसरो की हवाओ में उड़कर विषय-गामी, महत्वाकाक्षी बने सत्ता-प्राप्ति के लिये षड्यत्रो का सृजन कर रहे हैं। ऐसे पात्रो मे अपने चरित्र में सुधार कर सकने की भी क्षमता है—उदाहरणार्थ, अजात-शत्रु, भटार्क, विरुद्धक, छलना, विकटघोष आदि। इन पात्रो में से अधिकाश का मनो-विधान प्राय दार्शनिक-धार्मिक टाइप का है। इनमें से प्रथम श्रेणी के पात्र तो प्राय निष्कलुष हैं। सब मिलाकर देखने पर ये पात्र न्यूनाधिक मात्रा में सदाचारी, कल्याणकारी, व्रती, संयमी, त्याग-तपोनिष्ठ, सेवापरायण, लोकोपकारी, प्रशान्त, सगर्ग-मुक्त, आत्मतत्त्व-चिन्तनमग्न, संसारत्यागी, विरागी, निरीह व विश्वप्रेम के सन्देशवाहक हैं। ये व्यक्ति व देश को अन्तर्बाह्य सघर्ष-विद्रोह से मुक्त कराकर जगत का पाप-ताप शांत करने वाले हैं। तटस्थ या उदासीन पात्र भी लोक-जीवन को प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में बहुत गम्भीरता से प्रभावित किये रहते हैं। नाटक के घटना-चक्र के सुधार-परिणाम मे इनका बहुत लम्बा हाथ रहता है। और इन्ही के प्रभावों से नाटक लेखक की जीवन-दृष्टि-सम्पन्न समाप्ति की ओर बहुत शात मधुर गति से बढ़ चलता है। 'प्रसाद' के नाटको में आद्यन्त व्याप्त सास्कृतिक स्वर के मूल वाहक ये ही विशिष्ट पात्र हैं। विश्व-प्रेम, करुणा, क्षमा, उदारता, सन्तोष, सेवा, त्याग आदि गम्भीर जीवन

मूल्यो की प्रतिष्ठा इन्ही पात्रो के क्रिया-कलापो, विचारो व उपदेशो से सभव हो सकी है। राजसिक व तामसिक जीवन अचलो की समस्त दु खदावा को शात कर उनमें शाति, क्षमता व करुणा की हरियाली और तरावट का प्रसार इन्ही का प्रसाद है। नाटको में वर्णित रसो के अगीभूत शात रस की स्थिति के भी आधार ये ही हैं। कल्पना व दार्शनिकता के उपकरणो से सयुक्त हुए इनके उद्‌गार 'प्रसाद'-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। 'प्रसाद' अपने नाटको में मुख्यत इन्ही पात्रो के माध्यम से बोले हैं।

दूसरा वर्ग राजसिक पात्रो का है। राजसिक पात्रो की भी, सात्विक पात्रो की ही तरह, अनेक कोटियाँ अथवा श्रेणियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। परमोच्च राजसिक पात्रो की स्थायी प्रवृत्ति शुद्ध सात्विक की ओर ही है। किन्तु नियत कर्त्तव्य की प्रेरणा और व्यक्तिगत व सामाजिक उत्तरदायित्वो के निर्वाह के लिए उन्हे कर्म-क्षेत्र में उतर कर, दण्डग्रहण, शस्त्र-सचालन, कुचक्र-निवारण आदि कार्य करने पडते हैं। ऐसे कार्यों में आत्मा विकारो के कर्दम से असम्पृक्त नही रह सकती। इस श्रेणी में स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि पात्र रखे जा सकते हैं। दूसरी श्रेणी में वे ही पात्र रखे जा सकते हैं जिनकी प्रकृति कर्म-मात्र में है, जो कर्म से उत्पन्न पाप-पुण्य आदि सब सहर्ष भोगने को तैयार हैं। सिकन्दर आदि वीरपात्रो का उस श्रेणी मे रखा जाना सम्भवत उपयुक्त होगा। तीसरी श्रेणी के पात्र वे हैं जो अपनी कोई निजी प्रेरणा या आत्म-ज्योति के अभाव में कर्म-चक्र में यत्रवत् घूमते रहते हैं। निम्न बौद्धिक वर्ग के राज-कर्मचारी, सेवक, भृत्य, नर्तकी, दौवारिक आदि पात्र राजसिक पात्रो की इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

वास्तव में बहुत बडी सख्या ऐसे पात्रो की भी है जिन्हे हम सात्विक, राजसिक अथवा तामसिक जैसी स्पष्ट कोटि में नही रख सकते। वे समशीतोष्ण रक्त वाले पात्र ऐसे साधारण-प्रवाह जीव हैं जो लहरो से लडे बिना धारा में बहते चलते हैं अथवा एक विशाल राजयत्र के पुर्जे बने चुपचाप अपनी जगह घूमते रहते है। उनमें सत्व, रज और तम तीनो का ही मिश्रण मिल सकता है। वे केवल कडियो को जोडने का कार्य करते रहते हैं। उनकी सीढी बना कर महत्वाकाक्षी लोग आगे बढते रहते हैं।

राजसिकता शुभ्र सात्विकता व तामसिकता की मध्यवर्तिनी स्थिति है, अत राजसिक वर्ग की स्थिति बहुत चचल व तरल है। नीति-न्याय की स्थापना के लिये राजसिक वर्ग के राजकीय पात्रो को कभी राज्य-सत्ता की रक्षा के हेतु राजनीतिक वात्या-चक्रो में फँसना पडता है, कभी रक्त की लाली से असि-धारा का शृगार करना

पड़ता है और कभी तामसिक शक्तियों के अन्ध घटाटोप को चीरने का विराट् उपक्रम करना पड़ता है। न्याय की विजय व धर्म की प्रतिष्ठा के साथ ही वे सत्य का पूरा-पूरा आनन्द लूट सकते हैं। इस प्रकार विकट कर्म व तुमुल कोलाहल के बीच अधिकांश राजसिक पात्रों के जीवन-व्यापार चलते हैं। सत्तारूढ सम्राट, अधिकार-पद-पद के आकांक्षी राजकुमार-राजकुमारियाँ व अपनी जीवन-स्थिति से चिंतित राजकुल से सम्बन्धित व्यक्ति आदि इस मैदान के खिलाड़ी हैं। राजसिक (कई जगह सात्विक भी) पात्रों की स्थिति कहीं भी निरापद नहीं। उन्हें सम्बद्ध तामसिक शक्तियों से टकराकर अपनी धातुओं की कड़ी परीक्षा देनी पड़ती है। इन 'मध्यम वर्ग' के पात्रों की स्थिति-रक्षा असत् शक्तियों की जय अथवा पराजय पर आश्रित है। व्यक्तियों, विचार-धाराओं, परिस्थितियों की पारस्परिक टक्करों के कटाव इसी राजसिक अथवा मध्यम वर्ग' के पात्रों को सहने पड़ते है। सघर्ष सर्वत्र दो पक्षों के बीच रहता है—

(१) सात्विक-राजसिक पात्रों के साथ तामसिक पात्रों का संघर्ष

(२) एक संस्कृति, जाति, राज्य अथवा धर्म का दूसरी संस्कृति, जाति, राज्य तथा धर्म के साथ संघर्ष · यथा, यवन व आर्य सस्कृति का (चन्द्रगुप्त मौर्य में), नाग जाति व आर्य जाति का (जनमेजय के नागयज्ञ मे); शक तथा हूण व आर्य जाति का (ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त), भारत के परस्पर विभिन्न राज्यों का (चन्द्रगुप्त), बौद्ध-ब्राह्मण धर्मों का (स्कन्दगुप्त, विशाख); ।

(३) अन्त सघर्ष : देश-प्रेम व कर्त्तव्य-प्रेम के साथ प्रणय का—देवसेना, कल्याणी, कार्नेलिया, ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त ।

(४) गृह-कलह (अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में ।)

इस प्रकार सारी नाट्य-सृष्टि में व्याप्त इन अन्तर्बाह्य सघर्षों में अधिकांश पात्र-पात्रियाँ आँधी में उड़ती, नीम की सूखी पत्तियों की तरह दिखाई पड़ती हैं। राजसिक-तामसिक प्रवृत्तियों के अनुसार मोटे ढग से दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। एक ओर तो सात्विक-राजसिक प्रवृत्ति के प्रतीक चन्द्रगुप्त मौर्य, चाणक्य, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, सिकन्दर, हर्षवर्धन, प्रख्यातकीर्ति, सिंहरण, ध्रुवस्वामिनी, देवसेना, जयमाला, वासवी, अलका, कल्याणी, मणिमाला, राज्यश्री, मल्लिका, कार्नेलिया, मालविका आदि हैं और दूसरी ओर तामसिक शक्तियों के नंद, रामगुप्त, आंभीक, प्रपचबुद्धि, देवदत्त, भटार्क, पुरगुप्त, मागंधी, सुरमा, अनन्तदेवी, विजया, छलना आदि पात्र-पात्रियाँ हैं ।

सात्विक, राजसिक और तामसिक शक्तियों की इस टक्कर में ही पात्रों के चरित्रों का प्रस्फुटन और विकास होता है। कभी प्रकाश की जीत होती है तो कभी

अधकार की। इस प्रकार प्रकाश और अधकार का द्वन्द्व नाटको के अत तक चला चलता है। और अत में धर्म, न्याय और सत्य रूप प्रकाश की सर्वत्र विजय होती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सघर्ष को इस घाट लगाने का सारा श्रेय सात्विक वर्ग के पात्रो का है जो अपनी सदाशयता, कल्याण-कामना, व धर्मबुद्धि से घटना-चक्र को ठीक दिशा में घुमा-फिरा कर ले जाते हैं। आदर्शवादी 'प्रसाद' को यह गवारा नही कि वे मच पर कभी भी असत् पक्ष की विजय दिखावें। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में जीवन के घने व निर्मम यथार्थ के आगे एक बार घुटने टेक दिये हैं। स्वय 'प्रसाद' ने 'ककाल' में समाज व जीवन की घोर वास्तविकता दिखा दी पर मच पर वे कभी भी पुरुगुप्त अथवा रामगुप्त की विजय दिखाने का साहस न कर सके। 'प्रसाद' का यह आदर्श-प्रेम विचारणीय है।

तामसिक चरित्रो के परिवर्तन पर कुछ ध्यान देने की आवश्यकता है। दुष्ट तामसिक प्रवृत्ति के पात्र नाटक को गति और व्यापार प्रदान करने वाले हैं। इनके द्वारा फैलाये गये अधकार के विरोध (Contrast) में ही प्रकाश की अनुभूति अधिक स्पष्ट, गहरी और मधुर होती है। नाटको में दुष्ट पात्र प्राय ये हैं—अन्याय-पूर्वक दूसरो की सम्पत्ति-अधिकार को हडपने वाले, मद्यप, क्रूर, क्लीव, विलासी सम्राट आदि जो बलात्कार व स्वेच्छाचार आदि अनैतिक आचरणो से नही डरते, नारी के मान और लज्जा का दिन-दहाडे अपहरण करने वाले, न्यायोचित अधिकार के विरुद्ध कुचक्र और षडयन्त्रो की रचना करके राजनीति और धर्मनीति को पकिल करने वाले, उद्दाम विजय-लालसा की तामसिक तृप्ति के लिये घर-बार, खेती-बाडी जलाने-लुटाने वाले बर्बर आक्रमणकारी, दस्युवृत्ति से जीवन-निर्वाह करने वाले परपीडक डाकू-लुटेरे आदि; धर्म के नाम पर अलौकिक सिद्धियो का चमत्कार दिखा कर अपनी धार्मिक सत्ता का भोली-भाली जनता पर आतक जमाने वाले, दभी, धर्मान्ध, विमूढ व क्रूर श्रमण-भिक्षु, पण्डे-पुरोहित, तान्त्रिक आदि; व्यक्तिगत विद्वेष व प्रतिहिंसा की भावना से धधकती हुई अतृप्त, प्रणयवचित, कामाध, रूपगर्वितायें, अधिकार-प्राप्ति और सत्ताभोग की आकाक्षिणी सुन्दरी विपथगामिनियाँ आदि।

नाटको का अधिकाश कलेवर इन्ही सघर्षो व असत् पात्रो की गतिविधियो से भरा हुआ है।

'प्रसाद' ने नियमबद्ध रूप से प्राय सर्वत्र असत् पर सत् की विजय दिखाई है। दुष्ट पात्रो को या तो समाप्त कर दिया है या उनमें वाछित परिवर्तन उपस्थित किया गया है। रामगुप्त का वध कर दिया जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में शकराज

चन्द्रगुप्त के हाथों मौत के घाट उतार दिया जाता है। शकटार के हाथों नंद की जीवन-लीला समाप्त होती है। 'विशाख' में महापिंगल का वध हो जाता है। विजया अपराध प्रमाणित हो जाने पर आत्म-ग्लानि से आत्महत्या कर लेती है। 'प्रायश्चित्त' के अंत में जयचन्द गंगा में डूब मरता है। 'राज्य-श्री' में दुष्ट देवगुप्त प्रसन्नतापूर्वक राज्यवर्द्धन के हाथों मृत्यु स्वीकार करता है। अनेकों स्थानों पर मृत्यु या वध केवल सूचित मात्र कर दिया गया है—यथा, राज्यश्री में राज्यवर्द्धन की हत्या व प्रभाकरवर्द्धन का निधन। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में जनमेजय के द्वारा हुई ब्रह्म हत्या सूचित मात्र कर दी गई है। प्राय. सभी नाटकों में शांति, प्रेम और करुणा की विजय होती है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' पाप-ताप की शांति के पश्चात् विश्व-प्रेम के गंभीर स्वर के साथ समाप्त होता है। राज्यश्री का अन्त भी पाप की पराजय, धर्म की विजय व लोक-सेवा व कल्याण-कामना के साथ होता है। विकट-घोष व सुरमा महाश्रवण सुएनच्वाग से क्षमा माँगते हैं और उन्हें क्षमादान मिलता है। 'सज्जन' नाटक धर्मराज युधिष्ठिर की उदारता के बखान व धर्म की जय के साथ समाप्त होता है। कामना में संतोष, विवेक व सत्य की विजय, एवं कामना की पराजय होती है। 'करुणालय' की समाप्ति अहिंसा की विजय से होती है। अजातशत्रु तो क्षमा, करुणा व पश्चात्ताप की भावना से फूट-फूट कर भरा हुआ है। प्रसेनजित् सेनापति बंधुल की हत्या करके मल्लिका के आगे प्रायश्चित्त करता है। अजातशत्रु माता वासवी से क्षमा माँगता है। श्यामा मल्लिका के आगे आत्म-ग्लानि से भर कर अपने को धिक्कारती है। पितृ-द्रोही विरुद्धक पिता प्रसेनजित् से क्षमा माँगता है। छलना अपने पति बिम्बसार के चरण पकड़ कर अपना परितोष करती है और अपनी बड़ी सौत वासवी से स्वाभाविक स्नेह पाती है। 'विशाख' में नरदेव विशाख के द्वारा क्षमा कर दिया जाता है। 'चन्द्रगुप्त' में आततायी पर्वतेश्वर अपनी ही प्रेमिका कल्याणी के छुरे से मृत्यु के घाट उतारा जाता है। किन्तु 'चन्द्रगुप्त' में कल्याणी की आत्म-हत्या तथा मालविका का प्रेम-पथ पर नीरव आत्मोत्सर्ग और 'विशाख' में महारानी का सहसा गंगा में डूब मरना आदि कार्य-व्यापारों से दर्शक के मन पर एक बहुत कोमल और गहरा धक्का लगता है।

प्रकृति पर विचार किये बिना 'प्रसाद' की पात्र-सृष्टि का अध्ययन 'लवण बिना व्यंजन' है। मानव और प्रकृति एक ही विश्व-चेतना के दो अंश हैं अत. स्वभावत. दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। 'प्रसाद' का प्रकृति के साथ निःशेष तादात्म्य हो गया है अत. प्रकृति उनकी चरित्र-सृष्टि का प्राणतत्त्व है। मनोविज्ञान में आनन्दवादी और जीवन-दृष्टि में रोमांटिक कवि 'प्रसाद' ने प्रकृति को सुद मानसिक और आध्यात्मिक धरातलों पर पहुँचा दिया है। वाल्मीकि, कालिदास

और भवभूति में प्रकृति में जो आध्यात्मिकता दिखाई पडती है प्राय उसी कोटि की आध्यात्मिकता 'प्रसाद' में भी दिखाई पडती है। आश्रमो, अरण्यो और लता-कु जो का मानव-हृदय पर जो स्निग्ध-गभीर प्रभाव प्राचीन साहित्य में अकित किया गया है ठीक वसे ही प्रभाव की प्रतीति 'प्रसाद' के नाटको में होती है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' मे महर्षि च्यवन का आश्रम व भगवान् वादरायण का आश्रम, 'एक घूँट' में अरुणाचल आश्रम, 'चन्द्रगुप्त' में दाड्यायन का आश्रम वैसे ही प्रभाव की सिद्धि कराने में सहायक होते हैं। सास्कृतिक महानता के जो तत्त्वभूत गुण हैं वे आश्रम-कु जो और प्रकृति के ही सान्निध्य में उत्पन्न हो सकते हैं। अत मानवता, कल्याण व करुणा की विजय के ध्येय से रचना करने वाले 'प्रसाद' ने प्रकृति को अपने समस्त साहित्य में सर्वाधिक महत्त्व दिया है। विपथगामी व आततायी पात्रो में परिवर्तन प्राय सर्वत्र प्रकृति के ही प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभावो द्वारा कराया गया है। सात्त्विक पात्रो का हृदय तो प्रकृति के साथ दूध-पानी व आकाश-नीलिमा हो गया है। प्रकृति ज्वलनशील किन्तु शातिकामी हृदयो को सर्वत्र शीतलता, शाति व सुख-सतोष प्रदान करने वाली सत्ता के रूप में दिखाई गई है। हतचेतन अस्तित्त्व अपने जीवन की वद पडी घडी को जब चाहे तब प्रकृति की चिर-चेतन घडी से मिला कर ठीक कर सकता है। इस प्रकार प्रकृति 'प्रसाद' के नाटको का एक बहुमूल्य तत्त्व है।

इस धारणा के पोषण में 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य में प्राप्त अनेक भावनाएँ साराश रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। 'प्रकृति से घुल-मिलकर रहने वाली जाति में 'महत्त्व और आकाक्षा का अभाव और सघर्ष का लेश भी नही है' (कामना १।३)। 'अन्न के पके खेतो में पवन के सर्राटे से उठने वाली लहरो का आनन्द लेने के लिए दरिद्रता कैसी' (कामना २।७)। 'नैसर्गिक जीवन की ओर लौटने और कृत्रिमता का पीछे छोडने में ही सुख है।' (कामना ३।१)। 'प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने वालो को ही प्रभु समस्त आलोक, चैतन्य और प्राण-शक्ति देते हैं' (चन्द्रगुप्त १।११)। 'चन्द्र, सूर्य व नक्षत्र का दीपक जलाकर आकाश के वितान के नीचे शस्य-श्यामला पृथ्वी की शय्या पर शयन करने वाला ही आनन्द-समुद्र में शाति द्वीप का अधिकारी हो सकता है' (चन्द्रगुप्त ३।५)। 'गौरवमय अरुणोदय का दर्शन करने वाला जगत की मगल-कामना करके निष्काम हो सकता है और समस्त भ्रातियो से मुक्त होकर जीवन के अमृत तत्त्व को समझ सकता है' (चन्द्रगुप्त ४।१३)। 'कानन के वातावरण में ही आर्द्र हृदय में करुण कल्पना का आविर्भाव, सात्त्विक रोमाच और कामनाओ की प्रफुल्लता का अनुभव हो सकता है' (अजातशत्रु ३।१)। 'अपने नीडो की ओर प्रसन्न कोलाहल से लौटता हुआ व्योम-विहारी पक्षियो का झुण्ड स्वस्थ व शांतिपूर्ण विश्राम की प्रेरणा

देता है' (ध्रुवस्वामिनी)। इस प्रकार की भावनाएँ हैं जो 'प्रसाद' की नाट्य-सृष्टि में पात्रों से जीवनानुभाव के रूप में से छन कर निकली हैं।

प्रकृति मानव को प्रत्येक क्षण अपने बहुमूल्य और रहस्यपूर्ण प्रभाव व संदेश लुटा रही है, जिनके कान खुले हों, सुन ले। कल्पना-प्रधान रूपक 'कामना' में एक वृद्ध सहसा एक आशंका से घबरा कर पूछ उठता है कि क्या अब पक्षियों के स्वर्गिक संदेश बन्द हो जायँगे ?(कामना १।५)। मणिमाला सिंधु-तट के परम शान्त प्राकृतिक वातावरण में अनुभव करती है कि मानव-जीवन को जो कुछ भी प्राप्त हो सकता है, वह सब आज मुझे मिल गया (जनमेजय का नागयज्ञ ३।१)। सिंधु-तट पर नागवर को अनुभव होता है—'मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना; यही तो ब्राह्मण का आदर्श है (चन्द्रगुप्त ४।६)। सोमश्रवा आस्तिक से कहता है—'क्यों भाई आस्तिक, रमणीयता के साथ ऐसी शान्ति कहीं और भी तुम्हारे देखने में आई है ?' और मणिमाला शीला को सम्बोधन करके कहती है—'सिंधु की सुन्दर तरंग-भंगी हिमालय के शीत-सुरभि पवन के साथ निसर्ग मनोहर क्रीडा कर रही है। बहन शीला, यहाँ के तरुवर कैसी निराली काट-छाँट के हैं (जनमेजय का नागयज्ञ ३।१)।' ऐसी बहुमूल्य अनुभूतियाँ व संदेश प्रकृति की आत्मा में गहरी डुबकी लगाए बिना मिल सकते हैं क्या ?

प्रकृति मानव-हृदय में सहानुभूति, ममता, करुणा, क्षमा, सहिष्णुता, उदारता, सेवा, संतोष आदि उच्च मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा करती है और उसमें अनमोल अनुभूतियों का संचार करती है। जनमेजय अपने गुरु भाई से पूछते हैं—'अब तो वृद्ध हो गए होंगे! महावट का वृक्ष वैसा ही हरा-भरा है ? (जनमेजय का नागयज्ञ २।३)। भूतमात्र-व्यापी यह भाव कितना मर्मस्पर्शी है! (कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल में शकुन्तला की भी इसी प्रकार की एक जिज्ञासा सहसा स्मरण हो आ रही है)। माणवक आस्तीक से कहता है—'देखो, इस तपोवन में सस्य-श्यामला धरा और सुनील नभ का, जो एक दूसरे से इतने दूर हैं, कैसा सम्मिलन है (जनमेजय का नागयज्ञ, ३।६)। आस्तीक को भगवान् बादरायण के आश्रम की लता-वल्लरियों में, पशु-पक्षियों में, तापस बालकों में परस्पर स्नेह का, तृण-तृण की शान्ति से आदान-प्रदान की पुचकार का, स्नेह का, दुलार, स्वार्थत्याग का प्यार सर्वत्र बिखरा हुआ अनुभव हो रहा है (जनमेजय का नागयज्ञ, ३।६)। महत्त्वाकांक्षाओं से घिरे-घिरे अजातशत्रु से मल्लिका कहती है—'शीतल हो, विश्राम लो। देखो, यह अशोक की शीतल छाया तुम्हारे हृदय को कोमल बना देगी, बैठ जाओ' (अजातशत्रु, ३।७)। आचार्य सिंहरण कोमा से कहते हैं—'चल कोमा, हम लोगों को लताओं, वृक्षों,

चट्टानो से छाया और सहानुभूति मिलेगी । इस दुर्ग से चल ।... हम लोग अखरोट की छाया में बैठेंगे—झरनो के किनारे, दाख के कुञ्जो में विश्राम करेंगे' (ध्रुवस्वामिनी, २) । प्रकृति उदार और दानी है । अत प्रकृति की गोद में पलने वाले के लिए ये अनुभूतियाँ सहज-सुलभ हैं । उत्तक कहता है—'फूल प्रकृति की उदारता का दान है । पवन उससे सौरभ लेता है, उसे कोई रोक नही सकता' (जनमेजय का नागयज्ञ, १।२) । प्रकृति का एक लघु दृश्य मात्र गम्भीर व रहस्यपूर्ण अनुभूति का प्रसाद देता है । कार्नेलिया कहती है—'उस सध्या के दृश्य ने मेरी तन्मयता में एक स्मृति की सूचना दी है । सरला सध्या, पक्षियो के नाद से शाति को बुलाने लगी है' (चन्द्रगुप्त, ४।६) । प्रकृति माँ की तरह मानव-सृष्टि की रक्षा में लीन रहती है । कार्नेलिया कहती है—'देखते-देखते, एक-एक करके दो-चार नक्षत्र उदय होने लगे । जैसे प्रकृति, अपनी सृष्टि की रक्षा, हीरो की कील से जडी हुई काली ढाल लेकर कर रही है और पवन किसी मधुर कथा का भार लेकर मचलता हुआ जा रहा है (चन्द्रगुप्त, ४।६) । मणिमाला झरने की शोभा पर इतनी लट्टू है कि वह आस्तीक से कहती है—'हाँ भाई, मैंने इस झरने का बहना अभी जी भर कर नही देखा । तुम चलो, मैं अभी थोडा ठहर कर आती हूँ' (जनमेजय का नागयज्ञ, २।१) । अलका अपने देश की प्रकृति की आत्मा को थाह कर कहती है—'मेरा देश है, मेरे पहाड हैं, मेरी नदियाँ हैं और मेरे जगल हैं । इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक एक क्षुद्र अश उन्ही परमाणुओ के बने हैं, (चन्द्रगुप्त, १।१०) । इसी प्रकार कार्नेलिया सपनो के देश भारत की प्राकृतिक शोभा में, दूध में चीनी की तरह घुल कर जो उद्‌गार व्यक्त करती है वे बिजली के अक्षरो में आकाश पर लिखकर स्थिर रखे जाने योग्य हैं—"चन्द्रगुप्त मुझे इस देश से...भारत मानवता की जन्मभूमि है, (चन्द्रगुप्त, ३।२) ।

ऐसा आध्यात्मिक सदेश देने वाली प्रकृति को बिसरा कर मानव कितना दयनीय है ! कामना विलास से कहती है—'परन्तु विलास, देखो यह हरी-हरी घास रक्त से लाल-लाल रँगी जाकर भयानक हो उठी है' (कामना २।१) । कोमा कहती है—'सब जैसे रक्त के प्यासे ! प्राण लेने और देने में पागल ! वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है । कोई उस स्पर्श से परिचित नही । ऐसा तो वास्तविक जीवन नही है' (ध्रुवस्वामिनी, २) ।

पात्र-सृष्टि-सबधी शेष बातें दो उप-शीर्षको के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं—(१) अन्तर्पक्ष व (२) बहिर्पक्ष । अन्तर्पक्ष में मनोविज्ञान, भाव-रस, दार्शनिकता-काल्पनिकता-भावुकता तथा बहिर्पक्ष में भाषा, अलकार व सवाद आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं । पहले हम अन्तर्पक्ष को लें—

नाट्य-सृष्टि मे मनोविज्ञान पर दो प्रकार से विचार हो सकता है—(१) लेखक की भाव-विभूति और लेखक का मनोविज्ञान-संबन्धी सूक्ष्म और यथार्थ ज्ञान, और (२) नाटककार द्वारा रचित पात्रो के कार्य-व्यापारो का मनोविज्ञान-सम्मत होना तथा पात्रो के आन्तरिक भावो की स्थिति । इस प्रकार मनोविज्ञान की जड़े नाटक मे बहुत गहराई तक फैली रहती है । नाट्य-सृष्टि लेखक की ही सृष्टि है अत सृजन सारा प्रश्न लेखक के मन के अध्ययन तक सिमट आता है । मन के दो पक्ष होते हैं—भावना और बुद्धि अथवा हृदय और मस्तिष्क । सफल नाट्य-सृष्टि मे दोनो का मजुल सामजस्य होता है । सर्वत्र नाटककार की बौद्धिक और हार्दिक शक्तियो का ही प्रकाश होता है । कल्पना का अभिनिवेश, नाटक के विविध तत्त्वो अथवा अगो का, रस-निष्पत्ति के उद्देश्य से आनुपातिक विन्यास और कला-सबन्धी विविध कौशल—ये सब नाटककार के बौद्धिक विकास एव क्षमता के परिचायक हैं । पात्रो के भाव-प्रपच से ही लेखक के भाव-कोष की सम्पन्नता, विविधता एव विशालता का पता चलता है । इसी प्रकार पात्रो के क्रिया-कलापो एव उनमे व्यजित विचारो मे लेखक की विचारधारा निहित रहती है । नाट्य-सृष्टि में लेखक अपने विचारो को पात्रो के सवाद आदि के माध्यम से ही व्यक्त करता है । वह उपदेशक या मंच-वक्ता की तरह विचारो का सीधे-सीधे प्रचार न करके उनको साहित्य की विशिष्ट पद्धति मे ढाल कर रमणीय व रसात्मक बना देता है । इस प्रकार नाटको के समस्त स्नायु-जाल में मनोविज्ञान सक्रिय रहता है । 'प्रसाद' की नाट्य-सृष्टि भी इस सत्य का अपवाद नही ।

भारतीय आचार्यों ने काव्य की आत्मा 'रस' निर्धारित की है । रस का आधार है भाव । मानव-हृदय एक अतलान्त महासमुद्र के समान है जिसमे सैकडो जटिल भाव-तरगें विविध प्रकार की गति, आकार व स्वर लिए जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनो अवस्थाओ में निरन्तर क्रियाशील रहती हैं । जीवन के समस्त वाह्य क्रिया-कलापो की मूल प्रेरिका ये ही भाव-तरगें हैं अत मानव-आचरण के प्रभावशाली चित्रकार के लिये जटिल मानव-हृदय के क्रिया-कलापो एव वाह्य जगत मे इन भावो व स्थितियो के पारस्परिक घात-प्रतिघात का सूक्ष्म व सर्वा गपूर्ण ज्ञान अनिवार्य है । यह ज्ञान कोरे शास्त्रानुशीलन से नही अपितु प्रत्यक्ष जीवनानुभव से ही सग्रहीत होने पर अनुभव-सिद्ध अत प्रामाणिक होता है । कलाकार की आत्म-चेतना मे रस-रूप हुए ऐसे ही अनुभव-सिद्ध ज्ञान के बल पर अत्यन्त सजीव, यथार्थ व प्रभावशाली पात्र-सृष्टि सम्भव है ।

'प्रसाद' भावो के बहुत कुशल शिल्पी हैं । यो तो उनकी नाट्य-सृष्टि में प्राय सभी रसो का न्यूनाधिक उद्रेक दिखाई पड़ता है पर शृ गार, वीर व शान्त रसो ही

व्यजना अत्यन्त ही पुष्ट व विशद है। शृगार रस प्राय सभी नाटको में उपस्थित है और वह अग अथवा अगी रूप में आया है। शृगार रस के वर्णन के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि 'प्रसाद' ने सर्वत्र प्रेम को विलास से भिन्न जीवन की एक पवित्र अनुभूति, शक्ति व प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है। कालिदास की कृतियो की तरह 'प्रसाद' की कृतियो में भी काम अथवा विलास की सर्वत्र पराजय और पवित्र प्रेम की विजय हुई है। जहाँ उद्दाम विलास-वासना के सतरग-इत्रभीने तिक्त मादक चित्र हैं वे सब शुद्ध प्रेम की भावी विजय के लिये पृष्ठभूमि और विरोध (Contrast) के लिये ही रखे गये हैं। 'प्रसाद' में प्रेम इन्द्रियो के विरोध से नही किन्तु इन्द्रियो के मर्यादित व सयमित प्रयोग से ही निष्पन्न होता है। 'प्रसाद' में पवित्र प्रेम का अर्थ है उदात्त मानवीय प्रेम, जो देवत्व व राक्षसत्व के बीच प्रवाहित होते हुए मानवत्व की धारा का प्राण-प्रवाह बन कर बहता है। एकनिष्ठ, विश्वासपूर्ण व मर्यादित मानवीय प्रेम का चरमोत्कर्ष ही 'प्रसाद' का आदर्श अथवा पवित्र प्रेम है, बस आगे कुछ नही। अस्तु, कामना, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, अजातशत्रु आदि नाटको में वर्णित प्रेम इस कथन का प्रमाण है। अलका, ध्रुवस्वामिनी, कार्नेलिया, देवसेना, मालविका, कोमा, कल्याणी, चाणक्य, मातृगुप्त, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (हम चन्द्रगुप्त मौर्य को इस श्रेणी में नही रखना चाहेंगे) व राक्षस आदि पात्र 'प्रसाद' के सुप्रसिद्ध प्रणयी पात्र हैं। प्राय ये सभी पात्र जीवन में एकनिष्ठ प्रेम की शक्ति लेकर ही क्रियमाण हैं। प्रेम ही उनके जीवन का अन्तसूत्र, प्रेरणा और प्राण है। प्रेम-वृत्ति जीवन में जो भी सूक्ष्मतम पुरस्कार दे सकती है, इनमें से अधिकाश ने वह पाया है—चाहे रोकर, चाहे हँस कर। प्राय ये सभी पात्र प्रलय-वृष्टि के पश्चद्वर्ती भोर की किरणो में मुस्कराती सौम्य धरती अथवा आकाश से दिखाई पडते हैं।

प्रेम से सम्बन्धित ही सौन्दर्य का प्रश्न है। शारीरिक, प्राकृतिक और मानसिक काल्पनिक सौन्दर्य और प्रेम में घनिष्ठतम सम्बन्ध है। 'प्रसाद' ने सर्वत्र बाह्य सौन्दर्य अथवा रूप की पराजय दिखा कर (उदाहरणार्थ—कामना, लालसा, विलास मागन्धी, विजया आदि पात्रो में) आत्मिक सौंदर्य की ही विजय दिखाई है। प्रेम और सौंदर्य का यह स्वरूप और धरातल 'प्रसाद' की आदर्शवादी विचार-धारा से ही निर्मित है।

वीर-रस 'प्रसाद' का अत्यन्त प्रिय रस है। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनो वीर-रस-प्रधान रचनाएँ हैं। शृगार के छप्पन मसाले जुटाने में तो 'प्रसाद' प्रसिद्ध ही हैं पर वीर रस की निष्पत्ति का भी आयोजन वे जिस उत्साह से करते हैं वह भी

परम श्लाघ्य है। स्कन्दगुप्त, पर्णदत्त, बन्धुवर्मा, सिंहरण, सिकन्दर, चन्द्रगुप्त, अलका, देवसेना, कल्याणी, ध्रुवस्वामिनी, जयमाला आदि महाप्राण पात्रों के माध्यम से 'प्रसाद' ने क्षात्र तेज और ओज की जो विद्युद्धारा बहाई है वह रक्त में गर्म उफान ला देती है।

शान्तरस के पात्र बिम्बसार, गौतम, प्रेमानन्द, वासवी, मल्लिका, प्रख्यातकीर्ति वेदव्यास, आदि हैं जो जेठ की तपती धरती पर छिड़काव करते रहते हैं। हास्यरस की अभिव्यक्ति 'अजातशत्रु' में पर्याप्त सुन्दर हुई है। विदूषकों, बौनों, कुबड़ों, हिजड़ों, नट-मदारियों व वेश्या-सेवकों व ऐसे ही अन्य पात्रों के द्वारा जो हास्य की सृष्टि हुई है वह पर्याप्त मनोरंजक है। 'प्रसाद' का हास्य बहुत शिष्ट, नोंकदार व गंभीर है। वह कथा की मूल धारा से सम्बद्ध अतः साभिप्राय है। हाँ, विशाख के महापिंगल जैसे पात्रों का हास्य अवश्य कुछ मर्य्यादातीत-सा हो गया है। इसी प्रकार अन्य रसों की भी स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं।

भावों के घात-प्रतिघात के चित्रण में भी 'प्रसाद' बहुत कुशल हैं। बिम्बसार, चाणक्य (अतीत का स्मरण करते हुए), शकटार, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, मागन्धी, राज्यश्री आदि पात्रों में लेखक ने भावों के जो रेगिस्तानी अंधड़ उठाये हैं वे अन्तर्द्वन्द्व की मार्मिक अनुभूति के द्योतक हैं।

दार्शनिकता-काल्पनिकता-भावुकता भी अन्तर्पक्ष के अन्तर्गत हैं क्योंकि ये मन की ही स्थायी वृत्तियाँ हैं। दार्शनिकता मस्तिष्क की सूक्ष्मवृत्ति है जो जगत व जीवन की स्थिति पर बौद्धिक दृष्टि से क्यों, क्या, कैसे करके सृष्टि के मूल स्वरूप के सम्बन्ध में अंतिम तथ्य जानने को विकल रहती है। यह वृत्ति प्रायः जन्मजात होती है जो जीवन की अनुकूल स्थितियों में कुछ निर्बल और प्रतिकूल परिस्थितियों में अत्यन्त प्रखर व सक्रिय हो जाती है। भावुकता के संयोग से इसमें एक विचित्र लोच व दीप्ति आ जाती है अन्यथा वह विकल होकर तर्क-शुष्क मरुस्थल में जा भटकती है। बिम्बसार एक भावुक व दार्शनिक पात्र है जो प्रौढ़ गंभीर स्वर से जगत्-जीवन की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या करता है। गौतम आदि पात्र विश्वप्रेम की भावना से भरे हुए सत्यान्वेषणशील भावुक दार्शनिक हैं। काल्पनिकता भी मूलतः मस्तिष्क की वृत्ति है किन्तु इसमें भावुकता के तत्त्व भी निहित रहते हैं। कल्पना वस्तु-व्यापारों की मनोनुकूल रमणीय रूप-योजना करती रहती है। यदि भावुकता का समावेश उसमें हो जाय तो फिर क्या कहना! इन प्रयोजनों में दार्शनिकता तो क्या, हाँ सौन्दर्य-भावना-जन्य जिज्ञासा-कुतूहल, कल्पना और भावुकता का मधुर अनुपातों में पद ही [illegible]

सामजस्य होता है। देवसेना, मालविका, कोमा, कार्नेलिया आदि पात्र इसी वर्ग के हैं। इस वर्ग के पात्र समस्त क्षुब्द वातावरण में एक सजीव कमनीयता व माधुर्य का सचार करते रहते हैं—आँधी के वाद जैसे जूही-वेला की गंध लिए चाँदनी रात का पवन!

अन्तर्पक्ष की स्पष्ट, सुडौल व प्रभावशालिनी अभिव्यक्ति के लिए वहिर्पक्ष का विधान किया जाता है। भाषा के द्वारा ही भावो की अभिव्यक्ति होती है। 'प्रसाद' की भाषा विचार का एक स्वतन्त्र ही विषय है। उस पर कठिनता, अलकार-वहुलता, अस्वाभाविकता आदि कई आरोप लगाये जाते हैं। यहाँ स्थानाभाव से इस वाद-विवाद में न उलझ कर हम इतना ही कहेगे कि 'प्रसाद' की औसत भाषा साधारणत पुष्ट, मसृण, कातिवान् और प्रवाहपूर्ण है। नाटको में भाषा के प्राय तीन रूप दिखाई पडते हैं—(१) सस्कृत-गर्भित और अलकारवहुल भाषा (२) औसत दर्जे की शिष्ट भाषा, और (३) खटमिट्ठी चरपरी भाषा जो प्राय हास्य-व्यग आदि के अवसरो पर प्रयुक्त होती है। 'प्रसाद' की भाषा की समस्त श्री एक ही साथ वहाँ बिखर पडती है जहाँ भारतीय धर्म-सस्कृति का स्तवन होता है, भारतीय अतीत का महिमा-गान होता है, भावो का उत्कर्ष व विचारो का गाम्भीर्य प्रकट होता है, अथवा प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन एव रहस्यधूमिल, अतीन्द्रिय, सौंदर्यलोक का काल्पनिक व्याख्यान होता है। ऐसे अवसरो पर उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओ के लच्छो वाली कुलीन भाषा एक विचित्र बाँकपन, शालीनता और मरोर लिये उपस्थित होती है।

भाषा के साथ ही सवाद का प्रश्न है। सवादो में भाषा पात्रानुसार स्वरूप-परिवर्तन करती चलती है। 'प्रसाद' के सवाद कुछ स्थलो पर बहुत लम्बे-लम्बे व उकताने वाले ही हो गये हैं—जैसे, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में। किन्तु समस्त कृतियो को देखने पर रोचकता, सादगी, प्रवाह, स्वाभाविकता और पात्रोपयुक्तता का भी अभाव नही। सवाद प्राय सर्वत्र कथा को विकसित करने वाले एव पात्रो के चरित्र पर प्रकाश डालने वाले हैं। कही-कही सवाद केवल भावुकता के प्रदर्शन मात्र ही होकर रह गये हैं।

'प्रसाद' की पात्र-सृष्टि की ये ही कुछ मुख्य विशेषतायें हैं जो अपने गुण-दोषो के साथ विद्यमान हैं। आलोचको ने 'प्रसाद' की पात्र-सृष्टि के अनेक अवगुणो, असगतियो, त्रुटियो, अस्वाभाविकताओ आदि की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। 'प्रसाद' के कथानको की उलझन व विस्तार के कारण पात्रो को विकसित होने का अवसर नही मिला है। उनके चरित्र एकागी हैं। पात्रो की सख्या में अनावश्यक वृद्धि हो जाती है। कई पात्रो की सृष्टि का उद्देश्य समझ में नही आता। अनेक

घटना-वैचित्र्य तक कथा को फैला कर और अनावश्यक उपकथाओं की अवतारणा करने से चरित्र-विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अधिकांश पात्र साधारण लौकिक धरातल से बहुत ऊपर के हैं। भाषा नाटकोपयुक्त नहीं—बहुत कठिन, अस्वाभाविक केवल भद्रजनोचित है। सभी पात्र—चाहे वे किसी वर्ग या मनोविधान के हों—प्रायः अभिजात वर्गोचित ही आचरण करते हैं। सर्वत्र आदर्शों की ही विजय हुई है। बहुत कम गीत सरल, स्वाभाविक एवं नाटकोपयोगी हैं, इत्यादि-इत्यादि आपत्तियाँ व आक्षेप हैं जो अवश्य विचारणीय हैं। ध्रुवस्वामिनी ही एक मात्र अभिनयोपयोगी नाटक है, अन्य नाटक अत्यन्त बड़े होने के कारण सफलतापूर्वक मंच पर खेले नहीं जा सकते। रंगमंच के सम्बन्ध में विचार करना भी आवश्यक है जो स्थानाभाव से यहाँ संभव नहीं।

उपसंहार

'प्रसाद' ने पराधीन व ह्रासोन्मुख देश के वातावरण से क्षुब्ध-कुपित होकर हृदय में विक्षोभ लिए कल्याणमयी व वेगवती प्रेरणा से अपनी रस-मुखी लेखनी पकड़ी। धन संचय उनका उद्देश्य नहीं रहा। उच्च कोटि का सात्त्विक मनोरंजन, रस अथवा आनन्द की सृष्टि और चिरन्तर समस्त कलुष-कालिमा का प्रक्षालन, जिस में मानव-चेतना का उन्नयन सन्निहित है, उनका एकमात्र उद्देश्य रहा। इस उद्देश्य की सिद्धि से यश के नद स्वयं उनकी ओर दौड़ पड़े। उनके तात्कालिक अथवा व्यावहारिक प्रयोजन ये तीन दिखाई पड़ते हैं—(१) भारतीय इतिहास का जीर्णोद्धार-पुनर्लेखन और भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रयत्न, (२) पराधीन देश की मुक्ति के लिए अनिवार्य, संगठन-सूत्र में बाँधने वाली राष्ट्रीयता का शंखनाद और राष्ट्रीयता में से होकर जाने वाली अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा सहज मानवता का प्रचार, और (३) विचार-प्रौढ़ता भाव-गाम्भीर्य, चरित्रांकन-कौशल और नाट्यकलाभिज्ञता के योग द्वारा नाट्य-कला की पूर्णता की प्रगति और हिन्दी नाट्य-साहित्य की श्री-वृद्धि। इन व्यापक उद्देश्यों के अन्तर्गत वे सब छोटे-मोटे उद्देश्य समाहित हैं जो व्यक्ति के सुख तथा समाज के कल्याण और दोनों के योग से मानव-संस्कृति का उत्कर्ष स्वरूप संगठित करते हैं।

इस महत् उद्देश्य से सृजित नाट्य-साहित्य में ही 'प्रसाद' का गम्भीर संदेश ध्वनित होता है। इस प्रकार 'प्रसाद' के नाटक श्रेष्ठ भारतीय परम्परा की स्थापना करते हैं। 'कुसुम कोलाहल कलह में' वे हमसे 'हृदय की बात' कहते हैं—न देवता बनो, न राक्षस, सदा मनुष्य बनो, जीवन से प्राकृतिक रूप को न छोड़ो, इससे ये देश (कामना) वाले विलासी लोगों की तरह पतन हो जायेंगे, सदा की अनिश्चित

स्थिति की अपेक्षा नीची किन्तु सुदृढ स्थिति में प्रसन्न रहो । विवेक न छोडो । उद्दाम कामनाएँ और अनियन्त्रित वासनाएँ तुम्हे फाड खायेंगी । विलास तुम्हें नष्ट कर देगा । आतिम शाति ही परम काम्य है । न्याय से जियो । सयमपूर्वक, आत्मा की प्राप्ति के लिए, भोगो । सत्य वद । धर्म चर । एष आदेश । एष उपदेश । एतदनुशासनम् ।

प्रतिभा, बुद्धि और भावना के सुष्ठु सामजस्य से रचे हुए 'प्रसाद' के नाटक इतिहास, धर्म, दर्शन, सस्कृति, विज्ञान, कला, राजनीति, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञान-धाराओ का पुनीत सगम हैं । मानव-ज्ञान इनमें गल कर रस-रूप हो गया है । 'प्रसाद' जीवन-कला के महान् आचार्य के रूप में हमें जीना सिखाते हैं । जीवन का विराट् चित्र अकित करके उन्होने हमें अपने जीवन को सार्थक व सफल करने का गुर दे दिया है । इतिहास की विराट् पीठिका पर मनुष्य की शाश्वत वृत्तियो की कठोर-कोमल क्रीडा और तत्प्रेरित उत्थान-पतन का अत्यन्त प्रभावशाली चित्र खीच कर उन्होने हमें सकेत से अपने व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन को सशोधित व परिष्कृत करने का मार्ग सुझा दिया है । अजातशत्रु की भूली-भटकी श्यामा (मागन्धी) आँधियो के आकाश में उड कर साँझ को ठिकाने पहुँचती है तो वह प्रशात हृदय से जीवन की सारी जोड-बाकी लगा कर अनुभव करती है—'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है ।' इसी धरती को सुन्दर और इसी ससार को सार्थक बनाने के लिए प्रेरित करने वाले कवि से ऐसे नपे-तुले शब्दो में ऐसी नपी-तुली बात से बढ कर और हम क्या चाहते हैं ?

—



प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य की प्रवृत्तियाँ

—डॉ० प्रेमशंकर तिवारी

प्राय आलोचको की यह धारणा है कि भारतेन्दु और प्रसाद के अनन्तर हिन्दी नाट्य-साहित्य ने कोई महत्वपूर्ण कृतिकार नही प्रस्तुत किया। इसे वे गतिरोध की स्थिति मानते हैं और भारतेन्दु तथा प्रसाद को हिन्दी नाटक के चरम-विन्दु घोषित करते हैं। प्रत्येक देश और साहित्य के कुछ महान् साहित्यकार होते हैं जो शीर्ष-स्थान के अधिकारी होते हैं। वे अपने देश की ही नहीं, वरन् समस्त विश्व-साहित्य की स्थायी निधि होते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उनके अनन्तर साहित्य कोई प्रगति नही करता, अथवा उन महत्तर ऊँचाइयो तक आना असम्भव होता है। वास्तव में हर युग में एक ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न महान् स्रष्टा का उदय होता है जो बिखरी हुई युग-चेतना को सग्रथित कर देता है। शेक्सपियर मानव-जीवन का सर्वोत्तम अध्येता है, पर शॉ समाज पर व्यंग्य करने में अपना सानी नही रखता। भारतेन्दु हिन्दी-नाटक के प्रतिष्ठापक हैं तो प्रसाद उसके उन्नायक। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि इनके पश्चात् हिन्दी-नाटको ने विराम ले लिया।

नाटको के क्षेत्र में भारतेन्दु का महत्व ऐतिहासिक अधिक है। उन्होंने हिन्दी नाटक के लिये ही नही, वरन् समस्त हिन्दी-साहित्य के लिए एक वातावरण की सृष्टि की। मगलाचरण, नन्दीपाठ, भरत-वाक्य आदि की प्राचीन परम्पराओ से भारतेन्दु मुक्त न हो सके। उनमें कलात्मक परिपक्वता का अभाव है। प्रसाद अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत शैली के नाटककार हैं। भारतीय रस-दृष्टि के साथ पाश्चात्य चरित्राकन का समन्वय उनके नाटको में प्रतिफलित हुआ है। किन्तु सस्कृत गर्भित भाषा, अनभिनेय स्थल, शिथिल कार्य-व्यापार आदि के कारण प्रसाद के नाटक रगमच पर कठिनाई से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। साथ ही एक कवि-व्यक्तित्व के कारण नाटक में जिस तटस्थता की आशा नाटककार से की जाती है, उसका उनमें अभाव है। अपनी सीमाओ के बावजूद प्रसाद ने हिन्दी को जो पठनीय नाटक दिए उनकी परम्परा अभी तक चली आ रही है। इन नाटको में भावनामयता, चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व तथा सास्कृतिक स्वर की जो विशेषताएँ हैं, उन्होंने हरिकृष्ण प्रेमी, डा० रामकुमार वर्मा, उदयशकर भट्ट आदि नाटककारो को प्रभावित किया है।

ये तीनो ही नाटककार प्रसाद की भाँति कवि भी हैं, इसी कारण उनके नाटको

में भावुकता के साथ ही एक तीव्र मानवीय सवेदना है जिसे वे राष्ट्रीय भावना से मिला देते हैं। मुगलकालीन इतिहास से उन्होने अपनी कथावस्तु ग्रहण की है, जिसमें हिन्दू-मुस्लिम समस्या को एक भावुक स्तर पर सुलझाया गया है । कुछ-कुछ प्रेमचन्द जी जैसा हल पेश किया गया है। 'रक्षाबंधन' में हुमायूँ कर्मवती की राखी पाकर चित्तौड के लिए प्रस्थान कर देता है। हुमायूँ और कर्मवती को भाई-बहिन के रूप में प्रस्तुत किया जाना साम्प्रदायिक समस्या का एक भावुक समाधान ही कहा जायगा । प्रेमी की राष्ट्रीय भावना देश की सामयिक राजनीति से परिचालित है । उस पर गाँधी का स्पष्ट प्रभाव है। सास्कृतिक और दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण प्रसाद समकालीन परिस्थितियों से ऊपर उठने में समर्थ हुए हैं। प्रेमी के भावुकतापूर्ण कथोपकथन प्रभाव-स्थापन में नाटककार की सहायता करते हैं। नाटक का नायक प्राय अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति ईमानदारी और सचाई से करता है। इस प्रकार नाटको में एक भावुक सवेदना (Emotional appeal) रहती है ।

डॉ० रामकुमार वर्मा का स्थान एकाकी लेखको में सर्वप्रमुख है। ऐतिहासिक *कथा-वस्तु के मार्मिक स्थलो को उन्होने अपने लेखन का विषय बनाया है।* इस अवसर पर तुलसी का स्मरण हो आता है। रामचरितमानस के मार्मिक स्थलो का प्रयोग महाकवि ने कवितावली में किया है। यहाँ तुलसी की भावुकता को सहज ही देखा जा सकता है । डा० वर्मा के एकाकी गीत-खण्ड कहे जा सकते हैं। भावुकता का पूर्ण विकास नाटककार ने स्त्री-पात्रों में दिखाया है और इस दृष्टि से वह प्रसाद से बहुत समीप है। डा० वर्मा के एकाकी एक विचित्र वातावरण की सष्टि करते हैं। दया, करुणा, प्रेम, सौहार्द आदि की भावनाओ पर उनमें अधिक ज़ोर दिया गया है। मानवीय सवेदना पर आधारित इसी धारा में उदयशकर भट्ट ने भी कार्य किया है। भट्ट जी के अधिकाश नाटक पौराणिक कथाओ से सम्बन्ध रखते हैं। वे धर्म, नीति, मर्यादा आदि के प्रश्नो से उलझते हैं। इस दिशा में उनका दृष्टिकोण पुरातनपथी नही है। पौराणिक घटना के माध्यम से उन्होंने नई समस्याओ को प्रस्तुत किया है। ब्राह्मण, बौद्ध-जैन आदि के सघर्षों में आधुनिक जाति-प्रथा पर विचार किया गया है।

नाटको की इस भावना-प्रधान धारा में भारतीय आदर्शों की रक्षा का प्रयत्न भी देखा जा सकता है। इसी मोह में इन नाटककारो ने इतिहास से कथा-वस्तु अधिक ग्रहण की है। इसी के समकक्ष नाटककारों की एक अन्य प्रवृत्ति को भी रखा जा सकता है। इसमें सामाजिकता का आग्रह अधिक है। सामाजिक समस्याओ को एक भावुक रीति से सुलझाने का प्रयत्न इनमें मिलता है। किसी सीमा तक इन नाटको में हम भारतीय जीवन का करुण और मार्मिक चित्र पा जाते हैं। यह प्रेमचन्द की

आदर्शवादी यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति का ही रूपान्तर है। वातावरण का सजीव चित्रण आदर्शवादी आधार पर किया गया है। यथार्थ को इस रूप में अंकित करने का कारण यह है कि लेखक भावुक दृष्टि से यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा करते हैं, उनमें वैज्ञानिकता का आग्रह कम रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण लेखक राष्ट्रीय भावनाओं से इतना अभिभूत हो गए थे कि तटस्थ होकर लिखना उनके लिए सम्भव न था। सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पंत इसी धारा के नाटककार हैं। सेठ गोविन्ददास ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लिया है। देश के प्रति उनकी एक ममता है। प्रकाश, सेवा-पथ, सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य, दलित कुसुम, बड़ा पापी कौन ?, दुःख क्यों ?, पाकिस्तान, प्रेम या पाप आदि अनेक सामाजिक नाटक उन्होंने लिखे हैं।

सामाजिक जीवन के प्रति अनेक प्रकार के दृष्टिकोण होते हैं। ये दृष्टिकोण विभिन्न विचारधाराओं से परिचालित होते हैं। इस अवसर पर हमें यह स्वीकार करने में अधिक लज्जा न होनी चाहिए कि आधुनिक युग में अनेक पाश्चात्य विचारधाराओं ने भारतीय साहित्य को प्रभावित किया है। यूरोप में इब्सन और शॉ बुद्धिजीवी नाटककार कहे जाते हैं। प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं पर उन्होंने प्रहार किए हैं। उनकी कृतियों के इस 'समाज तत्त्व' को मार्क्सवादी लेखकों से किंचित् दूर रख कर देखना होगा। मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष की भावना लेकर चलता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि सर्वहारा वर्ग की विजय घोषित की जाये। इब्सन और शॉ फेबियन समाजवादी लेखक हैं। उनकी कृतियों में एक नए समाज की कल्पना है, जो रूढ़िमुक्त होगा। इस क्रान्ति को बौद्धिक कहा जा सकता है। यह एक प्रकार का वैचारिक आन्दोलन है जो आदर्श की अपेक्षा साहित्य में यथार्थ की माँग करता है। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र एक बुद्धिवादी नाटककार हैं। अपने नाटक 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका (मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ।) में उन्होंने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वे स्वयं को यूरोपीय बुद्धिवादी नाटककारों से अलग रखना चाहते हैं और इसलिये उन्होंने भारतीय तर्क-शास्त्र और विचार-पद्धति का सहारा लिया है। बुद्धिवादी नाटककार समाज के प्रश्नों से उलझने के कारण समस्या नाटकों की सृष्टि करता है। वह अपने युग और समाज से किंचित् घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लेता है। प्राचीन मान्यताओं पर वह निर्मम प्रहार करता है। समाज के विकास में उसका योगदान रहता है इस दृष्टि से उसका स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। किन्तु सामाजिक सुधार के आवेश में कहीं-कहीं वह एक प्रचारक हो जाता है और इसी कारण कला की सुन्दर ऊँचाइयों तक नहीं पहुँच पाता। शेक्सपियर और शॉ में यही अन्तर है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में एक तीव्र असन्तोष की भावना है। वासना-प्रधान

नाटको के विरोध में लिखे गए उनके नाटक समस्या का बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। 'राजयोग' में प्रेम की समस्या बुद्धि द्वारा सुलझाई गई है। मिश्र जी ने हिन्दी नाटको में जिस बौद्धिक तत्त्व का सनिवेश किया, उस परम्परा में अधिक लोगो ने कार्य नही किया किन्तु उन्होने एक प्रकार से हिन्दी नाटक को झकझोर दिया। नाटको में बुद्धि-तत्त्व का प्रवेश मिश्र जी की देन है। वे उसे काल्पनिक जगत् से यथार्थ की ओर ले गए।

फेबियन समाज के बुद्धि-तत्त्व और मार्क्सवाद के सामाजिक तत्त्व के समन्वय की प्रवृत्ति यूरोप के कतिपय लेखको में रही है। फेबियन समाजवाद की विचारधारा से प्रभावित लेखक कभी-कभी स्थूल यथार्थ तक रह जाते हैं। समस्या के मूल में जाकर वे उसका समाधान खोजने का प्रयत्न नही करते। मार्क्सवादी लेखक कभी-कभी वर्ग-सघर्ष में इतने उलझ जाते हैं कि कला-पक्ष का ध्यान ही नही रखते। सामाजिक तत्त्व के साथ कलात्मक परिपक्वता का प्रयास आधुनिक नाटककारो ने किया है। ये लेखक मुख्यत मार्क्सवाद से प्रभावित हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भुवनेश्वर आदि इसी धारा के नाटककार हैं। समाज की पृष्ठभूमि में व्यक्ति का चित्रण इन लेखको की मुख्य प्रवृत्ति है। व्यक्ति अपने सस्कारो से सहज में ही मुक्त नही हो सकता, 'अजोदीदी' इसका अच्छा उदाहरण हैं। घडी-सा नियमित जीवन उन्होंने अपने नानाजी से उत्तराधिकार में पाया है। सामाजिक प्रवृत्ति को लेकर नाटको का सृजन करने वाले इन नाटककारो-ने अपने समाज का किसी सीमा तक अन्वेषण किया हैं। उन्होंने आस-पास के जीवन को निकट से देखने का प्रयास किया है। अश्क जी के 'स्वर्ग की झलक' नाटक में वर्तमान शिक्षा के कुप्रभाव की चर्चा है। 'कैद और उडान' में प्रेम और विवाह की समस्या है। भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' हिन्दी के सर्वोत्तम एकाकी नाटको में से एक है। वास्तव में स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण की प्रवृत्ति को लेकर नाटको की सृष्टि करने वाले लेखक इस बात का प्रयत्न करते हैं कि समस्या को उचित रीति से प्रस्तुत कर दिया जाय और यदि सम्भव हो तो उसका हल भी ढूँढ निकाला जाय।

एकाकियो के विकास से नाट्य-साहित्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति बढने लगी। यूरोप में स्ट्रिडबर्ग आदि नाटककारो ने नाटको में मनोविज्ञान का प्रवेश कराया। सामाजिक विषमताओ ने हमारे बाह्य और आन्तरिक जीवन को अस्त-व्यस्त किया है। बाह्य अथवा भौतिक विषमताओ को मार्क्सवादी लेखको ने ग्रहण किया। मनुष्य के आन्तरिक विश्लेषण की ओर जो लेखक प्रवृत्त हुए उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि वर्तमान जीवन की पृष्ठभूमि में ही मानव का मनोवैज्ञानिक चित्र उतारा जाय। प्राचीन सस्कृत नाटको में स्वगत-कथन की सहायता से मनुष्य की मानसिक अवस्था को दर्शको के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। एकाकियो में मानसिक

स्थिति का अंकन बहुत कठिन कार्य था, इसीलिए अनेक प्रकार के शैली-सम्बन्धी प्रयोग किए गए। डा० रामकुमार वर्मा का रेडियो-रूपक 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' औरंगज़ेब की एक सुन्दर आन्तरिक तस्वीर है। केवल मानसिक विश्लेषण के आधार पर नाट्य-सृष्टि एक कठिन कार्य है, वास्तव में नाटक में दृष्टा का इतना महत्त्व है कि उसे दृष्टि से ओझल करना सहज नहीं हो पाता। ऐसे चरित्रों की सृष्टि की जा सकती है जिनमें आन्तरिक द्वन्द्व दिखाया जाये, और उनकी मानसिक स्थिति का संकेत हो। हैमलेट एक ऐसा ही चरित्र है। किन्तु केवल मानसिक पोस्टमार्टम के आधार पर सुन्दर नाटक की रचना सम्भव नहीं है।

प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य में विविधता है। भावभूमि के नए क्षेत्र उद्घाटित किए गए हैं। यथार्थ की नई भूमि पर उसका पदार्पण हुआ है। शैली के नए प्रयोग हुए हैं, जैसे ध्वनि-रूपक आदि। किन्तु नाटक की सबसे बड़ी आवश्यकता एक विकसित रंगमंच की होती है। उसके अभाव में नाट्य-साहित्य पंगु हो जाता है। नाटक पठनीय सामग्री बनकर रह जाते हैं। आशा है राष्ट्रीय रंगमंच के विकास के साथ हिन्दी नाट्य-साहित्य अधिक समृद्ध हो सकेगा।



गोविन्ददास : एक सफल साहित्य-स्रष्टा

—श्री गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

सेठ जी का साहित्य-निर्माण-प्रयत्न अनेक दिशाओ मे प्रवाहित हुआ है—उन्होने काव्य-रचना[1] की है, उपन्यास लिखा है, यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकें लिखी हैं, अपनी आत्मकथा लिखी है, निबन्ध लिखे हैं और ससद के तथा हिन्दी भाषा के प्रचार के भाषण प्रस्तुत किए हैं किन्तु वे प्रमुख रूप से नाटककार हैं, और देश एव समाज-हित-कामना से प्रेरित होकर उन्होने जिस प्रकार नाटको का सृजन किया है, उससे अनिवार्य रूप से यह कल्पना हृदय में उठती है कि सम्भवत प्रकृति ने काशी के

---

१ नमूने के रूप में एक कविता की कुछ पक्तियां देखिये—

सबसे प्यारा, सबसे न्यारा
सुन्दर पावन भारत देश।
सकल सृष्टि सुषमा नव आश्रित
नवता का नवतम प्रदेश।
पर्वत पक्ति कहीं परिवेष्टित
हिम से हीरक तुल्य चमक।
चकाचौंध चक्षुद्वय करती
दिनकर-कर में चमक चमक।
कहीं विविध वृक्षों से विकलित
वन कोसों तक लहराते।
आते जाते रग-बिरगे
मेघों-सी सुषमा पाते।
कहीं कलित काश्मीर पुष्प-फल
पूरित नन्दन कानन-सा।
और कहीं तरु-रहित 'प्रान्त मरु'
शुष्क सिधु सिकता घन-सा।
कहीं धवल धारा गगा की
श्यामा का शुचि श्यामल वाह।
उछल उछल फिर नाच कहीं पर
बहता रेवा रम्य प्रवाह।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कार्य की सम्पूर्ति के लिए जबलपुर में सेठ जी के रूप में उनका पुनर्निर्माण किया है। मेरे ऐसा कहने का विशेष कारण है और वह यह कि भारतेन्दु के नाटकों की दो प्रधान विशेषताएँ—(१) लोक-संग्रह के प्रति तीव्र आग्रह तथा (२) अभिनेयता—जितनी मात्रा में गोविन्ददास जी के नाटकों में सुलभ है, उतनी वर्तमान काल के अन्य किसी नाटककार की कृतियों में नहीं।

काव्य के क्षेत्र में सेठ जी ने अधिक प्रगति नहीं की, किन्तु "जन्मभूमि प्रेम" आदि कुछ स्फुट कविताओं के अतिरिक्त यह स्मरणीय है कि उन्होंने अल्प वय में ही एक महाकाव्य की रचना का कार्य हाथ में लिया[1]। इस महाकाव्य का नाम पहले 'बाणासुर पराभव' था, किन्तु बाद को इसके स्थान में 'प्रेम-विजय' नाम रखा गया। इस महाकाव्य को सेठ जी ने सर्वथा भुला दिया है, वह अब तक अपूर्ण पड़ा है और उसे पूर्ण करने की ओर अब उनकी रुचि नहीं जान पड़ती है। अस्तु।

गोविन्ददास जी के नाटकों के सम्बन्ध में कुछ लिखने के पूर्व मैं यह उचित समझता हूँ की उनकी यात्रा-पुस्तकों तथा उनके श्रेष्ठ उपन्यास 'इन्दुमती' पर संक्षिप्त चर्चा यहाँ कर लूँ।

विदेशों की तीन यात्रा

गोविन्ददास जी की यात्राएँ संसार के प्रायः सभी प्रमुख देशों में हुई हैं और उन यात्राओं पर उन्होंने जो पुस्तकें लिखी हैं, वे अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। उन्होंने तीन बार भारत के बाहर भ्रमण किया। पहली बार वे अफ्रीका

---

१. इस महाकाव्य की कुछ पंक्तियाँ यहाँ अवलोकनार्थ दी जाती हैं:—

निकट वे पहुँचे अनिरुद्ध के
लख परस्पर एक द्वितीय को।
प्रथम तो अति विस्मित हो गए
असुर सैनप ने फिर यों कहा—
दनुज-नायक ने मुझको दिया,
यह निदेश तुम्हें द्रुत बाँध लूँ।
इसलिए निज को तुम मान लो,
असुर-ईश-उपग्रह में युवा।
दनुज-नायक कौन? न जानता,
न अपराध किया उनका कभी।
फिर बिना रण के यदु-पुत्र क्या
जगत में निज बन्धन मानते।

गए, दूसरी बार न्यूज़ीलैंड, आस्ट्रेलिया, फीजी और मलाया तीसरी बार मिस्र, यूनान, इटली, स्विट्ज़रलैण्ड, फ्रास, इगलैण्ड, कनैडा, अमरीका, हवाई द्वीप, जापान, चीन, स्याम और बरमा आदि में पर्यटन किया। इन तीनों ही यात्राओं पर उन्होंने ग्रन्थ लिखे—पहली यात्रा पर उन्होंने जो पुस्तक लिखी उसका नाम है 'हमारा प्रधान उपनिवेश', दूसरी यात्रा की पुस्तक का नाम है, 'सुदूर दक्षिण पूर्व' और तीसरी का नाम है 'पृथ्वी परिक्रमा'। दूसरी पुस्तक उन्होंने अंग्रेजी में भी 'आन विंग्स टू दी ऐंजैक्स' के नाम से लिखी है। इन हिन्दी पुस्तकों का हमारे देश में तथा अंग्रेज़ी पुस्तक का विदेशों तक में बड़ा आदर हुआ है। उनकी यात्रा-सम्बन्धी ये पुस्तकें किस कोटि की हैं इसके सम्बन्ध में हम स्वय कुछ न कहकर उनकी 'पृथ्वी परिक्रमा' की भूमिका में लोकसभा के अध्यक्ष स्वर्गीय श्री मावलकर ने जो कुछ लिखा है, उसका एक अंश तथा 'आन विंग्स टू दी ऐंजैक्स' पर कुछ विदेशियों तक ने जो कुछ कहा है उसे ही उद्धृत कर देते हैं, श्री मावलकर 'पृथ्वी परिक्रमा' की भूमिका मे लिखते हैं —

"पुस्तक मे न केवल लेखक द्वारा विश्व के विभिन्न भागो की यात्रा का विवरण दिया गया है, वरन् उन देशों के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर लेखक ने अपना मत भी सरल भाषा में व्यक्त किया है।... ... एक प्रकार से प्रस्तुत पुस्तक को विश्व इतिहास का एक ठोस भाग कहा जा सकता है। जिन जिन देशों में लेखक गया उनके लिए तो यह एक 'एनसाइक्लोपीडिया' ही है। पुस्तक से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक देश के इतिहास, धर्म, सस्कृति, कला इत्यादि का परिश्रमशील अध्ययन किया गया है।"

'आन विंग्स टू दी ऐंजैक्स' के सम्बन्ध में 'कामनवैल्थ पार्लियामैन्टरी एसोसियेशन' के सभापति और कैनेडा की पार्लियामैन्ट के एक वयोवृद्ध सदस्य लिखते हैं —

"I have found every word in this book most interesting and the volume is a valuable record of the notable gathering of the commonwealth Parliamentary Association in Newzealand and Australia in 1950 I was particularey captivated with the glimpses the author gives of his own remarkable career and of how completely he has freed his mind of the psychology of the wealthy and has become in Truth one of the people"

जहाँ तक हमें ज्ञात है न तो हिन्दी के किसी साहित्यकार ने ऐसा विश्व-भ्रमण ही किया है और न यात्रा-सम्बन्धी ऐसा विशद साहित्य-सृजन।

सेठ जी के उपन्यास 'इन्दुमती' की विशेषताओं का वर्णन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है :—

"इस उपन्यास को उपलक्ष करके इस देश के पिछले पचास साठ वर्षों की तूफानी हलचलों का बहुत सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। इन्दुमती का चरित्र बहुत दृढ़ अंकित हुआ है"। इन्दुमती के वैधव्य-जीवन को अपने ढंग का अनूठा ही चित्रित किया गया है। इसे अवसरानुसार परिस्थितियों और विचारों की अवतारणा का साधन बनाकर देश के सामाजिक उपन्यासों में एक नये प्रयोग का सूत्रपात किया गया है। इन्दुमती उपन्यास हमारी अनेक सामाजिक समस्याओं के मूल उत्स को समझने की ऐतिहासिक दृष्टि देता है। आज के जटिल सामाजिक जीवन को जो प्रश्न निरन्तर चुनौती दे रहे हैं उनके वास्तविक रूप को स्पष्ट भाव से समझाने में यह पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।"

श्रेष्ठ मनीषी डा० भगवानदास का इस उपन्यास के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत है :—

"इन्दुमती एक महान् कृति है, कलेवर और वर्ण्य विषय दोनों ही दृष्टियों से। श्री प्रेमचन्द की, जिनको साहित्यिक समाज ने 'उपन्यास-सम्राट' की पदवी दी है, प्रायः सभी छोटी-बड़ी कहानियां और कथाओं को मैंने पढ़ा है। किन्तु बहुविध विविधता और मनोविश्लेषण की दृष्टि से उनका कोई भी आख्यानक—'सेवासदन' या 'कर्मभूमि' अथवा 'रंगभूमि' जो उनके सबसे वृहत् ग्रन्थ हैं—इन्दुमती की स्पर्धा नहीं कर सकता। पुस्तक के कई अंश, कदाचित् कोई अन्य सुयोग्य कथाकार भी लिख सकता किन्तु इन्दुमती के साथ अपने मन का इतना पूर्ण तादात्म्य करके कल्पना द्वारा उसे अपनी मानस-भूमि पर प्रतिष्ठित करके उसकी निरन्तर परिवर्तमान मनोदशाओं का, तथा परस्पर-विरोधी विचारों, भावनाओं, वासनाओं और क्रियाओं के बीच झूलती हुई उसकी अस्थिर चित्त-वृत्तियों का ऐसा अद्वितीय और मार्मिक निरूपण करने के लिए केवल योग्यता ही नहीं, अपितु उत्कृष्ट प्रतिभा (जीनियस) भी चाहिए।"

प्रसिद्ध साहित्यिक डा० वेरियर एल्विन ने इस उपन्यास के सम्बन्ध में लिखा है :—

"It is a very great achievement, and I am filled with admiration both for author's deep knowledge of human nature as well as for the Literary power and grace

with which he has expressed it. It is also most refreshing to read so frank and open a discussion of many problems which the timid avoid"

भारत के उपराष्ट्रपति और विश्व के एक मान्य तत्ववेत्ता डा० राधाकृष्णन ने इन्दुमती की सुन्दर व्याख्या अंग्रेजी के एक ही वाक्य में कर दी है —

"It mirrors our social and political life with great ability and vast learning."

इसमें सन्देह नही कि विचार-धारा की दृष्टि से भी और औपन्यासिक कला की दृष्टि से भी हिन्दी के उपन्यास-साहित्य मे यह उपन्यास बेजोड है। सूक्ष्म अध्ययन, संयम और सामाजिक हितैषणा के सम्मिलित सहयोग ने इसे सौन्दर्य सम्पन्न, सतुलित और लोकोपयोगी स्वरूप दे दिया है। हिन्दी-उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में यह कृति एक नवीन लेखन-शैली लेकर प्रस्तुत हुई है, और यद्यपि यह तो नही कहा जा सकता कि उक्त शैली का प्रचार हिन्दी में हो सकेगा, तथापि यह तो निर्विवाद है कि उसका व्यक्तित्व हिन्दी उपन्यास की समस्त शैलियो से पृथक् रहेगा।

भारतीय समाज की राजनीतिक स्वाधीनता तथा भारतीय व्यक्ति की मानसिक स्वाधीनता—इन दो प्रश्नो को लेकर इन्दुमती का कथानक अग्रसर हुआ है। ये दोनो ही प्रश्न इन्दुमती के जीवन में अन्योन्य सम्बन्धित हैं और यदि हमें इन्दुमती के जीवन को समझना है तो हमें चाहिये भारतीय स्वतन्त्रता-सघर्ष की पृष्ठभूमि में उसे रख कर हम समझें, साथ ही भारतीय व्यक्ति जिन मानसिक हलचलो के बीच से चल रहा है, उससे भी पृथक् करके हम उसके जीवन के मर्म को हृदयगम नही कर सकेंगे।

भारतीय समाज के सामने स्वतन्त्रता की समस्या तो कठिनाइयो से पूर्ण थी ही, इन्दुमती के पिता वकील अवधबिहारी लाल ने व्यक्ति की मानसिक स्वतन्त्रता के प्रश्न को भी भूलभुलैयो से भरी एक पहेली के रूप में प्रस्तुत कर दिया। ब्रिटिश शासन के अधीन भारत की जैसी परिस्थिति थी, उसे देखते हुए उसका स्वतन्त्र होना टेढी खीर थी, इसी प्रकार अवधबिहारी लाल ने व्यक्ति के मानसिक स्वातन्त्र्य का प्रश्न जिस रूप में प्रस्तुत किया वह व्यक्ति और समाज का पूर्ण और सर्वथा स्पष्ट समन्वय लेकर न चला, इसने इस भ्रम को उत्पन्न किया कि सम्भवत समाज उपभोग्य है और व्यक्ति उपभोक्ता। जैसे सघर्ष और प्रेम से कथानक को शक्ति और विस्तार की प्राप्ति होती है, वह प्रचुर परिमाण मे इन्दुमती उपन्यास को मिल गया

और सुन्दर के अन्त में डा० त्रिलोकी नाथ ने इसे 'अभेद-भावना-विकास' के रूप में जो हल प्राप्त हुआ, वही हमारे सम्पूर्ण मसलों का शमन करता है। 'अभेद-भावना-विकास' के स्तर पर पहुँच कर ही हम भारतीय स्वाधीनता को हस्तगत और सुरक्षित कर सकते हैं तथा इसी के द्वारा व्यक्ति की मानसिक अशान्ति का निराकरण करने में भी समर्थ हो सकते हैं।

इस उपन्यास की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसकी नायिका इन्दुमती यथार्थ तत्त्वों के बहुत निकट पहुँच कर भी उनके गड्ढे में गिरी नहीं। वीरभद्र के प्रति उसकी तीव्र आसक्ति से कथानक के भीतर एक संकटमय मार्मिक स्थल उपस्थित हो गया था, किन्तु वहाँ लेखक के रचना-कौशल से वह बाल-बाल बची।

इस उपन्यास के भीतर जहाँ कहीं वर्णन-सापेक्ष अवसर उपस्थित हुए हैं, लेखक ने चित्रात्मक शैली की बहुत सुन्दर नियोजना की है, जिससे पात्रों का स्वरूप बहुत स्पष्ट होकर सामने आया है, और उनके कार्य-कलाप के प्रति आकर्षण बढ़ गया है। अत्यन्त संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लगभग एक सहस्र पृष्ठों का यह 'इन्दुमती' उपन्यास सेठ जी की अत्यन्त सफल कृति है। और अच्छा होता, यदि वे हमें इन्दुमती के ढंग के दो-चार उपन्यास और दे सकते, इससे यह लाभ होता कि हिन्दी साहित्य में उनकी शैली की पूर्ण प्रतिष्ठा होती तथा उसका प्रचार भी द्रुत गति से सम्भव होता। किन्तु, सेठ जी की जितनी रुचि नाट्य-कला के विकास की ओर है, उतनी साहित्य के अन्य किसी अंग की पुष्टि की ओर नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी नाटक को भी उनकी सेवाओं की बहुत अधिक आवश्यकता है और हिन्दी साहित्य का कोई हितैषी यह नहीं चाहेगा कि उस क्षेत्र की क्षति करके वे केवल उपन्यास लिखने में प्रवृत्त हों। हिन्दी नाटक हिन्दी उपन्यास की अपेक्षा कम समृद्ध भी है, ऐसी अवस्था में उसकी पूर्ति और परिपुष्टि की ओर उनका लगना सर्वथा उचित है। सच बात तो यह है कि हिन्दी नाटक को उनकी विचार-धारा और भाव-प्रवाह की वर्तमान समय में अनिवार्य अपेक्षा है।

नाट्य-कला सम्बन्धी मत

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके समसामयिक नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक एवं अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से अपने नाटकों के लिए सामग्री का चयन किया था, थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ यही प्रवृत्ति परवर्ती नाटककारों में भी दिखाई पड़ती है। स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद', श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' तथा अन्य कई नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटक लिखने की परम्परा का निर्वाह अक्षुण्ण बनाये रखा है। श्री उदयशंकर भट्ट ने पौराणिक नाटक लिखने में अच्छे कौशल

का परिचय दिया है, साथ ही ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक रचना का प्रयास भी उन्होने किया है। इन सभी नाटककारो की एक प्रवृत्ति यह देखने मे आती है कि इनके पौराणिक और ऐतिहासिक पात्र भी वर्तमान सामाजिक आदर्शों के ढाँचो में ढले होते हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक भी है, उच्च कल्पना और अनुभूतियो से आन्दोलित होने वाला कोई भी सहृदय साहित्यकार सामाजिक परिस्थितियो से उदासीन नही हो सकता। किसी न किसी रूप में वे अपना प्रभाव उसकी कृतियो पर डालेंगी। अधिकाश हिन्दी साहित्यकारो की समाज-सम्वन्धी जो प्रतिक्रियाएँ उनकी साहित्यिक कृतियो में व्यक्त हुई हैं, वे शोचनीय प्रसगों के प्रति करुणा-भाव की रही हैं। राष्ट्रीय जागरण ने अनेक दुर्बलताओ और अपूर्णताओ का उद्घाटन किया, जिन्हें अपनी कृति में झलका देना तथा उनका एक समाधान भी उपस्थित करना आवश्यक समझ कर उक्त नाटककारो ने अपनी रचनात्मक प्रकृति और प्रतिभा का परिचय दिया। जो प्रहसनात्मक नाटक लिखे गये उनका उद्देश्य भी अन्ततोगत्वा करुण भाव को ही अभिव्यक्त करना रहा। किन्तु ज्यो-ज्यो पाश्चात्य साहित्य का सम्पर्क हिन्दी नाटककारो को अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त हुआ, त्यो-त्यो उनमें से अनेक वहाँ के विकृत प्रभावो के वशीभूत होने लगे। पाश्चात्य साहित्य में भी यथार्थवाद मूलत· विकृत भावनाओ के प्रसार के लिए नही, वरन् साहित्यिक कृतियो की, अतिशयता को प्राप्त निराधार आदर्शवादिता और भावुकता को सयत स्वरूप देने ही के लिए अस्तित्व प्राप्त कर सका था, एक सीमा तक हमारे यहाँ भी यथार्थवाद के इस रूप में क्रियाशील होने के लिए बहुत अधिक गुजाइश थी और अब भी है। किन्तु इस कारण कि निर्माण की शक्ति रखने वाला साहित्य सदैव साधनापूरक होता है, इस ओर न पाश्चात्य साहित में ही अधिक समय तक अभिरुचि बनी रही और न अनुसरणशील आधुनिक हिन्दी साहित्यिक की लेखनी यथार्थवाद के विकृत स्वरूप की ओर अधिक उन्मुख होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोक सकी विज्ञान की प्रगति ने मनुष्य में अपनी शक्ति का अहंकार उत्पन्न कर दिया; जीवन के नैतिक मूल्यो का अध पतन हो गया, समाज में उपेक्षित 'लघु' ने महत्ता प्राप्त की और विकारग्रस्त 'महान्' विरोधी आलोचना का पात्र बना, इन सबका सम्मिलित प्रभाव एक ऐसी सस्कृति को जन्म देने में सफल हुआ जो दिनो-दिन प्रबल होती जा रही है, जिसमें 'अर्थ' और 'काम' की महिमा सर्वोपरि है तथा अन्य सभी बाते गौण हो गई हैं। फलत रचनाकार के जीवन की पूर्णता से प्रसूत होने वाली करुणा की धारा मरुभूमि में विलीन होती जा रही है और जीवन के खोखलेपन को अधिकाधिक शोचनीय बनाने वाली अतृप्ति और कामुकता सर्व-प्रधान स्थान ग्रहण करने की घोषणा कर रही हैं। पराधीनता के सस्कारों में जकडा हुआ, मौलिक चिंतन की

शक्ति से रहित भोगप्रधान श्रेणी का हिन्दी साहित्यिक यदि ऐसे वातावरण में अपना सिर ऊँचा न रख सका तो यह तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है।

कला का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रवृत्ति और अनुभूतता को भी ऐसे स्तर पर पहुँचावे, जहाँ से मनुष्य के व्यक्तित्व को बन्धनों से मुक्ति प्रदान करे, यह नहीं कि और भी अधिक बन्धनों को प्रकट कर उसकी सारी प्रगति ही को रोक दे। किन्तु कला के नाम पर मदमाविष्ट, सर्वथा स्वतन्त्र साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होने की घोषणा करने वाला, कलाकारों का एक ऐसा दल हिन्दी जगत में अवतीर्ण हुआ है जो जीवन के प्रति किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं रखना चाहता; यही नहीं, भोगवाद के प्रति आत्म-समर्पण करने में ही कला की समस्त विशेषताओं की सम्पूर्ति समझता है। नाटक के क्षेत्र में समस्या-नाटकों की सृष्टि का प्रयास किया गया है और इब्सन एवं बर्नार्ड शा के तथाकथित अनुकरण का आतंक हिन्दी पाठकों के समक्ष उत्पन्न करने की चेष्टा की जा रही है। किन्तु सच बात यह है कि कल्पित समस्याओं को यहाँ बिठाने का प्रयत्न हो रहा है जहाँ उनके लिए किसी प्रकार की भूमि तैयार नहीं है। हमारे देश और समाज में समस्याएँ न हों, सो बात नहीं; वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं की हमारे यहाँ कमी नहीं है, किन्तु स्थूल पदार्थी, भोगवादी दृष्टिकोण के कारण वे हमारी दृष्टि में आतीं नहीं और उस अवस्था में हमें यूरोप, अमरीका आदि से जाकर वहीं की समस्याओं को यहाँ माँग लाना पड़ता है। आश्चर्य तो तब होता है जब इन नाटककारों में ऐसे लोग भी मिलते हैं जो भारतीय संस्कृति का दम भरने पर भी आध्यात्मिक विशिष्टताओं को कोई महत्त्व नहीं देते तथा अपने नाटकों की परिणति पर भौतिक दृष्टिकोण का उचित से अधिक प्रभाव पड़ने देते हैं।

सन्तोष की बात है कि सेठ गोविन्ददास जी की रचनाएँ उक्त प्रकार के रोगों से ग्रस्त नहीं हैं, इन्दुमती में हम देखते हैं कि यथार्थ में बहुत निचले स्तरों तक उसे उतार ले जाकर भी उन्होंने ढंग से उसकी रक्षा कर ली और 'सवेरे का भूला साँझ को घर पहुँच जाय तो उसे भूला नहीं कहते'—इस कहावत के अनुसार जब अविवेक और अदूरदर्शिता के अनेक धक्के खाने के अनन्तर उसे हम जीवन-सत्य के निकट पहुँचती पाते हैं तब हमें उसके पिछले सारे प्रमाद भूल जाते हैं।

नाटक-रचना के क्षेत्र में तो सेठ जी को और भी अधिक सफलता प्राप्त है। इस सम्बन्ध में जो बात सब से महत्त्वपूर्ण है, वह यह है कि उन्होंने भारतीय समाज के विकासकारक तथा ह्रासकारक तत्त्वों को अच्छी तरह पहचाना और जब कि अन्य नाटककार प्रायः कृत्रिम भूख उत्पन्न करने की चेष्टा करते रहे, उन्होंने सहज भूख से जनता की ओर ध्यान दिया, मर्मस्थलों पर चोट की, वास्तविक दुर्बलताओं के चित्र खड़े किये, समाज के सरल और सहज स्रोतों को प्रवाहित किया।

गोविन्ददास जी की नाट्य-कला के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करते हुए श्री रामचरण महेन्द्र ने ठीक ही लिखा है "टेकनीक की दृष्टि से सेठ जी युगान्तरकारी वर्ग के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। 'साहित्यिकता तथा सूक्ष्म अन्वेक्षण के अतिरिक्त आपका सबसे बडा गुण नाटको का रगमचीय विधान है। सफल अभिनय के लिए इनमें सतत गतिमान कथानक और जीवित कथोपकथन है।" इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध समीक्षक गुलाबराय जी का मत है—"नये नाटकीय प्रयोग करने में सेठ जी बडे कुशल हैं।" गोविन्ददास जी के अनेक नाटक अनेक विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रम में नियुक्त हैं। अनेक का अन्य भारतीय भाषाओ में अनुवाद हुआ है, कुछ का अग्रेज़ी में भी और इन अग्रेज़ी अनुवादो में से "दि किंग एण्ड दि वैगर मेड" नामक एकांकी नाटक न्यूयार्क में भी बडी सफलता के साथ खेला गया है।

५ महीनो में १४ नाटक

यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की सी ही सत्वर लेखन-शक्ति उनमें विद्यमान है। अनेक नाटको के लिखने में उन्होने जितना कम समय लिया है, उसे जानने पर आश्चर्य होता है। अभी कोई पाँच महीने पूर्व तक सेठ जी के पचासी नाटक थे। कुछ मित्रो के सुझाव पर उन्होने पन्द्रह नाटक और लिख कर शतक पूर्ण करने का निश्चय किया और पांच महीने में ही अन्य कार्यों के करते हुए इन पन्द्रह में से चौदह नाटक लिख डाले। इन चौदह नाटको में एकाकी केवल ६ हैं, शेष आठ पूरे नाटक हैं, तीन, चार और पाँच अको के[1]। सेठ जी अपना सौवाँ नाटक महात्मा गांधी की जीवनी पर लिख रहे हैं। बडे से बडा नाटक लिखने में उन्हें शायद ही कभी एक सप्ताह से अधिक लगा हो। फिर इतना अधिक लिखने पर भी उनके नाटक एक विशिष्ट उच्च स्तर के होते हैं। उनका कोई भी नाटक कथा, पात्र, विचार अथवा कथोपकथन में दूसरे से नही मिलता, हर नाटक का कथानक, चरित्र-चित्रण, विचार-सरणि, कथोपकथन एक दूसरे से भिन्न, किसी क्षेत्र में भी पुनुरुक्ति नहीं। अपने नाटको को उन्होंने आधुनिकता की वेश-भूषा से, दूषित न करके, अलंकृत किया है। उन्होने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों

---

(१) इन चौवह नाटकों के नाम हैं—विजयबेलि, 'सिहलद्वीप, भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु, अशोक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रहीम, महाप्रभु वल्लभाचार्य भविष्यवाणी, उठाओ खाओ खाना, पाप का घडा, महाकवि कुंभनदास, महर्षि की महत्ता, चैतन्य का सन्यास, परमहस का पत्नी-प्रेम। इनमें प्रथम आठ पूरे और शेष ६ एकांकी हैं। 'भविष्य वाणी' और 'उठाओ खाओ खाना' दो प्रहसनो को छोड़कर शेष ऐतिहासिक अथवा किसी सत्य घटना पर आधारित हैं, ये नाटक शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

ने अपने नाटकों के लिए विषयों का निर्वाचन किया है और आधुनिकता की भूमिका में नव रंग भरने की चेष्टा की है, किन्तु उनका यह प्रयत्न उतनी ही दूर तक गतिशील हुआ है, जितनी दूर तक उसका गतिशील होना उचित ही नहीं, कलात्मकता की दृष्टि से भी अनिवार्यतः आवश्यक है, क्योंकि भिन्न युग में अवस्थित होकर भी यदि हम अपने प्रस्तुत विभिन्न जीवन का, प्राचीन नमूनों के चित्रों से विभिन्न संस्कार न कर लें तो इसमें हमारी कलाकारिता नहीं प्रकट होगी केवल हमारा कलाहीनत्व सिद्ध होगा।

हमारे प्रस्तुत जीवन में जो प्राचीन ऐतिहासिक अथवा पौराणिक पात्र युगों का अन्तर लेकर उपस्थित हैं, कलात्मक कृति में उनका उपयोग उस अवस्था में अत्यन्त आवश्यक हो जाता है जब हम देखते हैं कि उस पात्र से कलात्मक कृति का दर्शक अथवा पाठक कल्पना-जात घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर चुका है। उदाहरण के लिए राम और कृष्ण को ले लीजिए, करोड़ों व्यक्तियों के मानसिक जगत में इन दोनों महापुरुषों की काल्पनिक मूर्त्तियाँ विद्यमान हैं। हम चाहें तो इनका सहारा लेकर सहृदय को बहुत शीघ्रता और सरलता के साथ रस-दशा को पहुँचा दें। किन्तु वास्तव में यह कार्य उतना सरल नहीं है जितना सरल प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए कलाकार में उच्च कोटि की रचनात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। उसमें यह विवेक भी होना चाहिए कि अपनी युगानुरूप संस्करण-प्रक्रिया में कितनी दूर तक जाकर वह निषेधात्मक प्रवृत्तियों के प्रभाव से बचा रह सकता है। सेठ जी की नाटक-रचना की यह बहुत बड़ी सफलता है कि उन्होंने अपने नाटकों में जहाँ कहीं संस्कार करके पात्रों को उपस्थित किया है अथवा नवीन, कल्पित पात्रों की नियोजना की है, वहाँ रस के परिपाक में सहायता ही पहुँची है, उसमें बाधा नहीं उत्पन्न हुई है।

अन्य कई नाटककारों की तरह सेठ जी ने अपने नाटकों के लिए पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक क्षेत्रों से विषयों का चयन तो किया ही है, पर अपने ही ढंग पर उन्होंने समस्या-नाटकों का भी प्रणयन किया है। 'अपने ही ढंग पर' शब्दों का प्रयोग हम इसलिए कर रहे हैं कि वे उन समस्या नाटककारों की पद्धति के अनुयायी नहीं हैं, जो घर वालों की भूख की ओर ध्यान न देकर नये रस-रंग की भूख की तलाश में यूरोप, अमरीका आदि का भ्रमण करते हैं और 'भूख' के नाम पर नशीली कोई भावना लाकर उसे हृदय में स्थान देने के लिए घर वालों को विवश करना चाहते हैं। सेठ जी ने अपने समस्या नाटकों में भारतवर्ष की, भारतीय समाज की, समस्याओं की ओर सहृदय-जनों का ध्यान आकर्षित किया है।

पौराणिक नाटक

उनके प्रकाशित नाटको मे कर्त्तव्य और कर्ण प्रमुख पौराणिक नाटक हैं। नाटककार अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा प्राचीनयुगीन पात्रो को प्रस्तुत युग में किस प्रकार व्यवस्थित करता है, इसका परिचय हमें 'कर्त्तव्य' नाटक में उनके द्वारा प्रस्तुत राम, कृष्ण और राधा के मूल्याकन से प्राप्त होता है। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, नैतिकता के प्रतीक है, लेखक को उनके प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा हो सकती है, किन्तु उनको वह हृदय का पूर्ण प्रेम प्रदान नही कर सकता, प्रेम तो वह कृष्ण ही को दे सकता है, जिनमें राम के अनुशासन के स्थान पर प्रेम की प्रथम महत्ता दिखायी पडती है, किन्तु कृष्ण में भी आत्म-दर्शन-जन्य गाम्भीर्य है, जिससे आकर्षण अधिक होने पर भी तादात्म्य सम्भव नही होता, लेखक को यह ऐकात्म्य तो राधा के व्यक्तित्व ही के प्रति प्राप्त होता है, क्योकि वह दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति के अनुराग का प्रतिनिधित्व करती हुई कृष्ण की ओर उन्मुख होती है, निर्बाध एकाकार के ही कारण लेखक ने राधा के व्यक्तित्व का अकन रसार्द्र होकर किया है। डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने ठीक ही कहा है—''नख से शिख तक प्रेम मे पगी हुई आनन्द-परायणा राधा का चित्रण नाटक की अन्यतम सफलता है।''

श्रीकृष्ण के चरित्र चित्रण में सेठ जी ने एक नवीनता का समावेश किया है—ऐसी नवीनता जो श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व से सर्वथा मेल खाती है, किन्तु जिसकी ओर अन्य किसी की दृष्टि पहुँच नही सकी थी। यह सभी जानते हैं कि जरासन्ध के आक्रमणो से त्रस्त होकर श्रीकृष्ण भाग कर द्वारिका चले गये थे, किन्तु इस पलायन में निहित गूढ रहस्य का उद्घाटन करना सेठ जी की प्रतिभा के लिए ही सुरक्षित था। उन्होने अपने 'कर्तव्य' नाटक में यह समझाने की चेष्टा की है कि श्रीकृष्ण के भागने का कारण कायरता नहीं थी, वरन् वे अपने इस कार्य द्वारा जरासध को आश्वस्त करना चाहते थे कि अब वह विशिष्ट पराक्रम-सम्पन्न हो गया है और अब उसे उन पर आक्रमण की आवश्यकता नही है। 'महाभारत' मे युधिष्ठिर के सामने श्रीकृष्ण ने जरासध के भय से मथुरा को छोडकर द्वारिका को चले जाने की स्वीकारोक्ति की है, उसके रहते हुए भी उनके ऐश्वर्य के सम्बन्ध में किसी को सदेह नही हुआ, किन्तु समुचित व्याख्या के अभाव में औसत श्रेणी का मनुष्य यह कह सकता है कि श्रीकृष्ण के भागने के मूल में कायरता थी। सेठ जी की व्याख्या ने श्रीकृष्ण के त्याग-विशिष्ट ऐश्वर्य को, उनके प्रकृत रूप को दृष्टि प्रदान कर दी।

ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासिक नाटको में उनके जो नाटक प्रकाशित हो चुके हैं, उनमें हर्ष, शशिगुप्त, शेरशाह और कुलीनता उल्लेख योग्य हैं। इनमें से कुलीनता और शेरशाह

में लेखक को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। 'कुलीन' में भी सेठ जी ने अपनी कल्पना-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। ऐतिहासिक कथा को नाट्योपयुक्त बनाने के लिए, कथानक को सुन्दर प्रवाह, प्रगति, कुतूहलपन देने के उद्देश्य से उन्होंने उसमें 'सुरभी' 'देवदत्त' 'रेवासुन्दरी' एवं 'विन्ध्यबाला' इन चार कल्पित पात्रों की नियोजना की है। इस नाटक में रसात्मकता की यथेष्ट रूप से रक्षा हुई है। साथ ही लेखक ने यत्र-तत्र अपने सामयिक विचारों का भी सन्निवेश कर दिया है। इस दृष्टि से निम्नलिखित स्थल अवलोकनीय हैं—

(१) "क्षमा में जो महत्ता है, जो औदार्य है, वह क्रोध और प्रतिकार में कहाँ? प्रतिहिंसा हिंसा पर ही आघात कर सकती है, उदारता पर नहीं।"

···यदुराय (अंक ४, पृ० १)

(२) "संसार में कर्म ही मुख्य है और कुलीनता कर्म पर निर्भर रहती है।"

·· विजयसिंह देव (अंक ४)

(३) "जिन्हें वैधव्य प्राप्त हो गया है और जो एक पवित्र व्रत के कारण अपना सारा जीवन महान् संयम एवं अद्भुत स्वार्थ त्याग से व्यतीत कर समस्त संसार को संयम तथा त्याग का जीता-जागता उदाहरण बना रही हैं···उनका शुभ तथा मंगलकारी अवसर पर उपस्थित होना अशुभ और अमंगल? कृतघ्नता की भी सीमा होती है।'

·· सुरभि पाठक (अंक ४, दृश्य ५)

'शेरशाह' नाटक मे तो गोविन्ददास जी की कल्पना-शक्ति का चमत्कार देखते ही बनता है। शेरशाह जो पहले शेर खां और उससे भी पहले 'फरीद' नामधारी था, चुनार के सूबेदार ताजखां को मारकर उसकी बीबी लाडबानू से विवाह कर लेता है। संयोग से ताजखां की पत्नी होने के पहले ही वह शेरशाह के छोटे भाई निजाम के प्रेम-जाल मे पडकर हृदय खो चुकी थी। शेरशाह की पत्नी होने पर वह अपने खोये हुए निजाम को फिर पा जाती है, किन्तु दुर्बल हृदय निजाम उसे अपना लेने का साहस संग्रह नही कर सका, फलत लाडबानू का प्रेम निष्फल और जीवन निराशामय हो गया है। किन्तु लेखक ने लाडबानू के प्रणय की पवित्रता और उसके औचित्य के समर्थन में लाडबानू के द्वारा जो तर्क उपस्थित कराये हैं, वे अकाट्य हैं और इसी कारण नाटकीय व्यवधान को सहृदय के हृदय में गडने वाला कांटा-सा बना देते हैं। अभागिनी लाडबानू की बातें सुनिए—

"सच्ची मुहब्बत के बाद एक दूसरे से मिलने, एक दूसरे से बात करने की ख्वाहिश तो कुदरती चीज है। और यह सब चीजें गिराती नहीं; एक दूसरे को करीब

लाती हैं। हमारे दिल एक दूसरे को चाहते हैं, लेकिन इनके जरिए तो हमारे जिस्म ही हैं...शक्ल वालों की मुहब्बत में दिलों का मिलना तो तब तक अधूरा ही रहता है जब तक जिस्म भी न मिल जायें। बग़ैर मुहब्बत के भी अगर शौहर और बीबी के जिस्मों का मिलना नापाक नहीं, वह गिराने वाली चीज नहीं, तो जिनमें सच्ची मुहब्बत है और उस मुहब्बत की वजह से जो एक-दूसरे के नजदीक आने के लिए एक दूसरे से मिलना चाहते हैं, उनकी यह बातें नापाक और गिराने वाली कैसे कही जा सकती हैं ?"

पौराणिक और ऐतिहासिक पूरे नाटको के अतिरिक्त सेठ जी ने पौराणिक और ऐतिहासिक एकाकी नाटक भी लिखे हैं।

सामाजिक नाटक

'प्रकाश', 'सेवापथ' और 'सिद्धान्त स्वातन्त्र्य' सेठ जी के वे प्रकाशित सामाजिक नाटक हैं, जिनका प्रधान उद्देश्य राजनीति है। सामाजिक नाटकों ही के अन्तर्गत उनके समस्या नाटक हैं, जिनमें से किसी में राजनीतिक उद्देश्य प्रधान है तो किसी में आर्थिक, किसी नाटक में वैयक्तिक नैतिकता ने महत्व प्राप्त कर लिया है, तो किसी नाटक में वैयक्तिक आर्थिकता ने और किसी नाटक में वैयक्तिक मानसिकता ने।

इन्ही विविध उद्देश्यो को लेकर सेठ जी ने बहुत बडी सख्या में एकाकी नाटक लिखे हैं, जो 'सप्तरश्मि', 'अष्टदल', 'एकादशी', 'पचभूत', तथा 'चतुष्पथ' नामक सग्रहो में सकलित हुए हैं। यह स्मरणीय है कि 'स्पर्धा' नामक सामाजिक एकाकी नाटक को लेकर ही सेठ जी ने एकाकी नाटको के क्षेत्र में प्रवेश किया था। इसका अवलोकन करके ही सेठ जी के सम्बन्ध में स्वर्गीय प्रेमचन्द जी ने अपनी निम्नलिखित सम्मति प्रकट की थी·—

"स्पर्धा सेठ जी की पहली रचना है जो हमारी नजरों से गुजरी। इसके बाद इस सामाजिक नाटक ने हमारी यह धारणा मजबूत कर दी कि सामाजिक नाटक ही आपका क्षेत्र है।"

इसमें सन्देह नही कि पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों को लिखने में यदि सेठ जी की रचनात्मक प्रतिभा को श्रद्धा और अध्ययन अथवा केवल अध्ययन का अवलम्ब लेना पडा है, तो सामाजिक नाटकों के निर्माण में ऐसा प्रतीत होता है कि उनके प्राण उनमें घुल-मिल गये हैं, न किसी अवलम्ब की आवश्यकता रह गयी है और न किसी प्रकार का व्यवधान ही उनके सामने दिखायी पडता है, जिस सरलता और स्वाभाविकता के साथ मछली नदी या तालाब में तैरती है और चिडिया आकाश में उडती है, उसी सरलता और स्वाभाविकता के साथ सेठ जी सामाजिक नाटको की रचना करते हैं।

मैं कह आया हूँ कि हमारे देश और समाज में यहाँ की जलवायु और मिट्टी में उत्पन्न होनेवाली 'भूख' वर्तमान है, उनकी उपेक्षा करना तथा सात समुद्र पार जाकर नकली 'भूख' लाने और यहाँ के प्रतिकूल वातावरण में भी उसे आरोपित करने के लिए आग्रहशील होने की आवश्यकता नही है। मैं यह भी कह चुका हूँ कि सेठ गोविन्ददास जी ने इस देश के मानव-जीवन मे जहाँ खोखलापन है, जहाँ नीरसता है, उन स्थल को पहचाना है और अपनी रचना द्वारा उसे औरो को भी समझाने का प्रयत्न किया है। यह एक बहुत बडी सेवा है जिसे सम्पन्न करने के लिए संस्कार, अनुभव आदि सभी बातो की दृष्टि से जितनी उपयुक्तता उनमें है, उतनी शायद ही किसी अन्य लेखक में पायी जा सकेगी। सेठ जी के सभी सामाजिक नाटकों और एकांकियो की चर्चा यहाँ सम्भव नही है। उनमें जो विशेष उल्लेख योग्य हैं, उन्ही के सम्बन्ध में कुछ कहा जायेगा।

सेठ गोविन्ददास जी पिछले चालीस वर्षों मे भारतवर्ष के बडे से बडे नेताओ के कधो से कधा लगाकर देश की सेवा करते आ रहे हैं। इस लम्बी अवधि में उन्हे न जाने कितने उद्यान-भोजो में सम्मिलित होने का अवसर मिला होगा। कभी-कभी ऐसा भी हुआ होगा कि किसी उत्साही नवयुवक ने ऐसे चाटुकारिता-प्रेरित आयोजनो में देशहित की सच्ची बात कहकर रग में भग कर दिया हो। गवर्नर को पार्टी देने वाले 'राजा अजयसिंह' तथा उसका विध्वंस करने वाले 'प्रकाश' जैसे पात्र उन्हे ऐसे ही अनुभव से मिले होगे। 'प्रकाश' नामक नाटक के उपक्रम में दिखाया गया है कि मिट्टी के बर्तनो की दूकान में घुसकर एक साँड ने बर्तनो को तोड-फोड डाला, 'प्रकाश' ने 'राजा अजयसिंह' की स्वार्थ-सिद्धि की दूकान में प्रवेश करके इसी प्रकार सर्वनाश का दृश्य उपस्थित कर दिया। 'सेवापथ' मे प्रधान पात्र 'दीनानाथ' के माध्यम से सेवा का सच्चा मार्ग दिखाया गया है तथा 'शक्तिपाल' और 'मारगेरेट' जैसे चरित्रो का अवतारणा करके विपथगामी, चरित्र-भ्रष्ट लोगो की नकली सेवा की पोल खोली गयी है। 'त्याग का ग्रहण' नामक नाटक में उच्च शिक्षा-प्राप्त, किन्तु पथ-च्युत 'विमला' का साम्यवादी 'नीतिराज' से गाधीवादी नवयुवक 'धर्मध्वज' द्वारा उद्धार कराया गया है, तथा उसके माध्यम से नाटककार ने यह कहा है, कि भारतवर्ष मे, अध्यात्म विज्ञान का पार्थिव विज्ञान एव मनोविज्ञान मे समन्वय होना चाहिए। असहयोग आन्दोलन के दिनो में वकालत आदि का त्याग लोगो ने कभी-कभी शुद्ध सेवा-भाव से नही, वरन् हल्की श्रेणी की यशेषणा से प्रेरित होकर किया। इसका एक चित्र हमें 'दुख क्यो ?' शीर्षक नाटक मे मिलता है, जिसमें एक ओर तो 'यशपाल' की नीच भावना से मिली हुई सेवा है, दूसरी ओर 'गरीबदास' की सेवा है, जिसके विरक्तिप्रसूत

होने पर स्वय 'यशपाल' की स्त्री सच्ची साक्षी देने और इस प्रकार 'गरीबदास' की रक्षा करने के लिए न्यायालय मे उपस्थित होती है।

खेद है, स्थानाभाव से अन्य सामाजिक नाटकों और एकाकी नाटको के सम्बन्ध में अधिक लिखना सम्भव नही है। सक्षेप में इतना ही कथन यथेष्ट होगा कि इन सब का निर्माण सच्ची सेवा के प्रति अत्यन्त अधिक आग्रह का भाव लेकर किया गया है। अहिंसा की भावना लेखक के हृदय में सर्वोपरि रही है। सेठजी ने गरीबी का भी पक्ष किया है और विलासितापूर्ण जीवन की निन्दा की है। किन्तु गरीबी के लिए उस आग्रह को उन्होने नापसन्द किया है, जिसमें परिस्थिति के प्रति सापेक्षता न हो, जो व्यावहारिकता से शून्य हो। अपने अनेक प्रहसनो और व्यग-प्रधान नाटको में उन्होने कही सट्टेबाजो के हथकडो का उद्घाटन किया है, तो कही साम्राज्यवादी मनोवृत्तियो से प्रेरित अग्रेज शासको का। 'धोखेबाज', 'अधिकार लिप्सा', 'जाति-उत्थान', 'निर्माण का आनन्द', 'विटेमिन', 'फाँसी', 'बूढे की जीभ', 'हगरस्ट्राइक', 'आई सी', 'यू नो', 'सुदामा के तदुल' आदि एकाकी नाटको में उन्होने सामाजिक और राजनीतिक जीवन के छिपे हुए दोषो को रोचक और मनोहर ढग से सब के सामने रख दिया है।

कुछ विशेष नाटक

'नवरस' सेठजी का प्रतीक नाटक है, विकास नाटकीय सवाद है, स्नेह या स्वर्ग' गीति-नाट्य है, तथा 'पट्दर्शन' एकपात्रीय भाव-नाटक। इन रूपको के अतिरिक्त 'भूदान' भी उनका एक रूपक है, जिसमें आचार्य विनोबा भावे के भूदान-आन्दोलन का एक चित्र, जीवित नेताओ का आधार लेकर, अकित किया गया है।

पाश्चात्य नाटककार 'ब्राउनिंग', 'स्ट्रेंडबर्ग' तथा 'नील' की शैली का अनुसरण कर के सेठजी ने 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर' तथा सच्चा जीवन' नामक अन्य एकपात्रीय नाटक (मोनोड्रामा) लिखे हैं, जो 'चतुष्पथ' नामक अन्य सग्रह में सगृहीत है। इनमें पूँजीपति, क्रान्तिकारी, महाजन, जमीदार आदि शोषको का चित्रण किया गया है। हिन्दी में इस प्रकार के नाटको का श्रीगणेश सेठजी ने ही किया है। और सेठजी ने नाटक-लेखन के लिए जिस नवीनतम क्षेत्र का आविष्कार किया है, वह है जीवनी नाटक। 'रहीम', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'महाप्रभु वल्लभाचार्य,' आदि नाटक लिखकर उन्होंने जीवनी-नाटको की उपयोगिता भी प्रमाणित की है।

भारतीय समाज का सिंहावलोकन

सक्षेप में, अपने नाटको में सेठजी ने भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग पर दृष्टि डालने का प्रयत्न किया है और अधिकाश में विचार-धारा एव कलात्मकता दोनो ही का सुन्दर समन्वय स्थापित करने में इन्हे सफलता मिली है। पौराणिक, ऐतिहासिक

और सामाजिक तीनों ही श्रेणियों के नाटकों को एक साथ रखकर देखा जाये तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सेठजी ने भारतीय समाज के समस्त जीवन का, अनेक सहस्र वर्ष से लेकर अब तक का, सिंहावलोकन और स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। जिस निर्मल और निर्लिप्त भाव से विवेक एवं निष्ठापूर्वक रचनाकार के रूप में उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया है, वह अपूर्व है और वे न केवल सहृदय साहित्यिकों की ओर से बधाई के पात्र हैं, वरन् सम्पूर्ण भारतीय समाज की कृतज्ञता के भी उचित अधिकारी हैं। सेठजी की हिन्दी की विविध सेवाओं के उपलक्ष में हिन्दी संसार ने उन्हें दो बार उनके प्रदेश के हिन्दी साहित्य सम्मेलन का तथा एक बार अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष निर्वाचित किया और यह उनके लिए गौरव की बात है कि जिस समय भारतीय संविधान में हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हुई उस समय सेठजी अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष थे। हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर आसीन कराने का, बड़े से बड़े नेताओं के रोष की भी परवाह न कर, उन्होंने जो अथक परिश्रम किया है वह तो अब इतिहास की सामग्री हो गयी है।

सेठजी नार्वे के नाटककार इब्सन के अधिकांश सिद्धान्तों को स्वीकार करके उनका अनुसरण करते हैं, किन्तु कई बातों में आपने अपने निबन्ध 'नाट्य-कला मीमांसा' में अपना स्वतंत्र मत निर्धारित किया है। वे निम्नलिखित हैं:—

(१) नाटक में गीतों की नियोजना होनी चाहिए।

(२) स्वगत-कथन अश्राव्य (Soliloquy) और नियत श्राव्य (Aside) दोनों ही रूपों का बहिष्कार उचित नहीं, नियत-श्राव्य अस्वाभाविक है, किन्तु स्वगत स्वाभाविक है और उसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

(३) एकांकी नाटक में जहाँ काल-संकलन में बाधा उपस्थित हो रही हो, वहाँ आरम्भ में 'उपक्रम' और अन्त में 'उपसंहार' का प्रयोग किया जाय।

(४) जहाँ काल-संकलन की बाधा न हो, वहाँ भी 'उपक्रम' और 'उपसंहार' के प्रयोग से कोई हानि नहीं है, यही नहीं, इससे लाभ है; उनके द्वारा नाटक की सुन्दरता बढ़ाई जा सकती है।

अन्त में, सफल उपन्यासकार एवं सफल नाटककार सेठ गोविन्ददास जी अपनी साहित्य-सेवा से निरन्तर प्रगति करें और भारतीय समाज उससे उत्तरोत्तर उपकृत हो, ईश्वर से यही मेरी प्रार्थना है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र की नाट्य-कला

—डॉ० देवराज उपाध्याय

पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र जी के नाटको से मेरा परिचय एक विचित्र नाटकीय ढग से हुआ। सन् १९३० में मैं इतिहास के एम०ए० का विद्यार्थी था। पटने में युवक आश्रम के पास ही मढिया में रहा करता था। "युवक" विहार का एक-मात्र सर्वप्रथम क्रान्तिकारी मासिक पत्र था। जिन नवयुवको में हिन्दी-साहित्य के प्रति प्रेम था और जिनके हृदय में क्रान्ति की आग थी, नवयुवक आश्रम इनके लिये तीर्थस्थान था। विशेषत बनारस विश्वविद्यालय के तरुण साहित्यिक तो सदा आते ही रहते थे।

मिश्र जी एक बार आये थे 'सिन्दूर की होली' नामक नाटक उन्होने लिख लिया था। प्रतिलिपि करानी थी। परीक्षा सर पर खडी थी। पर मैंने 'सिन्दूर की होली' की प्रतिलिपि तैयार कर अपने को गौरवान्वित समझा। शायद वह मिश्र जी का दूसरा नाटक था। इसके पहले वे "अशोक" की रचना कर चुके थे। इन पच्चीस वर्षों में हिन्दी साहित्य के अन्य अगो की तरह नाटक का भी पर्याप्त विकास हो गया है और वह समृद्ध नजर आता है। पर उस समय भारतेन्दु और प्रसाद ये दो ही नाम नाटक के क्षेत्र में याद किये जाते थे। भारतेन्दु को भी शायद लोग भूल चले थे। पारसी थियेट्रिकल नाटको की सस्ती चमक का इन्द्रजाल भी कम से कम साहित्यिक सुरुचि वालो के मन से उठ चुका था और वे प्रसाद जी के साहित्यिक नाटको पर लट्टू हो रहे थे। ऐसे ही अवसर पर मिश्रजी अपने नाटको को लेकर साहित्यिक क्षेत्र में अवतरित हुए।

अत मिश्रजी के नाटको पर विचार करते समय प्रसाद की नाट्य-कला को हमें सदा सामने रखना होगा। साहित्य के विकास में सदा क्रिया और प्रतिक्रिया की शृखला काम करती रहती है। प्रसाद जी स्वय पारसी नाटको की प्रतिक्रिया-स्वरूप तथा डी० एल० राय के नाटको के रोमास से प्रेरणा ग्रहण कर नाटक-क्षेत्र मे आये थे। उसी तरह मिश्रजी के नाटक का जन्म प्रसादजी की साहित्य पर अग्रवादिता काल्पनिक रगीनी और अनभिनेयता की प्रतिक्रिया के रूप में इब्सन की प्रेरणा से हुआ था।

डा० दशरथ ओझा ने 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में एक स्थान पर लिखा है कि "मिश्रजी का मत है कि प्रसाद के नाटकों में रंगमंच पर जो आत्म-हत्याएँ कराई जाती हैं, संवादों में जो अस्वाभाविकता पाई जाती है, प्रेम की अभि-व्यक्ति में जो लम्बे भाषण कराए जाते हैं, कौमार्य को विवाह से श्रेष्ठ माना जाता है, कल्पना में जो उन्माद भरा रहता है, वह भारतीय नाटक-पद्धति के विरुद्ध है। इसी कारण वह अपने नाटकों में आत्महत्या, काव्यमय संवाद, प्रेमी-प्रेमिका के लम्बे भाषण और कौमार्य-महत्व एवं कल्पना में अतिरंजना को स्थान नहीं देते।" आलोचक की इन पंक्तियों से तथा अपने नाटकों की भूमिका में यत्र-तत्र मिश्रजी ने जो पंक्तियाँ लिखी हैं, उन से यह स्पष्ट है मिश्रजी प्रसाद से भिन्न मान्यताओं को लेकर आये और ये मान्यतायें ठीक प्रसाद के नाटकों के सिद्धान्तों के विरोध में उत्पन्न हुई थीं।

यहाँ हम यही देखेंगे कि मिश्रजी ने हिन्दी नाटक-साहित्य के लिये क्या किया। उसमें उनका अनुदान क्या है? नाटक की कथा-वस्तु तीन तरह की होती है। प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्रित। जिस नाटक की रचना किसी पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथा के आधार पर होती है उसे प्रख्यात कहते हैं तथा जिसमें नाटककार की कल्पना स्वतन्त्र रूप में कथा की सृष्टि कर तत्कालीन किसी समस्या के स्वरूप को हमारे समक्ष रखती है वह है उत्पाद्य। संस्कृत साहित्य के जितने नाटक हैं वे प्रायः प्रख्यात हैं। भारतेन्दु-युग में जब हमारा अँग्रेजी साहित्य से परिचय बढ़ा और एक नई रोशनी मिली तो हमारी आँखें खुलीं। मध्य-युग की दी हुई मनोवृत्ति जब दूर हुई और हम में स्वतन्त्र चिन्तन के भाव जागे, हमने प्राचीनता की ओर देखने की प्रवृत्ति का त्याग किया। नाटक के क्षेत्र में हमारी आधुनिकता इस रूप में परिलक्षित होती है कि वहाँ कल्पना ने प्रवेश किया और उत्पाद्य कथाओं की वृद्धि होने लगी। भारतेन्दु की कल्पना ने अनेक उत्पाद्य नाटकों की सृष्टि कर आधुनिक समस्याओं को मुखर किया।

इस उत्पाद्यता का दर्शन भारतेन्दु-युग के अन्य नाटककारों में भी पाया जाता है। आशा यही बँधती है कि आगे चल कर हिन्दी में निरंतर इस प्रवृत्ति का विकास होना चाहिये। पर प्रसादजी में यह प्रवृत्ति कुछ अवरुद्ध-सी मालूम पड़ती है। उनके सब नाटक प्रख्यात हैं जिसमें भारतीय इतिहास के किसी गौरवपूर्ण पृष्ठ को जागृत किया गया है। आधुनिकता का रंग है अवश्य पर वह प्राचीनता की कल्पना के सामने छिप जाता है।

'ध्रुवस्वामिनी' में आधुनिकता तथा उसकी समस्या कुछ अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट पाई है पर कथा तो वही प्रख्यात ही है। मिश्रजी में इस प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया पाई जाती है, मैं यह नहीं कहता कि उन्होंने प्रख्यात नाटक लिखे ही नहीं, 'वितस्ता की

लहरें' 'दशाश्वमेघ', 'अशोक' इत्यादि तो प्रख्यात ही हैं। पर मेरा ख्याल है कि आगे चलकर हिन्दी नाटको की प्रगति का इतिहास लिखा जायेगा तो वे 'सिन्दूर की होली,' 'राक्षस के मदिर,' 'सन्यासी,' 'मुक्ति का रहस्य', इत्यादि के लिये ही याद किये जायेंगे। प्रसादजी के नाटको का कथानक जटिल होता था तथा उसमें पात्रो की भरमार रहती थी। यहाँ तक कि उनकी सख्या तीस-तीस, चालीस-चालीस तक भी पहुँच जाती थी। अज्ञातशत्रु में तीन राजकुलो के कथानको को इस तरह एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया गया है कि सारा नाटक उलझे हुए सूत्रो का जखीरा बन गया है और अनेक बार पढ़ने पर भी पाठको को कथा की गति को समझने में कठिनाई होती है। दर्शको को जिस परीक्षा तथा मस्तिष्क-भार का सामना करना पडता होगा वह तो कल्पना ही की जा सकती है। राम की कथा को लेकर रचित नाटक में यदि जटिलता आ जाय तो काम चल सकता है कारण प्रत्येक व्यक्ति राम-कथा से परिचित है। वह कथा का टूटी कडियो को अपनी कल्पना से भी जोड कर काम चला ले सकता है। पर अजातशत्रु की ऐतिहासिक जटिलता से जनता परिचित नही है।

यह बात दूसरी है कि कुछ इतिहासवेत्ता ही नाटक के पाठक या दर्शक हो। पर यह नाटक की अपील को बहुत सीमित कर देना होगा। मिश्रजी ने सबसे पहली बात यही की कि कथानक को सीधा-सादा सहज और बोधगम्य बना दिया। पात्रो की सख्या स्वय ही कम हो गई और नाटक के शरीर मे एक स्फूर्ति, कान्ति, चुस्ती आ गई मानो अस्वस्थ और अतिरिक्त मास तथा वसा प्राकृतिक उपचार के कारण क्षीण हो गये हैं और स्वस्थ शरीर में ताजे रक्त की लालिमा फैली हो। प्रसादजी के नाटक प्राय पाँच अको में समाप्त होते थे तथा एक अक में १०, १५ तक भी दृश्य हो सकते थे। मनोविज्ञान तो यही कहता है कि ज्यो-ज्यो समय बीतता है दर्शको के धैर्य की सीमा भी छूटती जाती है।

अत अको को क्रमश लघुता का रूप धारण करते जाना चाहिये। पर प्रसाद जी के नाटको का अतिम अक सबसे वृहत्तम भी हो सकता था। मिश्रजी के नाटको में इन मनोवैज्ञानिक त्रुटियो का सर्वथा अभाव है। ये प्राय तीन अको में समाप्त हैं, नाटको में गीतो का सर्वथा अभाव है। भाव-वैभव और कल्पना तो है पर बौद्धिक विवेचन का आग्रह सदा वर्तमान रहा है। भाषा प्रवाहमयी, कथा को अग्रसर करने वाली है। परिस्थिति से अनुकूलता तथा स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए भी वह साहित्यिक रही है और दैनिक वार्त्तालाप के साधारण स्तर पर नही उतरने पाई।

ऐसा लगता है कि मिश्रजी मन ही मन यह ठान कर चले थे कि वे पौरा-

णिक या ऐतिहासिक आधार पर नाटकों का निर्माण नहीं करेंगे। 'सन्यासी' की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि "इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वाञ्छनीय नहीं।" हो सकता है कि उनके हृदय में ये भाव प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए हों। इस भाव से प्रेरित होकर उन्होंने जो कतिपय नाटक सन्यासी, राक्षस का मंदिर, सिन्दूर की होली, आधीरात इत्यादि लिखे हैं उनमें ही उनकी नाट्य-कला का पूर्ण निखार दिखलाई पड़ता है। उनमें ही मिश्रजी का निजत्व मिलता है। इनमें ही घटनाओं की स्वाभाविकता, लम्बे-लम्बे संवादों का अभाव, चलते व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग, कथानक का सीधापन, आधुनिक समस्याओं का साग्रह प्रवेश इत्यादि विशेषतायें दिखलाई पड़ती हैं जो प्रसाद की नाट्य-कला से उन्हें पृथक् कर देती हैं। यद्यपि भारतेन्दु युग के नाटकों में ही बाल-विवाह, विधवा-विवाह, देश-भक्ति इत्यादि समस्याओं का प्रवेश हो चला था और नाटकों के माध्यम से विचार करने तथा इनके प्रति लोगों के ध्यान आकृष्ट करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी पर फिर भी हिन्दी के समस्या-नाटकों के जन्मदाता मिश्रजी ही कहे जायेंगे। कारण कि उनके पहले जितने नाटककार हुए हैं वे राम-कथा या कृष्ण-कथा में निमग्न रहे और यों ही कभी आँख उठाकर तत्कालीन समस्याओं की ओर भी देख लेते हैं। प्रसाद जी चाहते हुए भी आधुनिक समस्याओं के साथ न्याय नहीं कर सके

उनकी प्रतिभा प्रेरणा के लिये सदा अतीत का ही मुँह जोहती रही जिससे वे पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो सके। पर मिश्र जी हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं जो देह झाड़ कर नवीनता के रंगमंच पर आ गये और उसी का जयोच्चार करने लगे। और एक पर एक ताबड़तोड़ कितने ही समस्या-नाटकों की रचना करके ही दम लिया। 'सन्यासी' (सं० १९८८) में सह-शिक्षा की समस्या के साथ राष्ट्रीय जीवन के अनेक पहलू आ गये हैं। 'राक्षस का मन्दिर' (सं० १९८८) आधुनिक युग के, स्वच्छन्द काम-वासनामय व्यक्तियों की कथा है तथा नारी-उद्धार आन्दोलन के नाम पर स्थापित मातृ-मन्दिरों की पोल खोली गई है। 'मुक्ति के रहस्य' (सं० १९८९) में आधुनिक युग के पुरुष और नारी के बीच एक दूसरे पर प्रभुत्व के स्थापन करने लिये जो वैचारिक स्तर पर युद्ध चलता है उसका वर्णन है। 'सिंदूर की होली' (१९९१) में आधुनिक मनुष्य की धन-लिप्सा तथा उसके लिये जघन्य कर्म करने की प्रवृत्ति का वर्णन है। साथ ही एक नारी के हृदय की विशालता भी वर्णित है। 'आधी रात' (१९९४) में एक ऐसी नारी की समस्या छेड़ी गई है जो जन्म से तो भारतीय है पर शिक्षा-संस्कार में विदेशी है। 'राजयोग' (सं० २००६) में भी विषम विवाह की समस्या उठाई गई है। इस तरह इन नाटकों को देखने से हमारे मस्तिष्क के सामने

सस्कृत अलकार-शास्त्रियो के दीर्घ-दीर्घतर न्याय की बातें याद आ जाती है। यदि पूरी शक्ति लगा कर आप बाण छोडिये, उसके मूल में जितनी प्रेरणा-शक्ति होगी उसी के अनुरूप वह दीर्घ से दीर्घ होता हुआ अपने गतव्य लक्ष्य-बिंदु पर जाकर ही तो दम लेगा। बीच में नही। उसी तरह मिश्र जी के हृदय में मौलिक समस्या-नाटको की रचना करने के जो भाव जगे हैं वे उनसे अपने अनुरूप कुछ नाटको का प्रणयन करा कर ही शात हुए हैं और इन्ही नाटको मे मौलिकता की देदीप्यमान चमक है। स० २००० के बाद के नाटको को देखने से ऐसा लगता है कि मिश्रजी की नाट्य-कला ने मोड लिया है और फिर से वे ऐतिहासिक कथानको की तरफ मुडे हैं। 'नारद की वीणा' (स २००३), 'गरुडध्वज' (स २००८) 'वितस्ता की लहरें' (स २०१०), दशाश्वमेध (स २००९) ये सब इधर की रचनाये हैं। मिश्र जी की नाट्य-कला के इस परिवर्तन का क्या कारण है? इसका भी उत्तर मिश्र जी ने दे दिया है प्रसाद के नाटको से भारतीय सस्कृति और जातीय जीवन-दर्शन की जो हानि मुझे दिखाई पडी, भावी पीढी के पथभ्रष्ट होने की आशका मेरे भीतर उपजने लगी—उसके निराकरण के लिये मुझे ऐसे नाटक रचने पडे जिनमे हमारी संस्कृति और जीवन-दर्शन का वह सत्य उतर उठे जो कालिदास और भासके नाटको में पहले से ही निरूपित है। यह उत्तर कहाँ तक सगत तथा युक्तियुक्त है—इस पर पाठक स्वय विचार करें। मेरा कहना यह है कि कोई कृतिकार अपनी कृति के बारे में जो-कुछ कहता है वह सर्वथा निर्भ्रामक हो यह कोई निश्चित नहीं है।

जब कोई अपनी रचना के बारे में कुछ विचार करने लगता है तो वह भी एक साधारण पाठक की स्थिति में आ जाता है। कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा एकदम अलग-अलग शक्तियाँ रही हैं और उनका क्षेत्र भी अलग-अलग रहा है। जहाँ तक आलोचना करने का प्रश्न है, रचनाकार की कोई विशिष्ट स्थिति नही होती बल्कि यह भी हो सकता है कि एक साधारण तटस्थ आलोचक किसी रचना के बारे मे जो विचार व्यक्त करे वह अधिक सगत तथा विश्वासनीय हो: कारण कि वह थोडी तटस्थता से काम ले सकता है। रचनाकार की आत्म-निष्ठता उसे गलत ढग से भी देखने को प्रेरित कर सकती है।

मिश्रजी के नाटको में इस परिवर्तन का अर्थात् उत्पाद्यता से हट कर व्याख्या स्तर की ओर मुडने का कारण दूसरा है। भले ही मिश्र जी के चेतन मस्तिष्क पर वह स्पष्ट हो कर नहीं आता हो और आया भी हो तो छद्मवेश में दूसरा रूप धारण कर—ठीक उसी तरह जिस तरह हमारे स्वप्न हमारी कुछ मूल भावनाओ के परि-

वर्जित तथा मार्जित रूप होते हैं। मिश्र जी की अन्तश्चेतना प्रसाद और उनकी कला से प्रभावित है। वह महसूस करती है कि नाटक को आज के युग में भी इतिहास तथा पौराणिक कथाओं के आधार से गड़े मुर्दे उखाड़ने के नाम पर वर्जित कर देना उसके हाथ से एक बड़े साधन को छीन लेना होगा जिसके द्वारा वह मानव का हृदय स्पर्श करता है। पर कुछ तो नूतनता के प्रभाव में आकर और कुछ नई चीज देने की प्रवृत्ति के कारण भी मनुष्य 'पुराणमेतन् न साधु सर्वं' वाले सिद्धान्त को खींचकर दूर तक ले जाता है और क्रांति के नाम पर अपने को पुजवाना चाहता है। यह भावना मिश्र जी में अवश्य काम कर रही थी। नहीं तो बात-बात में प्रसाद जी का नाम लेने का क्या अर्थ हो सकता है ?

स्पष्ट है कि प्रसाद जी की कला के वे कायल हैं। सम्भव है परिस्थितियों के कारण उनके अन्दर प्रसाद की नाटय-कला के प्रति विद्रोह के भाव जगे हों पर उनके अन्दर कहीं न कहीं आदर-भावना भी दुबकी पड़ी थी जो ज्वार उतर जाने पर फिर उभर आई। इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप को हम स्वर्गीय महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के जीवन से देख सकते हैं। द्विवेदी जी से बढ़ कर हिन्दी साहित्य का हितैषी और अंग्रेजी मत का विद्रोही कौन होगा ? पर उनके साहित्य के किसी पाठक को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इन पर अंग्रेजी की छाप कितनी गहरी थी—उन्होंने जो कुछ लिखा है वह ८० प्रतिशत अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित है। फिर भी वह अंग्रेजी का अंधानुसरण मात्र नहीं। उसमें द्विवेदीजी का निजत्व है। उन्होंने उसे अपने रंग में इस तरह ढाल दिया है कि वह बिल्कुल स्वदेशी बन गया है। उसी तरह मिश्र जी के सारे नाटक विशेषत. इधर के ऐतिहासिक नाटक प्रसाद जी के ही प्रभाव से लिखे गये हैं फिर भी प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' और मिश्र जी का 'वितस्ता की लहरें' एक ही क़िस्म की चीज़ें नहीं हैं। लेकिन यह भी ठीक है कि इन नाटकों में प्रसाद जी की कला का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

संवादों को लीजिये। हम मिश्र जी के नाटकों को दो श्रेणियों में विभाजित कर लें—उत्थान और प्रस्थान काल की दृष्टि से इन्हें पूर्व २०वीं सदी विक्रमार्क रहें और दूसरे को विक्रम बीसवीं शताब्दी तो हम पायेंगे कि दूसरी श्रेणी के नाटकों के संवाद अधिक गंभीर, भावनात्मक, भारपूर्ण तथा लम्बे हैं फिर भी इनमें प्रसाद के संवादों की गतिहीनता, दार्शनिकता तथा बोझिलता नहीं है। उदाहरण लीजिये "यवन विजय की यह कथा हमारी भाषा में नहीं लिखी जायेगी। नींद में सोए अजगर को जम्बुक ने बाँस मारा है। अजगर की नींद समय पर टूटेगी तब यह भी मर चुका होगा। अपने नाम का नगर जो यह बसाता चला जा रहा है......

... ... उन नगरों को नहीं रहने होगा। यवन विजय के . ऐसे पाताल में गाड़े जायेंगे कि भावी पीढी को इसका पता भी नहीं चलेगा। क्षत्रिय की असि का कलक ब्राह्मण की लेखनी पर नहीं चढ़ेगा।" (वितस्ता की लहरें)। ये पक्तियां साधारण बोल चाल की भापा की नही है।

ऐसा लगता है कि प्रसाद जी जरा नीचे उतर आये हो और मिश्र जी ऊपर उठ गये हो, और दोनो के मिलन विन्दु पर भापा की सृष्टि हो।

मिश्र जी प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी में नाटककार की प्रमुखता की स्थापना की। उनके पूर्व के नाटककार मच-निर्देश नही देते थे अत प्रवन्धक को पात्रो की वेशभूषा, वातावरण, अभिनय, अ ग-सचालन के रूप को निश्चय करने की पूरी स्वतन्त्रता रहती थी और इसके कारण कही-कही अर्थ का अनर्थ हो जाता था। यह कोई आवश्यक नही कि निदेशक नाटक की आत्मा को ठीक तरह से हृदयगम कर ही सके। मिश्र जी ने अपने नाटको मे रग-निर्देश पूर्ण रूप से दिये हैं। अतः मच-प्रवधक के अनुचित हस्तक्षेप से नाट्य-कला की रक्षा की है। कहने का अर्थ यह कि मिश्र जी की नाट्य-कला में भारतीय आत्मा अपने वास्तविक गौरव के साथ नयी साज-सज्जा में प्रगट हुई है। इनमे यूरोप के विकसित नाटको की पद्धति का पूर्ण रूप से उपयोग किया गया है। लेकिन इतने से ही यह नही कहा जा सकता वे भारतीय मान्यताओ के प्रतिकूल हैं।

उन्होने सदा ही पति-पत्नी के सयत और कर्त्तव्य की सीमा में आवद्ध प्रेम को स्वच्छद तथा वैयक्तिक प्रेम से श्रेष्ठ वताया है। विधवा-विवाह को उन्होने कभी भी उतने महत्त्वपूर्ण रग में रग कर चित्रित करने का प्रयत्न नही किया है। ऐतिहासिक नाटको में हिन्दी नाटककारो का ध्यान उत्तर भारत के इतिहास के गौरव-मय पृष्ठो तक ही सीमित रहता था। पर मिश्र जी का ध्यान प्रागैतिहासिक युग तथा दक्षिण-भारत के इतिहास की ओर भी गया है। 'नारद की वीणा' (स २००३) का निर्माण एक प्रागैतिहासिक काल की घटना के आधार पर हुआ है इसमें आर्यों और अनार्यों के सघर्ष की एक झलक दिखलाई गई है। 'कावेरी' कुल तीन एकांकियो का सग्रह है। इसमें दक्षिण भारत की कथा है।

इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी नाट्य-कला दक्षिण-भारत के इतिहास को भी अपना सरक्षण और पोषण देने लगी है। हिन्दी नाट्य-कला की प्रगति की दृष्टि से इसे मैं एक वडी बात मानता हूं। यह हिन्दी साहित्य की सफलता और दृष्टि व्यापकता का चिह्न है। आज जब हम हिन्दी के अन्य नाटककारों की रचना को देखते हैं तो यही कहना पडता है कि मिश्र जी ने हिन्दी नाटको को जिस स्थान पर लाकर छोड दिया

था, वह वहीं पर ज्यों का त्यों है। हिन्दी नाटक-साहित्य में मिश्र जी की देन क्या है? उसे यों समझिये तो बातें स्पष्टतर होंगी। हिन्दी नाट्य-साहित्य में आगे जो कुछ घटना घटे पर एक बात नहीं होगी। वह यह प्रकार के रोमांटिक कल्पना-प्रधान नाटकों के दिन लद गये। उन्हें फिर से पुनर्जीवित करने वाला नाटककार सचमुच बड़ा साहसी होगा ! इसका श्रेय मिश्र जी को है भविष्य में जो भी नाटक हिन्दी में लिखे जायेंगे उनकी रचना मिश्र जी की पद्धति पर होगी या उसी का कोई विकसित रूप होगा।

क्या इतने विश्वास के साथ कोई कह सकता है कि मिश्र जी द्वारा प्रवर्तित नाटक-शैली की जड़ को किसी नूतन प्रतिभा ने जरा भी ढंग से मग्न किया है। सबसे बड़ी बात यह कि मिश्र जी ने हिन्दी-नाटक को एक उपयुक्त शरीर दिया है। प्राणों का सम्पादन तो पहले भी था पर शरीर के अभाव में उनका महत्त्व नगण्य है। कालिदास ने दिलीप के दिव्य वपु का वर्णन करते हुए लिखा है।

> व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध शालप्रांशुर्महाभुज ।
> आत्मकर्मक्षमंदेह क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥
>
> [रघु० १—१३]

ठीक उसी तरह मिश्र जी ने हिन्दी नाटक को "नाट्य-धर्म ..आत्मकर्म क्षम देहं" से समन्वित किया है। सरल स्वाभाविक अन्तर्जगत के चित्रण में समर्थ भाषा, सीधा-सादा कथानक तथा अभिनय, अंकों एवं दृश्यों का समुचित विभाजन और आप चाहते ही क्या हैं ? हिन्दी नाटकों के ही विगत अर्द्धशताब्दी की प्रगति को देखता हूँ तो मेरी कल्पना के सामने मनोविज्ञान के साहचर्य-सिद्धांत (Law of association) के सहारे १९वीं शताब्दी के अंग्रेजी नाटकों का इतिहास उपस्थित हो जाता है। १९वीं शताब्दी जहाँ साहित्य के अन्य रूप-विधानों में समृद्ध रही, काव्य-वैभव का वैसा युग कभी आया ही नहीं पर नाटकों के लिये तो यह युग दरिद्र ही रहा। १८वीं शताब्दी के अन्त में प्रकाशित शेरिडन के 'school for scandal' और आस्कर वाइल्ड या बर्नार्ड शॉ की प्रारम्भिक सुखान्त नाट्य-कृतियों के बीच कोई ऐसी रचना देखने में न आई जो नाटक नाम को सार्थक कर सके। रोमांटिक कवियों ने कुछ नाटक जैसी चीजें लिखी अवश्य हैं पर उनमें उनकी वैयक्तिक कल्पना का प्रसार, हृदयस्थ स्वच्छन्द भावों की अभिव्यक्ति ही प्रधान हो गयी है और उनकी नाटकीयता छिप गई है। ठीक इसी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दी का छायावाद जो अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य से ही अनुरूप है, हमें एक भी नाटक नहीं दे सका। पर छायावादी युग इस बात में गौरवान्वित

शाली है कि इसके प्रारम्भ से ही, इसके कैम्प से ही विद्रोह का अंकुर निकला जिसने अनाटकीयता के लांछन से इसे मुक्त करने का सफल प्रयत्न किया। मैं इस लिए कह रहा हूँ कि मिश्र जी ने भी अपना साहित्यिक जीवन वैयक्तिक उद्गीतियो के सग्रह—अन्तर्जगत्—से ही प्रारम्भ किया था जिसमें हृतन्त्री के तार की झंकार ही अधिक प्रमुख थी।



नाटककार उदयशंकर भट्ट

—डॉ० वि० ना० भट्ट

पं० उदयशंकर भट्ट की प्रतिभा और कला का प्रतिफलन कविता, नाटक, उपन्यास इत्यादि साहित्य की अनेक विधाओं में हुआ, तथापि नाटककार के रूप में ये जितने प्रसिद्ध हैं, उतने उपन्यासकार अथवा कवि के रूप में नहीं। प्रारम्भिक नाटकों में उनका मन पौराणिक या फिर ऐतिहासिक कथा-वस्तु में ही अधिक रमा है। इन दोनों ही क्षेत्रों के भीतर से उन्होंने जिन पात्रों का चयन किया है वे प्राय: परिस्थितियों से विक्षुब्ध ऐसे व्यक्ति हैं, जो जीवन के घात-प्रतिघात और विषमताओं का नैतिक समाधान लेकर हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। इन नाटकों में स्वर्णिम अतीत और वर्तमान इतिवृत्तात्मक यथार्थ का जो आकर्षक समन्वय हुआ है वह उसी युग की चेतना का परिणाम है जिसमें इन प्रारम्भिक नाटकों का प्रथम प्रकाशन हुआ था। भट्टजी द्विवेदी-युग और छायावादी युग के प्रत्यक्ष साक्षी हैं और इसमें संदेह नहीं कि इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ उन्हें द्विवेदी-युग से प्रेरणा प्राप्त साहित्यकार घोषित करती हैं। इन नाटकों में स्थूल सत्यों का उन्मेष अधिक किन्तु जीवन के सूक्ष्म सौन्दर्य की स्थापना कम है। पात्रों में कर्त्तव्य की प्रेरणा तो है किन्तु प्राणों की चेतना की कांति प्राय: धूमिल हो गयी है।

रीतिकालीन राग-रसिकता की प्रतिक्रिया-स्वरूप सुधारवादी युग अतीत के वैभव और व्यावहारिक आदर्श का पुजारी बन गया था। राष्ट्रीयता के साथ वीर-पूजा की भावना उद्दीप्त हो गयी थी, इसी कारण भट्टजी ने भी अपने नाटकों के लिए मध्यकालीन इतिहास को अपनाया। उनके ऐतिहासिक नाटक भारत के सामन्तयुगीन इतिहास पर आधारित हैं। किन्तु ऐतिहासिक गवेषणा द्वारा काव्योपयोगी मौलिक तथ्यों का उद्घाटन वे नहीं कर सके हैं। इसी कारण उनके ऐतिहासिक नाटकों में सामान्यवर्गीय पात्र तो मिलते हैं, किन्तु किसी पात्र के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र वैशिष्ट्य परिलक्षित नहीं होता। 'दाहर' का तो नामकरण ही नायक के नाम पर हुआ है, परन्तु नायक में स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण यहाँ भी नहीं हो सका है। हो भी नहीं सकता था, क्योंकि सामन्तयुगीन स्वाभिमान जान पर खेल जाना तो जानता है, परन्तु मानवीय वृत्तियों के सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्व से प्राय: मुक्त रहता है। उनमें आदर्श एक प्रकार का

ऋजुता रहती है, वैसा आन्तरिक संघर्ष नहीं, जिसकी नाट्य-कला में अपरिहार्य आवश्यकता है ।

तथापि क्या पौराणिक और क्या ऐतिहासिक नाटकों में भट्टजी को अतीत मात्र अतीत के लिए प्रिय नही है । अपने पात्रो को नूतन भावनाओ और वाणी से मुखर बनाकर लेखक ने उनकी विषमताओ में अतिशय आत्मीयता और आधुनिकता समाहित कर दी है । फलत एक ओर तो पात्रो का स्वभावगत आभिजात्य अक्षुण्ण बना रहा है, दूसरी ओर वे पिछले युग की राष्ट्रीय और नैतिक चेतना के निकट भी आ गये हैं । उनके नाटक कथा-वस्तु में प्राचीन होते हुए भी अपनी अभिव्यक्ति में अर्वाचीन हैं । पौराणिक नाटक 'सगर-विजय' में दुर्दम की मनमानी, सत्यनिष्ठ नागरिकों को मृत्यु-दण्ड, प्रजा का विद्रोह, सगर का माता की प्रसन्नता के हेतु राष्ट्र-सेवा का व्रत लेना जैसी घटनाएँ, अथवा ऐतिहासिक नाटक 'दाहर' मे वर्ण-भेद, प्रान्त-भेद इत्यादि से दृष्टिकोण की सकीर्णता, धर्मवाद की अकर्मण्यता, रूढिवाद की विवेक-शून्यता जैसे दुर्गुणो के परिणाम-स्वरूप पराधीनता का अभिशाप, या फिर 'शक विजय' में सघ-शासन का आदर्श, गण-तन्त्र की स्थापना, विदेशी न्यायप्रिय शासन से भी अन्यायपूर्ण स्वदेशी शासन की श्रेष्ठता, व्यक्ति की अपेक्षा देश के महत्त्व की घोषणा पिछले युग की राष्ट्रीय नैतिकता की ही पुकार है । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हेतु ऐसी ही विषमताओ से भारत ने निरन्तर सघर्ष किया है । किन्तु भट्टजी के इन नाटको में नाट्य-तन्त्र की शिथिलता खटकती है । सस्कृत तथा अंग्रेजी नाट्य-कला की विशेषताओ के समन्वय का जो प्रयत्न उन्होने किया है वह भी सफल नही हो सका है ।

'कमला' उनका उत्कृष्ट और 'अतहीन अत' सामान्य सामाजिक नाटक है, 'कमला' पर विचार करते समय 'विद्रोहिणी अबा' को भी सम्मिलित कर लेना उचित होगा क्योकि 'कमला' और 'अबा' दोनो में सामाजिक विषमताओं से उद्भूत नारी-समस्या का तादात्मय है।

'कमला' का नायक देवनारायण सामन्तयुगीन नारी-विषयक मनोवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है । इस युग की नारी उपभोग की साधारण वस्तु मात्र है । देवनारायण भी नारी को जीवन के सामान्य उपकरण से अधिक और कुछ नहीं समझता । वृद्धावस्था में वह कमला से विवाह कर लेता है किन्तु देवनारायण और कमला के मानसिक धरातल में युगो का अतराल है । फलतः वर्तमानयुगीन नारी-भावना का विगत युग की नारी-भावना से सघर्ष आरम्भ हो जाता है । कमला का सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना देवनारायण की दृष्टि से अनुपयुक्त है । इसी कारण वह उसे दुश्चरित्रा समझ कर उसके साथ अत्यन्त क्रूर व्यवहार करता है, जिसके परिणाम-स्वरूप नाटक दुखान्त हो जाता है ।

'विद्रोहिणी अंबा' में भी पुरुष के प्रति नारी के चिर विद्रोह और प्रतिकार-भावना का व्याख्यान है। यहाँ भी नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की समस्या उठा कर नाटककार ने वर्तमान-कालीन स्त्री-पुरुष संघर्ष और नारी-स्वातन्त्र्य-भावना का आरोप किया है। 'समस्या' और 'अंबा' दोनों ही में पुरुष की अधिकार-लिप्सा के विरोध में नारीत्व चीत्कार उठा है। सामाजिक नाटक 'समस्या' में नारी-समस्या यदि प्रत्यक्ष रूप में प्रदर्शित है तो पौराणिक भाव-नाट्य 'अंबा' में उसकी विवशता की चेतना प्रतीकात्मक रूप से उभरी है। 'अंबा' में भीष्म, शान्तनु और शाल्व उसी चिरन्तन पुरुषत्व-दंभ के प्रतीक हैं जो नारी को पुरुष की उपभोग्या मात्र मानता है। इधर अंबा, अंबालिका, अंबिका और सत्यवती उन अपमानित नारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो नारी को अधिकृत वस्तु समझे जाने का घोर विरोध करते हुए उसकी स्वतन्त्र सत्ता प्रतिष्ठापित करना चाहती हैं। अंबिका की निम्नोक्त अभिव्यक्ति में तो उसका एक-एक शब्द अग्नि स्फुलिंग बन गया है —

"यही तो समाज की मर्यादा है। असमर्थ रोगी पुरुष के विवाह के लिए एक नहीं तीन-तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो और क्या है? हमारे अधिकार किसने छीन लिए, समाज ने ही तो। मैं तो कहती हूँ हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हैं।"

पुरुष के प्रति आज की नारी का स्वर भी ऐसा ही तीखा है। नारी का पुरुष द्वारा शासित रहना एक कटु सत्य है। इसका कारण चाहे आध्यात्मिक हो, चाहे मनोवैज्ञानिक, आर्थिक अथवा शारीरिक; किन्तु नारी की परावलम्बिता है एक ठोस सत्य। यह ठीक है कि नारी के रूप और यौवन की कलाई पर पुरुष फिसल जाता है, पर क्या नारी ने प्रायः उसी को अपना अस्त्र नहीं बनाया है? नारी जब तक अपने क्षेत्र में रह कर पुरुष से संघर्ष करती है वह अजेय है, अपराजिता है, परन्तु पुरुष के क्षेत्र में पदार्पण करके संघर्ष छेड़ते ही उसकी विजय संदिग्ध हो जाती है। भट्ट जी के भाव या गीति-नाट्यों में इसी सत्य की उपस्थापना हुई है। नारी का रूप-सौन्दर्य उसके लिए वरदान भी है और अभिशाप भी। इसी कारण अधिशिक्षिता सत्यवती ने स्तुति-गर्हणा-दोष-गुण भाषा में कहा है :—

"नारी के स्वरूप सुख-शोभा में छिपे हैं देव,
संख्याहीन अभिशाप, संख्याहीन यातना।"

'विश्वामित्र' में मेनका और उर्वशी के वार्तालाप में यह बात और भी स्पष्ट हो गयी है। उर्वशी जब नारीत्व की विवशता से आहत होकर कहती है :—

"नारी प्राण-विहीन चेतना से रहित
एक भावना पुञ्ज पराई आस है।
जो साधन है जग में मानव-सौख्य की
सुख-हीना है स्वयं, अपर का सुख सदा।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की
मदिरा जिसको स्वयं नशा होता नहीं।"

तब मेनका यही प्रत्युत्तर देती है कि —

"वह सत्ता है, कोमल जग के तत्व की
और कल्पना सहज विधाता-हृदय की।
मानव के नैराश्य पुञ्ज में रूप की
ज्योति-शिखा है नारी नर की चाहना
यदि इस जग में रहे न बुद्धि विवेक तो
नारी कोमल हृदय-तन्तु की स्फूरणा।

नारी के कृष्ण-पक्ष और शुक्ल-पक्ष के ज्वलन्त सत्य का यह उद्घोष सर्वथा सवर्धनीय और मौलिक है। नारी के प्रति इससे स्वस्थ जीवन-दर्शन और हो भी क्या सकता है ? नारी-समस्या को भट्ट जी ने अपनी अनेक कृतियो में उठाया है, परन्तु उसका समुचित समाधान वे यही कर सके हैं। विद्रोहिणी अबा को भीष्म से प्रतिशोध लेने के लिए भी किसी पुरुष—परशुराम—की ही शरण लेनी पडती है, और परशुराम के असफल होने पर जब दो जन्मों की अतिप्राकृतिक साधना के पश्चात् अबा विजयिनी होती है तब स्वाभाविकता कितनी रह जाती है ?

भट्ट जी को सर्वाधिक सफलता 'मत्स्यगधा' और 'विश्वामित्र' में मिली है। विश्वामित्र में नाट्य-तन्त्र पर पूर्ण ध्यान रखा गया है, फिर भी सभी दृष्टियो से मत्स्यगधा का सौन्दर्य अक्षय है। हिन्दी नाट्य-साहित्य में भट्ट जी के गीति-नाट्यों का महत्व अतर्क्य है। उनके बडे नाटकों में घटनाओ की उलझनें प्राय वैरस्याधायक सिद्ध हुई हैं, किन्तु गीति-नाट्य में घटना और व्यापार का उतना महत्त्व नही होता जितना नाटकीय शैली में अभिव्यक्त सहज भावोच्छलन का होता है। भट्ट जी के अन्तस् में उनका कवि और गीतकार जितना जागरूक है, उतना नाटककार नही। नाटक लिखने के पूर्व वे पर्याप्त कविताएँ लिख चुके थे, अत उनके हृदय की काव्यमयी स्निग्धता को गीति-नाट्य में अनुकूल क्षेत्र मिला। इसी के साथ उनकी उस पुराण-प्रियता का सम्प्लवन हुआ जिसने आरम्भ में उन्हें नाटक लिखने की प्रेरणा दी थी, फलत 'विश्वामित्र' और

मत्स्यगंधा जैसे गीति-नाट्यों में उनकी कला अपने उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर पहुँच गयी है।

इन दोनों गीति-नाट्यों में मानव-हृदय का आलोड़न करने वाली भोग-वृत्ति, नैतिक-बुद्धि, और अहंकार के घात-प्रतिघात की निदर्शना बहुत-कुछ फ्रायडोनियन मनोविज्ञान पर आधृत है। वस्तुतः इन तीनों का सामञ्जस्य ही जीवन-साफल्य की कुञ्जी है। भट्ट जी ने नर के प्रबुद्ध अहंकार को विश्वामित्र के प्रतीक के रूप में खड़ा किया है। अपने तप-ऐश्वर्य से प्रमत्त होकर विश्वामित्र कहते हैं :—

"बुझ सकते रवि भृकुटि निपात से।
फट सकता ब्रह्मांड एक संकेत पा।"

यहाँ अहंकार ने भोग-वृत्ति और नैतिक बुद्धि को अभिभूत कर लिया है। किन्तु मेनका के रूप और यौवन से टकरा कर उनका दंभ खंड-खंड होकर नारी के चरणों पर बिखर जाता है। सब कुछ भूल कर वह कह उठते हैं :—

"सब प्रपञ्च अध्यात्म एक तुम सत्य हो।
यह सौन्दर्य समग्र सृष्टि का मूल है।"

तथापि समाधि-भंग होने पर विश्वामित्र जैसे तपोनिष्ठ का बिना किसी तीव्र आन्तरिक संघर्ष के साधना-च्युत होकर हृदय हार बैठना समझ में नहीं आता। इस स्थल पर अन्तर्द्वन्द्व का सम्यक् तनाव निश्चय ही उत्कर्षाधायक हो सकता था। यह ठीक है कि अपूर्णता में भी कला की सत्ता सम्भाव्य है, किन्तु औचित्य की उपेक्षा सम्भव नहीं।

'मत्स्यगंधा' में आद्यन्त नारी-मनोवृत्ति अतीव कोमलता से अनुस्यूत है। 'विश्वामित्र' और 'मत्स्यगंधा' की कथा-वस्तु में थोड़ा-बहुत साम्य होने के कारण दोनों की नारी-भावना का सम्मिलित रूप नाटककार के तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण को पर्याप्त स्पष्ट कर देता है। 'विश्वामित्र' में मेनका कहती है :—

"सौन्दर्य और रूप हमारे अस्त्र हैं,
जिसके वश त्रैलोक्य नाचता है सखी
यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को उठा
नाच नचाऊँ जड़ पुतली कर काम की।"

और पराशर से परिचय होने पर जब मत्स्यगंधा को अक्षय यौवन का वरदान प्राप्त होता है तब भी मानो नारी-हृदय की वही चिरन्तन पिपासा निराकुल होकर

मूर्तिमान हो उठती है। यौवन के उद्दाम आवेग से मत्स्यगधा के हृदय में भी शत सहस्र अभिलाषाएँ करवटें लेने लगती हैं। उसके हृदय-मथन की यह अभिव्यक्ति गीति-तत्त्व की विभूति से समृद्ध है —

"कौन उठता है कौन सोता मेरे पास छिप
जान सकना कठिन ! किन्तु देखती यही कि कोई
राग-सा बजाने मेरे प्राणों की वीन पर
चल-चल आता है।"

किन्तु प्यास अतृप्त है। लहर-सी मुक्त केवट की यह वेटी अपने अभाव के कारण ही अपने आपको धरा-धाम पर उल्कापात समझती है। अनग-प्रदत्त अक्षय यौवन के वरदान की प्रथम अस्वीकृति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भोग-वृत्ति का दमन है। यह दमित भावना उसके हृदय को और भी आलोडित कर देती है। अनग का वरदान भी क्या किसी की इच्छा का मुखापेक्षी होता है ?

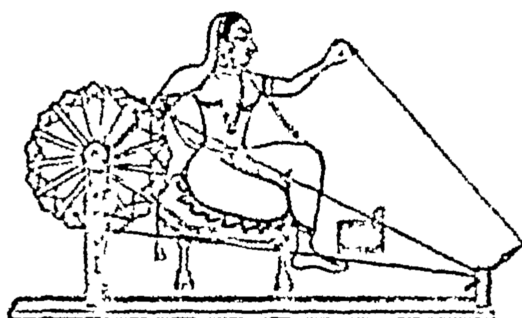
पराशर और मत्स्यगधा के मिलन में काम के आवेग और यौवन के चाञ्चल्य का समवेत चरम विन्दु अपने विकास क्रम में एकान्तत मनोवैज्ञानिक है—श्लाघ्य है। और नारी जिस रूप तथा यौवन को इतना काम्य एवं वरेण्य समझती है, पुरुष के अभाव (वैधव्य) में उसी का हाहाकार कितना उत्कट है यह महारानी सत्यवती बनी हुई मत्स्यगधा के इन शब्दो में मुखर है —

"घूमता शरीर यन्त्र, घूमते नगर धाम
घूमता है नील नभ, जगत अलात-सा"

नि सदेह अपनी रगोज्ज्वलता के कारण 'मत्स्यगधा' हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

'राधा' भट्ट जी का नवीनतम गीति-नाट्य है। किन्तु जिन गीति-तत्त्वों के माधुर्य-ऐश्वर्य से 'मत्स्यगधा' का सौन्दर्य समृद्ध बना है उन्ही के अभाव से 'राधा' भी हीन है। गीति-काव्य के समान गीनि-नाट्य भी विचार, चिन्तन, अथवा दार्शनिक ऊहा-पोह के लिए उपयुक्त क्षेत्र नही है। इस गीति-नाट्य के राधा-कृष्ण परपरागत राधा-कृष्ण से भिन्न हैं, राधा इसी भू-लोक की विवाहिता युवती है जो कृष्ण से प्रेम करने लगती है और कृष्ण कर्म-योग, ज्ञान-योग इत्यादि का विस्तृत व्याख्यान करने वाले—धर्म-सस्थापन के सुनिश्चय से अवतरित महाभारत के योगेश्वर कृष्ण हैं, प्रणय-रीति में चतुर भागवत के गोपीवल्लभ नहीं। फलत यहाँ प्रेम और वासना के सघर्ष में वह अन्तश्चमत्कार नही मिलता जो गीति-नाट्य का मेरुदड है।

ऊपर के इन विविध प्रकारों के अतिरिक्त भट्ट जी ने अनेक एकांकियों की भी रचना की है। यत्र-तत्र त्रुटियाँ तो इनमें भी हैं, तथापि बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकियों में उन्हें कहीं अधिक सफलता मिली है। 'आदिम युग', 'प्रथम विवाह' जैसी रचनाएँ यदि धूमिल अतीत में अनुभूति-किरण सहायता से प्रवेश करके मानव सभ्यता के प्रारम्भिक सोपानों पर प्रकाश डालती हैं, तो 'सेठ लाभचन्द,' 'नेता', धर्म-निर्वासन, उन्नीस सौ पैंतीस, जैसे एकांकियों में वर्तमान सामाजिक जीवन के सजीव चित्र अंकित हुए हैं। आज के मध्यम-वर्गीय और उच्च-वर्गीय सामाजिक जीवन में सहृदयता के आवरण के नीचे छिपी दुर्बलताएँ उनकी सन्तुलित तूलिका से खूब उभरी हैं। इसी कारण उनके एकांकी हृदय को निकटता से स्पर्श करते हैं। कुछ एकांकी तो ऐसे हैं जिनमें स्वयं भट्ट जी के ही जीवन में घटित कतिपय घटनाओं का सच्चाई के साथ चित्रण हुआ है। कहीं-कहीं तो घटनाओं से सम्बन्धित अपने परिवार के लोगों के नाम भी उन्होंने ज्यों के त्यों रहने दिये हैं। 'बड़े आदमी की मृत्यु' भी ऐसा ही नाटक है जिसके प्रकाशन से उनके जाति भाइयों में हलचल मच गयी थी। वस्तुतः व्यंग्यात्मक चुभन का यही निक्षेप उनकी एकांकी-कला का केन्द्र-बिन्दु है। रेडियो से प्रसारित उनके ध्वनि-रूपक भी पर्याप्त लोकप्रिय हुए हैं। हिन्दी के सतृष्ण पाठकों को भट्ट जी से अभी अनेक आशाएँ हैं।



नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी'

—श्री सुरेशचन्द्र गुप्त

आधुनिक युग में भारतीय इतिहास की पूर्ण अथवा आंशिक रूप से उपेक्षित विविध घटनाओं को नाटक-साहित्य के माध्यम से जन-प्रेरणार्थ उपस्थित करने वाले साहित्यकारों में श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने नाटककार के अतिरिक्त कवि के रूप में भी अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। इस दिशा में उनकी 'रूप-दर्शन', 'वन्दना के बोल' तथा 'आँखों में' शीर्षक काव्य-रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नाटक के क्षेत्र में उनकी 'रक्षा-बन्धन', 'आहुति', 'स्वप्न-भंग', 'उद्धार', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'बन्धन' 'मित्र', 'पाताल-विजय', 'छाया', 'विषपान', 'एवं शपथ' आदि अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से उन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक और पौराणिक कथाओं से सम्बद्ध नाटकों की रचना की है। इनके अतिरिक्त उन्होंने नाट्य-शिल्प की ओर प्रमुख रूप से ध्यान देते हुए एक ओर तो 'स्वर्ण-विहान' नाम्नी पद्य-नाटिका की रचना की है और दूसरी ओर 'मन्दिर' तथा 'बादलों के पार' शीर्षक एकांकी-नाटक-संग्रह उपस्थित किये हैं।

'प्रेमी' जी ने नाटक-रचना को अपने साहित्य का मुख्य अंग बनाया है और नाट्य-रचना के सिद्धान्तों का गहन अध्ययन कर अपनी रचना-नीति को प्रौढ रूप में स्थिर किया है। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में लोकप्रियता प्राप्त करने के अतिरिक्त उनके नाटक इतर भारतीय भाषाओं में अनुवादित होकर भी प्रसारित हुए हैं। इस दृष्टि से उनके 'रक्षा-बन्धन' शीर्षक नाटक का गुजराती में अनुवाद हुआ है और काका कालेलकर ने इस अनुवाद के लिए श्रेष्ठ परिचयात्मक भूमिका लिखी है। इसी नाटक को श्री मणिराम 'दीवाना' ने उर्दू में अनूवादित किया है। इसी प्रकार उनके 'छाया' शीर्षक नाटक का भी उर्दू में 'पतवार' के नाम से रूपान्तर हुआ है।

'प्रेमी' जी के नाटकों को अभिनय एवम् मूल्यांकन की दृष्टि से विविध साहित्य-संस्थाओं की ओर से भी विशेष समर्थन प्राप्त हुआ है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा उनके 'रक्षा-बन्धन' एवम् 'स्वप्न-भंग' शीर्षक नाटकों पर क्रमश: प्रदत्त किए गए 'मानसिंह-पुरस्कार' तथा 'रत्नकुमारी-पुरस्कार' इसके प्रतीक हैं। उनके 'विष-पान' शीर्षक नाटक को भी 'बंगाल हिन्दी-मण्डल' ने पुरस्कृत किया है। उन्होंने

अपने नाटकों की अत्यन्त मनोयोगपूर्वक रचना की है और अध्ययन तथा अभिनय-दर्शन दोनों ही की स्थिति में वे पाठक को अनिवार्यतः प्रभावित करते हैं। हिन्दी में संक्षिप्त और भावपूर्ण नाटकों की रचना करने वाले नाटककारों में वह अग्रगण्य हैं और रंगमंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने किसी भी नाटक का व्यर्थ विस्तार नहीं किया है। इतना होने पर भी अभी हिन्दी में उनके नाटकों की विशद समीक्षा नहीं हुई है और उनकी नाट्य-कला के विषय में केवल कतिपय निबन्ध एवम् आलोचना-ग्रन्थों में प्रासंगिक उक्तियाँ ही उपलब्ध होती हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम उनके नाटकों में उपलब्ध होने वाली विविध विशेषताओं का क्रमशः विश्लेषण करेंगे।

नाट्य-सिद्धान्त

किसी भी साहित्यकार के साहित्य को हृदयंगम करने के लिए उनके साहित्य-विषयक विचारों का अध्ययन विशेष सहायक होता है। इस दृष्टि से 'प्रेमी' जी के साहित्य का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उनके नाटकों के प्रारम्भिक वक्तव्यों में प्रायः नाटक के विषय में विविध उक्तियाँ उपस्थित की गई हैं। नाटक के अतिरिक्त उन्होंने साहित्य के सामान्य स्वरूप की चर्चा भी की है, किन्तु इस प्रकार के वक्तव्यों का अध्ययन भी नाटक की आधार-भूमि पर ही करना समीचीन होगा। यद्यपि यह सत्य है कि नाट्य रचना के विषय में उन्होंने स्वतन्त्र मौलिक लेखों की रचना नहीं की है, तथापि उनके नाटकों में उपलब्ध होने वाले पूर्व-कथनों से हमें उनके नाटक सम्बन्धी विचारों के पर्याप्त संकेत उपलब्ध हो जाते हैं। उनके नाट्य-सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करने के लिए एक अन्य स्रोत उनके नाटकों का अध्ययन भी हो सकता है। इस दृष्टि से हम उनके नाटकों की विविध विशेषताओं के आधार पर उनके नाट्य-सिद्धान्तों की परिकल्पना भी कर सकते हैं।

'प्रेमी' जी नाटकों में यथार्थवाद को संयत रूप में उपस्थित करने के समर्थक हैं। उन्होंने साहित्य में लोक-हित के समावेश को अनिवार्य मानते हुए कुप्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने वाले पात्रों के उल्लेख को सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकर माना है। भारत की प्राचीन संस्कृति को नियमित करने वाले विविध आदर्श गुणों को साहित्य में समाविष्ट कर उनके माध्यम से पाठकों को वर्तमान युग के विग्रहात्मक जीवन से विकर्षित कर पुनः सांस्कृतिक विभूति की ओर ले जाना वह साहित्य का प्रमुख उद्देश्य मानते हैं। इस दिशा में उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टि से समाज के अभावग्रस्त प्राणियों के जीवन में उपलब्ध होने वाली विविध कुप्रवृत्तियों के विषय में उन्होंने अपने गहन अध्ययन का स्पष्ट परिचय दिया है। उनके

जीवन की विवशताओ का चित्रण करते हुए उन्होने उनके दोषो के लिए भी समाज के उच्च वर्ग को ही दोषी ठहराया है। यह वर्तमान भौतिकतावादी युग का एक एकान्त सत्य है । 'प्रेमी' जी ने इसका प्रतिपादन कर अपनी सूक्ष्म और गहन अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है । 'बन्धन' में हमें मूलत उनकी यही विचारधारा पोषित होती हुई मिलती है ।

'प्रेमी' जी ने साहित्य में राष्ट्रीयता के समावेश की आवश्यकता का भी उपयुक्त प्रतिपादन किया है। उन्होने अपनी नाट्य-भूमिकाओ में स्थान-स्थान पर इस प्रकार के सकेत उपस्थित किए हैं कि उनके नाटक देश की सामयिक आवश्यकताओ के अनुसार प्रणीत हुए हैं। इतना होने पर भी उनके नाटको पर एकातत सामयिक होने का आरोप नही लगाया जा सकता। इस विषय में उनकी स्थिति प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द जी से पर्याप्त भिन्न है। जहाँ प्रेमचन्द के उपन्यासो में प्राप्त होने वाली विविध समस्याओ में से अधिकाश का आज पूर्ण अथवा अर्ध-विलोप हो गया है वहाँ 'प्रेमी'जी के नाटको में उपलब्ध होने वाली सामाजिक समस्याएँ प्राय शाश्वत हैं। यद्यपि उनमें से कुछ को स्थिति आधुनिक भौतिकवादी युग के स्वरूप पर आधृत है और भौतिक जीवन-दृष्टि के परिवर्तन के साथ-साथ उनकी उपयोगिता मे भी अन्तर आना सम्भाव्य है, तथापि नाटक और उपन्यास के तात्त्विक भेद के कारण 'प्रेमी' जी के नाटकों में सामयिकता की स्थिति अधिक नही उभर पाई है।

कथानक

'प्रेमी' जी ने अपने नाटको में कथा-तत्त्व को अत्यन्त सहज और प्रभावोत्पादक रूप में उपस्थित किया है। उनके नाटको का सम्बन्ध अधिकतर इतिहास से रहा है। अत उनके नाटकों की कथावस्तु की समीक्षा करते समय सहसा यह प्रश्न उठता है कि उन्होंने अपनी रचनाओ में इतिहास का किस सीमा तक निर्वाह किया है। इस विषय में अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उन्होने ऐतिहासिक घटनाओं में कल्पना की मधुरता को मिश्रित कर अपने नाटकीय कथानको को इतिहास की शुष्कता से दूर रखने का यथासम्भव प्रयास किया है। रस सृष्टि और किसी विशिष्ट पात्र के व्यक्तित्व के उन्नयन के लिए उन्होंने अपने अधिकाश नाटकों में कल्पित पात्रों एव घटनाओं की योजना की है। उनका मत है कि ऐतिहासिक नाटको में कल्पना के मिश्रण द्वारा कथा को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए नाटककार को सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित वक्तव्य देखिए —

"नाटकों में इतिहास की अक्षरश रक्षा करना कठिन कार्य होता है ....

नाटकों में दो-एक पात्रों का चरित्र सर्वथा काल्पनिक भी हो सकता है।"

—(शिवा-साधना, अपनी बात, पृष्ठ ८ तथा १०)

'प्रेमी' जी के नाटकों में आदर्शवाद को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। युग के नैतिकतामय जीवन का चित्रण उन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है। उनके प्रत्येक नाटक में आदर्शवाद के स्वर प्रमुख रहे हैं और प्रायः उनके किसी न किसी पात्र ने घटनाओं को आदर्श प्रेरित रखने में मुख्य योग प्रदान किया है। इस आदर्शवादिता की योजना के लिए उन्होंने मनोविज्ञान और आचार-शास्त्र का व्यापक आधार लिया है। उनके नाटकों के कथानकों में साधारणीकरण के गुण की भी उपयुक्त स्थापित हुई है। अतः उनका अध्ययन करने पर अध्येता का चित्त स्वभावतः आदर्श-ग्रहण की प्रेरणा का अनुभव करने लगता है। अपनी आदर्शवादी मनोवृत्ति के कारण ही उन्होंने आधुनिक युग में समाज-साम्य की स्थापना करने से सम्बन्धित विविध विचार-प्रणालियों को ग्रहण करने पर भी अतीत काल के भारतवर्ष की उपलब्धियों की उपेक्षा न करने का सन्देश दिया है। वह आधुनिक युग में भौतिकता के प्राधान्य के कारण उभरने वाली समस्याओं के निदान के लिए प्राचीन आदर्शों से सहयोग लेने का परामर्श देते हैं। यथा :—

"हमें जहाँ अपने देश की वर्तमान समस्या पर विचार करना चाहिए वहाँ अपने अतीत में वर्तमान समस्याओं के कारण खोजने चाहिएँ; वहीं से हमें उनका निदान भी प्राप्त होगा।"

—(प्रकाश-स्तम्भ, संकेत, पृष्ठ ८)

'प्रेमी' जी के नाटकों की कथा-वस्तु सर्वत्र संक्षिप्त रही है और उन्होंने उसका अनावश्यक विस्तार करने की प्रवृत्ति का कहीं भी परिचय नहीं दिया है। उनका प्रत्येक नाटक एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चला है और सामान्यतः यह उद्देश्य भारतीय जनता के स्वातन्त्र्य-प्रेम को अभिव्यक्त कर पाठकों को देश-प्रेम की ओर प्रवृत्त करना रहा है। देश-प्रेम की यह चेतना उनके सभी नाटकों में समान रूप से व्याप्त रही है और पात्रों के संवादों में अभिव्यक्ति प्रदान करने के अतिरिक्त उन्होंने इसे अपने नाटकों के अधिकांश गीतों में भी स्थान दिया है।

'प्रेमी' जी ने अपने अधिकांश नाटकों की रचना उस समय की थी जब भारतवर्ष विदेशी शासन के बन्धन में आबद्ध था। ऐसे समय राष्ट्र-निर्माण में सहयोग देने वाले सभी साहित्यकार अपनी-अपनी रचनाओं द्वारा जनता की चेतना को स्वातन्त्र्य-पूरित करने में प्रयत्नशील थे। तत्कालीन साहित्य का अध्ययन करने पर हमें सर्वश्री प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि सभी राष्ट्रीय साहित्य की

रचना करने वाले लेखको में यही प्रवृत्ति उपलब्ध होती है। 'प्रेमी' जी ने भी इस पर यथोचित ध्यान दिया है। उनके नाटकों में गान्धीवादी विचारधारा मूर्त रूप में उपलब्ध होती है। उनका 'यह मेरी जन्म-भूमि है' शीर्षक एकाकी नाटक पाठको के अन्तस् में राष्ट्र-प्रेम की ज्योति जागृत करने का सफलतम प्रयास है। सम्भवत हिन्दी में राष्ट्रीय भावनाओ से ओत-प्रोत ऐसा कोई अन्य एकाकी नाटक अभी तक नहीं लिखा गया है। जनता के हृदय मे राष्ट्र-प्रेम की सात्विक उद्भावना के लिए 'प्रेमी' ने परतन्त्रता के विनाश के अतिरिक्त अपने नाटको में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की आवश्यकता पर भी व्यापक प्रकाश डाला है। इस दृष्टि से उनके 'रक्षा-बन्धन', 'स्वप्न-भग' 'शिवा-साधना' शीर्षक नाटक विशेष रूप से पठनीय हैं।

उनके देश-प्रेम-सम्बन्धी नाटको में स्वतन्त्रता-प्रेमी सैनिको, वीर माताओ, वीर पत्नियो एव वीरता की प्रेरणा प्रदान करने वाले अनेक सूक्ष्म तथा स्थूल उपकरणो को स्थान प्राप्त हुआ है। उनके कृतित्व का आधुनिक नाट्य-साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम समष्टि-रूप में यह कह सकते हैं कि आधुनिक युग में नाटकों के माध्यम से राष्ट्रीय विचार-धारा को उपस्थित करने वाले साहित्यकारो में उनका उत्कृष्ट स्थान है।

'प्रेमी' जी ने अपने नाटको में मुख्य रूप से भारतवर्ष पर मुगल सत्ता के प्रसार के समय की राजपूत नरेशो की स्थिति के चित्रण की ओर ध्यान दिया है। अत देश-प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए उनके समक्ष राजपूताना के इतिहास से ही प्रेरणा ग्रहण करने की सुविधा थी। उन्होने पारस्परिक विद्वेष में उलझे हुए राजपूत-नरेशो की राजनैतिक दुरभिसन्धियो का चित्रण करते हुए उन्हें प्रत्येक नाटक में उनसे विमुक्त रहने का सदेश दिलाया है। राजपूत-युग से सम्बधित इन सभी ऐतिहासिक नाटको में प्राय राजपूत-नरेशो अथवा उस समय के प्रमुख राजपूत-राजनीतिज्ञो के क्षुद्र स्वार्थों एव उनके व्यर्थ के व्यक्तिगत तथा जातिगत अभिमान की निन्दा की गई है। इस युग में प्राय देश-हित की अपेक्षा व्यक्ति-हित तथा वश-कल्याण की ओर ही अधिक ध्यान देने वाले राज्य-सत्ता के अधिकारियों का प्राधान्य था। ऐसी स्थिति में आदर्शवादी चिन्ता-धारा से प्रभावित होने के कारण 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में कुछ देश-प्रेमी व्यक्तियों द्वारा निस्वार्थ भाव से देश की ओर ध्यान देने का भी वर्णन किया है। 'विषपान' में चूडावत और शक्तावत सरदारो के पारस्परिक विद्वेष का चित्रण कर उन्हें समय-समय पर उद्बोधन प्रदान कर उन्होंने इसी प्रवृति का परिचय दिया है। 'शपथ' में विष्णुवर्धन के नेतृत्व में मालव को स्वतन्त्र गणराज्य की दिशा में विकास-लाभ करते हुए दिखाकर भी उन्होने इसी उद्देश्य की अभिव्यक्ति की है।

'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में राजाओं और सामन्तों की सन्निहित मनोवृत्ति का सफल चित्रण किया है। भारतीय नरेशों ने स्वार्थ-प्रेरित होकर अपनी व्यक्तिगत उन्नति की कामना से समय-समय पर विदेशी शक्तियों से सहायता लेकर जिस प्रकार देश की अखण्डता को हानि पहुँचाई है उसके लिए उन्होंने अपने किसी न किसी पात्र द्वारा उनकी तीव्र भर्त्सना कराई है। इस प्रकार की विदेशी शक्तियाँ भी अपने विशिष्ट स्वार्थों के कारण ही राजपूतों को सहयोग प्रदान करती थीं। 'विष-पान' में अमीर खाँ के निहित स्वार्थों का चित्रण इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। यथा :—

"अमीर—मैं राजपूतों के अभिमान को कुचलना चाहता हूँ। इस समय राजस्थान के प्रत्येक राज्य में गृह-युद्ध जारी है। सरदारों ने अपने-अपने दल बना रखे हैं, प्रत्येक दल ने गद्दी का अपना-अपना हकदार बना रखा है। षड्यन्त्र और अत्याचारों का बाजार गरम है। मैं गृह-युद्ध की ज्वाला को और अधिक भड़काकर राजस्थान को निष्प्राण बना देना चाहता हूँ। सम्पूर्ण राजस्थान में अमीर खाँ की तूती बोलेगी।"

—(पृष्ठ-संख्या, ४८-४९)

'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों की कथावस्तु में सम्बन्धित ऐतिहासिक युग की राजनीतिक स्थिति का चित्रण करने के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए विविध सामाजिक कुरीतियों और दोषों की विवेचना कर अपने चिन्तन की गहनता का भी उपयुक्त परिचय दिया है। उन्होंने अपने नाटकों में विविध सामाजिक प्रथाओं को यथास्थान अभिव्यक्ति दी है। 'विष-पान' में राजपूतों द्वारा अनेक स्थानों पर अमल-पान का वर्णन कर उन्होंने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उन्होंने अपने नाटकों में राजस्थान के तत्कालीन राज-प्रासादों में नारी-जीवन की विवशताओं की ओर भी मार्मिक संकेत किए हैं। उस समय के राजाओं एवं सामन्तों की विलास-स्थिति का चित्रण करना भी उन्हें अभीष्ट रहा है, किन्तु उनके नाटकों में इसको अधिक व्याप्ति नहीं हुई है। 'विष-पान' में जवानदास दासी-पुत्र होने के कारण मेवाड़ के महाराणा के धा-भाई होने पर भी उचित सम्मान प्राप्त नहीं कर पाते-इस समस्या को उपस्थित कर उन्होंने जवानदास को देश के प्रति अनुत्तर-दायित्वपूर्ण कार्य करने के लिए उद्यत दिखा कर इस प्रकार की विलास-स्थिति के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है।

आधुनिक सामाजिक दृष्टिकोण से परिचालित होने के कारण 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में सामाजिक समानता की आवश्यकता का भी चित्रण किया

है। इस दृष्टि से 'विष-पान' में महाराज जगतसिंह द्वारा वेश्या-विवाह का समर्थन करा कर एवम् राजकुमारी कृष्णा का धीवर से वार्तालाप करा कर उन्होने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उनके नाटको में राष्ट्र-चिन्तन के पश्चात् समाज-कल्याण से सम्बन्धित तत्वो के चिन्तन को ही मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त उन्होने कही-कही अध्यात्म-चिन्तन को भी विकसित होते हुए दिखाया है। चिन्तन के अतिरिक्त अनुभूति-ग्रहण की प्रवृत्ति भी उनके नाटको की उत्कृष्ट निधि है। इस अनुभूति का सम्बन्ध स्पष्टत समाज-दर्शन से रहा है। उनके नाटक निश्चय ही उनकी अनुभूति की ही देन हैं। अनुभूतियो से समृद्ध होने के कारण ही वे इतने हृदयस्पर्शी बन पडे हैं। 'प्रेमी' जी का व्यक्तित्व वेदना-भार से युक्त रहा है जिसका प्रभाव-उनके नाटको पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। अपने 'छाया' शीर्षक नाटक में उन्होने कवि प्रकाश के माध्यम से अपने साहित्यिक जीवन के वेदना-पूर्ण अनुभवो की ओर ही सकेत किया है। 'शिवा-साधना' के 'अपनी बात' शीर्षक प्रारम्भिक वक्तव्य में भी उन्होने अपने जीवन की व्यथा को करुण अभिव्यक्ति दी है। अत यह स्पष्ट है कि उनका साहित्य कल्पना-प्रेरित न होकर अनुभवो से पुष्ट है। उनके अनुभवों की गहनता का सामान्य बोध निम्न-लिखित सूक्तियों से हो जाता है'—

(अ) **"वीर पुरुष सुख का साथी चाहे न हो लेकिन दु ख का अवश्य होता है।"**

—(विष-पान, पृष्ठ सख्या ६८)

(आ) **"हमें सारे ससार के सामने आवरण-हीन हो कर रहना चाहिए। तभी हमें सच्ची शान्ति मिलेगी।"**

—(बादलों के पार, पृष्ठ-संख्या १३)

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'प्रेमी' जी के नाटकों में वैविध्य की स्थिति सर्वत्र वर्तमान रही है। उन्होने आधिकारिक कथावस्तु के अतिरिक्त अपने नाटको में प्रासगिक कथानको का भी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। उनका आकाक्ष्य सर्वत्र देश-प्रेम की अनुभूति को स्पष्ट करना ही रहा है और उनके नाटको के कथानक निश्चय ही पाठको को देश-भक्ति की सजीव प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों के सम्बन्ध में तो यह तथ्य सत्य है ही, अपने सामाजिक नाटकों में भी उन्होने समाज-कल्याण की इच्छा से सामाजिक गतिरोधो को समाप्त करने के उद्देश्य से जिन घटनाओ का विकास किया है वे उनके राष्ट्र-प्रेम की ही प्रतीक हैं।

चरित्र-चित्रण

नाटक के भाव-सौन्दर्य को गति प्रदान करने की दृष्टि से उसमें चरित्र-चित्रण

का अपना विशिष्ट महत्व होता है। साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक में चरित्र-चित्रण की ओर अपेक्षा-कृत अधिक ध्यान दिया जाता है। 'प्रेमी' जी ने इस तथ्य की ओर समुचित ध्यान देते हुए अपने नाटकों में उत्कृष्ट चरित्र-योजना की है। उनके नाटकों में शैशव से वृद्धावस्था तक के विभिन्न आयु के पुरुष तथा नारी पात्रों एवं विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्रों का उपस्थापन हुआ है। वयस्क पात्रों की भांति किशोर वय के पात्रों का चित्रण भी उन्होंने कुशलता के साथ किया है। इस दृष्टि से 'स्वप्न-भंग' में उपलब्ध होने वाला बालिका वीणा का चरित्र तथा 'छाया' शीर्षक नाटक में कवि प्रकाश की पुत्री स्नेह का चरित्र विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

'प्रेमी' जी के नाटकों में उपलब्ध होने वाले पुरुष-पात्रों को विविध वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से उनकी कृतियों में निम्नलिखित चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करने वाले पुरुष-चरित्र उपलब्ध होते हैं —

(१) राजनीतिक कुचक्रों के संघर्षशील स्वरूप से विरक्त होकर जीवन में माधुर्य का संचार करने के आकांक्षी राज-पुरुष—इस दृष्टि से 'स्वप्न-भंग' में दारा और 'विष-पान' में मेवाड़ के महाराणा के चरित्र विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

(२) राजनीतिक षड्यन्त्रों की योजना करने अथवा उनमें भाग लेने वाले राज-पुरुष तथा इसी प्रकार के अन्य राजकीय व्यक्ति—'शपथ' में मालवराज यशोविष्णु और 'विष-पान' में मेवाड़ के वृद्धावत सरदार अजीतसिंह एवं महाराणा के धा-भाई जवानदास के चरित्र इसी प्रकार के हैं।

(३) देश-रक्षा के लिए सन्नद्ध एवं शस्त्र-संचालन में कुशल उत्साही वीर युवक—इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'शपथ' में विष्णुवर्धन एवम् उनके सहयोगियों (वत्स भट, जयदेव एवम् धर्मदास) द्वारा उपस्थित किया गया है।

(४) प्रेम की मधुर कल्पनाओं में लीन अथवा प्रेम की सजीव प्रतिकृति लगने वाले युवक-पात्र—'प्रेमी' जी के नाटकों में प्रेम के शुद्ध स्वरूप का व्यापक अंकन हुआ है। इस दृष्टि से 'शपथ' में विष्णुवर्धन और कुमुदिनी के प्रेम, 'विष-पान' में महाराज जगतसिंह के वेश्या-पुत्री केसर बाई से प्रेम तथा 'बादलों के पार' शीर्षक एकांकी-संग्रह के 'निष्ठुर न्याय' शीर्षक एकांकी में राजकुमार अमरसिंह के भीमराज की पुत्री श्यामा के प्रति प्रेम का वर्णन उल्लेख के योग्य है। इसके अतिरिक्त उनके अन्य नाटकों में भी सात्विक प्रेम का

उत्कृष्ट निदर्शन उपस्थित करने वाले पुरुष-पात्रो का प्राय समावेश हुआ है।

(५) समाज के आर्थिक वैषम्य से पीडित मानवतावादी श्रमिक-वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति—'प्रेमी' जी ने भारत के राजपूत-युग एव मुगल-युग के इतिहास से इस प्रकार की स्थिति को व्यक्त करने वाले पात्रो को ग्रहण करने के अतिरिक्त आधुनिक युग में पूँजीवाद की अतिशयता से पीडित मजदूरो का भी चित्रण किया है। इस दृष्टि से राजपूत-सस्कृति का चित्रण करने वाले 'विष-पान' नाटक में धीवर युवक कलुआ, मुग़ल सस्कृति को उपस्थित करने वाले 'स्वप्न-भग' नाटक में वृद्ध श्रमिक प्रकाश एव आधुनिक युग की श्रमिक-वर्ग की स्थिति का निरुपण करने वाले 'बन्धन' नाटक के सभी श्रमिक पात्र इसके प्रतीक हैं।

पुरुष-पात्रो की भाँति 'प्रेमी' जी ने अपने नाटको में स्त्री-पात्रों को भी विविध रूपो में उपस्थित किया है। इस दृष्टि से उनके नारी चरित्रो को निम्नलिखित रीति से विभाजित किया जा सकता है —

(१) राज-नियन्त्रण से त्रस्त होकर राजकीय जीवन से विरत होने की इच्छा रखने वाली राजमहलों की नारियाँ—'विष-पान' में मेवाड की राजकुमारी कृष्णा 'प्रेमी' जी के इस प्रकार के नारी-पात्रो का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधित्व करती है।

(२) राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने वाली रमणियाँ—इस वर्ग को दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम उपवर्ग में राजनीति के उचित पक्ष का निर्वाह करने वाली 'जहानारी' (स्वप्न-भ ग), 'सुहासिनी' (शपथ), 'मन्दाकिनी' (शपथ), एव 'उमा' (शपथ) के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके विविध नाटको में उपलब्ध होने वाले चारणी-विषयक प्रकरण भी इसी उपवर्ग के अन्तर्गत रखे जायें गे। द्वितीय उपवर्ग में राजनीतिक दुरभि-सन्धियो में भाग लेने वाली नारियो को रखा जा सकता है। 'स्वप्न-भ ग नाटक में उनकी योजना में सिद्धहस्त रोशनआरा को इस प्रकार की नारियों का प्रतिनिधित्व करने वाली कह सकते हैं।

(३) यौवनागम होने पर हृदय में स्वभावत सचरित होने वाले प्रेम की अनुभूति में लीन नारियाँ—'शपथ' में सुहासिनी एवम् मन्दाकिनी, 'बन्धन' में मालती एव 'प्रेम अन्धा है' शीर्षक एकाकी में वासन्ती इसी प्रकार की नारियाँ हैं। 'घर या होटल' शीर्षक एकाकी में उन्होंने सुरेन्द्र की पत्नी कला के चरित्र के माध्यम से आधुनिक युग के ध्वस्त नारी-प्रेम (पति के जीवित होते

परपुरुष में अनुरक्ति) का भी वर्णन किया है। विवाह के पूर्व एवम् पश्चात् नारी के प्रेम की अपन, जो आवेगमयी तथा सात्विक स्थिति होती है उसका भी उन्होंने उपयुक्त चित्रण किया है।

(४) विवाह से पूर्व प्रेमानुभूति से अपरिचित, ललित कलाओं में भाग लेने वाली कन्याएँ-इस दृष्टि से 'स्वप्न-भंग' में बालिका वीणा द्वारा प्रदर्शित संगीत-प्रेम एवम् 'विष-पान' में उपलब्ध होने वाला राजकुमारी कृष्णा का संगीत एवं चित्रकारिता के प्रति अनुराग उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'प्रेमी' जी ने अपनी नाट्य-रचनाओं में पात्र-योजना की ओर विशेष ध्यान दिया है। सामन्तीय संस्कृति से परिपुष्ट प्राचीन जीवन-दर्शन और वर्तमान भौतिक संघर्षों से परिचालित जीवन-धारा को उन्होंने अपने पात्रों में पूर्ण रूप से साकार कर दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि आदर्शोन्मुख नाटकों की रचना करने के कारण उन्होंने केवल कुछ कुटिल प्रकृति के व्यक्तियों के अतिरिक्त अपने अधिकांश पात्रों को भी आदर्श-प्रेमी रखने पर बल दिया, तथापि इस विषय में अतिवादिता का परिचय उन्होंने कहीं भी नहीं दिया है। उनके पात्र विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होने पर भी अतिमानवीयता से युक्त नहीं होने पाए हैं। उनके 'प्रकाश-स्तम्भ' शीर्षक नाटक में बाणा रावल का चरित्र इसी कथन का प्रमाण है—लेखक ने उनके विषय में राजस्थान में प्रसिद्ध विविध किम्वदन्तियों से परिचित होने पर भी उन्हें अतिमानव के रूप में उपस्थित नहीं किया है।

संवाद-योजना

नाटक में चरित्र-चित्रण को सजीवता प्रदान करने के लिए सम्वाद-योजना की ओर उपयुक्त ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक होता है। 'प्रेमी' जी ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अपने नाटकीय सम्वादों के माध्यम से मानव-जीवन को उपयुक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने अपने सम्वादों में भाव-तत्व और विचार-तत्व, दोनों का उपयुक्त रूप में समावेश किया है। उन्होंने सम्वादों को स्वाभाविक रखने के लिए उन्हें प्राय संक्षिप्त रूप में उपस्थित किया है। सम्वादों को अनावश्यक विस्तार प्रदान करते हुए उनमें यत्र-तत्र विषयान्तर हो जाने देना उन्हें इष्ट नहीं रहा है। सम्वाद-विस्तार से नाटकीय शैली में वर्णनात्मकता का प्राधान्य हो जाता है और पात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं के स्पष्टीकरण में शिथिलता आ जाती है। इसी कारण 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में शब्द-विन्यास को सरल, स्वाभाविक तथा विस्तार-रहित रखा है।

'प्रेमी' जी के नाटकों में समाज, इतिहास तथा पौराणिक युग को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। अत उनके नाटको के सम्वादो का सम्बन्ध भी स्पष्टत इन तीनो विषयो से रहा है। समय-परिवर्तन के साथ-साथ मानव के स्वभाव, रुचियाँ एवम् वार्तालाप-विधियो मे भी परिवर्तन आता रहता है। इसी कारण 'प्रेमी' जी के विविध विषयो से विभूषित नाटक विविध प्रकार के सम्वादो से युक्त रहे हैं। उनके सम्वादो में प्रेम, शौर्य, दार्शनिकता एवम् समाज-चिन्तन को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। निरर्थक सवादों की योजना भी उन्होने नही की है और प्राय उनके सम्वाद पात्रो के व्यक्तित्व को प्रकाशित करने वाले रहे हैं। उदाहरणार्थ सक्षिप्तता के गुण से युक्त निम्नलिखित चमत्कारिक सम्वाद-योजना देखिये —

"वत्स—जान पडता है कि निकट के वन से मृग क्षिप्रा का जल पीने आए हैं।

कचनी—और सिंह आया हो तो!

वत्स—नहीं शृगाल हो सकता है।

(सहसा धन्यविष्णु का प्रवेश •)

धन्यविष्णु—कौन है मुझे शृगाल कहने वाला ?

वत्स—मैं नहीं, क्षिप्रा की हिलोरें ऐसा उच्चारण करती हैं।

(शपथ, पृष्ठ-सख्या ६७)

अभिनेयता

रगमच के अभाव के कारण हिन्दी में अभिनेय नाटकों की रचना की ओर प्रारम्भ से ही नाटककारो ने अधिक ध्यान नहीं दिया। 'प्रेमी' जी ने इस अभाव को लक्षित कर अपने नाटकों को रगमच के लिए उपयोगी बनाने की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। उनके द्वारा लिखे गए सभी पूर्ण नाटक एव एकाकी नाटक प्राय अभिनय की विशेषताओ से पुष्ट रहे हैं और उनमें से अनेक का समय-समय पर भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में सफल अभिनय भी हो चुका है। यद्यपि यह सत्य है कि उनके 'शिवा-साधना' शीर्षक नाटक में पात्राधिक्य होने के कारण अभिनय में कठिनाई का सामना करना पडेगा और इसी प्रकार उनके नाटको में दृश्यो के शीघ्रतापूर्ण परिवर्तन ने भी अभिनेयता में बाधा पहुँचाई है तथापि समष्टि-रूप में हम यह कह सकते हैं कि उनके नाटको में हिन्दी के इतर नाट्य-साहित्य की अपेक्षा रगमच-सम्बन्धी सुविधाओ को कही अधिक स्थान प्राप्त हुआ है।

'प्रेमी' जी ने अपनी नाट्य-भूमिकाओ में हिन्दी-रगमच के अभाव की ओर

संकेत करते हुए अपने नाटकों की रंगमंचीय क्षमता को भी प्रायः निर्दिष्ट किया है। इस दृष्टि से उनके 'प्रकाश-स्तम्भ', 'बादलों के पार', 'स्वप्न-भंग' एवम् 'विष-पान' शीर्षक नाटकों की भूमिकाएँ विशेष रूप से पठनीय हैं। उन्होंने आधुनिक रंगमंच को चित्रपट के शिल्प से पृथक् रखने पर बल दिया है और यह स्पष्ट किया है कि अभिनय-विस्तार के लिए अवकाश होने पर भी यदि मध्यवर्गीय रंगमंच को चित्रपटीय कला से प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाएगा तो अभिनय में अस्वाभाविकता के संचार की पर्याप्त सम्भावना रहेगी। तथापि उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि आवश्यकता पड़ने पर यथास्थान परिवर्तन करते हुए रंगमंच पर अभिनय के लिए लिखित नाटकों को चित्रपट के अनुकूल बनाया जा सकता है। इस प्रकार उन्होंने चित्रपट पर प्रदर्शित दृश्यों से अति प्रभावित नाटककारों को चित्रपट का मोह त्याग कर रंगमंच के अनुकूल नाट्य रचना का संदेश प्रदान किया है। 'विष-पान' के 'पुकार' शीर्षक प्रारम्भिक कथन में उन्होंने कतिपय उदाहरण देते हुए अपनी इस धारणा को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में उपस्थित किया है।

'प्रेमी' जी के नाटकों की अभिनय-विषयक सम्भावनाओं की चर्चा करते समय प्रायः आलोचकों ने उनके नाटकों पर दो आरोप लगाये हैं। उनके अनुसार एक ओर तो 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में गीतों के अतिशय प्रयोग द्वारा रंगमंच पर जीवन की वास्तविकता को कुछ अंशों तक उपेक्षित रखा है और दूसरी ओर दृश्य-योजना में शिथिलता का परिचय दिया है। 'प्रेमी' जी ने अपनी नाट्य-भूमिकाओं में इन आरोपों का भी प्रतिवाद किया है। 'विष-पान' की भूमिका में प्रथम आक्षेप का उत्तर देते हुए उन्होंने संगीत को रस-सृष्टि में सहायक मानकर नाटक में वातावरण के स्पष्टीकरण के लिए गीत-प्रयोग को आवश्यक माना है। यद्यपि यह सत्य है कि उनके गीतों में स्वाभाविकता, प्रवहमानता और प्रभाव-सृष्टि के गुण वर्तमान हैं, तथापि संक्षिप्त नाटकों में भी प्रायः प्रत्येक दृश्य में गीत-समावेश के विषय में उन्होंने जो समाधान दिया है वह आलोचक को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। द्वितीय आक्षेप के उत्तर में 'प्रेमी' जी ने कहा है कि रंग-सज्जा की योजना के लिए कभी-कभी दृश्य-योजना को विशिष्ट रीति से परिचालित करना नाटककार के लिए आवश्यक हो जाता है। इस विषय में उनका स्पष्टीकरण सन्तोषप्रद ही रहा है। यथा:—

"जो नाटक रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखा गया है उसका पूर्ण सौन्दर्य रंगमंच पर ही देखा जा सकता है—या वह व्यक्ति देख सकता है जो उसे पढ़ते समय रंगमंच की कल्पना अपने मस्तिष्क में रखता है।"

—(विष-पान, पुकार, पृष्ठ १२-१३)

दृश्य-परिवर्नन की शीघ्रता के दोष को स्वीकार कर 'प्रेमी' जी ने अपने बाद के नाटको में इसका प्राय परिहार कर दिया है। इस दृष्टि से उनका 'प्रकाश-स्तम्भ' शीर्षक नाटक विशेषत पठनीय है। इसमें उन्होने अक-परिवर्तन होने पर रग सज्जा में विपुल अन्तर नही आने दिया है और दृश्यों की सख्या को भी सीमित रखा है। इस विषय में उनका वक्तव्य इस प्रकार है —

"मेरे इस नाटक से पहले के प्रायः सभी नाटक पटों (पर्दों) की सहायता से खेले जाने वाल रहे हैं। सेट्स के हिसाब से वे नहीं लिखे गए। मेरा यह नाटक केवल दो सेटिंग्स पर खेला जा सकता है और दृश्यों की संख्या भी इसमें बहुत थोडी है।"

—(प्रकाश-स्तम्भ, सकेत, पृष्ठ 'ग')

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'प्रेमी' जी ने अपनी नाट्य-रचनाओ को रगमच के लिए उपयोगी रखने का सर्वत्र ध्यान रखा है। अपने नाटको के कतिपय अनभिनेय प्रकरणो को अभिनय के अवसर पर यत्र-तत्र परिवर्तित करने में भी उन्हें कोई आपत्ति नही है। अपने 'बादलो के पार' शीर्षक एकाकी-सग्रह की भूमिका में उन्होने अपने नाटको में रगमचीय कला के प्रौढ स्वरूप की निष्पत्ति न होने का एक अन्य ठोस कारण यह दिया है कि हिन्दी में कुशल निर्देशन से युक्त व्यावसायिक रगमच के अभाव के कारण नाटककार अभिनय-कला से परिचित होने पर भी अपनी इच्छानुसार नाटक में अभिनय-क्षमता का प्रौढ़ स्तर पर समावेश नहीं कर पाता। रगमचोपयोगी नाटक की रचना करते समय दृष्टि-पथ में सर्वत्र साधारण सुविधाओ से युक्त रगमच की ही स्थिति रहती है। हम 'प्रेमी' जी के इस कथन से पूर्णत सहमत हैं और इस कसौटी पर कसने पर उनके नाटको को रगमच पर अभिनय के लिए पूर्णत सफल पाते हैं। अभिनय को सुविधाजनक बनाने के लिए उन्होंने रग-सकेत उपस्थित करने की ओर भी ध्यान दिया है। ये सकेत कही-कही तो इतने स्पष्ट रहे हैं कि उनके आधार पर रग-सज्जा का कार्य नितान्त सरल हो जाता है। उनके नाटकों के उद्देश्य को उनकी निम्नलिखित पक्तियों के आधार पर अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है —

इतना प्रयत्न तो मैं करता हूँ कि नाटक रंगमच के उपयुक्त रहें, जन-साधारण की पहुँच के बाहर न हो और उनमें रसानुभूति का अभाव न हो।

—(स्वप्न-भग, कुछ बातें, पृष्ठ ३)

गीत-प्रयोग

नाटक में गीत-प्रयोग से उसमें एक विशिष्ट कवित्व-गति के समावेश की

संभावना हो जाती है और गद्य में भी कवित्व का प्रयोग संभाव्य रहता है। गीत जीवन की सरलता और स्वाभाविकता के प्रतीक होते हैं। गीत-विहीन मानव-जीवन की स्थिति सम्भवतः असम्भव ही है। अतः नाटक में भी उनका प्रयोग उसकी स्वाभाविकता का विधान करता है। आधुनिक युग में कतिपय नाटककार नाटक में गीत-प्रयोग का समर्थन नहीं करते, किन्तु 'प्रेमी' जी ने इसे आवश्यक तत्त्व माना है। उन्होंने गीतों को अभिनय में सजीवता लाने वाला कहा है। वह नाटकों में कथानक को गति प्रदान करने और इस प्रकार रस-प्रभाव को घनीभूत करने के लिए गीत-प्रयोग को आवश्यक मानते हैं।

'प्रेमी' जी ने अपने सभी नाटकों में गीतों का सफल प्रयोग किया है। उनसे पूर्व हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने भी अपने नाटकों में गीतों को व्यापक स्थान दिया था। 'प्रेमी' जी ने सम्भवतः उनसे प्रेरणा लेकर ही इस परम्परा को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया है। उनके गीतों के विषय विविध रहे हैं और वातावरण को गति प्रदान करने का गुण उनमें पूर्ण रूप से वर्तमान रहा है। उनके गीतों का सम्बन्ध प्रायः वीर रस, शान्त रस, शृंगार रस, करुण रस या प्रकृति-चित्रण से रहा है। उनके कतिपय गीतों में श्रमिक-जगत् के सुख-दुःखों को भी मार्मिक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। उनके गीत भावना और विचार, दोनों ही की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध बन पड़े हैं और उनमें श्रोता को प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति पूर्ण रूप से वर्तमान है। उदाहरणार्थ उनके एक उद्बोधन-गीत की निम्न-लिखित पंक्तियाँ देखिए —

वीरों से कहती क्षत्राणी,
जाँचो तलवारों का पानी।

—(आहुति, पृष्ठ २४)

'प्रेमी' जी ने अपने नाटकीय गीतों को खड़ी बोली में उपस्थित किया है। सहजता, संक्षिप्तता एवम् प्रवहमानता के गुणों से युक्त होने के कारण उनके गीतों का पाठक अथवा श्रोता के चित्त पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इसका श्रेय उनकी भाषा-योजना-विषयक कुशलता को ही दिया जाना चाहिए। उनके गीतों की भाषा भावानुसार परिवर्तनीय रहने पर भी किसी भी स्थान पर दुर्बोध शब्दों के कारण जटिल नहीं होने पाई है। उन्होंने कोमल भावनाओं को व्यक्त करने वाले रसों—शृंगार रस, शान्त रस, करुण रस इत्यादि—का प्रयोग करते समय अपनी भाषा को माधुर्य गुण से सम्पन्न रखा है और वीररसात्मक गीतों में ओज गुण का सफल समावेश किया है। गीतों में प्रभाव-वृद्धि के लिए उन्होंने लोक-गीतों की स्वच्छन्दता

का भी यथास्थान प्रयोग किया है। इस दृष्टि से उनके द्वारा प्रयुक्त किए गए 'कोयलिया', खिवैया', 'हौले', 'पुरवैया' तथा 'वाला' (वालना, प्रज्वलित करना) आदि शब्द विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। शिल्प-सम्बन्धी अन्य आवश्यकताओं के निर्वाह की दृष्टि से उन्होने अपने गीतों में एक ओर तो अलकारो का स्वाभाविक रूप में प्रयोग किया है और दूसरी ओर, अपेक्षित न होने पर भी, अपने गीतो को छन्द-बन्धन में आबद्ध रखने का प्रयास किया है। उन्होने अपने गीतो में दो, तीन, चार अथवा पाँच पक्तियो से युक्त पद्यो का सफल प्रयोग किया है और तुक-निर्वाह की ओर सर्वत्र उचित ध्यान दिया है। उनके गीत सम्बद्ध पात्रो की अनुभूतियो से पूर्णत समृद्ध रहे हैं और उन्होने उनकी रचना करते समय व्यर्थ ही अतिरिक्त शब्दो के द्वारा पक्ति-विस्तार नही किया।

'प्रेमी' जी के नाटको में सहगान, पुरुष-पात्रो के गान, नारी-पात्रो के गान तथा बालक-बालिकाओं के गान आदि के रूप में अनेक प्रकार के गीत उपलब्ध होते हैं। ये गीत समाज के तथाकथित उच्च वर्ग तथा सामान्य वर्ग, सभी से सम्बद्ध व्यक्तियो द्वारा गाए गए हैं। उनके कतिपय नाटको में गीतो को आवश्यकता से अधिक स्थान प्रदान किया गया है और कुछ में उन्हे स्वाभाविक स्तर पर ही उपस्थित किया गया है। इन दोनो प्रवृत्तियो को उदाहृत करने के लिए हम क्रमश उनके 'आहुति' तथा 'शपथ' शीर्षक नाटको का उल्लेख कर सकते हैं। तथापि इतना स्पष्ट है कि नाटकों में गीत-प्रयोग की प्रवत्ति उनकी आत्मा की विशिष्ट स्फूर्ति से सम्बद्ध रही है। उनके नृत्य-गति से परिचालित गीतो में ध्वनन-शक्ति का भी आकर्षक समावेश हुआ है। सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकीय गीतो की रचना एक सुनिश्चित योजना के अनुसार की है और अपने नाटकों एव एकाकी नाटकों में उन्हे गीत-प्रयोग करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

भाषा

'प्रेमी' जी के नाटकों की भाषा प्राय सरल रही है। उन्होंने सस्कृत के तत्सम शब्दो के प्रयोग द्वारा अपनी भाषा को केवल उसी स्थिति में क्लिष्ट होने दिया है जब उन्होने गहन विचारों की अभिव्यक्ति की है। उनकी भाषा भावानुरूप परिवर्तित होती रही है। यही कारण है कि जहाँ शृगार, करुण और शान्त आदि कोमल रसो के प्रयोग में उनकी भाषा माधुर्य गुण-सम्पन्न रही है वहाँ वीर रस के प्रकरणो में वह ओजगुणमयी हो गई है। तद्भव शब्दो के साथ-साथ उन्होंने देशज शब्दो का भी प्रयोग किया है। लोक-साहित्य में उपलब्ध शब्दावली भी उनके नाटको में प्रचुरता से प्राप्त होती है। इसी प्रकार उन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों में तत्कालीन देश-

काल को सुरक्षित रखने के लिए कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनके 'शपथ' शीर्षक नाटक में उपलब्ध होने वाले 'विषयपति', 'सन्धिविग्रहिक', 'बलाधिकृत' तथा 'नगर-श्रेष्ठी' आदि शब्द हमारे इसी कथन की पुष्टि करते हैं।

'प्रेमी' जी के नाटकों की भाषा की मुख्य विशेषता यही है कि वह कृत्रिमता-रहित है और रंगमंच से उच्चरित होने पर वह सहसा जन-साधारण की पहुँच से बाहर होकर नहीं रह जाती। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने हिन्दी के सरल शब्दों के अतिरिक्त अपने नाटकों में उर्दू और अंग्रेजी के सहज-प्रचलित शब्दों का भी पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है। भारतीय शासन के मुगल-युग से सम्बद्ध होने के कारण उनके अधिकांश नाटकों में मुसलमान पात्रों के समावेश के लिए अवकाश रहा है। उनकी भाषा-नीति प्रसिद्ध उपन्यासकार मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाषा से निकट रूप में प्रभावित रही है अर्थात् प्रेमचन्द जी की भाँति उन्होंने भी प्रायः मुसलमान पात्रों की भाषा में उर्दू-शब्दों का प्राचुर्य रखा है और केवल उनके 'स्वप्न-भंग' शीर्षक नाटक में ही इसका अपवाद मिलता है। इस दिशा में वह इतने सतर्क रहे हैं कि उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के वार्तालापों में हिन्दू-पात्रों द्वारा भी उर्दू-शब्दों का सहज रूप में प्रयोग कराया है उदाहरणार्थ 'रक्षा-बन्धन' में मेवाड़ के महाराणा विक्रमादित्य के चारणों से वार्तालाप के समय की भाषा का निम्नलिखित रूप देखिए :—

"मजहब मनुष्य के हृदय के प्रकाश का नाम है। जो मजहब का नाम लेकर तलवार चलाते हैं, वे दुनिया को धोखा देते हैं, धर्म का अपमान करते हैं। सच्चा वीर वही है, खरा राजपूत वही है, जो न हिन्दुओं के अन्याय का हिमायती है और न मुसलमानों के, वह न्याय का साथी है और आजादी का दीवाना है।"

—(रक्षा-बन्धन, पृ० २१)

दर्शकों की शब्द-बोध विषयक क्षमता, अभिनय-सौंदर्य एवं नाटकों में जन-जीवन के यथार्थ प्रतिनिधित्व की दृष्टि से 'प्रेमी' जी के नाटकों में उपलब्ध होने वाली इस प्रवृत्ति के लिए उन्होंने अपने 'यह मेरी जन्मभूमि है' शीर्षक एकांकी नाटक में 'मिस', 'ड्यूटी', 'ट्रेन', 'सिग्नल', 'प्लेटफार्म', 'ड्राइवर' आदि अंग्रेजी के सामान्य-प्रचलित शब्दों का भी सफल प्रयोग किया है और उनके कारण नाटक की भाषा के प्रवाह में किसी प्रकार का व्याघात नहीं आने दिया है। सच तो यह है कि अभिनेय नाटक के लिए सरल और संक्षिप्त वाक्यों में चुस्त जिस मुहावरेदार भाषा की आवश्यकता होती है उस पर उनका पूर्ण अधिकार रहा है। मुहावरों एवं लोकोक्तियों के सहज प्रयोग द्वारा भी उन्होंने अपनी भाषा में सजीवता तथा प्रौढ़ता का संचार

करने का सफल प्रयास किया है। इसी प्रकार कतिपय स्थलो पर उन्होंने सचित्र विशेषणों के रम्य प्रयोग द्वारा भी अपनी भाषा का शृंगार किया है। उदाहरणार्थ राजपूतो के लिए 'कालदूत' शब्द का निम्नलिखित साभिप्राय प्रयोग देखिये —

"उन कालदूत राजपूतों की सहायता को हमारी शेष सेना न बढ़ी।"

—(स्वप्न-भग, पृ० ६१)

एकाकी नाटक

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने मुख्य रूप से पूरे नाटको की ही रचना की है, तथापि एकाकी नाटको के क्षेत्र में भी उनकी अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती है। इस दिशा में हमें उनके 'मन्दिर' और 'बादलो के पार' शीर्षक दो एकाकी-सग्रह प्राप्त हैं। एकाकी-रचना के लिए भी उन्होंके इतिहास और समाज दोनो से प्रेरणा ली है। अपने ऐतिहासिक एकाकी नाटको में उन्होने मुख्य रूप से मुग़ल-शासन और राजपूत-युग की चर्चा की है, किन्तु इसके अतिरिक्त इतिहास की अन्य घटनाएँ भी उन्हें स्वीकार्य रही हैं।

ऐतिहासिक एकाकियो के अतिरिक्त सामाजिक एकाकियो की रचना करने में भी 'प्रेमी' जी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उन्होने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, अछूत-प्रथा और साम्प्रदायिकता आदि से सम्बद्ध अनेक परिस्थितियो का विरोध करते हुए प्रशस्य एकाकियों की रचना की है। कतिपय नवशिक्षिता भारतीय कन्याओ के जीवन में विवाहोपरान्त आने वाले विषम और उच्छृखल वैवाहिक जीवन पर भी उन्होने तीव्र व्यग किये हैं। उनका 'घर या होटल' शीर्षक एकाकी इस दृष्टि से पठनीय है। इसी प्रकार भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन को लेकर उन्होने 'यह मेरी जन्म-भूमि है' शीर्षक एक अत्यन्त भावपूर्ण एकाकी नाटक की रचना की है। इसमें उन्होंने कर्नल होप्स नामक एक अग्रेज अधिकारी की भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाली कन्या के भारत-प्रेम और भारतीय स्वतन्त्रता-अन्दोलन में भाग लेने की कथा का मार्मिक वर्णन किया है।

'प्रेमी' जी ने अपने एकाकी नाटको में जीवन के सत्य का उपयुक्त प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि उन्होने जीवन की यथार्थता और विषमताओ का चित्रण करने पर भी अन्तत किसी उपयुक्त समाधान की खोज करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं में आदर्श जीवन-सत्यों के कल्याणकारी स्वरूप की स्थापना का स्पष्ट आग्रह वर्तमान रहा है। यथार्थ का चित्रण करने पर भी

उनके नाटक सतत आदर्श से प्रेरित रहे हैं। यह स्वाभाविक है। उनके नाटकों के कथानक अधिकांशतः भारतीय इतिहास के मध्य-युग से सम्बद्ध रहे हैं। इस युग में भारतवर्ष में नैतिकता के निर्वाह का स्पष्ट आग्रह था। अतः इस युग का चित्रण करने वाले साहित्यकार के मन पर आदर्शवाद की छाप का होना अनिवार्य है। वर्तमान युग में आदर्शों के प्रति मानव-आग्रह क्रमशः समाप्त होता जा रहा है। 'प्रेमी' जी ने इस नवीन जीवन-दृष्टि से प्रेरणा लेते हुए अपनी रचनाओं में आदर्श और यथार्थ को समन्वित रूप में उपस्थित किया है।

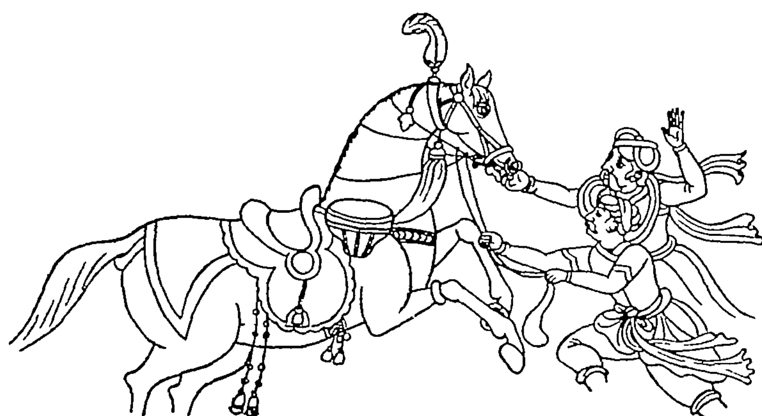
'प्रेमी' जी की कृतियों में प्रायः वीर रस के 'उत्साह' स्थायी भाव की व्याप्ति रहती है। उनका अध्ययन करने पर जहाँ उनमें लेखक के इस प्रयत्न का आभास मिलता है कि नाटकीय पात्र उत्साह-प्रेरित रहें वहाँ पाठक को भी निरन्तर उत्साह की अनुभूति होती रहती है। उन्होंने अपने नाटकों की रचना करते समय उनमें राष्ट्रीय दृष्टिकोण का समावेश करने की ओर पूर्ण ध्यान दिया है। इस दिशा में वह सर्वत्र सजग रहे हैं और उनके नाटकों की भूमिकाओं का अध्ययन करने पर इस सजगता का परिचय प्राप्त हो जाता है। वास्तव में वह अपने पाठकों को जन्म-भूमि के सम्मान का पाठ पढ़ाकर उन्हें उत्कट देश-भक्त बनाने के अभिलाषी हैं। कला की दृष्टि से भी उनके एकांकी नाटक विशेष सरल बन पड़े हैं। एकांकी-शिल्प की जटिलता में उलझने की उनकी कहीं भी इच्छा नहीं रही है। शिल्प-निर्वाह-सम्बन्धी विवाद से पृथक् रहने के उद्देश्य से ही उन्होंने 'बादलों के पार' के मुख-पृष्ठ पर उसे एकांकी नाटकों का संकलन न कह कर लघु नाटकों का संग्रह कहा है। इसी कृति के दो 'शब्द' शीर्षक प्रारम्भिक वक्तव्य से लेखक के एकांकी नाटक-सम्बन्धी स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय मिलता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके एकांकी नाटकों में इस नाटकीय विधा का उपयुक्त विकास नहीं हुआ है। उनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इस प्रकार के सभी गुणों से सम्पन्न हैं और उनमें अभिनेयता का तत्व भी व्यापक रूप से प्रतिष्ठित है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'प्रेमी' जी के नाटकों में राष्ट्रीयता और नैतिक चेतना के प्रतिपादन की ओर मुख्य ध्यान दिया गया है। उन्होंने सामाजिकों के आचार निर्माण की ओर प्रेरित नाट्य-रचना को आवश्यक मानते हुए जीवन को कुछ निश्चित आदर्शों से समन्वित रखकर उपस्थित करने पर बल दिया है। इस दृष्टि से उन्होंने मानव-जीवन के कर्तव्य-पक्ष की ओर विशिष्ट ध्यान दिया है। यह आदर्शवादी दृष्टिकोण स्थूल होते हुए भी ग्राह्य है। 'प्रेमी' जी ने इस में यत्र-तत्र

सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना का समावेश करते हुए इसे अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न भी किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने नाटकों में अन्तर्दर्शन और बहिर्दर्शन को समन्वित रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने इतिहास को कल्पना मिश्रित रूप में अपने नाटकों मे स्थान दिया है। उन्होंने वस्तु-विन्यास करते समय गीति-तत्व के समावेश की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। उनकी श्रेणी के अन्य नाटककारो मे सेठ गोविन्ददास, (शेरशाह, कुलीनता आदि), जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' (प्रताप-प्रतिज्ञा) और उदयशकर भट्ट (दाहर) उल्लेखनीय हैं।

'प्रेमी' जी ने अपने ऐतिहासिक नाटको में कल्पना-मिश्रित ऐतिहासिक सत्यो को विकसित रूप प्रदान किया है, किन्तु कल्पना के आग्रह के फलस्वरूप इतिहास की उपेक्षा उन्होंने कही भी नही की है। अपने सामाजिक नाटको में उन्होंने व्यग्य एवम् तथ्य-निरुपण का अधिकार ले कर आधुनिक युग में श्रमिको, साहित्यकारों, अस्पृश्यो आदि की समस्याओ के आदर्श-प्रेरित ममाधान उपस्थित किए हैं। पाठक अथवा श्रोता के मन पर नाटक के समन्वित प्रभाव को गहन बनाने के उद्देश्य से उन्होने वस्तु-विन्यास करते समय अपने नाटको में गीति-तत्व के समावेश की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। उनके नाटको में भावना एवम् कला, दोनो का ही सरल, स्वाभाविक एवम् पुष्ट आधार पर प्रयोग हुआ है। निष्कर्षत हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी में मध्ययुगीन इतिहास को लेकर नाट्य-रचना करने वाले साहित्यकारो में श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' का अन्यतम स्थान है।



नाटककार 'अश्क'

—प्रो० जगदीशचन्द्र माथुर

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटकों का रचना-काल सन् १९३७ से प्रारम्भ होता है, जब द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद की शैली में 'जय-पराजय' की रचना हुई। १९३८ में उनके एकांकी 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'अधिकार का रक्षक' छपे। 'पापी' और 'वेश्या' इनसे पहले लिखे गये थे, पर छपे बाद में। इन सोलह बरसों में उनके चार एकांकी संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'देवताओं की छाया में', 'पक्का गाना', 'चरवाहे' और 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', छः स्वतन्त्र बड़े नाटक—'जय-पराजय', 'स्वर्ग की झलक', 'कैद उड़ान', 'छठा बेटा' और 'भंवर' और तीन ऐसे नाटक जिनका आकार एकांकी से बड़ा होते हुए भी मूल प्रेरणा एकांकी की ही है—'आदि मार्ग', 'बड़ी दीदी' और 'पैतरे'। १६ वर्ष के इस दौरान में अश्क ने तीन बड़े उपन्यास भी लिखे, कई कहानी-संग्रह, दो मौलिक खंड-काव्य, फुटकर निबन्ध, संस्मरण इत्यादि और इसी दौरान में उन्होंने तपेदिक के रोगी के रूप में जीवन की उन्मुक्त धरती के सूई की नोक भर अंश के लिए मृत्यु से महाभारत रचा, जिसकी झलक 'दीप जलेगा' की चुनौती भरी पंक्तियों में मिलती है। ऐसे साहित्य-साधक की प्रतिभा और अजेय लगन अभिनन्दनीय है।

किन्तु रचनाओं की संख्या अथवा कलेवर एवं व्यक्तिगत कठिनाइयों और संघर्ष के होते हुए भी साहित्य-साधन—इन दोनों के बल पर ही कोई लेखक युग का सफल और समर्थ नाटककार नहीं कहा जा सकता। जिन दिनों जयशंकर 'प्रसाद' की महान रचनाएँ काव्य में छायावाद की प्रतिध्वनि-स्वरूप हिन्दी नाट्य-साहित्य का शृंगार हो रही थीं, उन्हीं दिनों दो प्रवृत्तियाँ चुपचाप हमारी नाट्य-परम्परा की कायापलट कर रही थीं। एक तो हमारे विश्वविद्यालयों और कालिजों में छात्र और अध्यापकगण पाश्चात्य देशों के आधुनिक यथातथ्यवादी नाटककारों से परिचित होने लगे थे। इससे पूर्व प्रधानत शेक्सपियर की कृतियों ही का प्रभाव व्यापक रूप से दृष्टिगत होता था। लेकिन इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी इत्यादि लेखकों की रचनाओं से भारतीय शिक्षित-समाज को सहसा नये क्षितिज का आभास हुआ। इन कृतियों के सिद्धान्त-पक्ष की अवतारणा लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटकों में हुई, यद्यपि यह स्पष्ट था कि रंगमंच-सम्बन्धी ज्ञान का अभाव उन्हें एक सिद्धान्तवादी के स्तर से ऊपर न

उठने दे सका। दूसरी तत्कालीन प्रवृत्ति थी कालिजो के रगमचो पर लघु-नाटको की माँग। सन् ३२, ३३ के आसपास आकर मानो शिक्षित-समाज के दर्शकगण नाटको की खातिर रतजगा करने के विचार से ऊब चले और रगमच के आग्रह के फल-स्वरूप एकाकियों का लिखा जाना प्रारम्भ हुआ। भुवनेश्वर प्रसाद और गणेशप्रसाद द्विवेदी ने इस क्षेत्र में क़दम बढाया।

यो एक ओर तो पाश्चात्य समस्यामूलक नाट्य-साहित्य से किताबी परिचय प्राप्त लेखको की रचना और दूसरी ओर अव्यावसायिक रगमच के लिए लघु नाटको का प्रणयन, इन दो धाराओं का विकास सन् ३६-३७ तक हो चला था और उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटको का महत्व यही है कि उनमें आगे चलकर इन दोनों धाराओ का समन्वय हुआ। पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के किताबी ज्ञान को उन्होने निजी अनुभव और पर्यवेक्षण के खरल में कूट-पीस कर सामाजिक दिग्दर्शन का नवीन और तथ्यपरक रसायन तैयार किया। एकाकियो से उन्होने रगमच के सकेतो और शिल्प को अपनाया, और इस तरह हमारे समकालीन नाटककारों में शायद अश्क ही ने स्पष्ट रूप से प्रसाद के बाद रगमच और साहित्य दोनो के मानदण्ड पर सही उतरने वाले नाट्य-साहित्य को प्रस्तुत किया। सफल एकाकीकार तो दूसरे भी हैं। सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं का, प्रधानत सुपाठ्य सम्वादों (जिन्हे नाटको की सज्ञा भी दी जाती है) के रूप में निरूपण भी अन्य चिन्तनशील और शब्दो के चितेरे लेकर करते हैं। लेकिन दोनो प्रवृत्तियो का ऐसा सम्मिश्रण कि नाटको की एक नवीन शैली का ही प्रस्फुटन हो जाय, अश्क ही ने किया है। पक्के इरादे और प्रयोजन के साथ उन्होने अपने प्रथम नाटक 'जय पराजय' के बाद प्रसाद-पद्धति को तिलाजलि दी और जो नूतन प्रेरणा, पृथक् दृष्टिकोण एव आधुनिक शिल्पविधान इस युग में लोकप्रिय हो चले थे, उन्हें एक ढाँचे में ढाल कर हिन्दी नाटक को जो निजत्व और सुस्पष्ट रूपरेखा प्रदान की। हो सकता है कि जिस पद्धति का सृजन वे करते हैं, वह हिन्दी में जड ही न पकड सके। भारतीय प्रकृति, रुचि और परम्परा शुद्ध यथातथ्यवादी साहित्य अथवा कला से मेल ही नही खाती। पाश्चात्य देशों में नाटक समाज के आगे दर्पण के तुल्य माना जाता रहा है। भारतीय वाङ्मय में नाटक दृश्य काव्य है—यानी कल्पना, अनुभूत रस और अलकार की वह साम-जस्यपूर्ण अभिव्यजना जिसका आनन्द सुनकर या पढकर ही नही रगमच पर देखकर उठाया जा सके। इस दृष्टि से तो अश्क के नाटक भारतीय परम्परा में एक असगति के रूप में प्रतीत होते हैं। उन्होंने जो हिन्दी नाटक को नया मोड दिया है, क्या वह स्थायी रह सकेगा ? अभी इस प्रश्न का समुचित उत्तर नही दिया जा सकता। लेकिन इतना स्पष्ट है कि प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक का जो नयी दिशा में उत्थान हुआ

है, उपेन्द्रनाथ अश्क उसके प्रमुख प्रतीक और स्तम्भ माने जायेंगे। कारण कि शायद ही अन्य किसी नाटककार ने नयी पद्धति को इतनी लगन के साथ अंगीकार किया है, और इतने परिश्रम और निश्चय के साथ सँवारा है।

यह चर्चा तो रही अश्क के ऐतिहासिक महत्व के बारे में, पर उनकी रचना की महत्ता आन्तरिक गुण-दोषों पर भी आश्रित है। उनकी रचनाओं का एक पहलू प्रथम परिचय में ही सामने आ जाता है। 'जय-पराजय' को छोड़कर शायद कोई भी नाटक अश्क के निजी अनुभवों के दायरे के बाहर नहीं है। 'उड़ान' में कुछ कुलाचें अवश्य ली हैं और उस नाटक में शंकर के चरित्र-चित्रण के लिए उनकी तूलिका को कल्पना के गहरे रंगों का प्रयोग करना पड़ा है, माया की उत्तेजनापूर्ण अनुभूति, उसकी और मदन की प्रथम रूमानी मुलाकात और नाटक का सामान्य वातावरण सभी यथार्थवादी स्वर से भिन्न स्वर की याद दिलाते हैं। किन्तु 'उड़ान' की भी प्रेरणा हमारे समाज की दैनिक उलझनों में से ही मिली है। जिस विद्रोह का यहाँ उद्घोषण है, वह अनगिनत नारियों के मौन पीड़ित हृदयों का प्रवक्ता है। अश्क मध्य-वर्ग के दाम्पत्य जीवन को गहराई से पैठकर देख चुके हैं और पढ़ी-लिखी कुमारियों के विवाह की समस्या का उन्होंने उसी संवेदनशीलता और तार्किकता से विवेचन किया है जिसके कारण पाश्चात्य नाटकों का परकीया नायिकाओं और परस्त्री-प्रेम का चित्रण भी मर्मस्पर्शी जान पड़ता है। 'भँवर' की नायिका प्रतिभा बुद्धिवादी आवरण के नीचे एक त्रस्त, एकाकी, सतत अभिलाषी आत्मा को छिपाये फिरती है— न पाई जाने वाली कल्पना की खोज में। 'स्वर्ग की झलक' के रघु की तरह सैकड़ों नवयुवक आज दिन अपने स्तर से ऊपर फैशनेबल समाज की लड़कियों पर मुग्ध और निकट पहुँचने पर विरक्त होते रहे हैं। 'आदि मार्ग' और 'विवाह के दिन' नामक नाटकों में भी इसी समस्या का दैनिक जीवन के अनुभव की सीमाओं में, प्रदर्शन किया गया है। इसके अतिरिक्त 'पापी' और 'लक्ष्मी का स्वागत' के विधुर पति के हृदयद्रावक अन्तःसंघर्ष में तो मानो अश्क के निजी अनुभवों की ताजी छाप है। जान पड़ता है, अश्क नाटक लिखते समय जब एक आधारभूत भावना के लिए आँखें दौड़ाते हैं तो वे कल्पना की आँखें नहीं, स्मृति के नेत्र होते हैं। इसलिए मध्यवर्ग की पारिवारिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति के विश्लेषण में उन्हें लम्बे भाषणों का सहारा नहीं लेना पड़ता, वे केवल परिस्थिति-विशेष के ऊपर से पर्दा उठाकर रख देते हैं। 'छठा बेटा' में नयी और पुरानी पीढ़ी की ज्वलन्त झाँकी हमें मिलती है। उसमें पक्षपात नहीं, किन्तु फिर भी उत्तेजना, कसक, जलन, निराशा की चलती-फिरती तसवीरें, जीवन से ज्यों की त्यों उठाकर रख दी गई हैं। 'आपस का समझौता' का व्यंग्य इसलिए और भी गहरा है कि उसकी जड़ में है एक विषम पारिवारिक समस्या।

अश्क गरीब और शोषितो के जीवन से या तो अपने नाटको के लिए सामग्री लेते ही नही और या लेते हैं तो बहुत ठोक-बजाकर, यह सोच-समझ कर कि वह सामग्री उनके निजी अनुभव की कसौटी पर खरी उतर चुकी है या नही। 'तूफ़ान' और 'देवताओ की छाया में'—यही दो नाटक शोषित जीवन की झाँकियाँ देते हैं और यद्यपि घीसू में प्रेमचन्द के सूरदास के आदर्शवाद की गन्ध मिलती है, तथापि सन् ४६ के दिनो का स्मरण करते हुए उसका चरित्र अस्वाभाविक नही जान पडता। 'देवताओ की छाया में' में तो किसी प्रकार की अस्वाभाविकता का आभास नही। साधारण मुसलमान मजदूर के जीवन की मर्मस्पर्शिनी ट्रेजिडी के पीछे अश्क की पारदर्शक दृष्टि की शक्ति है। पिछले दिनो अश्क ने बम्बई के सिनेमा जगत् के कृत्रिम, मानवीय-भावनाओं से शून्य, चापलूसी की दुर्गन्ध में बसे जीवन का भी नग्न और यथातथ्य वर्णन कुछ नाटको में किया है। 'पक्का गाना' में यह आक्षेप चुटकी मात्र था, 'मस्केबाज़ो का स्वर्ग' में अट्टहास हो जाता है और 'पैतरे' मे विषाक्त बाण। अतिरंजना तो है, लेकिन फिल्मी जीवन जितना विकारग्रस्त है, उसके सुधार के लिए शायद कुछ ऐसी गहरी चोटें ही चाहिए। सामाजिक समस्याओ पर आश्रित इन नाटको के अतिरिक्त अश्क जहाँ जीवन के सबसे अधिक सन्निकट आये हैं, वे हैं उनके नाटक जिनकी आधारभूत भावना उन्हें चारित्रिक विशेषताओ की सनक या धुन में मिली है। 'जौंक', 'तौलिये' और 'अ जोदीदी' को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। 'तौलिये' की मधु और 'अ जोदीदी' की अ जो में कोई अन्तर नही है। दोनो ही नाटको में बडे कौशल के साथ नियमबद्ध जीवन को सनक बनाने वाले चरित्र का मखौल उडाया गया है। 'जौंक' में अनचाहे मेहमान का गुदगुदाने वाला चित्रण है। पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' नामक सग्रह के लगभग सभी नाटको में परिस्थितियों का अनूठा चुनाव है। परिस्थिति चरित्र के अनुकूल ही जान पडती है, बल्कि पात्रो में व्यक्तित्व का अनिवार्य प्रस्फुटन प्रतीत होता है। जैसे मैने अन्यत्र लिखा है जीवन की सतत प्रवाहशील धारा का क्षणिक ठहराव ही मानो अश्क के एकाकियो में मूर्तिमान होकर उतरता है। बतसिया में ठहराव ने भँवर का रूप ले लिया है। शेष नाटको में घटना-चक्र की गुत्थियाँ नही हैं, जीवन की शोभा यात्रा के कुछ दृश्य सामने ठहर कर फिर गतिशील हो जाते हैं। लेकिन इस अनायास प्रदर्शन के पीछे कितनी तैयारियाँ, कितनी तराश, कितनी नापजोख है, इसका अन्दाज मननशील पाठक और दर्शक लगा सकते हैं।

असल में अश्क की प्रमुख विशेषताएँ हैं श्रमसाध्य और जानदार पात्रो का सृजन। उनका प्रत्येक पात्र अपनी भाव-भगिमा और वाणी के द्वारा पहचाना जा सकता है। लेखक पात्रो के मुख से अपनी प्रवृत्तियो, अपनी भावनाओ का परिचय नही देता। लेखक का निजी व्यक्तित्व तो परिस्थितियो की प्रगति और नाटक के

सामान्य प्रकार और आत्मानुभूत भावना में परिचालित रहता है। किन्तु पात्र जो कुछ करते या कहते हैं, वह उनका अपना है, वे लेखक के ही भिन्न-भिन्न रूपान्तर नहीं हैं। इस दिशा में अश्क हिन्दी में अनूठे नाटककार हैं। इस गुण की सिद्धि के लिए आवश्यकता है भीषण आत्म-संयम की, पैनी समदर्शी दृष्टि की और भिन्न-भिन्न भाँति के चरित्रों के हृदय में पैठकर उनसे समरस होने की क्षमता की।

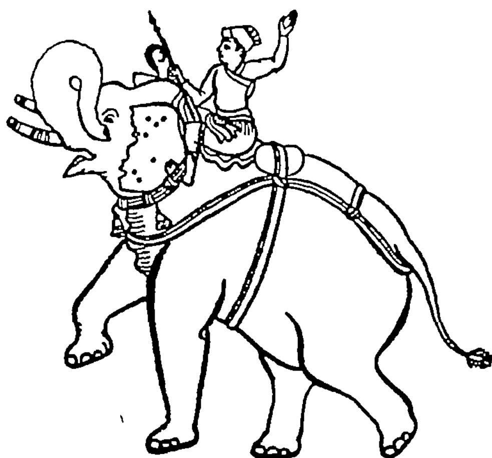
एक बात और। संवाद और कार्य-सम्पादन पात्रों के विकास के माध्यम हैं। आज हिन्दी में चुस्त और तीखे संवाद-लेखकों की कमी नहीं। हाज़िर-जवाबी के लिए शब्दों पर जिस भाँति के अधिकार और त्वरित एवं उर्वरा कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होती है, उसका भी आज दिन अभाव नहीं। किन्तु अश्क के संवाद इसलिए असाधारण हैं कि उनमें नदी की धारा की भाँति, परिस्थितियों के धरातल के उतार के अनुकूल ही उत्तर-प्रत्युत्तर चलते हैं। दरबारी ढंग का बादशाही वाला संवाद यहाँ नहीं है, उनकी नायिकायें शास्त्रीय पंडितों की भाँति सूत्र-गुम्फन नहीं करतीं। अश्क के पात्र असाधारण इसलिए हैं कि साधारण व्यक्तियों की तरह वे तकिया-कलामों का प्रयोग करते हैं, बातचीत करते-करते उलझन में पड़ जाते हैं, कठिन वाक्यावलियाँ उनके मुख में गलती हैं, अधसुनी भंगिमाएँ उनके संवादों में बिखरी पड़ी रहती हैं और गम्भीर बातचीत के बीच में वे एक छोटी-सी चर्चा छेड़ देते हैं।

कथानक के निराकरण (यानी प्लाट) और कार्य-सम्पादन (यानी एक्शन) के प्रदर्शन में अश्क कहाँ तक सफल हुए हैं, इस पर दो राय हो सकती हैं। एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ी उपन्यासकार ने एक स्थल पर लिखा है कि उसे खेद इसी बात का है कि उसे अपने उपन्यासों की प्रगति के लिए एक कथानक का सहारा लेना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा लगता है मानो अश्क भी नाटक में कथानक को उतनी ही उलझन की, कुछ बेकार सी-सी वस्तु समझते हैं। चरित्र के प्रदर्शन में ही उन्हें उतनी गति की प्रतीति होती है कि घटना-गुम्फन व्यर्थ-सा जान पड़ता है। किन्तु मेरे विचार में उपन्यासकार का यह दृष्टिकोण उनके तीन-अंकी नाटकों में उन्हें पथभ्रष्ट कर देता है। सांकेतिकता उनकी सबल है, लेकिन नाटककार के लिए सांकेतिकता एक साधन मात्र होनी चाहिए, [illegible] से उसका उद्गार भावना दर्शक को ऐसे जंजाल में फाँसने के तुल्य है जो उसे नाटक से विरक्त कर जाता है। लेकिन मेरा यह कथन अश्क के बड़े नाटकों पर ही लागू होता है— एकांकियों पर नहीं।

वस्तुतः अश्क के बड़े नाटकों पर अति-सुन्दर सांकेतिकता एक ऐसे आवरण की तरह आवृत रहती है। उनकी तह में उनकी निर्मलता झाँकती है और वे प्रस्तुत

सौन्दर्य-दृष्टि । इस टेकनीक का सबसे सुन्दर नमूना है उनका नाटक "कैद" जिसमें उनके लगभग सभी गुण उभरे हैं—बडी सतुलित गति से, बडे मर्मस्पर्शी रूप में । "कैद" को निश्चय ही आधुनिक भारतीय साहित्य के प्रमुख नाटको की श्रेणी में रखा जा सकता है ।

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार गाल्सवर्दी ने एक बार अपने आप ही प्रश्न किया—उन्नतिशील नाट्य-कला की बुनियाद क्या है ? उत्तर भी गाल्सवर्दी ने स्वय इन शब्दो दिया कि उन्नतिशील नाटक के चिह्न हैं—सच्चाई और खरापन और लेखक की वफादारी—अपनी अनुभूति के प्रति, अपने पर्यवेक्षण के प्रति और अपने व्यक्तित्व के प्रति ! जिसकी कल्पना अनुभवगत और दृष्टिगत जीवन को ही ग्रहण करती है और जो इस भाँति गृहीत वस्तु-विशेष को रगमच पर इस तरह प्रस्तुत करता है कि दर्शकगण भी उसी मौलिक अनुभूति से अभिभूत हो जाएँ, वही उच्च कोटि का नाटककार है । हिन्दी में बहुत कम नाटककार ही इस परिभाषा के दायरे में आ पाते हैं, अश्क उन्ही विरलों में से एक हैं और कुछ मानी में तो अनूठे हैं ।



हिन्दी एकांकी का विकास

—डॉ० भोलानाथ

साहित्य के लघुरूपों—गीत, कहानी, निबंध, एकांकी आदि—के जन्म एवं उनकी लोकप्रियता के कारण के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि जीवन की दौड़ में निरन्तर व्यस्त रहने वाले आधुनिक मानव के पास इतना समय नहीं है कि वह बड़े-बड़े नाटकों, उपन्यासों, महाकाव्यों आदि को सम्पूर्णतः देखे, पढ़े या सुने और इसीलिये गीत, कहानी, निबन्ध, एकांकी आदि आज के युग में अपनाये जा रहे हैं। 'वीनायण या प्रतिज्ञापूर्ति' की भूमिका में स्व० श्री सूर्यकरण पारीक और अर्पण, सन् १९३८ ई० के 'हंस' के सम्पादकीय में श्री श्रीपतराय ने यही मत प्रकट किया है। मेरा मत है कि यह धारणा शत-प्रतिशत सही नहीं है—कम से कम, हम भारतीयों के लिये तो यह बात नहीं ही है। तीन तीन घंटों तक चलने वाले प्रति दिन के तीन-तीन चार-चार सिनेमा शो या सरकस, पाँच-पाँच छह-छह घंटों तक चलने वाले पाँच-पाँच छह-छह दिनों के क्रिकेट टेस्ट मैच, 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'कर्त्तव्य' जैसे नाटक, 'गोदान', 'मुर्दों का टीला', 'वैशाली की नगरवधू', 'इन्दुमती' जैसे उपन्यास, 'कामायनी', 'कृष्णायन' जैसे महाकाव्य आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिनसे स्पष्ट है कि हम भारतीयों के जीवन में समय की कमी नहीं है—कमी है उसके सदुपयोग की। शायद जो बात वाशिंगटन, न्यूयार्क और लन्दन या दिल्ली, बम्बई और कलकत्ते के लिये कही गई है उसे हम समस्त भारतीय जीवन के लिये सही मान बैठे हैं। फिर, एकांकियों के पूर्वरूप 'मोरैलिटीज' तथा 'मिरैकिल्स' यूरोप में दसवीं शताब्दी के धार्मिक अवसरों पर, और 'कर्टेन रेजर' विक्टोरिया-युग में अभिनीत होते थे। 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' की लघु आख्यायिकाएँ, संस्कृत के व्यायोग, भाण और अंक आदि, जयदेव, विद्यापति, सूर तुलसी, कबीर, मीरा, बिहारी, मतिराम आदि के अमर पद-दोहे-कवित्त-सवैये आधुनिक व्यस्त जीवन के बहुत पहले के हैं। प्रो० रामचरण महेन्द्र ने लिखा है कि संस्कृत में एकांकियों का प्रचार भरत मुनि के समय से पूर्व भी था। अस्तु, यह नहीं कहा जा सकता कि चूँकि हमारे पास बड़ी-बड़ी साहित्यिक रचनाओं के पढ़ने के लिये समय नहीं है इसलिये हम गीत, कहानी, एकांकी आदि पढ़ते हैं। बात यह है कि हम जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं और समस्याओं आदि को क्रमबद्ध एवं समग्र रूप से भी अभिव्यक्त देखना चाहते हैं और उन अभिव्यक्तियों का स्वागत करते हैं, मगर साथ ही साथ किसी एक महत्त्वपूर्ण भावना, किसी एक उद्दीप्त क्षण, किसी एक प्रभावपूर्ण

एव प्रभावशाली घटना या घटनाश की अभिव्यक्ति का भी स्वागत करते हैं। हम कभी अनगिन फूलो से सुसज्जित सलोनी वाटिका पसन्द करते हैं और कभी भीनी सुगन्धि देने वाली खिलने को तैयार एक नन्ही-सी कली। दोनो बातें हैं, दो रुचियाँ हैं, दो पृथक् किन्तु समान रूप से महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण हैं। समय के अभाव या अधिकता की इसमें कोई बात नही।

हिन्दी में एकाकी के जन्म और उसकी लोकप्रियता के कारण निम्न-लिखित हैं —

(अ) हमारी 'शतधा अभिव्यक्त अभिरुचि' (स्व० श्री सूर्यकरण पारीक)।

(आ) किसी एक ही ओर अपने ध्यान को अधिक देर तक निरन्तर केन्द्रित किये रह सकने वाली शक्ति और इच्छा-शक्ति का सामान्यत ह्रास।

(इ) सस्कृत, अग्रेजी और बंगला साहित्य एव उनके एकाकी साहित्य से हमारा परिचय और उनके अनुकरण पर एकाकी लिखने की हमारी इच्छा का जन्म।

(ई) हिन्दी नाट्य-साहित्य के प्रणयन के पूर्व हिन्दी जनता का जो अपना रगमच था उस पर अभिनीत होने वाली कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी एकाकी झाँकियाँ।

(उ) कभी-कभी थोडे समय के लिये खाली होने पर उतने थोडे समय के लिये साहित्यिक मनोरजन की हमारी माँग।

(ऊ) बालचरों के कैम्प-फ़ायर के लिये आवश्यक सरल एकाकी की माँग।

(ए) विद्यालयो, महाविद्यालयो एव विश्वविद्यालयो में विशेष-विशेष अवसरो पर विद्यार्थियो द्वारा खेले जाने के लिये सुरुचिपूर्ण एव साहित्यिक नाटको की आवश्यकता और ऐसे अवसरों पर एकाकियो की विशेष उपयुक्तता एव उपयोगिता।

(ऐ) रेडियो से हिन्दी एकाकियो की माँग।

विकास (ऐतिहासिक दृष्टि से)

पहली अवस्था (पहला चरण)

जिस प्रकार हिंदी में अनेकाकी नाटको का लिखना भारतेन्दु से प्रारभ हुआ है उसी प्रकार भारतेन्दु ने ही हिन्दी में सबसे पहला एकाकी भी लिखा है। कहना न होगा कि और विषयो और बातो की तरह इस पर भी विद्वानो में मतभेद है। प्रो० रामचरण महेन्द्र और प्रो० सत्येन्द्र आदि भारतेन्दु को ही हिन्दी का पहला एकाकीकार मानते हैं। डा० नगेन्द्र, डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, डा० रामकुमार वर्मा, आदि इस मत के पक्ष में नहीं हैं। इन विद्वानों की यह धारणा है कि भारतेन्दु और उनके युग के नाटककारो के एक अक के नाटको में और एकाकियो में आकाश-पाताल का अन्तर है। उन नाटकों पर सस्कृत के एक-अक वाले रूपकों का ही प्रभाव है। उनमें आधुनिक एकाकी-कला का कोई भी अनिवार्य तत्त्व नही मिलता, उनमें

आधुनिक एकांकियों की कुछ भी कमी नहीं मिलती। वे एकांकीकार 'एकांकी' नाम तक से अपरिचित थे। और, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है।

प्रो० सत्येन्द्र ने 'हिन्दी एकांकी' में लिखा है कि भारतेन्दु जी के समस्त नाटकों पर दृष्टि डालने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि विविध नाटकों को लिखने और अनुवाद करने का उनका उद्देश्य यह था कि नाट्य-शास्त्र के अनुसार रूपक-उपरूपक के विविध भेदों को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण की भाँति वे एक-एक रचना दे जावें और इसीलिये उन्होंने एकांकी भी लिखे। "यद्यपि एकांकी के नाम से भारतेन्दु जी परिचित नहीं थे, और उसे साहित्य का अलग अंग नहीं मानते थे" किन्तु "आज के विकसित एकांकियों की साहित्यधारा में जो प्रथमावस्था हो सकती है वह भारतेन्दु जी में हमें स्पष्ट मिलती है"। अतः "भारतेन्दु जी को हिन्दी का प्रथम एकांकीकार मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती" क्योंकि "......भारतेन्दु जी के लिखे मौलिक नाटकों में से 'चन्द्रावली' और 'अन्धेर नगरी' तो नाटक हैं, शेष सब एकांकी —(ये सभी उद्धरण प्रो० सत्येन्द्र के 'हिन्दी एकांकी' से हैं)। कुछ और उदारता-पूर्वक देखें तो हम इन दोनों को भी एकांकी मान सकते हैं। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में लिखे हैं 'अंक' पर हैं वे वस्तुतः 'दृश्य'। 'नील देवी' में न सूत्रधार है न नान्दी। इसमें नाटक का कथा-सूत्र एकदम गतिमान हो जाता है। 'भारत-दुर्दशा' में एक योगी के द्वारा भारत की दुर्दशा का परिचय कराया जाता है और फिर इसी के बाद ही नाटक प्रारम्भ हो जाता है। उनके इन नाटकों में मिलने वाले इन आधुनिक तत्त्वों के विस्तारपूर्वक परिचय और उनकी व्याख्या के लिये यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है किन्तु इनके अस्तित्व तक से इन्कार करना सत्य और तथ्य के प्रति आँखें मूँदना होगा। परन्तु, हिंदी एकांकी का प्रारम्भ सन् १८७५ ई० से, जबकि भारतेन्दु जी ने 'प्रेमयोगिनी' लिखा, मान सकते हैं। प्रो० सत्येन्द्र ने सम्वत् १९३० से माना है जबकि "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" प्रकाशित हुआ था। भारतेन्दु जी के अतिरिक्त उस युग में और भी अनेक लेखकों ने एक अंक के नाटक लिखे हैं जिनमें से कुछ ये हैं —

लाला श्रीनिवास दास—'प्रह्लाद-चरित्र'; बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन'—'प्रयाग रामागमन'; राधाचरण गोस्वामी—(अ) 'भारत में यवन लोग', (आ) श्रीदामा, (इ) 'सती चन्द्रावली', (ई) 'अमरसिंह राठौर', (उ) 'तन-मन-धन श्री गोसाईं जी के अर्पन', कृष्णदेवशरणसिंह—माधुरी, (ऊ) बालकृष्ण भट्ट—(अ) रविराज की सभा, (आ) रेल का विकट खेल, (इ) बाल-विवाह, श्री शरण—बालाविवाह, प्रतापनारायण मिश्र—कलि कौतुक, काशीनाथ खत्री—(अ) सिन्ध देश की राजकुमारियाँ,

(आ) गुन्नौर की रानी, (इ) बालविधवा-सताप, शालिग्राम—मयूरध्वज, देवकीनदन त्रिपाठी—जयनारसिंह की, राधाकृष्ण दास—(अ) दु खिनी बाला, (आ) धर्मालाप, अम्बिका दत्त व्यास—'कलियुग और घी । अयोध्यासिंह उपाध्याय—'प्रद्युम्न विजय व्यायोग', किशोरीलाल गोस्वामी—'चौपट चपेट', आदि ।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से लेखक हैं जिनकी अनेक रचनाएँ उस समय के पत्र-पत्रिकाओ में दबी पडी हैं - जब हम इन सब रचनाओं को एकाकी की परम्परा में ला रहे हैं तब यह नहीं कहना चाहते कि ये सभी दृष्टियो से पूर्ण 'एकाकी नाटक' हैं । हम यह कहना चाहते हैं कि ये एक अक के नाटक हैं और आज के एकाकियो के पूर्वज हैं । इनमें एकाकी के एक-आध तत्त्व अवश्य मिल जायेंगे । इसका दायित्व उस युग की परिस्थितियो पर है । आज के एकाकी जिन परिस्थितियो के फलस्वरूप आज का स्वरूप पा सके हैं वे उस युग में नही थीं । उस युग के नाटककार के साधन 'बहुत मोटे' थे, धारणाएँ 'हठी' थी, उसके सस्कार उसे चारो ओर से अव-रुद्ध किये थे और समाज में व्याप्त जडता का भयानक अकुश कल्पना के सम्मुख सदैव रहता था । "द्विविधा जहाँ शैली में है वहाँ भाव में भी है"—प्रो० सत्येन्द्र । ऐसी अवस्था में जैसे एकाकी लिखे जा सकते थे, लिखे गये और उन्हे एकाकी की परम्परा से बहिष्कृत कर देना अन्याय होगा ।

पहली अवस्था (दूसरा चरण)

भारतेन्दु जी ने जिस एकाकी-प्रणयन का सूत्रपात किया वह द्विवेदी युग में भी चलता रहा । लिखना बन्द नही हुआ । परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही । इतना अवश्य है कि इस युग का कोई ऐसा प्रतिभावान कलाकार इस क्षेत्र में प्रकाश में नही आया है जिसने एकाकी-रचना में ऐसा परिवर्तन उपस्थित किया हो कि एक नया युग आरम्भ हो सके और, चूँकि लिखना जारी रहा इसलिये हम ऐसा भी नही कह सकते कि हम वहीं रह गये जहाँ भारतेन्दु-युग में थे । निश्चित रूप से इतना ही कह सकते हैं कि भटकना कम हो गया था, अनिश्चितता समाप्त हो रही थी और हिन्दी एकाकी के अपने स्वरूप की—भले ही वह कितनी अनपढ क्यो न हो—एक आकृति उभरने लगी थी । उस पर कुछ पारसी रगमच की निर्वाणोन्मुखी छाया थी, कुछ सस्कृत नाट्य-शास्त्र की आभा थी, कुछ अग्रेजी नाटकों के रग थे और कुछ दर्शको एव पाठको की अपनी परिष्कारोन्मुखी रुचि की भी झलक थी । मगर इन सब रगों के मिलाने से एकाकियो में हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल एक आकृति का कुछ-कुछ स्पष्ट रूप उभरने लगा था । सुदर्शन के 'राजपूत की हार', 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'आनरेरी मजिस्ट्रेट', रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्नो के चित्र', 'दिमाग़ी ऐयाशी', बदरी-

नाथ के 'नवदघोषी'; 'उग्र' के 'चार बेचारे', 'अफजल-वध', 'भाई मियाँ' आदि में हमें इस युग के एकांकियों का वास्तविक स्वरूप दिखाई पड़ता है। अस्तु, भारतेन्दु-युग और इस युग के नाटकों में विकास की रेखा स्पष्ट रूप से परिलक्षित है यद्यपि वह युगान्तरकारी नहीं है।

दूसरी अवस्था

प्रसाद का 'एक घूँट' सं० १९८६ वि० अर्थात् १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस प्रकाशन से हिन्दी एकांकी अपने विकास के दूसरे युग में प्रवेश करता है। 'एक घूँट' प्रसाद का लिखा हुआ एक एकांकी रूपक (अन्यापदेशिक) है। इसके पात्र हैं आनंद, कुंज, मुकुल, रसाल, वनलता, प्रेमलता, चन्दुला और झाड़ू वाला। पात्र भिन्न-भिन्न विचारधाराओं एवं मनोवृत्तियों के प्रतीक हैं। उद्देश्य है "आनन्द के खोखलेपन का मार्मिक उद्घाटन . तर्क वितर्क का विषय है जीवन और जीवन का लक्ष्य .. दूसरी विचार की बात है स्त्री और पुरुष। एक हृदय-पक्ष का प्रतिनिधि है तो दूसरा मस्तिष्क और बुद्धि-पक्ष का" (डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा)। जीवन में आदर्श और यथार्थ का स्थान, प्रेम और विवाह आदि समस्याएँ इसमें उठाई गई हैं और उनका हल निकालने का प्रयत्न किया गया है। 'सारा नाटक एक अंक और एक दृश्य का है। आरम्भ में सुन्दर पूर्वरंग है और पात्रों का प्रवेश इस क्रम से होता है कि वस्तु और पात्रों का परिचय स्वतः हो जाए। तर्क-वितर्क का सूत्र इसी स्थल से निकल कर निरन्तर विस्तार पाता गया है'—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा। इसमें संगीत, विदूषक, स्वगत और जनान्तिक की व्यवस्था है। प्रो० सत्येन्द्र का कथन है कि इसके चरित्रों और वातावरण के संघर्ष की मान्यता प्रधान रही है, समग्र संकलन निर्दोष है, संघर्ष भी धीरे-धीरे गतिवान हुआ है और जहाँ उसका चरमोत्कर्ष है, वहीं नाटक समाप्त हुआ है। डा० नगेन्द्र का कथन है कि एकांकी की टेकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है हाँ, उसमें प्रसादत्व का गहरा रंग अवश्य है। हिन्दी एकांकी-साहित्य में इसके स्थान और महत्व पर विद्वानों में काफी मतभेद है। चूँकि उस पर संस्कृत का प्रभाव अधिक है इसलिये...'एक घूँट' आधुनिक एकांकी की कला से काफी दूर तक हटा हुआ है।" (डा० रामकुमार वर्मा और डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित)। प्रो० अमरनाथ गुप्त भी इसे सफल 'एकांकी नाटक' मानते हुए भी प्रसाद को 'पथ-प्रदर्शक के रूप में' नहीं देखते क्योंकि "प्रसाद जी के एकांकी संस्कृत की परिपाटी से ही अधिक प्रभावित हैं।" 'हिन्दी एकांकी और एकांकीकार' के लेखक प्रो० रामचरण महेन्द्र ने भी 'एक घूँट' को कोई विशेष महत्व का नाटक नहीं समझा। किन्तु डा० नगेन्द्र का कथन है कि "प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं माने जा सकते, यह बात

मान्य नहीं है।" प्रो० सत्येन्द्र का कथन है कि "प्रसाद जी का 'एक घूँट' हिन्दी के एकांकियों के विकास की द्वितीय अवस्था का अग्रणी है " प्रो० प्रकाशचन्द्र जी गुप्त ने भी उसे सफल एकाकी कहा है। डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने उसे कोई सुन्दर नाटक नही माना है किन्तु उनका यह कथन पढने और गम्भीरतापूर्वक विचार करने के योग्य है—"इस प्रकार सम्पूर्ण रचना में ऐसा जान पडता है कि एक छोटी-सी घाटी में एक ही ओर चलते हुए वहुत से लोगो में कशमकश हो रही है" (प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन)। निष्पक्ष रूप से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सस्कृत नाट्य-शास्त्र के कुछ तत्त्वों के होते हुए भी अपनी आत्मा, अपने स्वरूप, अपनी टेकनीक और अपनी मौलिकता की ही दृष्टि से प्रसाद का 'एक घूँट' डॉ० रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' की अपेक्षा सुन्दर एकाकी है और आधुनिक एकाकी के अधिक समीप है। यदि 'वादल की मृत्यु' के कारण डॉ० रामकुमार वर्मा आधुनिक हिन्दी एकाकी के जन्मदाता कहे जा सकते हैं तो 'एक घूँट' के बल पर यह गौरव जयशकर 'प्रसाद' को देना समीचीन होगा, किन्तु चूँकि यह गौरव भारतेन्दु का है इसलिए 'एक घूँट' में हम हिन्दी एकाकियो की युवावस्था की प्रथम मनोरम झलक देखते हैं और उससे उनके विकास की दूसरी अवस्था प्रारम्भ मानते हैं।

हिन्दी नाटको का यह युग सन् १९२९ ई० से प्रारम्भ होता है और सन् १९३८ ई० तक जाता है। इस युग के नाटको और नाटककारों में से कुछ ये हैं—

१ उदयशकर भट्ट—(१) 'असहयोग और स्वराज्य' और (२) 'चितरजनदास' (१९२२-२३ ई०), (३) 'एक ही कब्र में' (१९३६ ई०), (४) 'दुर्गा', (५) 'नेता' (६) 'उन्नीस सौ [पैंतीस', (७) 'वर निर्वाचन', [१९३५ से १९४० के बीच]।

२. भुवनेश्वर प्रसाद—(१) 'प्रतिभा का विवाह' (१९३२ ई०), (२) 'श्यामा—एक वैवाहिक विडबना' (१९३३ ई०), (३) 'पतित' (४) 'एक साम्यहीन साम्य-वादी' (१९३४ ई०), (५) 'लाटरी', (६) 'रोमास रोमाच' (१९३५ ई०), (७) 'मृत्यु' (१९३६ ई०), (८) 'हम अकेले नही हैं', (९) 'सवा आठ बजे' (१९३७ ई०), (१०) 'स्ट्राइक', (११) 'ऊमर' (१९३८ ई०)।

३ डा० रामकुमार वर्मा—'पृथ्वीराज की आँखें' (१९३६ई०)

४ जगदीशचन्द्र माथुर—(१)'मेरी बाँसुरी' (१९३६ई०), (२) 'भोर का तारा' (१९३७ई०), (३)'कलिंग विजय' (१९३७ ई०)।

४. उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—(१) 'पापी' (१९३७ ई०), (२) 'लक्ष्मी का स्वागत', (३) 'मोहब्बत' (४) 'अधिकार का रक्षक' (१९३८ ई०)।

इनके अतिरिक्त सर्वश्री गोविन्दवल्लभ पन्त, सुदर्शन, सज्जाद ज़हीर, सूर्यकान्त त्रिपाठी, सत्येन्द्र आदि लेखकों ने उच्च कोटि के अनेक एकांकी लिखे। उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि इस युग के एकांकी-साहित्य पर हम गर्व कर सकते हैं। इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते नाटककार एकांकी-कला के प्रति पूर्ण रूप से सचेष्ट हो चुके थे। एकांकी नाट्य-रचना रूपी चाक पर बैठा हुआ नाटककार रूपी कुम्हार हिन्दी एकांकी की उभरने वाली आकृति को अपनी कल्पना के बल पर अनेक यत्नों और प्रयत्नों से श्रेष्ठ कलाकृति का रूप दे रहा था और उसकी कल्पना अ-हिन्दी प्रभावों से मुक्त हो चली थी।

तीसरी अवस्था

यह अवस्था १९३८ ई० से १९४७ ई० तक मानी जा सकती है। इसके हम दो भाग कर सकते हैं—(१) १९३८ ई० से १९४० ई० तक, और (२) १९४० ई० से १९४७ ई० तक। पहले भाग अर्थात् दो वर्षों के इस समय को हम संक्रान्ति काल कह सकते हैं। यह विकास की दो अवस्थाओं के बीच का वह काल है जबकि कुछ देर तक रुक कर हम एकांकी की उपयोगिता, स्वरूप, स्थान एवं महत्व आदि पर पूरा तर्क-वितर्क करके किसी एक निश्चय पर पहुँच गये और तब फिर लिखना प्रारम्भ कर दिया और जब लिखना प्रारम्भ किया तभी कुछ विशिष्ट एवं क्रान्तिकारी परिस्थितियों ने हमारे विषय, हमारी शैली और हमारे दृष्टिकोण को भी एक नया मोड़ दे दिया।

१९३८ ई० के 'हंस' के एकांकी विशेषांक ने एकांकी के सम्बन्ध में एक विवाद उठा दिया जिसका प्रारम्भ चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के एक लेख से हुआ। इसमें उन्होंने एकांकी को लाहौर के अनारकली बाज़ार में प्रायः मिलने वाली अनोखी विज्ञापनबाज़ी की तरह की चीज़ मानकर उसकी हँसी उड़ाई। उन्होंने उसकी अपनी टेकनीक नहीं मानी। उसकी कोई उपयोगिता नहीं स्वीकार की और उसको कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया। जैनेन्द्र जी ने भी उसे ऐसी ही हल्की चीज़ समझा और कहा कि सत्-आलोचन से उसका विकास रुक जायेगा। श्रीपतराय, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और प्रो० अमरनाथ गुप्त ने चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की बातों का विरोध किया।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की बातें हिन्दी पाठकों और लेखकों के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थीं। रचनाएँ जब तक कुछ नहीं या कुछ ही होती हैं तब तक उनके बारे में विशेष विचार-विमर्श की आवश्यकता नहीं समझी जाती किन्तु

जब वे अपना एक निश्चित वर्ग एव प्रकार बनाने की ओर उन्मुख होती है तब उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार होने लगता है। सन् १९३८ ई० के आस-पास हिन्दी एकाकी-साहित्य इसी स्थिति में आगया और जब यह विवाद समाप्त हो गया तब एकाकी कला, उसके स्वरूप, उसके स्थान, उसके विषय आदि के सम्बध में जैसे सब कुछ निश्चित हो गया। अब हिंदी एकाकी-साहित्य बडी तीव्रता और कलात्मकता के साथ आगे बढ़ा। जिन लेखको के नाम पिछले युग में लिये गये हैं उनकी और उनके अतिरिक्त अन्य लेखको की तूलिकाएँ जैसे वरदान पाकर अविराम गति से नृत्य-रत हो उठी।

और तभी द्वितीय महायुद्ध की लपटो की आँच उन तूलिकाओ और उनकी आत्माओ को तप्त-दग्ध करने लगी। १९४० ई० से १९४७ ई० के बीच का समय हमारे राष्ट्र के लिये चोटो, तडपनो, कराहो का युग था। राष्ट्र पर काली घटाएँ रह-रह कर घिरती और सघन हो उठती थी। युद्ध की विभीषिकाएँ, बगाल का अकाल, आज़ादी की हुकार, विदेशी शासको के लोमहर्षक अत्याचार, हमारे बलिदान, आई० एन० ए० के क्रान्तिकारी मुकदमे, चोरबाज़ारी आदि इन्ही सात वर्षो के भीतर की ही बाते हैं! कैसा था वह युग!! दैनिक आवश्यकताओ की भी वस्तुएँ नहीं मिल पाती थी। सुहाग की चुनरी और कफन तक के लिये, नमक से लेकर अनाज के दानो तक के लिये भीख और चोरी का सहारा लेना पडता था। आध्यात्मिक भारत की नैतिकता चोरबाज़ार में पैसे-पैसे पर बिक रही थी। राष्ट्रीय चेतना नये-नये रूपो मे सामने आरही थी—क्षुब्ध, क्रुद्ध, उद्दीप्त, दीप्त, रञ्जित एव अनुरञ्जित। इन सबने हमारे चिन्तन और हमारी कला को प्रभावित किया। एकाकी भी अछूता नही रह सका। पहले मानव, समाज और प्रकृति के मूलभूत तत्त्वो पर जो बुद्धिवादी आक्रमण हुआ था, वह अब नही मिलता। "बिलकुल सामयिक और स्थूल समस्याओ, प्रश्नो और आवश्यकताओ ने एकाकीकार को आकर्षित कर लिया है और वह इस स्थूलता से उन्हें प्रकट भी करने लगा है" (प्रो० सत्येन्द्र)। उनकी कला जनसाधारण की समस्याओ की अभिव्यक्ति का सरलतम माध्यम बनना चाहती है। उसकी तूलिका की रगीनियाँ जा रही हैं। डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर, भुवनेश्वर, सद्गुरुशरण अवस्थी, गणेशप्रसाद द्विवेदी, चन्द्रकिशोर जैन, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, 'इन्द्र', 'राकेश', आदि अनेक इस युग के मान्य कलाकार हैं।

चौथी अवस्था

हिन्दी एकाकियों के विकास की चौथी अवस्था स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से

प्रारम्भ हुई है। इस अवस्था में हिन्दी एकांकियों पर रेडियो का प्रभाव बड़ी गहराई से पड़ा है। इसके पहले हिन्दी रेडियो-नाटक के लिये सौतेली बेटी थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इसी के विरोध में आन्दोलन भी चलाया था। सिद्धनाथ एम० ए० के कथनानुसार आजादी मिलने पर रेडियो के अधिकारियों की दृष्टि इस उपेक्षित पुत्री के प्राप्य पर भी गई और अब "रेडियो एकांकी इस युग की मांग है" (प्रो० रामचरण महेन्द्र)। इस अवस्था में साधारण एकांकियों में दूसरी और तीसरी अवस्था के तत्त्व किसी न किसी रूप में मिलते हैं। रेडियो पर प्रसारित होने वाले नाटकों में—और आज के अधिकांश एकांकी रेडियो पर ही प्रसारित होने के लिये लिखे जाते हैं—कुछ नए तत्त्व और आ गए हैं। उनमें कभी-कभी सूत्रधार (Narratcr) की आवश्यकता पड़ती है। स्टेज-इफेक्ट के लिये कुछ देर तक रुकने का, पृष्ठभूमि-संगीत का और ग्रामोफोन-रेकार्डों आदि का सहारा लिया जाता है। अभिनव मुद्राओं के स्थान पर ध्वनि-निर्देश आवश्यक हैं। पात्र भी बहुत कम रखे जाते हैं। रेडियो एकांकियों का अपना एक पृथक् प्रकार बन चला है और उसका वर्गीकरण भी डा० रामकुमार वर्मा ने अपने निबंध 'ध्वनि नाटक की शैली' में किया है, जैसे नाटक, रूपक, संगीत-रूपक, प्रहसन आदि। कहना न होगा कि आज उदयशंकर भट्ट से लेकर डा० लक्ष्मीनारायण लाल तक सभी बड़े-छोटे नाटककार रेडियो एकांकी लिखते हैं। डा० रामकुमार वर्मा, 'अश्क,' उदयशंकर भट्ट, चिरंजीत, अमृतलाल नागर, प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त', अनिल कुमार आदि अनेक लेखकों के एकांकियों में रेडियो एकांकी-कला अपने प्रौढ़तम एवं मंजुल-मनोहर रूप में निखर रही है।

इस प्रकार हिन्दी का एकांकी साहित्य विकास की अन्य अवस्थाओं में से होता हुआ आज अत्यन्त प्रौढ़ और समृद्ध रूप में हमारे सामने है। भविष्य में उसके लिये और भी अधिक प्रौढ़ता और समृद्धि है। उसका स्वर्ण युग अभी आया नहीं—आगे आएगा।

हिन्दी के प्रमुख एकांकीकार

—डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

हिन्दी एकाकी का इतिहास यद्यपि पन्द्रह-बीस वर्ष से अधिक पुराना नही है तथापि जीवन की तीव्र गति के साथ उसका विकास भी बडी तेज़ी से हो रहा। जैसे किसी समय कहानी का जन्म हुआ था, और उसके बिना कोई पत्र-पत्रिका अपूर्ण-सी जान पडती थी वैसे ही आज एकाकी की दशा है। कोई भी पत्र-पत्रिका एकाकी से शून्य नही दिखाई देती। उसका एक बडा कारण समयाभाव भी है। आज बडी रचनाओ के लिये अवकाश निकाल लेना बडा कठिन कार्य है। दूसरा कारण देश में सिनेमा के बढते हुए कुप्रभाव के विरुद्ध हिन्दी रगमच के उद्धार द्वारा जीवन और साहित्य मे सुरुचि का समावेश करना है यूनिवर्सिटियो और कालिजो मे बडे नाटको के स्थान पर रगमच पर एकाकी नाटको का ही अभिनय विशेष रूप से होता है। इधर गत दो-तीन वर्षों से तो केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-विभाग की ओर से 'यूथ फैस्टीवल' के नाम से जो प्रतियोगिता होती है उसमें एकाकी नाटक भी प्रतियोगिता का एक विषय रहता है। रेडियो द्वारा भी प्रतियोगिताओ का आयोजन किया जाता है और उसके परिणाम-स्वरूप रेडियो रूपको की एक अलग विधा का स्वरूप प्रकाश में आने लगा है। यो एकाकी नाटक आज एक प्रमुख साहित्यिक विधा वन गया है।

बहुधा किसी नई विधा के हिन्दी में आने पर दो दल हो जाते हैं। उनमें से एक का अभिप्राय उस विधा को हिन्दी का सिद्ध करना होता है तो दूसरे का उसे विदेश का—विशेष रूप से अग्रेज़ी का। हिन्दी एकाकी के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ है। नाट्य-शास्त्र में एकाकी के ढाचे के अनेक प्रकार हैं, भारतेन्दु ने भी वैसे नाटक लिखे हैं और एकाकी के जन्म से पहले हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार 'प्रसाद' ने भी 'एक घूंट' जैसे अपने नाटकों में एकाकी की टेकनीक को अपनाया है। लेकिन यह सब होते हुए भी हिन्दी एकाकी पश्चिम की देन है—वैसे ही जैसे आधुनिक हिन्दी कहानी अपने अनेक भारतीय पूर्वरूपो के होते हुए भी पश्चिम की देन है। यह स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नही होनी चाहिए। समस्त विश्व जहाँ एक राजनीतिक अथवा सामाजिक इकाई बनने के लिये अपनी समस्त वैज्ञानिक प्रगति के माध्यम से आगे बढ रहा है वहाँ एक देश की वस्तु दूसरे देश में पहुँच कर एक दिन सबकी होने को है, यह दृष्टि ही समीचीन है और इसी लिये हम एकाकी को पश्चिम से अनु-

प्रभावित होकर आया हुआ मानकर भी उसे आज अपना मानते हैं। कारण, उनकी विषय-वस्तु और रूप-योजना में एक अपनापन लाने के लिये प्रयत्नशील हैं। परन्तु।

हिन्दी के प्रमुख एकांकीकारों के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमारी दृष्टि सबसे पहले 'कारवाँ' के लेखक भुवनेश्वर पर जाती है। इसका एक कारण है और वह यह कि पश्चिम में सबसे यथार्थवादी और समस्यामूलक नाटकों से नाट्य-जगत में क्रान्ति का सूत्रपात करने वाले इब्सन और शॉ से प्रेरणा लेकर उन्होंने सबसे पहले हिन्दी को एकांकी देने का प्रयत्न किया। 'कारवाँ' के 'प्रवेश' में भुवनेश्वर ने खोलकर स्वयं लिखा है—(लिखने के बाद मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे 'शैतान' के एक भाग में 'शॉ' की छाया तनिक मुखर हो गई है, मैं उसे निर्विवाद स्वीकार करता हूँ।) डा० नगेन्द्र ने इसी 'शैतान' एकांकी के अन्त में दिये गये रंगमंच-संकेत की भाषा को पाश्चात्य प्रभाव का द्योतक मानते हुए यह उदाहरण दिया है—"राजेश उस स्त्री के शीतल हाथ को अपने गर्म ओठों तक ले जाना चाहता है, पर सहसा वह स्त्री झुक कर उसके गले में बाँहें डालकर उसके ओठों को चूम लेती है और धाड़ से रोकर गिर पड़ती है।" ('हिन्दी एकांकी' पृष्ठ ८३)। 'शीतल हाथ', 'गर्म ओठ' और 'चुम्बन' तीनों ही अंग्रेजी के प्रभाव से आए हैं। डाक्टर नगेन्द्र का मत है—"भुवनेश्वर पर अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट है। शॉ की व्यंग्य-वक्रोक्तियों ने उन्हें विशेष रूप से आकर्षित किया है—उनकी कथावस्तु, शैली और विचारधारा पर भी शॉ का बहुत कुछ प्रभाव है।" ('आधुनिक हिन्दी नाटक', पृष्ठ १५१)। वस्तुतः भुवनेश्वर के एकांकी भारतीय वातावरण में पाश्चात्य आत्मा को छिपाए हुए हैं।

उनके प्रसिद्ध एकांकी संग्रह 'कारवाँ' में छः एकांकी संगृहीत हैं—१ श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना, २—एक साम्यहीन साम्यवादी, ३—शैतान; ४—प्रतिभा का विवाह, ५—रोमांस : रोमांच और ६—'लॉटरी।' 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' में दो ऐसे व्यक्तियों को वैवाहिक बन्धन में बँधा हुआ दिखाया गया है, जिनमें कोई समानता नहीं है, वे एक दूसरे के लिये नितान्त व्यर्थ से हैं। केवल विवाह की रूढ़ि से ही वे एक साथ हैं—बस। 'एक साम्यहीन साम्यवादी' में ऐसे साम्यवादी का चित्र है, जो स्वयं अभिजात्य की शृंखला से जकड़ा होते हुए भी साम्यवाद के लिये प्रयत्नशील रहता है और एक मजदूर की स्त्री को अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाने में सफल होता है। 'शैतान' में स्त्री-पुरुषों के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध की चर्चा है। यह सेक्स पर आधारित है। एक पुरुष जब किसी स्त्री के साथ अकेले में होता है तो उसे लगता है कि दूसरे उसे उसका पति समझेंगे और स्त्री जब किसी एक से प्रेम न करने का प्रदर्शन करती है तो उसे ही दूसरे के प्रभाव में आत्मसमर्पण कर देना ही सर्वस्व समझने लगती है। 'प्रतिभा का विवाह' में विवाह और प्रेम के

रूप को स्पष्ट किया गया है, जिसमें दिखाया यह गया है कि जिसे प्रेम किया जाता है उससे विवाह करना ठीक नही क्योंकि उससे प्रेम में किये जाने वाले त्याग और कौतूहल के लिये अवकाश नही मिलता। इससे आज की प्रशिक्षित स्त्रियो की इस मनोवृत्ति की ओर भी सकेत होता है कि वे समाज में प्रतिष्ठा चाहती हैं, मातृत्व नही। 'रोमास रोमाच' में एक ऐमी स्त्री का चित्र है, जिसे एक पुरुष मन से अपनी प्रेयसी मानता है और ऊपर से बहन मानने का ढोंग करता है। उस स्त्री का पति उस सुधारक के उस रूप का उद्घाटन कर उससे कहता है कि वह उसकी स्त्री को अपनी पत्नी के रूप में ले जा सकता है और वह स्वय धर्म-परिवर्तन कर तलाक को सम्भव बना सकता है। 'लाटरी' में एक स्त्री का पति जब विदेश से लौटता है तो उसे दूसरे के प्रेम में जकडा पाता है। अन्त में झगडा यों समाप्त होता है कि दूसरा पुरुप पहले पति के स्थान पर विदेश चला जाता है।

साराश यह है कि इनके नाटको में प्रेम का त्रिकोण बना है पर वह एक अविवाहित युवती के लिये न होकर विवाहित युवती के लिये है। यह पाश्चात्य सभ्यता मे है पर हमारे भारतीय जीवन में इस सभ्यता के अनुयायियो की सख्या भी कम नही है इस लिये हमारे भारतीय समाज की भी यह प्रमुख समस्या मानी जा सकती है, यद्यपि उसका रूप मर्यादा के आग्रह का उल्लघन करने में असमर्थ होने से वैसा स्पष्ट नही हुआ। लेकिन लेखक केवल समस्याओं को उनके तीव्रतम रूप में उपस्थित करके रह गया है, उसने उनका कोई समाधान प्रस्तुत नही किया। कदाचित् इसलिये कि समस्या-नाटक का समाधान देना उसे उसके पद से गिराना होगा।

भुवनेश्वर ने 'ऊसर' नाम से जो एकांकी लिखा है, उसमें व्यावहारिक मनोविज्ञान को आधार बनाया गया है। उसमें पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त उच्चवर्ग का चित्र दिया गया है। बेचारा ट्यूटर तो दो महीने से तनख्वाह नही पाता और कुत्ते की चिन्ता और बेबी की देखरेख में सब परेशान रहते हैं। मन. स्थिति के ज्ञान के लिये गृहस्वामी और गृहस्वामिनी से कुछ बातों का उत्तर लिया जाया है, जिसके आधारपर उनकी विकारग्रस्त मनोदशा प्रकट होती है। 'स्ट्राइक' के पात्रो की स्थिति को दु खान्त बनाने के लिये भी वह इसी मनोविश्लेषण का आधार लेता है।

इन पाश्चात्य-प्रभाव से बोझिल एकांकियो के अतिरिक्त भुवनेश्वर के कुछ प्रतीकात्मक नाटको में 'कठपुतलियाँ' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें कथावस्तु उनके व्यक्तिगत जीवन के एक प्रसग से उद्भूत है और इसमें उनकी कला की तराश काफी प्रभावोत्पादक है। 'तॉंबे के कीडे' नामक एक दूसरे एकाकी में एक परेशान रमणी, थके हुए अफसर, रिक्शाचालक, पागल आदि के यथार्थवादी चित्र हैं, जो वर्त-

मान समाज की वीभत्स परिस्थिति की ओर संकेत करते हैं। ऐतिहासिक नाटकों में 'सिकन्दर' में उनकी भारतीयता के प्रति अनुरक्ति पहली बार मुखर हुई है।

भुवनेश्वर की कला की विशेषता रंगमंचीय निर्देशों में है। वे पात्र की वेश-भूषा, मंच की सामग्री और समय का ही ब्योरा नहीं देते वरन् पात्रों की मनःस्थिति के अनुकूल उसका वर्णन भी कर देते हैं, जिसमें देश-काल की संगति भी सहायक अथवा विरोधी बनकर आती रहती है। आवाज के उतार-चढ़ाव और रंगमंच-प्रभाव तक वे यथार्थ रूप में रखना चाहते हैं। नाटकों के प्रारम्भ में वे कोई भूमिका नहीं देते। एकांकी सहसा प्रारम्भ हो जाता है और पात्रों के वार्तालाप से ही वस्तु-स्थितियाँ प्रकट होती जाती हैं। कौतूहल की रक्षा के साथ चरम सीमा पर पहुँचते ही नाटक समाप्त हो जाता है। कथोपकथनों में व्यंग्य और तीक्ष्णीकरण की प्रवृत्ति रहती है। बौद्धिकता के आग्रह से उन्होंने भावुकता को कलाकार के लिये विष माना है पर पात्रों के चित्रण में वे आलंकारिक शैली से बच नहीं पाते जैसे :—'एक २०-२२ वर्ष की युवती मलिन वस्त्रों में ऐसे दीखती है जैसे आँसुओं की नीहारिका में नेत्र' या 'कमरे में प्रगाढ़ कब्र की-सी नीरवता और निश्चलता है; केवल एक प्रखर और उत्तेजित हृदय के समान स्टोव सन-सन और भाँय-भाँय जल रहा है।' वाक्यों में भावुकतापूर्ण शैली से भी अधिक प्रभावोत्पादकता है। शब्द-चित्रों की तीखी भाषा से भुवनेश्वर विचित्र प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ कलाकार हैं। व्यंग्य और कटुता उनकी कला में तलवार की दो धारें हैं जो पैनी मार करती हैं। जीवन के प्रति सन्देहशील दृष्टिकोण का ही यह परिणाम है कि उनमें कला क्षोभ का पर्याय-सा लगती है।

डा० रामकुमार वर्मा दूसरे प्रमुख एकांकीकार हैं। इनका 'बादल की मृत्यु' हिन्दी का प्रथम एकांकी माना जाता है। उनका यह नाटक गद्यकाव्य की कोटि में आता है। डाक्टर वर्मा हिन्दी के उन एकांकीकारों में हैं, जिनके नाटक रंगमंच पर अभिनीत होने के लिये लिखे गये हैं। उनके नाटकों के लगभग आठ संग्रह निकल चुके हैं। उनके नाम हैं—१ पृथ्वीराज की आँखें, २ रेशमी टाई, ३. चारुमित्रा, ४. विभूति, ५. सप्त किरण, ६. रूपरंग, ७. कौमुदी महोत्सव और ८. रजतरश्मि। इन संग्रहों में प्रथम चार में एकांकी नाटक और द्वितीय चार में रेडियो-नाटकों का संग्रह है। उनके रेडियो-नाटकों की यह विशेषता है कि वे साधारण रंगमंच पर भी समान सफलता के साथ खेले जा सकते हैं।

'पृथ्वीराज की आँखें' में 'चम्पक', 'एक्ट्रेस', 'नहीं का रहस्य', 'बादल की मृत्यु' 'दस मिनट' और 'पृथ्वीराज की आँखें' ये छह नाटक हैं। इनमें उनकी कला के उत्तम रूप के दर्शन होते हैं। 'चम्पक' में नायक कवि निरंजन अपने जीवन का

ध्येय दीन-दुखियो की सेवा करना ही मानता है। वह चम्पक नामक कुत्ते को घायल देखकर ले आता है और उसकी सेवा करता है। उसके बाद उस कुत्ते को घायल करने वाले भिखारी की भी सेवा करता है, जिसने कुत्ते को इसलिये मारा था कि उसका मालिक उसकी चिन्ता न कर अपने कुत्ते की देखभाल किया करता था। 'एक्ट्रेस' में अपने पति द्वारा परित्यक्त प्रभातकुमारी एक्ट्रेस बन जाती है और अन्त में उसका पति अपनी भूल स्वीकार करता है। 'नही का रहस्य' प्रो० हरिनारायण का मानसिक चित्र है, जिसमें 'नही' का एक रहस्यमय आधार लिया गया है। 'बादल की मृत्यु' में बादल की मन.स्थिति और 'पृथ्वीराज की आँखें' में पृथ्वीराज की वीरता और उसके शौर्य का चित्र है। 'दस मिनट' में भारतीय स्त्री के सतीत्व में विश्वास प्रकट किया गया है। इन नाटको में लेखक एक आदर्शवादी के रूप में मानव-चरित्र की उदात्त भावनाओ को हमारे समक्ष रखना चाहता है। उसमें उसे सफलता भी मिली है।

'रेशमी टाई' के पाँच एकाकियो में 'परीक्षा' में एक २० वर्ष की युवती की अपने ५० वर्ष के प्रोफेसर से शादी कराई है। प्रोफेसर अपने एक वैज्ञानिक मित्र के वैज्ञानिक रस से सदैव युवा बने रहने का प्रबन्ध भी कर लेते हैं लेकिन इसकी आवश्यकता नही पडती। अपनी पत्नी की परीक्षा करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रेम के लिये आयु का अन्तर कोई बाधा नहीं। 'रूप की बीमारी' मे एक युवक को एक युवती के प्रेम में लिप्त दिखाया है, जिसकी परीक्षा करके डाक्टर उसका आपरेशन करने का निश्चय करता है पर वह अपनी प्रेम की बीमारी का रहस्योद्-घाटन कर देता है। यह डाक्टरो पर व्यग्य है। '१८ जुलाई की शाम' में एक स्त्री का अपने पति के यथार्थ गुणो से अपरिचित होने के कारण एक रगीले व्यक्ति के चक्र में फँसना और अपने पति के यथार्थ गुणो का परिचय पाकर पतित्यक्ता हो जाना दिखाया है। 'एक तोले अफीम की कीमत' में एक लडका गँवार लडकी से शादी किये जाने के कारण और एक लडकी दहेज देने से अपने पिता के दरिद्र होने की आशका से अफीम खाना चाहते हैं। 'रेशमी टाई' में एक साम्यवादी बीमा एजेण्ट को टाई और खद्दर का थान चुराते दिखाया है।

'चारुमित्रा' के चार नाटकों में से पहला 'चारुमित्रा' है, जिसके आधार पर सग्रह का नामकरण किया गया है। इसमें कलिगकन्या चारुमित्रा के बलिदान और स्वामि-भक्ति की कहानी है, जिसके परिणामस्वरूप अशोक का हृदय परिवर्तित हो जाता है। 'उत्सर्ग' में पुनर्जन्म तथा प्रेतात्माओं के आधार पर प्रेम और कर्तव्य का चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें एक वैज्ञानिक वैज्ञानिक यत्र की सहायता

ने मृतात्माओं को बुलाया है। वह स्वयं मित्र की विधवा पत्नी और पुत्री के लिये अपनी प्रेमिका की उपेक्षा कर देता है और अन्त में अपनी प्रेमिका की हत्या से वह अपने कर्तव्य में सफल हो जाता है और मित्र की पुत्री के लिये अपने सम्बन्ध पद को भी छोड़ देता है। 'रजनी की रात' में रजनीकान्त प्रिय कुमारी की कहानी है, जो प्रणय करना चाहती है। अन्त में एक लड़की के डाकुओं द्वारा भगा ले जाने और एक युवक द्वारा उसकी रक्षा होने पर वह उस युवक को आत्म-समर्पण करती है—भय और आत्म-रक्षा के लिये नारी को जैसे पुरुष का सहारा लेना ही पड़ता है। 'अन्धकार' में ब्रह्मा के अपनी सुन्दरी कन्या सरस्वती पर मुग्ध होने की कहानी है, जिसका मूल ध्येय प्रेम और वासना का 'अटूट सम्बन्ध' स्थिर करना है। वासना प्रेम के लिये आवश्यक शर्त मानी गई है। 'उत्सर्ग' और 'अन्धकार' में अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश नाटककार के नाट्य-कौशल के प्रतीक हैं और ये हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में मौलिक प्रयोग हैं।

'विभूति' में 'शिवाजी', 'समुद्रगुप्त' और 'विक्रमादित्य' पर एकांकी हैं। शिवाजी की नारी-पूजा, समुद्रगुप्त में राजकुल की चोरी का उद्घाटन, और विक्रमादित्य में उनकी न्याय-परायणता का चित्र है। पीछे चलकर डा० वर्मा ने जो रेडियो-नाटक लिखे हैं उनमें अधिकांश ऐतिहासिक हैं। 'कौमुदी-महोत्सव', 'राजरानी सीता' 'औरंगजेब की आखिरी रात' और 'तैमूर की हार' की सफल रेडियो-नाटक हैं। 'कौमुदी महोत्सव' में चन्द्रगुप्त और चाणक्य के चरित्रों का मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में चित्रण है। 'राजरानी सीता' में अशोकवाटिका-स्थित सीता का चित्र नये रूप में आया है। 'औरंगजेब की आखिरी रात' में औरंगजेब के मरने के समय के उस पश्चात्ताप का चित्रण है, जिससे उसे आत्मबोध हुआ। 'तैमूर की हार' में उसकी वीरता और वात्सल्य-भाव का दिग्दर्शन है।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने सामाजिक नाटकों में मध्यवर्गीय सभ्य समाज के स्त्री-पुरुषों के प्रेम, ईर्ष्या, सन्देह, पाखण्ड आदि को अपने नाटकों का आधार बनाया है जबकि ऐतिहासिक नाटकों में व्यक्ति विशेष की चारित्रिक महत्ता का उद्घाटन किया गया है। वर्मा जी के नाटक सामाजिक हों या ऐतिहासिक उनमें एक आदर्शवादी नैतिक दृष्टिकोण की प्रधानता है। 'रेशमी टाई' जैसे नाटकों में व्यंग्य भी बड़ा गहरा है पर वहाँ भी स्थलों की सजीवता नाटक को यथार्थवादी होने से बचा लेती है। भाषा में काव्य-तत्त्व का होना स्वाभाविक ही है। पात्रों की मनोदशा को दो-तीन वाक्यों में ही कह देना उनकी विशेषता है। मध्यकालीन ऐतिहासिक अथवा पौराणिक तथ्यों के आधार से वे मानव-मन की आज की गुत्थियों को भी सुलझाते

में पटु हैं। ऐतिहासिक नाटको में उन्होने मौलिक अनुसन्धान-वृत्ति का वैसा ही परिचय दिया है, जैसा कि प्रसाद ने। 'औरगजेब की आखिरी रात' इस दृष्टि से उल्लेखनीय नाटक है, जिसमें औरगजेब के पत्रो का भी हवाला दिया गया है।

डाक्टर रामकुमार वर्मा के बाद सेठ गोविन्ददास का नाम आता है। सेठ गोविन्ददास जी उन एकांकीकारों में है, जिन्होने लम्बे नाटको के साथ एकाकी लिखने में भी अपनी कला का परिचय दिया है। उन्होने अनेक एकाकी लिखे है जो स्पर्द्धा, सप्तरश्मि, एकादशी, पचभूत और अष्टदल आदि सग्रहो में सगृहीत है। इन सग्रहो में सब मिलाकर कोई चालीस एकाकी है। इनमें कुछ सामाजिक है, कुछ ऐतिहासिक–पौराणिक है, कुछ राजनीतिक है और कुछ प्रहसन है। सामाजिक नाटक 'स्पर्द्धा' में आधुनिक शिक्षित स्त्री-पुरुषो की समानता का प्रश्न है, जिसमें एक क्लब के चुनाव के प्रसग में स्त्री के विरुद्ध भी वैसा ही आक्षेपपूर्ण पेम्फलेट छापा जाता है जैसा पुरुष के विरुद्ध छपता है। पुरुष पात्र इसे औचित्य की सीमा में सिद्ध करता है क्योकि जहाँ समानता है वहाँ एक पक्ष के लिये विशेष पक्षपात दिखाना व्यर्थ है। 'धोखेबाज' में व्यावसायिक जगत के नैतिक पतन पर व्यग है, जिसमें एक मुनीम द्वारा अपने सेठ के दिवाला निकलने पर धोखेबाजी का मुकदमा चलता है। 'अधिकार लिप्सा' में एक जमीदार के अपने पुत्रो द्वारा जमीदारी पर अधिकार कर लेने के कारण बीमार पडकर उसे पुन प्राप्त करने का प्रयत्न है पर डाक्टर हकीम और वैद्य उसे एक ही दिन में मार देते हैं। ऐसे ही 'वह मरा क्यो' में एक गोरा सिपाही मर जाता है, जिसकी जाँच के लिए 'बडे डाक्टर' पहले शाकमण्डी में कासीफल से मरने, फिर हलवाई की दुकान पर पिस्ते की बर्फी खाकर मरने का अनुमान लगाते हैं और अन्त में पता चलता है कि वह अपनी मेम साहब की किसी छूत की बीमारी से मरा। 'जाति उत्थान' में कायस्थो के क्षत्रिय, घूसर बनियो और नाइयो के ब्राह्मण बनने पर व्यग्य है। 'मानव-मन' में एक ऐसी स्त्री की यथार्थ दशा का चित्र है, जिसका पति दीर्घकाल तक बीमार रहता है। एक कालिज-शिक्षा प्राप्त युवती अपने पति ब्रजमोहन के क्षय-ग्रस्त होने पर दो साल तक तो देख-भाल करती है पर फिर क्लब आदि जाने लगती है। इसी बात को लेकर पद्मा उसे कुलटा बताती है। 'फाँसी' में एक कवि, एक पूंजीपति और एक मजदूर को फाँसी लगती है—पहले को एक सुन्दरी पर उसके रूप-सौंदर्य के कारण बलात्कार करने पर, दूसरे को हडताली मजदूरो में से एक-दो को मारने पर और तीसरे को मजदूरों का खून पीने वाले एक पूंजीपति के मार डालने पर। 'व्यवहार' में कृषक और जमीदार का सघर्ष है, जिसमें एक जमीदार के भोज में किसानों को सम्मिलित होने से रोका जाता है—कालिज के एक विद्यार्थी द्वारा।

'निर्माण का आनन्द' में एक ऐसे छात्र की कहानी है, जो एक सहपाठिनी के सहारे के बिना पढ़-लिख ही नहीं सकता। लड़की एक प्रोफेसर के सम्पर्क में आकर अपने को कुछ विमुख करती है। परिणाम यह होता है कि लड़का फेल हो जाता है और लड़की प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण। अन्त में लड़की दया करके उस लड़के से ही शादी कर लेती है ताकि वह उसे कुछ बना सके।

इस प्रकार सेठ गोविन्ददास के सामाजिक एकांकी समाज की अनेक समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं, पर गहरा मनोविज्ञान की ओर उनकी रुचि नहीं। हाँ, समाज में जो अनुभव उन्हें हुए हैं उनको एक सीधी रेखा में प्रस्तुत कर देना उनके सामाजिक नाटकों का गुण है। उन्होंने बड़ी सफाई से समस्याओं को रखा है; कहीं उलझन नहीं है। 'मानव-मन' जैसे नाटक उन्होंने कम ही लिखे हैं। जिनमें मनोविश्लेषण-शास्त्र का स्पर्श मिल उठता है।

सेठ जी के राजनीतिक नाटकों में 'भूख-हड़ताल' में एक पद-लोलुप सत्याग्रही का मज़ाक उड़ाया गया है। 'सुदामा के तन्दुल' में ऐसे मिनिस्टरों का पर्दा फाश किया गया है, जो वोट माँगते समय विनम्र बन जाते हैं और पीछे से जिनका स्वार्थी रूप प्रकट हो जाता है। 'यू० नो०' में उक्त स्वभाव के मिनिस्टर का चित्र है।

ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में कथावस्तु प्रसिद्ध और प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथों से ली गई है या संस्कृत की रचनाओं से। उदाहरण के लिए 'जालौक और भिखारिणी' तथा 'चन्द्रापीड और चर्मकार' की कथा राजतरंगिणी से ली गई है और 'शिवाजी का सच्चा स्वरूप', 'निर्दोष की रक्षा' तथा 'कृष्णाकुमारी' की क्रमशः सर यदुनाथ सरकार के 'शिवाजी', अरविन के 'लेटर मुगल्स' तथा टाड एवं गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के राजपूताने के इतिहास से। इन नाटकों में प्राचीन भारतीय गौरव को उभार कर रखा गया है। इनमें महाराष्ट्र के इतिहास विशेषकर पेशवाओं के जीवन पर उनके एकांकी उल्लेखनीय हैं।

कुछ एकांकियों में उनकी हास्य-विनोद की प्रवृत्ति अच्छी तरह व्यक्त हुई है। 'बूढ़े की जीभ' में बूढ़ों की स्वादेन्द्रिय किस प्रकार तीव्र हो जाती है इस पर व्यंग है और 'विटेमिन' में स्वास्थ्य-सिद्धान्त का उपहास है।

सेठ गोविन्ददास के इन नाटकों में एक विशेषता टेकनीक की दृष्टि से है और वह यह कि वे 'उपक्रम' और 'उपसंहार' का प्रयोग बहुधा करते हैं। ऐसा हिन्दी के किसी अन्य नाटककार ने नहीं किया। लेकिन सर्वत्र यह ठीक ही हो ऐसा नहीं है फिर भी यह उनकी कला की विशेषता अवश्य है।

एकाकी से भी अधिक सेठ जी अपने मोनोड्रामाओ—एकपात्री नाटकों—के लिये विशेष प्रसिद्ध हैं। 'चतुष्पथ' में उनके ऐसे नाटको का सग्रह है। 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर' तथा 'सच्चा जीवन' आदि इनके एकपात्री नाटक हैं। ये स्वगत-कथन या आकाश-भाषित से भिन्न हैं क्योकि इनमें नायक कभी चश्मा, कभी नोटबुक, कभी कलम, कभी लाइट हाउस, कभी घोडा, कभी चिमनी, कभी बादल और कभी धरती को सबोधित कर अपने भाव और विचार प्रकट करता है। इनमें 'शाप और वर' सर्वश्रेष्ठ है। इसमें दो भाग है—शाप और वर। बोलने वाली स्त्री है और सुनने वाला पुरुष। पुरुष कुछ भी नही बोलता। श्री नगेन्द्र के शब्दो में "इस नाटक में मनोविश्लेषण और वैषम्य का सुन्दर प्रयोग किया गया है। यह वैषम्य दोनो चित्रो में अनेक रूप में, परिस्थिति, शब्द और अवसान सभी में समानान्तर रूप से चलता है। वास्तव में यह नाटक हिन्दी में अपने ढग का एक है—अद्वितीय।" —(आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ १६०)

सेठ गोविन्ददास संकलन-त्रय पर विशेष बल देते हैं। वे 'उपक्रम' और 'उपसहार' का प्रयोग भी इसीलिये करते हैं कि एक ही समय में होने वाली घटनाओ को एक साथ रखकर पूर्व की घटनाओ को 'उपक्रम' और बाद की घटनाओ को 'उपसहार' में रख दें रगमच-सकेत वे भी बहुत व्यापक देते हैं। उनकी भाषा में कवित्व की कमी है पर वह है चलती हुई और पात्र तथा परिस्थिति के अनुसार बदलने वाली।

हिन्दी के प्रमुख एकाकीकारों में श्री उदयशकर भट्ट का भी नाम आता है। भट्ट जी न केवल एकाकी वरन् बडे नाटको के लिखने में भी सिद्धहस्त हैं। जहाँ तक सचेतन-प्रवृत्ति को आधार लेकर नाटक के क्षेत्र में साहित्यिकता और अभिनेयता को लेकर चलने का प्रश्न है, भट्ट जी निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर होने वाले कलाकार हैं। वे सस्कृत साहित्य के प्रकाड पडित और पौराणिक आख्यानों को अपने युग के अनुकूल ढालने में निपुण हैं। एकाकी का उनका सब से पहला सग्रह सन् १९४० में निकला था। नाम था—'अभिनव एकाकी नाटक।' इसमे 'दुर्गा', 'नेता', 'उन्नीस सौ पैंतीस', 'वर निर्वाचन', 'एक ही कब्र में' 'सेठ लाभचन्द' आदि नाटक सम्मिलित थे। 'दुर्गा' में राजपूती शौर्य से सम्बन्धित कथा है। दुर्गा का पिता विजयसिंह अफीम का व्यसनी है और सवस्व खोकर अरावली की पहाडियो में छिपा है। दुर्जन सिंह उसकी खोज में है। झगडा यह है कि विजयसिंह ने दुर्जनसिंह को अकुलीन बता कर अपनी कन्या का विवाह नही किया। एक दिन वृद्ध को अफीम नही मिलती और दुर्गा अपने पिता की प्राण-रक्षा के लिये दुर्जनसिंह को आत्म-समर्पण करने को प्रस्तुत हो जाती है। अफीम मिलती है पर पुत्री के मूल्य पर। इस पर विजयसिंह अफीम

छोड़कर पुत्री को लौटाना चाहता है। परिणाम यह होता है कि दुर्जन का हृदय-परिवर्तन होता है। 'नेता' में व्यंग्य है कि ऐसे लोग कोरे आदर्श बघारते हैं और जब अवसर आता है तब वे उन आदर्शों को ताक पर रख देते हैं। 'वकील की फीस' में एक ऐसे बेकार युवक का चित्र है जो पुराने विज्ञापन को नया समझ कर नौकरी मिलने का स्वप्न देखता और भविष्य में नाना प्रकार के हवाई किले बनाता है। 'पर विजेता' में एक ऐसी लड़की का चरित्र है जो इंगलैंड-रिटर्न सिटी मजिस्ट्रेट के धोखे में अपने पिता के मुलाजिम से प्रेम करने लगती है। 'एक ही कब्र में' का सम्बन्ध हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य से है, जिसमें भूकम्प के समय मुसलमान पात्र अपने पड़ोसी हिन्दू पात्र से घृणा करने के अपराध की क्षमा माँगता है। दोनों एक ही कब्र में सोते हैं। यह गांधीवादी प्रभाव है। 'सेठ लाभचन्द' में सूद-खोर कंजूस सेठ का चित्र है, जो पहले ठगों के चक्कर में सात हजार के बदले एक आभूषण रख लेता है और फिर डाकू उससे चार हजार भी छीन ले जाते हैं।

भट्ट जी के दूसरे एकांकी-संग्रह का नाम है—'स्त्री का हृदय'। इसमें एक नाट्य-रूपक 'जवानी' को छोड़कर बाकी सब एकांकी हैं। 'जवानी' में तीन पात्र हैं, आगन्तुक, स्मृति और युवती जो क्रमशः विचारक, स्मृति और जवानी के प्रतीक हैं। इनमें एक गोष्ठी के द्वारा विचारक, स्मृति और जवानी पर प्रकाश डालकर जीवन में महत्व और कर्तव्य का स्थान निर्धारित किया गया है। 'स्त्री का हृदय' में एक ऐसी नारी का चित्र है, जो अपने पति द्वारा पीटी जाती है और ऐसा करने में उसकी टाँग टूट जाती है। उसके भाई पति को सजा करा देते हैं। पुत्र की शादी उसी जेल के जेलर की लड़की से निश्चित होती है, जहाँ पति कैद है। पुत्र से जब वह मिलने दौड़ता है तो मार खाता है और पत्नी द्वारा उसे सँभाला जाता है—सम्मान देकर। यह स्त्री के हृदय की विशालता है कि किस प्रकार वह पति के अत्याचार के बाद भी उसे चाहती है। 'नकली असली' में एक भूखा नाटककार नाटक पर प्रेम का अभिनय करता है, जिसको पत्नी अभिनय को सच समझकर बीच में ही आ धमकती है और पति की भर्त्सना करती है कि जब घर में भूँजी भाँग न हो तब दूसरी स्त्रियों के साथ रेशमी वस्त्र पहनकर प्रेम का अभिनय करना पाप है। 'दस हजार' में एक ऐसे सेठ का चरित्र है, जिसके लड़के को डाकू उठा ले जाते हैं और जो डाकुओं के दस हजार माँगने पर पुत्र से अधिक रुपयों के लिये दुःखी होता है। 'बड़े आदमी की मृत्यु में' दिखाया है कि बड़े आदमियों की ऊपर से ही रुदन करने का ढोंग करते हैं वैसे कोई हार्दिक सहानुभूति नहीं रखता। 'विष की पुड़िया' में एक सौतेली माँ की लड़की और पराई माँ के लड़के का प्रेम दिखाकर सिद्ध किया है कि यह प्यार-प्यार नहीं किसी के संस्कार बच्चों में आते ही। माँ ने लड़की को दूध में ज़हर देने का

भेद लडका पिता को बताता है और लडकी मरते-मरते उसके लिये बिल्ली का बच्चा लाती है।

'समस्या का अन्त' नामक तीसरा एकाकी-सग्रह भट्ट जी की कला का उत्कर्ष सिद्ध करता है। इसमे नौ एकाकी सगृहीत है। 'समस्या का अन्त' नामक एकाकी ऐतिहासिक है, जिसमें एक गण के सेनापति और दूसरे गण की कुमारी के प्रेम के ऊपर सघर्ष और कुमारी के बलिदान से उसका अन्त दिखाया है। सदेश यह है कि प्रेम के समक्ष जातीय मानापमान और द्वेष नही ठहर सकता, 'गिरती दीवारो' में बताया गया है कि १९वी सदी के अभिजात-वर्ग के लोग मर्यादा के पालन को कैसे सतर्क रहते थे और आज परिस्थितियो ने उन्हें किस प्रकार असमर्थ बना दिया है। 'पिशाचो का नाच' में हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटने के समय की अमानुषिक कहानी है। 'बीमार का इलाज' में एक मित्र किसी दूसरे मित्र के घर पहुँच कर बीमार हो जाता है, जिसके इलाज के लिये घर के लोगों में से कोई एलोपैथी, कोई वैद्यक और कोई होम्योपैथिक सुझाव देते हैं और बीमार भाग खडा होता है। यह व्यग है उस घर के लोगो पर जो सभी बीमार जान पडते हैं। 'आत्मदान' में एक ऐसी पढी-लिखी युवती का चित्र है जो अपनी शिक्षा के गर्व में पति को छोड एक दूसरे को साथी बनाने की सोचती है और जब उसका पति भी एक नर्तकी को साथी बनाने का उपक्रम करता है तो होश में आती है और आत्मदान में ही कल्याण मानती है। 'जीवन' नाम का एक नाट्य-रूप भी उल्लेखनीय है, जिसमें काम, वासना, यौवन, जरा, सौंदर्य आदि को पात्र बनाया गया है। 'वापसी' में मनुष्य और धन में कौन अधिक महत्व रखता है इसको तुलनात्मक दृष्टि से बताया गया है। मरते हुए व्यक्ति को डाक्टर को इसलिये नहीं दिखाया जाता कि व्यर्थ रुपया जायेगा। 'मन्दिर के द्वार पर' में चमारों द्वारा एक मदिर की रक्षा और उसी में उनको भगवान के दर्शन न करने देने की कहानी है। 'दो अतिथि' में दो आर्यसमाजियो के जीवन की घटना है जो एक स्टेशन मास्टर के यहाँ ठहर कर उसका और उसकी पत्नी का सारा भोजन समाप्त कर जाते हैं।

कालिदास' में 'कालिदास', 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी नामक ध्वनि-रूपक और तीन नाटक में 'आदिम युग' मनु और मानव' तथा 'कुमारसभव' नामक उनकी पौराणिक कृतियो का सग्रह है। डाक्टर सत्येन्द्र की सम्मति में ये एकाकियो का कोटि में नही आते क्योकि पहले नाटको में गीतमयता की प्रधानता है और दूसरो में पूरे नाटक ही अधिक हैं—विस्तार की दृष्टि से भी और सकलन-त्रय के अभाव की दृष्टि से भी, लेकिन प्रभाव की एकता की दृष्टि से उन्हें एकाकी के अन्तर्गत माना जा सकता है।

'धूमशिखा' में इनके 'धूमशिखा', 'विस्फोट', 'नया नाटक', 'नये मेहमान', 'दस-हजार', [illegible], 'मनुष्य के रूप', [illegible] और 'क्रान्तिकारी विश्वामित्र' शीर्षक नाटकों का संग्रह है। इसमें भट्टजी ने विश्वामित्र सम्बन्धी नाटक को छोड़कर शेष में सामाजिक समस्याओं और जीवन की नित्य घटनाओं को ही चुना है, जो यथार्थवादी हैं और वर्तमान जीवन की विडम्बनाओं पर प्रहार करती हैं। दैनिक जीवन से कोई घटना या दृश्य उठाकर बड़े वेग से प्रहार करना और मानव मस्तिष्क को झकझोर देना भट्ट जी की विशेषता है।

इधर भट्ट जी ने रेडियो से सम्बद्ध होने के कारण अनेक रेडियो-नाटक भी लिखे हैं। उनके बड़े नाटक भी प्रकाश में आए हैं। हिन्दी नाटककारों में उन्होंने अनेक प्रयोग किए हैं। 'क्रान्तिकारी' नाटक इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। फिर भी उनके बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकी अधिक सफल हैं। डाक्टर नगेन्द्र का यह कहना सत्य ही है—"भट्ट जी के एकांकी टेकनीक की दृष्टि से उनके बड़े गद्य नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल हैं। उनकी इन छोटी रचनाओं में कथा-संकोच एवं एकाग्रता के कारण से कल्पना का विलास कम और नाटकीय संवेदना का स्पन्दन अधिक स्पष्ट हो गया है।" (आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ १५८) भाषा उनकी काव्यपूर्ण है। लेकिन इधर वे अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में बड़ी सजीव भाषा का प्रयोग करने लगे हैं जो मन के स्तरों को खोलने में समर्थ है। रंग-संकेतों में वे समय, पात्र की वेश-भूषा, बातचीत का ढंग, बैठने-उठने की दशा और परिस्थिति से सामंजस्य का प्रयत्न सभी एक साथ दे जाते हैं।

श्री उदयशंकर भट्ट के बाद एकांकीकारों में श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम आता है। अश्क जी यथार्थवादी एकांकीकार हैं। वे मध्यवर्गीय समाज की जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं और रूढ़ियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं और हमारे अन्तर्जगत में उनके प्रति एक विद्रोह का बीज बोते हैं। वे अपनी अनुभूति को सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में मनोविज्ञान के सहारे हमारे मस्तिष्क में उतार देते हैं। उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से एकांकी लिखे हैं। समस्या खड़ी कर देना या उपदेश देकर छुट्टी ले लेना अश्क का काम नहीं है। अब तक अश्क ने लगभग ४० एकांकी लिखे हैं। उनमें से कुछ को रेडियो के अनुरूप बनाकर रेडियो पर प्रसारित भी कराया गया है और वे रेडियो पर बड़े लोकप्रिय भी हुए हैं। ये नाटक तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—
१. सामाजिक २. सांकेतिक या प्रतीकात्मक ३. मनोवैज्ञानिक।

प्रथम कोटि के एकांकियों में 'पापी', 'लक्ष्मी का स्वागत', [illegible] 'अधिकार का रक्षक', 'जोंक', 'विवाह के दिन', 'तूफान से पहले' आदि प्रमुख हैं।

'पापी' में सास का बहू पर अत्याचार दिखाकर मध्यवर्गीय समाज की पतितावस्था की ओर सकेत किया गया है, 'लक्ष्मी का स्वागत' में पूँजीवादी मनोवृत्ति का दिग्दर्शन है, 'क्रासवर्ड पहेली' में आधुनिक शिक्षित युवको को परिश्रम से भागने और काम से जी चुराने की मनोवृत्ति पर व्यग्य है। 'अधिकार का रक्षक' में लेखक ऐसे सामाजिक कार्यकर्ताओ की पोल खोलता है जो कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। 'जौंक' में आजकल के मेहमानों पर व्यग है और 'विवाह के दिन' मे पुरानी विवाह-पद्धति पर, 'तूफान से पहले' में साम्प्रदायिक झगडो का चित्र है। 'अश्क' के ये नाटक एक साधारण-सी घटना या भावना को लेकर चलते हैं और बडी-से-बडी बात कहने में समर्थ हैं। सभी पात्र अपने स्वाभाविक रूप में आते हैं। विना कल्पना का सहारा लिये पाठक के मन को प्रभावित करने की कला से ये नाटक चमक उठे हैं।

दूसरे प्रकार के नाटको में अश्क ने 'साकेतिक' या 'सिम्बोलिक' अभिव्यक्ति के माध्यम से मानव-मन के भेदों पर प्रकाश डाला है। उनके ये नाटक अपने ढग के अनूठे हैं। उनके नाम हैं—चरवाहे, चिलमन, खिडकी, मैमूना, चमत्कार, देवताओ की छाया में और सूखी डाली। इनमें 'चरवाहे' को निश्चिन्त जीवन का प्रतीक माना है। 'चिलमन' उस दुखपूर्ण दीपक की प्रतीक है जो मन्द पर जलनमय लौ लिये है। इसकी नायिका शशि मच पर नही आती पर उसका रूप स्पष्ट हो जाता है। 'खिडकी' प्रतिज्ञा करने वाले प्रेमी से सम्बन्धित है, मैमूना गृहस्थ-जीवन की एक झाँकी है और पति का प्रतीक है, 'चमत्कार' में मृत मीन भ्रष्ट जीवन का, गढवाली गोलियाँ साधारण लोगो के विश्वास का तथा श्वेत दाढीवाला सर्ववेत्ता लेखक का प्रतीक है। 'देवताओं की छाया में' एक अभाव-पीडित मुसलिम युवती के जीवन से सम्बन्धित है। 'सूखी डाली' में वट, आईना और सूखी डाली जीवन के खोखलेपन को प्रतीकात्मक रूप में दिखाते हैं। इस सकेतात्मक शैली में अश्क ने 'अन्धी गली' नामक एकाकी माला भी लिखी है, जिसमें एक गली के विभिन्न घरो को लेकर उनके भीतरी चित्र दिए हैं। भाव यह है कि हमारा सारा समाज इस गली की तरह ही नाना प्रकार की दुर्बलताओ से परिपूर्ण है। हिन्दी में अश्क के ये नाटक नये प्रयोग हैं, जिनके माध्यम से सामाजिक स्वरूप का उद्घाटन करने में उन्हें बेहद सफलता मिली है।

तीसरे प्रकार के नाटको में अश्क ने मनोविश्लेषण-पद्धति पर नाटक लिखे हैं, जो अपनी प्रेषणीयता में गहरे प्रभावो से सयुक्त हैं। ये एकाकी लम्बे भी हैं। 'घडी' नामक एकाकी में उन्होंने एक ऐसी स्त्री का चित्र दिया है जो घर को घडी की

तरह नियमित चलाना चाहती है पर अपने किसी भी नियम को न मानने वाले भाई के आ जाने से घर के सब लोगों की दबी भावनाएं प्रकट हो जाती हैं और उस स्त्री की नियमबद्धता नष्ट हो जाती है। 'अधिकार' में एक ही व्यक्ति की दो नारियों की कहानी है। उनमें एक अपने पिता, पति और वर्तमान स्थिति से विद्रोह करती है और मोटर और मकान का लालच पाकर भी अपने पति के पास नहीं जाती। दूसरी अपने पति के दूसरा विवाह कर लेने पर भी उसके पास जाने को तैयार है। वह प्रेम के मुकाबले में स्वाभिमान की चिन्ता नहीं करती। अश्क के ये नाटक बड़े सजीव हैं। इनमें एक कचोट भी है और चमक भी।

अश्क का 'छठा बेटा' एकांकी भी उल्लेखनीय है। इसे लेखक की फैंटेसी कहा गया है। डाक्टर नगेन्द्र एकांकी के अद्भुत रोमांटिक रूप को फैंटेसी मानते हैं। उनकी दृष्टि में उसमें कल्पना का मुक्त विहार आवश्यक है जिसमें परियों की कहानी की भांति परिणाम निकालने का प्रयत्न न किया जाये। यह नाटक केवल स्वप्न के रूप में लिखा गया है। वैसे इसका वातावरण यथार्थ है इसलिये यह फैंटेसी नहीं कहा जा सकता। यह अश्क के बड़े एकांकियों में प्रमुख है। समस्या इसमें भी पारिवारिक है।

अश्क ने जो प्रहसन लिखे हैं उनमें पात्रों की विकृत वेशभूषा या परिस्थितियों की विषमता से हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं की गई प्रत्युत दैनिक जीवन की घटनाओं को ही यथार्थ रूप से प्रस्तुत कर हास्य पैदा किया गया है। यों अश्क सर्वत्र यथार्थ से सम्पर्क बनाए रखते हैं। मंच का उनका अनुभव बड़ा व्यापक है। रेडियो और सिनेमा से तो उनका अत्यन्त घनिष्ठ परिचय रहा ही है, शौकिया मंचों में भी उनकी रुचि रही है अतः उनके नाटकों में अभिनेयता का गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। संवाद बड़े उपयुक्त और रंग-निर्देश पूर्ण हैं, थोड़े से पात्रों से मध्यवर्गीय जीवन की झलक दे देना अश्क के लिये बड़ा ही सरल कार्य है।

प्रमुख एकांकीकारों में श्री विष्णु प्रभाकर का नाम भी उल्लेखनीय है। हिन्दी में सबसे अधिक संख्या में एकांकी लिखने वाले विष्णु जी ही हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो वे रेडियो-नाटक लिखने में सिद्धहस्त हैं, जिससे उन्हें निरन्तर एकांकी लिखने पड़ते हैं। दूसरे वे साहित्योपजीवी भी हैं, जिससे उन्हें पत्र-पत्रिकाओं की मांग पूरी करनी पड़ती है। उन्होंने सब मिलाकर सौ-सवा सौ नाटक लिखे होंगे। इनमें सामाजिक समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाले एकांकी भी हैं और राजनीतिक और युग की प्रचारात्मक प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले भी मनोवैज्ञानिक भी हैं। हास्य-व्यंग्य से युक्त एकांकी भी उन्होंने लिखे हैं।

श्री विष्णु प्रभाकर प्रेमचन्द की परम्परा के लेखक हैं। वे राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओ को प्रेमचन्द की ही मानवीय दृष्टि से देखते हैं। उनके सामाजिक राजनीतिक एकाकी नाटको में अधिकाश युग की समस्याओं से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिये 'इन्सान' और 'प्रतिशोध' में हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदाय की समस्या है, 'देवताओ की घाटी', और 'रक्तचन्दन' में क्रमश. काश्मीर के आक्रमणकारियो के विरुद्ध प्रतिकार और काश्मीर-युद्ध के बलिदान की एक घटना है। 'साहस' गरीबी और वेश्यावृत्ति पर तथा 'चन्द्रकिरण' परित्यक्ताओ को पुन. समाज में ग्रहण करने से सम्बन्धित है। 'माँ', 'भाई', आदि पारिवारिक समस्याओ को लेकर चले हैं। राजनीतिक एकाकियो में 'हमारा स्वाधीनता सग्राम' नाम से उन्होने छह एकाकियो में गदर से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक के सघर्ष को व्यक्त किया है।

मनोवैज्ञानिक एकाकियों में कुछ माता-पिता और पुत्र-पुत्री के सम्बन्धो पर प्रकाश डालते हैं, जैसे 'माँ-बाप' में पिता तो एक महान उद्देश्य के लिए बलिदान होने वाले पुत्र की मृत्यु पर गर्व करता है पर माँ को दु ख होता है। 'ममता का विष' इस तथ्य की ओर सकेत करता है कि माता की ममता में पुत्र के हित की अपेक्षा उसका निजी स्वार्थ प्रबल होता है। 'मैं दोषी नहीं हूँ' अपराधी की मनोदशा को स्पष्ट करता है जबकि 'भावना और सस्कार' में सस्कारो के दास मनुष्य के भावना द्वारा प्रगतिशील होने का वर्णन है। इसी प्रकार के एकाकी 'उपचेतना का छल' 'प्रेयसि पहले' 'रहमान का बेटा' और 'जहाँ दया पाप है' आदि हैं जिन में मानव-मन की गहराइयों में उतर कर लेखक ने मानवता के प्रेरक तत्वो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

इनके पौराणिक नाटकों में 'अशोक' जिसमें कलिग-युद्ध के पश्चात् अशोक के हृदय-परिवर्तन का उल्लेख है, विशेष सुन्दर है। शेष नाटको में 'नहुष का पतन' और 'शिवरात्रि' को लिया जा सकता है। 'सर्वोदय', 'नया काश्मीर', 'जमीदारी उन्मूलन' 'मजदूर और राष्ट्रीय चरित्र' जैसे सामान्य विषयो पर भी विष्णु ने लिखा है। प्रेमचन्द और टैगोर की कहानियो तथा कुछ उपन्यासो का रेडियो-रूपान्तर भी उन्होने प्रस्तुत किया है।

श्री विष्णु प्रभाकर की कला के विषय में डाक्टर सत्येन्द्र ने लिखा है—"विष्णु प्रभाकर की एकाकी-कला रेडियो टेकनीक पर विशेष निर्भर करती है क्योकि उनके अधिकाश एकाकी रेडियो के लिये लिखे गये हैं। किन्तु उन सब में सयमित भाव-सौष्ठव के साथ मानवता का स्पन्दन सबसे अधिक मुखर है। इस एकाकीकार में न तो भावुकता का अतिरेक मिलेगा और न बौद्धिक कडवाहट, न व्यक्तिवादी अह-

स्वच्छता—आधुनिक व्यवस्था में मानव के रूप की प्रतिष्ठा के लिये व्यग्र इस लेखक ने एकांकी की कला को निर्द्वन्द्व सुषमा से परिलक्षित कर दिया है। इनके एकांकियों की कथा-वस्तु वर्तमान युग की ही वस्तु है और किसी न किसी सामाजिक या राजनीतिक समस्या से सम्बन्ध रखती है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री विष्णु में प्रेमचन्द जी का हृदय जाग्रत है। वे मनुष्य के मानवीय गुणों में विश्वास रखते हैं और उन्हीं से प्रभिभूत हैं।" (हिन्दी एकांकी पृष्ठ, १८६) डाक्टर नगेन्द्र ने जो कुछ लिखा है वह अक्षरशः सत्य है। मानवता की प्रतिष्ठा और भारतीय संस्कृति की पुनर्स्थापना के लिये विष्णुजी हिन्दी एकांकीकारों में पर्याप्त सजगता का परिचय देते हैं।

हिन्दी के प्रमुख एकांकीकारों के सम्बन्ध में ऊपर विचार हो चुका है। ये एकांकीकार वे हैं जो जमकर लिखते हैं और एकांकी कला को निरन्तर गमक देते चले जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य एकांकीकार भी हैं जो चाहे इनके जैसा न लिखते हों पर जिन्होंने परिश्रमपूर्वक इस धारा को पुष्ट किया है। इन में श्री जगदीशचन्द्र माथुर का नाम सब से पहले आता है। इनके एकांकी समाज की समस्याओं को लेकर चलते हैं। ये गम्भीरता लिए हुए और व्यंगपूर्ण होते हैं। इनका 'भोर का तारा' एकांकी बहुत प्रसिद्ध है। उसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है पर उसमें लेखक ने सांस्कृतिक धरातल की रक्षा करने में कमाल किया है। इनके सामाजिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ 'रीढ़ की हड्डी' है, जिसमें एक साधारण-सी घटना है। एक लड़का लड़की देखने आता है—अपने बाप के साथ। सब प्रकार से लड़की को देखता है। लड़की खीज कर उसके बाप से कहती है कि जा कर जाकर देखियेगा कि आपके लड़के के 'रीढ़ की हड्डी' है या नहीं। 'मकड़ी' में फैक्ट्री के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि है, जिसमें दमित भावनाओं को उभारा गया है। श्री माथुर ने यूरोपीय एकांकी-कला का गहन अध्ययन किया है। अभिनेता, उनकी वेशभूषा, मंच और दर्शक आदि पर उनके विचारों ने हिन्दी मंच के उत्थान का मार्ग खोला है। अपने नाटकों को अभिनीत बनाने में भी वे सफल हुए हैं। आपके नाटकों में एक साथ उच्च मध्य-वर्ग की हृदयहीनता और पाखण्ड के साथ निम्न मध्य-वर्ग की दयनीयता और करुणा का चित्र मिलता है।

सर्वश्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी सफल एकांकी लिखे हैं। द्विवेदी जी के एकांकी सुरुचि की परम्परा को लेकर चले हैं। इनके नाटकों में मनोविज्ञान को मूलाधार बनाया गया है। वे स्त्री-पुरुष दोनों के मन की गहराई में प्रवेश करते और उनका यथार्थ रूप प्रस्तुत

कर देते हैं। वे मानवमन के सूक्ष्मतम रूपो को लेकर ही चले हैं। डाक्टर नगेन्द्र ने उनको 'प्रेमाहत मन के कवि-कलाकार' कहा है। 'सुहागविन्दी' 'दूसरा उपाय ही क्या है', 'परदे का अपर वार्श्व', 'वह फिर आई थी', 'सर्वस्व समर्पण', 'कामरेड' आदि उनके एकाकी प्रेम-वासना को लेकर ही चले हैं। अत. नगेन्द्र जी का कहना नितान्त सत्य है। लेकिन युग के अनुकूल नारी के प्रति वे अधिक सहानुभति-शील है। यथार्थ और बौद्धिकता को लेकर चलने पर भी वे भुवनेश्वर से अधिक सयमशील है। श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी ने एकाकी पठनीय होने के लिये अधिक लिखे हे। उनकी दृष्टि में एकाकी की सार्थकता साहित्य-देवता की स्थापना पर अधिक है, अभिनय-अनुकूलता पर उतनी नही है। यही कारण है कि उनके नाटको न सकलन-त्रय को वैसा महत्व दिया गया है और कथोपकथन या रग-सकेतो को। उनके सभी नाटक पौराणिक हैं। जिनमें आधुनिकता का समावेश करने का प्रयत्न किया गया है। 'अहिल्या', 'विभीषण' 'शम्बूक' 'सती अपराध', 'एक-लव्य' 'महाभिनिष्क्रमण' आदि इनके प्रसिद्ध एकाकी है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटको की भाँति एकाकियो में भी बुद्धिवाद की प्रधानता रखी है। भारतीय सस्कृति और ऐतिहासिक परम्परा उनके एकाकियो का आधार है। लेकिन वे जीवन की वास्तविकता का तिरस्कार करने वाले नही हैं। वे आध्यात्मिकता और भौतिकता को साथ लेकर चलने वाले हैं। वे कला की दृष्टि से स्वगत-सगीत, भरत-वाक्य आदि को स्वीकार नहीं करते। प्राचीन सस्कृति, नवीन समस्याएँ और पाश्चात्य प्रभाव इन तीनो से उनकी कला निखरती है। 'एक दिन', 'कावेरी में कमल', 'नारी का रग' और 'स्वर्ग में विप्लव' इनके प्रसिद्ध एकाकी हैं। इन नाटको में कथोपकथन मार्मिक और तथ्यपूर्ण है। सकलन-त्रय का निर्वाह हुआ है। समस्या का समावेश करने में मिश्र जी आज भी एकाकीकारो में सर्वोपरि हैं।

इधर नए लेखको में श्री विनोद रस्तोगी और सत्येन्द्र शरत् का भविष्य विशेष उज्जवल दिखाई देता है। श्री रस्तोगी ने 'आजादी के बाद' एकदृश्यीय नाटक और 'पुरुष का पाप' एकांकी सग्रह प्रकाशित कराये हैं। वस्तु का चुनाव, सवाद-सौष्ठव और गहरी व्यजना की दृष्टि से रस्तोगी सफल एकाकीकारों की प्रथम पक्ति में बैठने के अधिकारी हैं। 'पुरुष का पाप' पौराणिक और ऐतिहासिक आधारो पर सतीत्व और आदर्श की रक्षा वाले एकाकियो में रस्तोगी ने बडे ही कौशल का परिचय दिया है। इनके नाटक बहुत ही छोटे और एक तीव्र गतिमती धारा की भाँति लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले होते हैं और मच पर भी सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं। सत्येन्द्र शरत् के 'तार के खमे' में 'शोहदा' 'गुड्‌बाई अनीता' एस्पोडेल' 'प्रतिशोध' और 'तार के खमे' ये पांच नाटक हैं। इनमें पहले चार दूसरे लेखको की रचनाओ से प्रेरणा

लेकर लिखे गये हैं। अपनी कला के प्रति ईमानदारी सर्वेन्द्र शरद् का गुण है। 'सीढ़ियां' इस बात प्रमाण है कि यदि यह लेखक लिखता चला गया तो एकांकी के क्षेत्र में अच्छा पथ प्रवर्तन करेगा। रिश्ते ही नाटकता और भाषा का सौन्दर्य इसके प्रसादों को वास्तुकला देते जाते हैं। हाँ, विदेशी प्रभाव से छूटने का प्रयत्न करना उसका पहला काम होना चाहिए।



हिन्दी लोक-नाटक : परम्परा और नाट्य-रुढ़ियाँ

—श्री० सुरेश अवस्थी

लोक-नाटक प्रत्येक देश की परपरागत सस्कृति का अत्यत समृद्ध एव गहराई तक पहुँचा हुआ अग होता है। नृत्य और सगीत की ही भाँति लोक-साहित्य की इस शाखा में भी राष्ट्रीय प्रतिभा की वास्तविक झाँकी मिलती है। विभिन्न सास्कृतिक रूपो वाले भारतवर्ष में, लोक की कलात्मक अभिव्यक्ति के इस स्वरूप को भी विस्तृत क्षेत्र मिला है। हमारे देश में अनन्त नाटक-साहित्य है, जो एक ओर तो विविध जाति एव चरित्रगत विशेषताओ की दृष्टि से और दूसरी ओर सौन्दर्यगत आकर्षण तथा कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से अत्यत समृद्ध है। चाहे कोई उत्सव अथवा त्यौहार हो या जनजीवन की अन्य सामान्य घटनाएँ, कोई न कोई नाट्य-प्रदर्शन हो ही जाता है जिसमें कि गीत, नृत्य, पुराण-प्रसग और कथा सभी परस्पर सबद्ध हो। जनता के जीवन तथा उसकी चेतना का अभिन्न अग यह नाटक प्रकृति की 'प्रतिच्छवि' के समान है।

पृष्ठभूमि मध्ययुगीन 'बहुरगी नाट्य'

भारतीय नाट्य के इतिहास में, मध्ययुगीन 'बहुरगी नाट्य' के विविधता-परक स्वरूप से अधिक आकर्षक कोई भी अन्य वस्तु रही है। शास्त्रीय परम्परा के विच्छिन्न होने के पश्चात्, 'भाषा-साहित्य' तथा 'जनपद-सस्कृति' के प्रसार और समृद्धि के साथ ही साथ नाटय का भी उदय और विकास हुआ। हमारा लोक-नाट्य इसी 'बहुरग नाट्य' की परपरा में है, अत इसका सक्षिप्त परिचय देना उपयोगी होगा। ऐसा करने के दो विशेष कारण भी हैं। एक तो यह कि इसके द्वारा लोक-नाट्य के प्राथमिक स्रोतो और कला-उपकरणो के सबध में हमें ऐतिहासिक दृष्टि प्राप्त हो सकेगी और दूसरे, लोक-नाट्य की नाटकीय-प्रणालियो और प्रदर्शन-नियमो को हम अधिक वैज्ञानिक ढग से समझने में समर्थ हो सकेंगे। यह सर्वविदित है कि मध्ययुगीन नाट्य अकस्मात् एव पूर्णरूप से समाप्त नहीं हुआ था—वस्तुत आज भी वह हमारे लोक-नाट्य में प्रतिलक्षित होता है और जीवित है।

अपने प्रसिद्ध काव्य 'पद्मावत' में जायसी ने कथा-वर्णन, नृत्य, जादू के खेल, कठपुतली के नाच, स्वर-सगीत, नाटक-तमाशा, नटो के खेल आदि जनसाधारण के

नाट्यात्मक मनोविनोदों का वर्णन करके इस 'बहुरंग नाट्य' का स्वरूप दिखलाया है । 'सिंहलद्वीप वर्णन खंड' में उन्होंने लिखा है—

कतहूँ कथा कहै कछु कोई । कतहूँ नाच कोड भल होई ॥
कतहूँ छरहटा पेखन लावा । कतहूँ पाखँड काठ नचावा ॥
कतहूँ नाद सबद होइ भला । कतहूँ नाटक चेटक कला ॥'

सूर, तुलसी तथा अन्य मध्यकालीन कवि जब राजकीय आमोद-प्रमोदों का वर्णन करते है तो सूत, मागध, भाट, चारण और बन्दीजन आदि यश-गान करते हुए गायकों का उल्लेख करना कभी भी नहीं भूलते । यही गायक समस्त मध्यकालीन साहित्य को सर्वत्र फैलाने का कार्य करते थे । उनमें अपने भाव-विचारों को प्रभावयुक्त करने की अद्भुत क्षमता थी । नागरिक और सैनिक घटनाओं तथा युद्धों के विवरण उन्होंने लिखे हैं । वे यशगान करते थे और घूम-घूम कर गाथाएँ सुनाते थे । उनके काव्य-पाठ में अभिनय के तत्त्व रहते थे; वे प्रायः भेस बनाते, मुद्राएँ दिखाते और कभी-कभी दृश्य-विधान भी प्रस्तुत करते थे । लोक-नाटक या जो भी अन्य मौखिक प्रदर्शन के लिए होता है, उन सब में इन नाटकीय पाठों की कुछ विशेष कलाएँ और कुछ खास ढंग अन्तर्निहित हैं ।

अनेक मध्यकालीन रचनाओं में—चाहे वे कथात्मक हों अथवा गीतात्मक—सशक्त नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं; यद्यपि उनकी रचना इस उद्देश्य से नहीं हुई थी कि वे रंगमंच पर अभिनीत की जायें । इनमें से अधिकांश साहित्यिक रचनाओं का—दर्शनार्थ प्रदर्शन के लिए—पाठ किया जा सकता सम्भव था । इन रचनाओं में ऐसे संवादों की बहुलता है, जिनमें श्रेष्ठ नाटकीय तत्त्व हैं, अत्यधिक नाटकीय स्थल भी हैं और सारे के सारे कथानक को एक ऐसी कार्य-शृंखला में बाँधा गया है जिसमें नाटकीय अंशों और अ-नाटकीय अंशों में एक आनुपातिक एवं सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित हो गया है । कथा-वस्तु में निरंतरता बनाए रखने के लिए एक प्रकार की 'सिंहावलोकन-पद्धति' का उपयोग किया गया है । एक स्थान पर कथा की प्रगति को यथावत रोक कर, कवि किसी पहले की घटना का वर्णन करने लगता है । ऐसा भी प्रयत्न किया गया है कि स्थानीयता का आभास कराने के लिए आवश्यक वर्णनों को कथा के विभिन्न पात्रों द्वारा कहला दिया जावे और वे पात्र अपना परिचय ही नहीं, बल्कि अपने नाटकीय प्रयोजन की बात भी स्वयं ही बतला दें ।

नाटक अथवा सट्टक, रासो अथवा रासक, चर्चरी तथा अन्य कई प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ, समस्त मनोविनोद की किसी न किसी प्रकार की मनोरंजक

नाटकीय लोकप्रिय रूप थी। हमारे आधुनिक सगीत अथवा नौटकी गायनो का सम्बन्ध इन मध्ययुगीन रचनाओ से जोड़ा जा सकता है। हमारे साहित्यिक नाटक के इतिहास में भले लम्बे-लम्बे व्यवधान रहे हों, पर निरक्षरो के नाट्य की परम्परा कभी भी विशृखलित नही हुई। वह निरतर चली आ रही है। यह तो सच है कि इन मध्ययुगीन रचनाओ का कोई नाटकीय उद्देश्य नही है, पर उनसे पता चलता है कि मध्ययुग में कथात्मक साहित्य और नाटकीय साहित्य मे बडी ही सूक्ष्म तथा हलकी-सी विभाजन-रेखा थी, और वास्तव में कथात्मक काव्य को बडी ही सरलता के साथ नाटक में परिणत किया जा सकता था—विशेष रूप से ऐसे समय में, जबकि १५वी १६वी शताब्दियो के सास्कृतिक पुनर्जागरण ने कला के प्रत्येक क्षेत्र को नवोन्मेष से भर दिया था और जब नाटक को एक प्रकार का औपचारिक स्वरूप देने का प्रयास मदिरों के माध्यम से होने लगा था।

जलूस और शोभा-यात्रा-नाटक : लीलाएँ

कई शताब्दियों तक नाटक मदिरो में आबद्ध ही रहा और मदिरो ने उसमें ऐसे नाटकीय गुण भर दिए जो कालान्तर में दुबारा न लाए जा सके। "अभिभूत कर देने वाला भक्ति-सगीत, शिल्प की भव्य पृष्ठ-भूमि, गायक के मन में दृढ विश्वास, आस्था और प्रेरणा के भाव, दर्शको की आवेगात्मक अनुभूतियो को जागृत करने में समर्थ श्रद्धा-भावना आदि कुछ असाधारण गुण इस नाटक में थे, जो कि मन्दिरो के वातावरण में उत्पन्न तथा विकसित हुआ।" और जब यह धार्मिक नाटक मदिर के क्षेत्र को छोडकर भव्य शोभा-यात्रा नाटको के रूप में बाहर आया तो उसमें जनता के समस्त कलात्मक एव सास्कृतिक जीवन की झाँकी दिखाई दी। जनता की मूर्त और जीवन्त कलाएँ, नृत्य तथा गीत, विश्वास और आचार-व्यवहार, परिधान तथा वाणी सभी कुछ इनमें प्रकट हुआ। जनता के समग्र सामाजिक एव सहज जीवन का समावेश करने के लिए सभी प्रकार के विष्कभको तथा क्षेपकों का उपयोग किया गया।

हिन्दी-क्षेत्र के जलूस-नाटको में राम तथा कृष्ण का जीवन अकित है। इनमे 'लोक-नाट्य' का सर्वाधिक समृद्ध एव प्रतिनिधि रूप मिलता है। इन्ही लीलाओं में लोक-नाटक की विधियों और रीतियो को उनकी समग्रता में और उनके सही रूप में हम समझ सकते हैं और निरक्षर लोगो के 'रगमच-व्यवहार' के ढगो के विषय में कुछ नियम बना सकते हैं। इन लीलाओं के सबध में सामान्य बातें इतनी सर्वविदित हैं कि उनके बारे में यहाँ कुछ कहना अनावश्यक है। अस्तु, हम यहाँ केवल उनके प्रस्तुत करने की नाट्यगत विधियो पर ही विचार करेंगे।

यह लीला-नाटक मुख्यत. प्रथाओ से संबद्ध हैं। उत्सव तथा रीतियो और

इनके अभिनय तथा अनुस्मरण को ऐसा एकाकार बना दिया गया है कि उनसे नाटकीय सर्वांगता प्रकट हो। नाटकीय व्यापार को निरूपित करनेवाली ये गीतियाँ तथा उत्सव एक प्रकार की ऐसी व्यापक साहित्यिक परिधि में आ जाते थे, जिसका निर्माण प्राचीन और अर्वाचीन, लिखित और कथित आदि अनेक स्रोतों से हुआ है। इन उत्सवों के अनुकरणात्मक अभिनय और इन लीलाओं के समय में प्रयुक्त गीतिका रचनाओं का पाठ दोनों का ही एक परम्परागत और विशेष प्रकार का ढंग था जिससे जनता उतनी ही सुपरिचित है जितनी महाकाव्यों तथा उनके चरित्रों से।

भली प्रकार सजाए गए 'सिंहासन' 'रामडोल' और 'कृष्ण-झाँकी' कहलाने वाली झाँकियाँ, कथा के प्रमुख स्थलों का चित्रों में अंकन या कोई उत्सव-सम्बन्धी प्रदर्शन—आदि वाले लीलाओं की विशद शोभा-यात्राओं का अंग होती हैं। ये झाँकियाँ उत्सव मार्ग में एक स्थान से होती हुई दूसरे की ओर एक अभिनय-स्थल से दूसरे को जाती हैं। उन्हें यथावसर विभाजित कर दिया जाता है क्योंकि सारे लीला-नाटक को कई 'नाटक-दिवसों' में बांट दिया जाता है। रामलीला चौदह दिन और कृष्ण-लीलाएँ तो महीने भर अथवा उससे भी अधिक समय तक चलती रहती हैं। झाँकियों और रंगमंचों पर होने वाली लीलाओं में किसी प्रकार की देशगत अन्विति नहीं होती है। इस प्रकार के नाटक की दृश्य-व्यवस्था में आधुनिक 'पर्सपेक्टिव मंच' की सी समगता और सामञ्जस्य की आशा करना व्यर्थ होगा।

इन लीलाओं के नाटकीय कथानक के महाकाव्योचित आयाम उभर सकें, इसके लिए एक साथ कई दृश्यों वाली मंच-व्यवस्था की विधि अत्यन्त उपयोगी है और स्पष्ट ही उसके अनेक लाभ हैं। उसके द्वारा बड़ा ही शानदार और विविध प्रकार का दृश्यांकन सम्भव हो सकता है। उसके द्वारा नाटक व्यापार एक स्थान से दूसरे स्थान में—अयोध्या से विश्वामित्र के आश्रम में, वहाँ से जनकपुरी और तदनन्तर अन्यत्र—बिना दृश्य परिवर्तन किए ही ले जाया जा सकता है। इसका परिणाम यह होता कि व्यापार चाहे किसी भी स्थान पर होता हो, घटना-क्रम प्रवाह को विच्छिन्न किए बिना, सहज रूप में आगे बढ़ता रह जाता है। आवश्यकता पड़ने पर, घटना-व्यापार एक साथ ही कई स्थानों पर चल सकता है। जनकपुरी में फुलवारी का दृश्य जहाँ राम सीता को देखते हैं और स्वयम्वर का दृश्य—दोनों एक साथ निर्देशित किए जाते हैं। या इसी प्रकार राम-रावण-युद्ध के दृश्यों के बीच एक किसी दूसरे दृष्टि-स्थल पर अशोकवाटिका में बैठी सीता को भी दिखाया जाता है। एक ही समय कई दृश्यों वाली यह व्यवस्था दृष्टि-स्थलों को बदल देने से बचे ही पाठक

तरीके से की जाती है, और यह लीला-नाटको की एक अन्य प्राविधिक विशेषता है। कृष्ण-लीलाओ में, प्रत्येक दृश्य ठीक उसी स्थान पर अभिनीत होता है, जिससे कि मूल घटना का परपरागत सम्बन्ध रहा है। समस्त पवित्र स्थान, वन, कु ज, तडाग, कूप, पर्वत-श्र ेणियाँ और मदिर—सबके दर्शन, एक निश्चित क्रम में, किये जाते हैं। ऐसी अनेक रीतियो तथा औपचारिकताओ के पालन द्वारा इन लीलाओ को एक प्रकार का धार्मिक महत्व प्राप्त हो गया है।

कस्बो के बाहर लबे-चौडे लीला स्थलों में, या अभिनय के लिए बने चौकोर दायरो में प्रदर्शन शुरू होने के काफी पहले से बडे भारी-भारी और अद्भुत पुतले खडे कर दिए जाते हैं और साधारण शिल्पसम्बन्धी सामग्री की सहायता से और दृश्यो की सजावट द्वारा कई-कई नाट्य-स्थान बना दिए जाते हैं। इन पुतलो के सम्मुख अभिनय करते हुए अभिनेतागण, कथासूत्रों की आवश्यकता के अनुरूप, एक 'स्थान' से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं। कई दिनों तक होते रहने वाले प्रदर्शन, जिनमें विविध प्रदर्शनगत विधियो और सामग्रियो का प्रयोग होता है, अनेक स्तरो पर दर्शकों को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं और अभिनेताओ तथा दर्शको के बीच सपर्क के नए-नए स्वरूप अन्वेषित करते हैं। लीला के सारे काल में लीला-स्थल मे खडे किए गए पुतले अशुभ शक्तियो के प्रतीक माने जाते हैं और लीला के अतिम दिन में, जब उन्हें बडी धूमधाम के साथ भस्म किया जाता है तो नाटकीय प्रभाव में अत्यन्त वृद्धि हो जाती है। नाटक के उद्देश्य की सार्थकता सिद्ध है और ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्रदर्शन के नाट्यगत आयाम विस्तृत हो गए हैं।

राम और कृष्ण सबधी नाटको के विषय में सबसे प्रमुख बात यह है कि अनेक दृश्य-व्यवस्थाओ, कथा-सूत्रों के चुनाव, घटना-क्रमो, अभिनेताओ की बहुलता और उनके श्रेणी-विभाजनो, आदि उक्त नाटको के सभी पक्षो की दृष्टि से ये लीला-नाटक अत्यत चित्ताकर्षक होते हैं। और सामग्री में निहित इसी गुण के फलस्वरूप लीलाओं को अकित करने वाले मध्यकालीन चित्र भारतीय कला के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। नाट्य एव कला के बीच यह घनिष्ठ सपर्क इस शोभा-यात्रा नाटक की अपूर्व विशेषता है।

लोक-जीवन के परिवर्तनशील सामाजिक-सास्कृतिक तत्त्वो के प्रभाव में पडकर इस जलूस-नाटक ने, नाट्य एव अभिनय की परिस्थितियों के अनुसार विविध प्रकार के अनेक रूपो को विकसित किया है। उदाहरण के लिए, रगमचीय रामलीलाएँ, जो ऐसे नृत्य एव अभिनयों से सयुक्त होती हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में रामायण तथा अन्य राम-काव्यो के अ ंश पढे जाते हैं। कोई सेटिंग बनाई जाय या बडे पैमाने पर कुछ

किया जाय—इसके प्रयत्न नहीं होते वरन् अपने व्यापार को कुशल चेष्टाओं तथा हाव-भाव द्वारा व्यक्त किया जाता है। जो पाठ होते हैं, उनका दुहरा प्रयोग होता है—एक तो वे अनुकरण में सहायक सिद्ध होते हैं और दूसरे, विकसित होते हुए कथानक के विषय में महत्वपूर्ण बातें बताते हैं। रामलीलाएँ आधुनिक नाट्यगृहों द्वारा भी अपनाई गई हैं और पर्दों तथा सम्पूर्ण मंच-उपकरणों के साथ प्रस्तुत की गई हैं। छाया-नाटक में रामलीला को प्रस्तुत करने का उदयशंकर का प्रयोग अत्यन्त सफल रहा और एक विशिष्ट नाट्य-रूप की भाँति प्रतिष्ठित हो गया। मंच-निर्माण के क्षेत्र में जो प्रगति इस बीच हुई है, उसके कारण अन्य रूपान्तर भी सम्भव हुए हैं और महान् नृत्य-शिल्पकार स्वर्गीय श्री शान्तिवर्धन द्वारा निरूपित कठपुतली-रामलीला तो एक अद्भुत सूझ है। रासलीलाओं में भी ऐसे ही स्वागत परिवर्तन आ गये हैं। दूसरी ओर, मन्दिरों में अब भी उसी परम्परागत रूप, बिना किसी प्रासंगिक परिवर्तन के चला आ रहा है। बड़े पैमाने पर की गई सघन कृष्ण-लीलाओं का धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है। सांगीत ढंग के, धर्म-से असम्बद्ध नाटक के साथ उपर्युक्त नाटकों का जब मिश्रण-संगम हुआ, तो एक तीसरा 'प्रकार' उदित हुआ। इस सम्बन्ध में रोचक बात यह है कि कहा तो इन्हें 'लीला' जाता है पर इनमें मध्ययुगीन वीरों का जीवन अंकित किया जाता है और 'रासलीला' तो मात्र पूर्व-कथन अथवा 'पूर्वरंग' के रूप में होती है।

सुगम नाट्य-प्रकार—

लीलाओं के-से सीधे-सादे नाटकों के साथ-साथ, ऐसे तरह-तरह के हल्के-फुल्के सामाजिक नाटक हैं, जो धर्म से किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं हैं। तथा ये अति लोगों का अनुराग ही इस नाटक के मूल में है। इसकी नाटकीय योजना भारतीय कथा-वर्णन के ही ढंग के अनुसार है कि वक्ता और श्रोता, और अभिनेता और दर्शक, इस कथा-पाठ के या इस नाटकीय-प्रदर्शन के अविभाज्य अंग बन जाते हैं। इसे दैनन्दिन जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं से प्रेरणा मिलती है, और इन्हीं से इस नाटक का साहित्यिक रूप गठित होता है। ये कुछ किन्हीं सामाजिक सम्बन्धों और किन्हीं मजेदार-हास्यास्पद स्थितियों पर आधारित होती हैं। कभी-कभी स्थानीय घटनाओं और दुर्व्यवस्थाओं की हँसी उड़ाकर या व्यंग्य करके इनमें गम्भीरता का पुट लाया जाता है। इस वर्ग के एक लोकप्रिय प्रहसन में, प्रमुख अभिनेता 'परिगा', बड़ी आसानी के साथ विषयान्तर कर देता है और शोषकों तथा अन्यायियों का जोरदार विरोध करता है। अपने इसी अभिनय के द्वारा, वह अपने नाटकीय प्रभाव का निर्माण करता है। एक तो वह घटनाओं और स्थितियों की व्याख्या करता है और दूसरे मञ्च-नाटक के लेखा के साथ प्रदर्शन के बीच ऐसे स्थलों पर बातें करता है, जहाँ कुछ टिप्पणी करने की आवश्यकता का अनुभव हो।

लोक का यह हल्का-फुलका, धर्म-निरपेक्ष नाटक बडा ही सीधा-सादा नाट्य है। स्वांग, तमाशा, नकल और भडैती आदि इसके खास प्रहसनात्मक अग हैं। उत्सवो और समारोहो से सबद्ध, अपेक्षाकृत अधिक स्थानीय महत्व वाले इसके अगणित छोटे तथा कम विकसित दूसरे रूप भी हैं। अपने दर्शकों से पूर्ण प्रशसा पाकर यह हलका-फुलका लोक-नाटक, शताब्दियों तक जीवित रह सकने और अपनी सादगी बनाए रख सकने में समर्थ हुआ है। इस नाटक-रूप के प्रदर्शन के साथ, जिस प्रत्यक्ष रूप में और जितने सजीव अनुराग-सहित जनता का सबध रहा है, शायद वैसे नाटक के किसी भी अन्य रूप के साथ नही रहा। नाटक देखते समय दर्शकगण अकसर बीच-बीच में बोलकर, ताली बजाकर या प्रशसासूचक सकेत करके नाटक के समग्र प्रदर्शन में भाग लेते हैं। इस नाट्य-प्रणाली की भक्तिकालीन सन्त-कवियो ने कठोर शब्दो में बार-बार भर्त्सना की है जिससे यह प्रमाणित होता है कि उस समय मे यह कितना लोकप्रिय था, और जनता पर इसका कितना प्रभाव था।

सभी समुदायों के धर्म-निरपेक्ष नाटकों की साज सज्जा आमतौर पर सादी होती है, और धार्मिक प्रदर्शनो की अपेक्षा उनमें तडक-भडक कम होती है। उनमें किसी शोभावली की व्यवस्था नही होती है जिसके कारण प्रदर्शन के नाट्यगत आयाम विस्तृत होते हैं, किसी केन्द्रीय स्थान पर पात्रो को रखकर उनका विशेष प्रदर्शन किया जाता है और नाटक की भव्यता तथा प्रभाव में वृद्धि होती है। यह बहुत सीधे सादे ढग से होता है और सामूहिक मनोविनोद का साधारण-सा अवसर प्रदान करता है। परन्तु इसमें नाटक के सभी आवश्यक तत्व होते हैं। कहानी से कथानक मिल जाता है, तीखी और चुटीली नकलें होती हैं जो अनुकरण-कला का श्रेष्ठ दृश्य प्रस्तुत करती हैं, मानव-व्यवहार को विकृत और अतिरजित रूपों में प्रस्तुत किया जाता है, झल-कियों और पहेलियों के अत्यत रोचक प्रसग आते हैं, हँसी के ठहाके, हाज़िर जवा-बियाँ, फबतियाँ कसना, मज़ाक करना, धौल-धप्पा, और कलाबाज़ियाँ—ये सारी चीज़ें मिलकर एक शानदार नाट्य-प्रदर्शन बना देती हैं। ऐसे रोमाचक और उत्तेजक प्रद-र्शन को देखकर दर्शक इस प्रकार अभिभूत हो जाता है कि अकसर तो वह उस काल्प-निक सीमा-रेखा को मन ही मन लाँघ जाता है, जो उसे और अभिनेताओ को अलग किए हुई रहती है—और इस प्रकार वह अभिभूत दर्शक अपने आपको प्रदर्शन के मध्य पाता है, क्योकि अब उसके लिए यह नाटक (चेतना के) एक अन्य स्तर पर, मात्र नाटक न रह कर नितान्त सजीव और यथार्थ हो जाता है।

इस नाटक में न तो अभिनेता ही अधिक होते हैं और न प्रदर्शन में सहायता के लिए अन्य नाट्य- सामग्री ही। थोड़े से 'नाटक के पात्र'—कभी-कभी तो केवल

दो—नाटक-व्यापार को बढ़ाते हैं। एक प्रमुख अभिनेता होता है, जो कथा-वाचक का कार्य करता है या समूह-गान के गायक का। एक-दो अन्य पात्र भी होते हैं, जो समूह-गान के साथ रहते हैं, नृत्य करते हैं, प्रमुख अभिनेता के संवादों के बीच बोलते-चालते हैं और स्वगत-भाषण करते हैं। यही अन्य पात्र, विद्यमान कथानक के नाटकीय प्रसंगों का अभिनय करते हैं। इससे सारे नाटक में बड़ी ही सरलता के साथ एक भावपूर्ण भावभूमिका आ जाती है। कुछ ऐसे महत्वपूर्ण मोड़ आते हैं जब वे विशेष-विशेष नाटकीय मुद्राएँ बनाकर एक-दूसरे के सामने खड़े हो जाते हैं और इस तरह के संवाद बोलते हैं, जो प्रत्येक प्रदर्शन में बदलते रहते हैं और जिन में नई स्थानीय और सामाजिक विषयों से सम्बन्धित टिप्पणियाँ भी जोड़ दी जाती हैं। कथावस्तु के बने होने से, इस प्रकार की—नाटकीय प्रसंगों को निर्मित करने वाली शैली—लोक-नाटक के अनेक रूपों में मिलती है।

इसमें न तो कोई सेटिंग होती है और न नाटकीय व्यापार के योग्य नाट्यगत-स्थान निर्मित करने का ही कोई प्रयत्न किया जाता है। पात्रों का रूप-परिवर्तन भी ऐसा शिथिल रहता है कि नाटकीय प्रभाव अधिक देर तक नहीं बना रह पाता। प्रायः तो अभिनय करने के लिए किसी ऊँचे मंच पर भी पात्र नहीं आते कि दर्शकगण ठीक से देख ही सकें या नाटकीय-प्रभाव डाल सकने में कुछ सरलता हो जाये। जहाँ दर्शक बैठे होते हैं, उसी धरातल पर खड़े होकर ये लोग अभिनय करते हैं, और प्रारम्भ से अन्त तक एक ही दृष्टि-स्तर पर बने रहते हैं। न तो रंग-संचालन में ही अधिक विविधता होती है और न पात्र-योजना में ही जिससे कि 'मंच-चित्र' बन सकें या कथा के आरोह-अवरोह वाले स्थल उभर कर सामने आ जाएँ। जिन थोड़ी-सी मंच-सामग्रियों का उपयोग ये अभिनेतागण करते हैं, उन्हें अपने साथ ही अभिनय-स्थल पर ले आते हैं, यथा प्रतिष्ठित तालुकेदार की नकल करने के लिए हुक्का, या राजसिंहासन का काम देने के लिए एक स्टूल।

विविध स्तरों के ऐसे अभिनेताओं की बहुतायत है जिन्होंने इस नाट्य को जीवित रखा है: नट, कौतुकी, बहुरूपिया, नाटकी, स्वाँगधारी, भाँड और मसखरे आदि। नाचने-गाने वालों, कूद-फाँद मचाने वालों और हँसोड़ों का एक विशाल वर्ग है, जिसने समूचे मध्य-युग में नाट्य-संबंधी क्रियाशीलता बनाए रखी और जो तब से लेकर वर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक दशकों तक पहले जैसा ही सक्रिय रहा। ऐसे-ऐसे बहुधन्धी लोग हैं, जो स्वयं नाटक लिखते हैं और उनके प्रदर्शन की व्यवस्थाएँ भी स्वयं ही करते हैं। उनके दिमाग में मुहावरों, कहावतों, काव्य-पाठों, इस तरह के रूपकों-उपमाओं, उदाहरणों तथा प्रसंगों का बड़ा भंडार रहता है और वे उन्हें अपनी

लोक का यह हल्का-फुलका, धर्म-निरपेक्ष नाटक बडा ही सीधा-सादा नाट्य है। स्वांग, तमाशा, नकल और भडैती आदि इसके खास प्रहसनात्मक अग हैं। उत्सवो और समारोहो से सबद्ध, अपेक्षाकृत अधिक स्थानीय महत्व वाले इसके अगणित छोटे तथा कम विकसित दूसरे रूप भी हैं। अपने दर्शको से पूर्ण प्रशसा पाकर यह हलका-फुलका लोक-नाटक, शताब्दियों तक जीवित रह सकने और अपनी सादगी बनाए रख सकने में समर्थ हुआ है। इस नाटक-रूप के प्रदर्शन के साथ, जिस प्रत्यक्ष रूप में और जितने सजीव अनुराग-सहित जनता का सबध रहा है, शायद वैसे नाटक के किसी भी अन्य रूप के साथ नही रहा। नाटक देखते समय दर्शकगण अकसर बीच-बीच में बोलकर, ताली बजाकर या प्रशसासूचक सकेत करके नाटक के समग्र प्रदर्शन में भाग लेते हैं। इस नाट्य-प्रणाली की भक्तिकालीन सन्त-कवियो ने कठोर शब्दो में बार-बार भर्त्सना की है जिससे यह प्रमाणित होता है कि उस समय मे यह कितना लोकप्रिय था, और जनता पर इसका कितना प्रभाव था।

सभी समुदायों के धर्म-निरपेक्ष नाटको की साज सज्जा आमतौर पर सादी होती है, और धार्मिक प्रदर्शनों की अपेक्षा उनमें तडक-भडक कम होती है। उनमें किसी शोभावली की व्यवस्था नही होती है जिसके कारण प्रदर्शन के नाट्यगत आयाम विस्तृत होते हैं, किसी केन्द्रीय स्थान पर पात्रो को रखकर उनका विशेष प्रदर्शन किया जाता है और नाटक की भव्यता तथा प्रभाव में वृद्धि होती है। यह बहुत सीधे सादे ढग से होता है और सामूहिक मनोविनोद का साधारण-सा अवसर प्रदान करना है। परन्तु इसमें नाटक के सभी आवश्यक तत्व होते हैं। कहानी से कथानक मिल जाता है, तीखी और चुटीली नकलें होती हैं जो अनुकरण-कला का श्रेष्ठ दृश्य प्रस्तुत करती हैं, मानव-व्यवहार को विकृत और अतिरजित रूपों में प्रस्तुत किया जाता है, भल-कियों और पहेलियों के अत्यत रोचक प्रसग आते हैं, हँसी के ठहाके, हाज़िर-जवा-बियाँ, फबतियाँ कसना, मज़ाक करना, धौल-धप्पा, और कलाबाज़ियाँ—ये सारी चीज़ें मिलकर एक शानदार नाट्य-प्रदर्शन बना देती हैं। ऐसे रोमाचक और उत्तेजक प्रद-र्शन को देखकर दर्शक इस प्रकार अभिभूत हो जाता है कि अकसर तो वह उस काल्प-निक सीमा-रेखा को मन ही मन लाँघ जाता है, जो उसे और अभिनेताओ को अलग किए हुई रहती है—और इस प्रकार वह अभिभूत दर्शक अपने आपको प्रदर्शन के मध्य पाता है, क्योंकि अब उसके लिए यह नाटक (चेतना के) एक अन्य स्तर पर, मात्र नाटक न रह कर नितान्त सजीव और यथार्थ हो जाता है।

इस नाटक में न तो अभिनेता ही अधिक होते हैं और न प्रदर्शन में सहायता के लिए अन्य नाट्य- सामग्री ही। थोड़े से 'नाटक के पात्र'—कभी-कभी तो केवल

हों—नाटक-व्यापार को बढ़ाते हैं। एक प्रमुख अभिनेता होता है, जो कथा-वाचक का कार्य करता है या समूह-गान के गायक का। एक-दो अन्य पात्र भी होते हैं, जो समूह-गान के साथ रहते हैं, नृत्य करते हैं, प्रमुख अभिनेता के संवादों के बीच बोलते-चालते हैं और स्वगत-भाषण करते हैं। यही अन्य पात्र, विकासमान कथानक के नाटकीय प्रसंगों का अभिनय करते हैं। इससे सारे नाटक में बड़ी ही सरलता के साथ एक भावपूर्ण मानुषिकता आ जाती है। कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण मौके आते हैं जब ये विशेष-विशेष नाटकीय मुद्राएँ बनाकर एक-दूसरे के सामने खड़े हो जाते हैं और इस तरह के संवाद बोलते हैं, जो प्रत्येक प्रदर्शन में बदलते रहते हैं और जिन में कई स्थानीय और सामाजिक विषयों से संबंधित टिप्पणियाँ भी जोड़ दी जाती हैं। कथावस्तु के बड़े होने से, इस प्रकार की—नाटकीय प्रसंगों को निर्मित करने वाली शैली—लोक-नाटक के अनेक रूपों में मिलती है।

इसमें न तो कोई सेटिंग होती है और न नाटकीय व्यापार के योग्य नाट्यगत-स्थान निर्मित करने का ही कोई प्रयत्न किया जाता है। पात्रों का रूप-परिवर्तन भी ऐसा शिथिल रहता है कि नाटकीय प्रभाव अधिक देर तक नहीं बना रह पाता। अक्सर तो अभिनय करने के लिए किसी ऊँचे मंच पर भी पात्र नहीं आते कि दर्शकगण ठीक से देख ही सकें या नाटकीय-प्रभाव डाल सकने में कुछ सरलता हो जाये। जहाँ दर्शक बैठे होते हैं, उसी धरातल पर खड़े होकर ये लोग अभिनय करते हैं, और प्रारंभ से अंत तक एक ही दृष्टि-स्तर पर बने रहते हैं। न तो रंग-संचालन में ही अधिक विविधता होती है और न पात्र-योजना में ही जिससे कि 'मंच-चित्र' बन सकें या कथा के आरोह-अवरोह वाले स्थल उभर कर सामने आ जाएँ। जिन थोड़ी-सी मंच-सामग्रियों का उपयोग ये अभिनेतागण करते हैं, उन्हें अपने साथ ही अभिनय-स्थल पर लेते जाते हैं, यथा प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार की नकल करने के लिए हुक्का, या राजसिंहासन का काम देने के लिए एक स्टूल।

विविध स्तरों के ऐसे अभिनेताओं की बहुतायत है जिन्होंने इस नाट्य को जीवित रखा है: नट, कौतुकी, बहुरूपिया, नाटकी, स्वांगधारी, भांड और नक्काल आदि। नकल उतारने वालों, कूद-फाँद मचाने वालों और हँसोड़ों का एक विशाल वर्ग है, जिसने समूचे मध्य-युग में नाट्य-संबंधी क्रियाशीलता बनाए रखी और जो तब से लेकर वर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक दशकों तक पहले जैसा ही सक्रिय रहा। ऐसे-ऐसे बहुरंगी लोग हैं, जो स्वयं नाटक लिखते हैं और उनके प्रदर्शन की व्यवस्थाएँ भी स्वयं ही करते हैं। उनके दिमाग में कहावतों, चुटकुलों, हास्य-नाटों, इस तरह के किस्सों-कहानियों, उदाहरणों तथा प्रसंगों का बड़ा भंडार रहता है और वे इन्हें अपने

नाटक में बडी ही कुशलता और बुद्धिमानी के साथ जड देते हैं। परिणाम-स्वरूप सारे प्रदर्शन में आमोद-प्रमोद का खासा पुट आ जाता है।

रंगमंच-नाटक —नौटंकी

नाटक के अध्येता के लिए यह रगमची लोक-नाटक अत्यत रोचक विपय है। नाट्य-प्रणाली की दृष्टि से इसे मध्ययुगीनता और आधुनिकता के वीच रक्खा जा सकता है, अनेक दृश्य-वधो में प्रदर्शन करने के मध्ययुगीन तरीके को इसने छोड दिया है और समग्र तथा अविच्छिन्न 'मच-चित्र' के लिए उद्योग किया है। इससे जान पडता है कि प्रदर्शन की आधुनिक विधियो की ओर उसने क़दम उठाये हैं। इस नाटक के तत्वो का अध्ययन करना रोचक होगा क्योकि इसने लोक-साहित्य तथा अन्य प्रकार के मौलिक साहित्य के अनन्त भडार का उपयोग किया है, उसे एक नए आकार में प्रस्तुत किया है और उसे एक भिन्न माध्यम में ढाला है।

सभी देशों के नाटक के इतिहास में, ऐसे नाटकीय रूप और ऐसी विधियाँ मिलती है, जो शुद्ध परपरागत नाटक के तत्वो और विधियो के ही रूपान्तर-प्रकारान्तर है। नाटकीय और अ-नाटकीय साहित्यो में और नगर तथा लोक की नाटकीय परपराओ में 'नाट्यगृह का प्रभाव' फैल गया है—ये रूप उसी का परिणाम है। नाटक का यह रूप हिन्दी-प्रदेश में नाट्य के विकास की एक महत्वपूर्ण कडी है। इसमें मध्यकालीन सस्कृति की चिताकर्षकता, वाक्पटुता और शूरवीरता का समस्त वातावरण विद्यमान है। साथ ही इस नाटक से यह भी प्रकट होता है कि हमारे नाट्य पर औद्योगिक सभ्यता के प्रारभिक प्रभाव पडे है। ऐतिहासिक दृष्टि से, इसकी स्थिति बहुत अच्छी है, क्योकि यह नाटक जव गत शताब्दी के अन्त में विकसित हुआ जब ग्रामीय और नागरिक सस्कृतियाँ अधिक निकट सपर्क में आ रही थी। लोक-कवियों, नर्तकों और विदूषको ने यह अच्छा अवसर पाया। उन्होने परपरागत कहानियो, स्थानीय नायकों की कीर्तियो, सभी देशों की छल-कपट अथवा प्रेम-सबधी कथाओ आदि बहुत-सी चीज़ो को नाटक का रूप दे दिया, उनमें नाच-गाने और नाट्य-कला की अन्य सामान्य विशेषताएँ जोड दी।

ये नाटक कई नामो से प्रसिद्ध हैं, जैसे नौटकी, सागीत, भगत, निहलदे, नवलदे और स्वाँग। ये सभी नाम लगभग समानार्थी है—एक ही नाट्यगत-रूप का परिचय देते है, लेकिन इसके साथ ही, मिलती जुलती नाटकीय पद्धतियो और सिद्धातो की रूपरेखा के अन्तर्गत ये नाटक प्रादेशिक विभिन्नता को भी प्रकट करते है। स्वाँग कदाचित् सर्वाधिक प्राचीन नाम है, यहाँ तक कि नवी शताब्दी में मिलता है। प्रसिद्ध

प्राकृत नाटक एवं रासक की सट्टक है जो कि नाटक का संगीतिक लोकप्रिय रूप था। उसका स्वरूप और नाटकीय प्रदर्शन आजकल की नौटंकी से मिलता-जुलता है।

लोकप्रिय लोक छन्दों में गाथाओं की रचना और पाठ मध्ययुग में अत्यधिक प्रचलित था। मध्ययुगीन कवियों ने इन पाठ संबंधी प्रतियोगिताओं के अखाड़ों का उल्लेख किया है। ये प्रतियोगिताएं आज भी होती हैं, और इनको वही पुराना नाम—अखाड़ा—दिया जाता है। लावनी, नहागनी, ख्याल और रसिया के इन अखाड़ों ने हिन्दी के रंगमंच नाटक के उदय में प्रत्यक्ष रूप से योग दिया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में, नए साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रभावों से पाठ करने की यह परंपरा और भी विकसित एवं समृद्ध हुई। छन्दों और धुनों में बड़ी-बड़ी नवीनताएँ लाई गईं और एक प्रकार का मिश्रित, लोकप्रिय संगीत विकसित किया गया। इस सामग्री को नाट्य के ढाँचे में सजाने के लिए थोड़ी-सी नाटकीय कुशलता की अपेक्षा थी। घटनाओं को जोड़ने के लिए एक वाचक की योजना की गई, उपयुक्त स्थानों पर नाच-गाने रखे गए और इस तरह एक नया नाटक-रूप खड़ा कर दिया गया।

इन संगीतात्मक वृत्तान्तों की प्रदर्शन-विधियों को देखने पर मालूम होगा कि मंच के लिए उपयुक्त होने के लिए इनके कुछ (स्व) नियम बनाए हैं, निस्संदेह इस वर्ग के नाटक को स्वतन्त्र प्राप्त है, पर घटनाओं की व्यवस्था और नाट्य-व्यापारों की दृष्टि से इसने लोक-नाटक के 'नाट्य-हीन' स्वरूप को अपनाया है। चूँकि पर्दे नहीं होते, इसलिए नाटकीय कथानक को दृश्यों और अंकों में विभाजित नहीं किया जा सकता। अतः, 'रंगा' नामक एक वाचक रखा जाता है। रंगा : अर्थात् 'रंग' अथवा नाट्य से संबद्ध व्यक्ति। यह व्यक्ति कहानी के छूटे हुए अंशों के विषय में आवश्यक घोषणाएँ करता है और नाटक-व्यापार के स्थलों के बारे में कुछ विवरण देता है। पद्यबद्ध संवादों में लिखी गई अभिनय-कहानी के रूप में इन नाटकों की कल्पना की जाती है। जहाँ तक मंच का प्रश्न है, वह एक प्रकार का निरपेक्ष स्थान मात्र होता है, और किसी विशेष व्यापार-स्थल का आभास नहीं देता। मंच का खाली रहना इसके लिए बड़ा लाभप्रद रहता है। दृश्यों के न होने से स्थान और समय की अन्विति के नियमों से मुक्ति मिल जाती है और ऐसे ढेरों कथानकों का उपयोग किया जाना संभव हो जाता है जो, अन्यथा, नाटकीय नियमों की परिधि में न आ सकने के कारण अभिनीत नहीं हो सकते। इसी प्रकार रंगमंच को खाली रखने का भी परिणाम यह होता है कि कार्य-व्यापार क्षिप्र और गतिशील हो जाता है और उक्त नाटक-प्रकार में विविधता का समावेश हो जाता है। फलतः

के अभाव में, अभिनेताओ द्वारा रगमच को छोड देने की सीधी-सादी लोक-विधि द्वारा प्रत्येक दृश्य की समाप्ति की सूचना दी जाती है। इसका अवश्यभावी परिणाम 'नौटकी' होता है, जिनमे अनेक चरम स्थितियाँ होती हैं।

स्टेज को बिना किसी भी सेटिंग के खाली छोड दिया जाता है। बहुत थोडी-सी वस्तुओ का उपयोग किया जाता है और इन्हें अभिनेता अपने साथ मच पर ले जाते हैं। अधिकाश पात्र दृश्य की सारी अवधि भर मच पर खडे या घूमते रहते हैं। वे खडे होकर अपने सवादो को अर्ध-सगीतात्मक और अर्ध-पाठात्मक ढग से बोलते हैं, प्राय प्रत्येक सवाद के साथ 'वाद्य सगीत' चलता रहता है। पात्रों का मुख-विन्यास तो कोई खास नही होता, पर वस्त्र बडे कीमती होते हैं और वे बहुमूल्य आभूषण भी धारण करते हैं। प्रदर्शन का आरम्भ 'सुमिरिनी' अथवा 'मगलाचरण' से होता है। यह पूर्व-रग का एक अङ्ग है। वाद्यवृन्द में से प्रमुख नगाडे की ऊँची आवाज़ से आस-पास के गाँवो के लोगों को प्रदर्शन के आरम्भ होने की सूचना दी जाती है। इस नाट्य के प्रेमी तुरन्त ही उस जगह की ओर चल पडते हैं, जहाँ नाटक होने वाला है कि आज रात भर भारी अभिनय और रोमाचकारी नृत्य-सगीत वाला नाटक देखेंगे।

नाटकीय नृत्य

लोक-नाटक का एक और भी अमान्य प्रकार है जिसे उसके अपने विकास-क्रम में नृत्य और नाटक के बीच की वस्तु कहा जा सकता। नाट्य की दृष्टि, से वे छोटे-छोटे कथात्मक नृत्य बहुत अधिक प्रभावशाली होते हैं, जिनमें प्रदर्शनकर्त्ता किन्ही छोटे पौराणिक प्रसगो पर भाव प्रदर्शित करते हुए नृत्य करता है और वाद्यवृन्द की पृष्ठ-भूमि में भावपूर्ण धुनो में, कार्य-व्यापार की व्याख्या करने वाला मूल पाठ सामूहिक रूप से गाया जाता है। 'किरात' और 'अर्जुन' के युद्ध को दिखलाने वाला बिहारी लोक-नृत्य, अथवा राजस्थान का 'घूमर' नृत्य जिसकी चित्रात्मक रूप-सज्जाएँ और मन्थर अ ग-गतियाँ चरम-सीमा का धीरे-धीरे निर्माण करती रहती हैं, और ऐसा प्रभाव डालती हैं, मानो कथावस्तु के अभिनय में प्राचीन नाटक की आत्मा उतर आई हो। कभी-कभी तो सिर्फ एक अभिनेता, कोई चेहरा लगाकर या विशद और जटिल रूप-सज्जा करके, कथा के अपने अनुकरणात्मक प्रदर्शन में आश्चर्यजनक नाट्यात्मक गहराई भर देता है। जब महान कत्थक-नर्तक श्री शभु महाराज 'ठुमरी' अथवा 'रसिया' प्रस्तुत करते हैं तो अपने नृत्य-प्रसगों में वे नाटकीय ढग ले आते हैं और अनेक पात्रो के रूप धारण करके वे उस सशक्त मुद्रा-अभिनय की सृष्टि करते हैं, जो समस्त नाटक का स्रोत है।

यह कोई सयोग की बात नही है कि पश्चिमी अफ्रीका में वहाँ के अंग्रेज़ी-

भारी देशी लोग 'प्ले' शब्द का प्रयोग अपने नृत्यों के लिए करते हैं। हरिवंश पुराण के एक वचन से नृत्य-नाटक के अस्तित्व का परिचय मिलता है—'नाटकं ननृतुः।' अर्थात् 'उन्होंने एक नाटक नाचा।' यह उपर्युक्त नाटक-प्रकार के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण है। आगे चलकर, दसवीं शताब्दी में, प्राकृत नाटक कर्पूरमंजरी में सट्टक को 'नर्तितव्यम्' कह कर पारिभाषित किया गया है, अर्थात् ऐसा नाटक जो नृत्य के लिए हो। विविध प्रदेशों के अनेकानेक लोक-नृत्यों में से किसी को भी इस विधान वाले नाटक के उदाहरण-स्वरूप लिया जा सकता है। उनके कथा-निर्माण में एक निश्चित योजना होती है और वे रूपाभिनय को प्रभावशाली तथा वास्तविक बनाने के लिए भली प्रकार रूपसज्जा भी करते हैं। कभी-कभी मामूली मंच-उपकरणों का भी उपयोग किया जाता है, जिससे स्थान-बोध हो सके और नाटकीय कार्य-व्यापार का प्रदर्शन अधिक वास्तविक जान पड़े। वाद्यवृन्द अभिनय के प्रभाव में वृद्धि करते हैं और नृत्य तथा अभिनय दोनों करने वालों और मात्र नृत्य करने वालों के बीच नाटकीय ढंग से, उपयोगी सामञ्जस्य स्थापित करते हैं।

रूढ़ि-प्रचलित नाटक

प्रायः कहा जाता है कि लोक-नाटक नितान्त रूपहीन है, कि उसमें दृश्यांकन और रूपाकार की कोई भी योजना नहीं है, और न दिग्दर्शन की कोई कला-विधियाँ ही हैं। पर, इस नाटक-प्रकार का जो अध्ययन हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे प्रकट होगा कि खुले स्थानों में किए जाने वाले इन प्रदर्शनों में भी एक रूपाकार होता है, और वे सभी लक्षण होते हैं, जो किसी कलात्मक प्रदर्शन में होने चाहिए। इनमें प्रारम्भ होता है और परिणति भी। पात्र और घटना में क्रमबद्धता भी रहती है। विकास का भाव भी रहता है—चरम सीमा का और प्रभाव के उत्कर्ष-अपकर्ष का भी। इनकी 'नाट्य-हीनता' अर्थात् रंगभूमि के उपकरण और पर्दों अथवा 'चित्रात्मकता' के अभाव का मतलब यह नहीं है कि इस नाटक में कोई रूढ़ियाँ हैं ही नहीं; रूढ़ियाँ नाटक की कला के लिए अत्यन्त आवश्यक, और किसी भी अन्य साहित्यिक माध्यम की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। प्रदर्शन की वास्तविक परिस्थितियों से उत्पन्न और दर्शकों के सक्रिय सहयोग एवं अनुमोदन से विकसित एवं परम्परित बहुत सी अलिखित रूढ़ियाँ इस नाटक में मिलती हैं।

रंगभूमि के बहुत लम्बे-चौड़े और खुले होने से [illegible] यह आवश्यक है कि चेहरे लगाए जायें या अत्यधिक रूपसज्जा की जाये ताकि मुखाकृतियाँ स्पष्ट हो सकें, और दूर तक बैठी हुई, दर्शकों की सारी भीड़ उन विशेष पात्र को पहचान सके।

जुलूसवाले सचल लीला-नाटक जब मन्दिर से निकल कर बाहर जनता के बीच आए तो उनमें चौकियों और झाँकियो का उपयोग करना स्वीकार किया गया, महाकाव्यों की प्रमुख घटनाओ का चित्रो में अकन किया गया और पात्र जितने स्वाभाविक रूप से नाटकीय सवाद बोलते थे, उतने ही सहज ढग से 'स्वगत भाषण', 'जनान्तिक', 'समाख्यान' 'उद्घोषण' करते थे, ऐसा करना 'वृत्त में बँधे हुए' पूर्वयोजित अभिनय मे बहुत-कुछ भिन्न रहा । इन प्रदर्शनो के कथात्मक स्वरूप की दृष्टि से, लोक-नाट्यकला में एक के बाद दूसरी मच सेटिंग की प्रणाली विकसित हुई है । प्रवेश और प्रस्थान, यहाँ तक कि दृश्य-परिवर्तन और रूपसज्जा आदि सब कुछ, दर्शको के सामने ही होता है क्योकि मच चारों ओर से खुला रहता है । कभी-कभी दर्शको के बीचोबीच मच बनाया जाता है और दर्शकगण कभी भी उसे किसी अन्य स्थान के रूप मे नहीं देखते जैसा कि हम लोग जो रगभूमि तथा दृश्यो आदि को समझते हैं । अन्त में यह भी कहना होगा कि किसी भी दृश्य-समायोजन के अभाव में, लोक-नाटक का समग्र व्यक्तित्व ही बदला हुआ है, चाहे उसे अभिनेताओ की दृष्टि से देखें या दर्शको की ।

लोक नाटकों में सुसबद्ध दृश्य नहीं होते और उनका कथानक-निर्माण भी, जैसा आम तौर पर समझा जाता है, उससे भिन्न होता है । दृश्यो और अको के स्थान पर, उसमें लीला-नाटको की तरह, नाटकीय व्यापार के अपने में पूर्ण अश होते हैं । नाटकबद्धता की समूची योजना में एक प्रकार की शिथिलता रहती है । लोक-नाटक की इस शिथिल गठन के कारण आशुसवादों के लिए, नकलो के लिए, हँसी-मजाक और तड़क-भडक के लिए, और कथा को मन्थर गति और विस्तार के लिए काफी छूट रहती है इस कारण नाटकीय व्यापार मे विशेष लय आ जाती है । इसी प्रकार, लोक-नाट्य मच का खाली होना और खुला होना भी एक निश्चित गुण है क्योंकि तब हम 'मच को केवल मच के रूप में' नही देखते । परिणाम-स्वरूप कार्य-व्यापार की अनुकृति में सीधापन आता है, सत्याभास सरलता से कराया जा सकता है और आवेगो के सपर्क तथा प्रतिभावन में एक तरह की निकटता रहती है ।

इस वर्ग के नाटक में इन सामान्य विधियों और रूढ़ियो के कारण एक निश्चित् नाट्य-विचार विकसित हो गया है । लोक-नाटक का अध्ययन करें या उस पर विवाद करें—हमें सदा ही इस नाट्य-विचार के मूलभूत एव महत्त्वपूर्ण विषय का ध्यान रखना होगा कि इसका स्वरूप जड नहीं है । परिवर्तित होते हुए सामाजिक परिप्रेक्ष्य के साथ यह भी परिवर्तित और विकसित होता है । इस तरह, इसने नई विधियो और रूढियो को बनाया है तथा पुरानियो को पुनर्गठित और पुनर्नियोजित

किया है। इन नाटकों ने एक ही वस्तु के विविध रूप और शैलियाँ प्रस्तुत की हैं। आज हम रामलीला के विविध रूप देखते हैं और रामलीला, स्वांग व तथा नाटकीय जैसे धर्म-निरपेक्ष संगीत-नाटकों में घिल-घुल गई हैं। इन बातों से इस 'नाट्य-विचार' के गतिशील स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है और पता चलता है कि लोक नाटकों में निश्चय ही प्रगतिशील तत्त्व रहे हैं।

कुछ निष्कर्ष

लोक-नाटक के इस समृद्ध और बहुविध कोष ने साहित्यिक नाटकों को, सभी कालों में और प्राविधिक विकास के सभी रूपों में अत्यन्त मूल्यवान योग दिया है। मौखिक और लिखित परंपरा के बीच निरन्तर सम्पर्क भारतीय साहित्य की एक विशेषता रही है। कभी-कभी तो साहित्यिक और मौखिक परम्पराओं के बीच अन्तर स्थापित करना कठिन हो जाता है। हिन्दी लोक-नाटक, जो मौखिक परम्परा में है और संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है, निरन्तर विकसित होता रहा और उसने साहित्यिक रूपों को महत्त्वपूर्ण कला-उपादान प्रदान किये हैं।

साहित्यिक इतिहास में यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि हिन्दी के प्रथम लिखित नाटक 'इन्दर सभा' ने लीला-प्रकार के लोक-नाट्य से बहुत अधिक ग्रहण किया है। पात्र मंच पर आकर अपना-अपना परिचय देते हैं और अपना उद्देश्य बतलाते हैं। नाटक का स्वरूप प्रायः संगीतात्मक है, गद्य-पद्य में लिखे हुए संवादों का पाठ किया जा सकता है। इसी प्रकार की कुछ अन्य विशेषताएँ भी हैं, जिनका मूल परम्परागत लोक-नाटक में है। रोचक बात यह है कि रामलीलाओं का 'मसखरा' इस नाटक में राजा इन्द्र और स्वर्ग की अप्सराओं के साथ आता है। इसी प्रकार भारतेन्दु के नाटक 'अन्धेर नगरी' में लोक-नाटक के ही पात्र, परिस्थितियाँ और सारा का सारा नाट्य-वातावरण सजीव हो उठा है। भारतेन्दु हिन्दी के साहित्यिक नाटक के प्रवर्त्तक हैं। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों ने, विशालों और झाँकियों वाले शोभा-यात्रा नाटकों का एक तरह का रंगमंचीय-रूपान्तर प्रस्तुत किया। ये शोभा-यात्रा नाटक, बराबर कई शताब्दियों तक जनता द्वारा किए गए नाट्यगत प्रयोगों से निर्मित हुए थे। आधुनिक मंच-प्रयोगों ने लोक-नाटकों से कई रूढ़ियाँ अपनाई हैं, जैसे: वाचक का समावेश और दर्शकों के सामने ही दृश्य-विधान तथा दृश्य-परिवर्तन करने के लिए मंच सहायक का प्रयोग। अन्य संभावनाएँ भी हैं, जिनका उद्घाटन होना चाहिए। विनिमय की गति को क्षिप्र बनाना चाहिए और सम्पर्क तथा सहयोग का क्षेत्र बढ़ाना चाहिए ताकि दोनों ही को लाभ हो सके।

हिन्दी लोक-नाटक के अध्ययन की वर्तमान परिस्थिति अत्यन्त उत्साहवर्द्धक

है। साहित्य के इतिहासो और नाटक के शिक्षा-सम्बन्धी अध्ययनों में उसे कोई भी स्थान नही मिलता। इन लोक-नाटको के सम्बन्ध में कुछ सामान्य सूचनात्मक तथ्य तो अवश्य प्रकाशित लेखो और रेडियो-वार्ताओ में मिल जाएँगे पर अध्ययनो तथा शोधो के द्वारा इस सामग्री को विकसित एव सशोधित करने के प्रयत्न नही हुए हैं। जो भी सामग्री उपलब्ध है, वह न तो व्यवस्थित है, न वर्गीकृत और न प्राविधिक रूप में विश्लेषित ही। अत सर्वप्रथम आवश्यकता इसकी है कि वैज्ञानिक उपकरणो और आधुनिक शोध-प्रणालियो के साथ हम गाँवो में जाएँ और प्रत्यक्ष स्रोतो से सामग्री एकत्र करें। इस सामग्री के मूल्याकन और विश्लेषण के लिए हमको वही मार्ग और वही सिद्धान्त मानने चाहिए जो हम साहित्यिक-नाटक के लिए अपनाते हैं। शैली, समस्याएँ, कथात्मक प्रसग, कौतूहल जगाने अथवा चरम स्थिति लाने के लिए प्रयुक्त विधियाँ, मचीय प्रदर्शन की दशाएँ और प्रणालियाँ, एक स्थान से दूसरे स्थान में या एक जनसमूह से दूसरे जनसमूह में जाने पर एक ही नाटक-रूप में आ जाने वाले परिवर्तनो की समस्या, साहित्यिक रूपो के प्रभाव, मूल उत्पत्ति और प्रसार से सम्बन्धित समस्याएँ—ये सभी ऐसे प्रश्न हैं जिनकी ओर लोक-नाटक का अध्ययन करते समय सकेत करना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि निरक्षरो के नाटक को एक ऐसे निश्चित कला-रूप की भाँति मान्यता दी जाये, जिसके अपने नियम और अपनी रूढियाँ हैं। साथ ही, उसका अध्ययन अधिक व्यापक सामाजिक-सास्कृतिक परिपार्श्व में करना चाहिए।

यह सर्वविदित है कि लोक-नाटक की अवनति हो रही है और उसकी वह शैलियाँ अब शुद्ध और प्रामाणिक नही हैं। हम उनके पुनर्स्थापन तथा पुनर्गठन के प्रयत्न कर सकते हैं, पर अतीत का नाट्य-वैभव लुप्त हो रहा है, इसलिए पछताने से कोई लाभ न होगा। प्राविधिक ज्ञान के विकास के कारण उस पर प्रभाव तो पडेगा ही, हम प्राविधिक प्रगति के मार्ग में बाधा नही खडी कर सकते। कुछ वर्षों में बिजली गाँवो में जाएगी ही। हमारे नाट्य-प्रदर्शनों पर इसका भारी असर पडेगा। अपनी पुनर्गठन-योजनाओ मे, हमे बदलती हुई सामाजिक दशाओ और नाटक-प्रदर्शन की अधिकाधिक विकासमान परिस्थितियो के लिए, कुछ न कुछ छूट देनी ही होगी और इन नाटकीय रूपों के सामान्य ढाँचे में जो परिवर्तन होगा, उसे स्वीकार करना पडेगा। लोक-नाटको में जो लचीलापन है, उसके कारण उसमें नए विषयो का भी समावेश आसानी से किया जा सकेगा। इस नाटक को खेलने के लिए हम सादे आकार वाले नाट्य-गृह भी बना सकते हैं।

आज, जब हम देश में नाट्य-आदोलन के लिए योजनाएँ बना रहे हैं, तो लोक-नाटक-साहित्य और नाट्य-कलाओं तथा उनके पुनर्गठन से सम्बन्धित समस्त

विधिवत् लेखा-जोखा इकट्ठा किया जाना परमावश्यक है। इससे नए-नए प्रयोगों में सफलता होगी और साहित्यिक नाटक को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग मिलेगा। पारसी ढंग के कुछ ही समय पहले प्रस्तुत कुछ नाटकों ने लोक-नाट्य से इसी सहायता ली और वे अतिशय सफल हुए। इस दिशा में अपार सम्भावनाएँ हैं। लोक-नाटक का स्वभाव प्रभावहीन और विकृत हुआ होता जा रहा है। किसी सुयोजित कार्यक्रम द्वारा हम इन मूल्यवान नाटकीय तत्त्वों को सँवार-सुधार कर सुग्राह्य कर सकते हैं। उनके स्वरूप के शुद्ध प्रामाणिक होने की बात लेकर हम अधिक चिन्तित न हों।



प्रादेशिक भाषाओं का नाट्य-साहित्य

तमिळ नाटक का विकास

—डॉ० एम० वरदराजन

ए० एस० नायोर्न का कथन है "किसी देवता या देवताओं की स्तुति में अभिनय किए गए गीत-युक्त नृत्य, हमारे आज के नाटकों के आदिम रूप हैं।" प्राचीन काल में तमिळ में 'कूत्तु' शब्द से नाटक का बोध होता था, इसका अर्थ 'नृत्य कला' भी है। उस समय में व्यवसायी अभिनेताओं को 'कूत्तर' एवं 'पोरुनर' तथा अभिनेत्रियों को 'विरलियर' की संज्ञा दी जाती थी अर्थात् वे जो नृत्य में भावों की अभिव्यक्ति करने में कुशल हैं। ये शब्द 'कूत्तर' 'पोरुनर' एवं 'विरलियर' एक हजार वर्ष ईसा पूर्व पुराने हैं क्योंकि ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में प्राचीन तमिळ वैयाकरण 'तोल्काप्पियनार' ने अपने समय में लिखे गए उन लेखकों की विवेचना की है जिनमें इन कलाकारों और उनको राजाओं तथा मठाधीशों से प्राप्त आश्रय का वर्णन मिलता है। इससे तमिळ में नाट्य-कला की प्राचीनता की पुष्टि होती है।

तमिलनाड में अभिनय के आरम्भ उल्लेखों का नाटकों से सम्बन्ध नहीं है जितना व्यावसायिक गायकों एवं चारणों से है। ये चारण अपने आश्रयदाताओं के गीत गाते थे। तमिळ साहित्य के प्राचीन युग में ऐसे अनेक स्रोत मिलते हैं कि ये राजाओं के दरबार से सुपरिचित रहते थे और वहाँ इनको समादर भी मिला हुआ था। यही अवस्था इनकी धनाढ्यों के यहाँ एवं सार्वजनिक समारोहों में थी। सामान्यतया ये राजाओं, मठाधीशों एवं धनाढ्य पुरवासियों के आश्रय में रहा

१. दि इंगलिश ड्रामा, पृ० १

२. तोल्काप्पियम, पोरुळ० ८७

डा० काल्डवेल लिखते हैं—"तोल्काप्पियम को कितना भी प्राचीन क्यों न कहा जाय किन्तु इतना निश्चित है कि यह शताब्दियों की साहित्य परम्परा का फल है। इस में विभिन्न काव्य विधानों के नियमों का वर्णन मिलता है, वे उस समय के महान लेखकों की रचनाओं के आधार पर निश्चित किए गए होंगे।"

करते थे। इनको यहाँ से भूमि तथा मूल्यवान भेंट मिली रहती थी। यहाँ तक कि महान कवयित्री अव्वइयार अपने आश्रयदाता एव मित्र अदियमान् अजी की प्रशसा में छन्द-रचना करते समय इस अवसर पर अपने को चारण के रूप में कल्पना कर सौभाग्य एव गर्व का अनुभव करती है। तो भी इन विनम्र चारणो का जीवन कष्टपूर्ण था, उन्हे भोजन एव वस्त्रो का अभाव रहा। इसका निर्देश आत्रुप्पाडइ[1] नामक लेखों में मिलता है जिनमें इनका वर्णन दिया गया है।

इस वर्ग के कलाकारों ने अपनी एक भिन्न जाति का ही निर्माण कर लिया था। यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक चरणों में तमिळ नाटको के विकास में इनका अधिक योग रहा। इसके विकास की समस्त परम्परा को प्रस्तुत करना कठिन है क्योंकि इसके अनेक सूत्र तो अनुपलब्ध हैं। वैयाकरण तोळकप्पियनार ने कुछ नाट्य परम्पराओं का अपने ग्रन्थ नाटकवळक्कु' [तोळकप्पियम्, पारुल्, ५६] में निर्देश किया है। ईसा उपरान्त दूसरी शताब्दी के महाकाव्य 'शिलप्पदिकारम्' एव इसके समकालीन ग्र थ 'मणिमेकलइ' में नृत्य-कला तथा नाटक के सैकडो प्रसग मिलते हैं। इनमें से पहली रचना के टीकाकारो में से एक आदियाक्कुनल्लार् [शिलाप्पदिकारम्, ३ १२] ने मूल के कुछ अशो की व्याख्या करते समय नाटक पर लिखे गये अनेक प्राचीन ग्रथो का उल्लेख किया है। व्याकरण के ग्र थ 'कलावियल'[2] की टीका करते समय नक्किरार इन ग्र थो के विषय में महत्त्वपूर्ण सकेत दे ा है। 'मुरूवल्' 'शयन्नम्' गुणनूल' 'शेय्यरियम्' जैसे ग्र थो के इनमें प्रमाण मिलते हैं। आजकल इनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं है। 'आदियाक्कुनल्लार्' के युग अर्थात ईसा उपरान्त तेरहवी शताब्दी में भी ये केवल नामतः विद्यमान थे। किन्तु इसके टीकाकार का यह सौभाग्य था कि 'कुत्तुनूल' 'वरदा सेनाबदियम्' तथा 'मदिवाणार् नाडक तमिळनूल्' जैसे कुछ ग्र थो का उसने पर्यालोचन किया था जो आज अप्राप्य हैं। इस प्रकार तमिळ नाटको पर अनेक शास्त्रीय ग्र थो की रचना हुई थी। इसस इस युग में प्राप्य अनेक नाट्य-कृतियो के जहाँ पुष्ट प्रमाण मिलते हैं वहाँ उसके जन्म और विकासका भी परिचय मिलता है।

---

१ अत्र्प्पाडई चारणों, सगीतकारों तथा अभिनेताओं का उस चारण सगीतकार एव अभिनेता के लिए किया गया एक प्रकार का सम्बोधन है जो दानी राजओं के यहाँ से पुरस्कार ले कर लौट रहा है।

२ 'कलावियल' को 'इरइनर अगप्पोरुल' भी कहते हैं।

तमिळ साहित्य का वर्गीकरण विशिष्ट है, इसके तीन वर्ग किए जाते हैं - १. इयल् (कविता एवं गद्य) २. इसइ (संगीत-काव्य) तथा नाटकम् (नाटक-साहित्य)। इस वर्गीकरण के कारण तमिळ को 'मुत् तमिळ' अर्थात् त्रिगुणी तमिळ का अभिधान दिया गया है। यह भी एक परम्परा ही है कि 'सन्त अगस्तियर' ने 'अगत्तियम्' नामक जिस व्याकरण की रचना की, उसके तीन भाग हैं, तीसरे भाग में नाटक का विवेचन किया गया है।

तमिळ के इस त्रिवर्गीय वर्गीकरण के अतिरिक्त, नाटक का वर्गीकरण भी अनेक रूपों में किया गया है जैसे—वसइ कूत्तु (व्यंग्य नाटक), 'पुकळ् कूत्तु' (प्रशंसा या स्तुति नाटक), वेत्तियल् कूत्तु (गान नाटक), पोदुवियल् कूत्तु (लोक नाटक) वरिक्कूत्तु (संगीत नाटक), शान्ति-पण्डिक कूत्तु (देवताओं की तुष्टि के लिए लिखे गए नाटक), विनोदक्कूत्तु (विनोद-नाटक), आर्यक्कूत्तु (आर्यों के लिए विशेषकर लिखे गये नाटक) इयल्पुक्कूत्तु (प्रकृति-नाटक), देसिक्कूत्तु आदि।[1]

उन दिनों में नाटकों के लिए नाट्यशालाएं तथा रंगमंच थे। प्रसिद्ध तमिळ कृति 'तिरुक्कुरळ' के लेखक तिरुवल्लुवर ने 'कूत्ताट्टकळै'[2] नामक नाट्यशाला का उल्लेख किया है।

अभिनेताओं के एक वर्ग का नाम 'शाक्कियार' था और उनके नाटक 'शाक्कैक्कूत्तु' कहे जाते थे। ये मन्दिरों एवं राजमहलों में खेले जाते थे।

नाट्यशालाओं के निर्माण करवाने की एक स्वस्थ परम्परा थी।[3] ये नगर या गाँव के बीचों-बीच बनाई जाती थीं और इनका मुख राजमार्ग की ओर रहता था। मन्दिरों, मठों, बुद्ध-क्षेत्र, मदशाला, दीमक के घरों आदि के पास की भूमि नाट्यशालाओं के निर्माण के लिए नहीं चुनी जाती थी। मन्दिरों में एक विशाल कक्ष धार्मिक कथाओं पर आश्रित नाटकों के अभिनय के लिए नियत रहता था और इसे 'कूत्तम्बलम्' कहा जाता था। जो नाट्यशालाएँ राजमहलों में होती थीं उन्हें कूत्तुप्-निल् कहा जाता था। रंगमंच के आयाम तथा विस्तार के लिए शुद्ध रीतियाँ थीं जिनका अविकल पालन किया जाता था। प्रकाश एवं पर्दों की व्यवस्था का भी जो विवरण मिलता है वह आधुनिक आलोचकों के लिए भी रोचक है।[4]

१ आदियार्कु नल्लार, शिलप्पधिकारम् ३.१०
२. तिरुक्कुरळ, ३३२
३. शिलप्पदिकारम् ३.९९
४ वही, ३.१०८-११० आदियार्कु नल्लार की टीका

इस युग का कोई भी नाटक काल की गति से बचा न रह सका। इसका एक कारण तो यह है कि जिन ताल-पत्रो पर ये लिखे गए थे उन्हें सुरक्षित रखना कठिन था। और, जनता घर पर नाटक पढ आनन्द उठाने की अपेक्षा उनके अभिनय को देखना अधिक चाहती थी। वी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रियर[1] के मतानुसार तीसरा कारण यह था कि उस समय राजवर्ग तथा समाज में जैनियो तथा बौद्धो का अधिक प्रभाव था। इन्होने न केवल अभिनेताओ के कार्यों की भर्त्सना की वरन् जनता को नाटको के मनोविनोद में पडने से रोका भी। उस समय अभिनय के व्यवसाय को समाज में कोई आदर न प्राप्त था।

जब शैववाद तथा वैष्णववाद प्रमुख हुए, सगीत तथा नाटको को पुन उचित स्थान मिला और वे देश के धार्मिक समारोहों के अनिवार्य अग के रूप मे स्वीकृत हुए। यह जो भी हुआ एव जिस रीति से हुआ उसका एक निश्चित क्रम है किन्तु इसके परिणाम स्पष्ट हैं जिनको तञ्जौर के मन्दिर में चोल नरेश राजा राजेश्वर (ईसा उपरान्त १०वी शताब्दी) के शिलालेख में देखा जा सकता है। यह प्रसग मन्दिर में अभिनीत होने वाले नाटक से सम्बन्धित है। यह नाटक 'राजराजेश्वर नाडगम्' था। इस शिलालेख में मुख्य अभिनेता का नाम, चोल नरेश की आश्रयिता, भेंट में मिली वस्तुएँ तथा प्रतिवर्ष नाटक खेले जाने के विशिष्ट अवसरों आदि का उल्लेख मिलता है। मुख्य अभिनेता की सज्ञा को 'थिरुवालर' उपसर्ग से विभूषित किया गया है (जैसे अग्रेजी में 'मिस्टर' या सस्कृत में 'श्री')। इससे पता चलता है कि इस युग के अभिनेताओ को किसी भी प्रकार अभिशसनीय नही समझा जाता था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मन्दिरों में ऐसे नाटको के अभिनय करने थी अनुमति की एव सास्कृतिक तथा धार्मिक कृत्यो के समान ही इन्हे आदर प्राप्त था।

जिला तिरुनेलवेलि में श्री वल्लीश्वरम मन्दिर के शिलालेख में प्रतिवर्ष पर्वों पर नाटक खेलने के लिए उय्य वन्दाल यशोदई को भूमि दान का प्रसग है।

ग्रामीण क्षेत्रों में नाटक का एक असस्कृत रूप प्रचलित रहा है जिसे 'तेरुक्कूत्तु' या बाजारू नाटक कहा जाता है। इन नाटकों में अभिनेता अधिकतर अहम्मन्य एव अविवेकी होते थे और उनके अभिनय असभ्यएव अपरिष्कृत होते थे। सारे विधान में कोई कलात्मक सगति नही रहती थी। यह तो नही कहा जा सकता कि उनके कोई नियम नही हैं किन्तु यह बात तो सत्य है कि उनमें न तो सच्ची सुरुचि

---

१. तमिळ मोत्तलिळ वरलारु, 'मुत्ति' विषयक अध्याय।

है और न उनमें अलङ्कृत काव्य ही है। यद्यपि इनसे ग्रामीण जनता का मनोरंजन होता है किन्तु विद्वानों ने इन्हें कोई प्रश्रय नहीं दिया। नाटक का यह रूप धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। सामान्यतः नाटक के रूप की प्रकृति प्रदान संगमन प्राप्त होता है और अभिनेता भी अपनी जीविका के लिए दान की धनराशि पर आश्रित रहते हैं। इनके अभिनयों में न तो शुल्क ही होता था और न टिकट आदि, यहाँ दर्शकों की बड़ी भीड़ रहती थी इन नाटकों की कोई प्रेम-कथा या पुराण की ही कोई कहानी इस भीड़ का मन मोहे रहती थी। आजकल तो कोई ग्रामवासी भी इन नाटकों की प्राचीनता तथा उनके रूपों को स्वीकार नहीं समझता।

आदि तमिळ नाटकों का एक विशिष्ट गुण यह था कि वे छन्दों में लिखे होते थे, इनका कोई न कोई गद्य में नहीं रहता था। जहाँ तक तमिळ का सम्बन्ध है गद्यात्मक नाटकों का आविर्भाव बाद की चीज है। १८९१ में लिखा गया 'मनोन्मणीयम्' नाटक पद्यात्मक है। 'कोन्दजी' भी पद्य में ही लिखा गया था।

सत्रहवीं शताब्दी में 'नोण्डीनाटक' नामक एक नाट्य-रूप लोकप्रिय था। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखे गए 'पळनि नोण्डी नाटकम्' एवं 'सेव्वन्दि नोण्डी नाटकम्' पाण्डुलिपियों में मिलते हैं। 'तिरुक्काडन्द नोण्डी नाटकम्' का मुद्रण एवं प्रकाशन हुआ था। इन नाटकों में नायक को पथभ्रष्ट होता चित्रित किया गया है, वह वेश्याओं के संग अमर्यादित जीवन व्यतीत करता है, उसे शारीरिक तथा मानसिक आपत्तियाँ घेरती हैं, पैरों के कट जाने से वह लूला हो जाता है, अन्त में वह अपने दुराचारों पर पश्चात्ताप करता है, ईश्वर की आराधना करने पर उसके पैर पुनः उसे मिल जाते हैं। 'नोण्डीनाटकम्' का अर्थ ही लङ्गड़ा-नाटक है। इस नाटक में नायक के कष्टों तथा उसके पश्चात्ताप के चित्र मानो विभिन्न मन्दिरों के भीतर से खींचे हुए हैं।

'रामन उलम्' तथा 'अशोकुमी नाटकम्' नाटक भी छन्दों में लिखे गए थे और उनको संगीत में अनुस्यूत कर दिया गया था। इनके रचयिता अरुणाचल कविरायर (१७१२–१७७९) थे। मत भेद में, इन्होंने कुछ वर्षों के बाद गृहस्थी से वैराग्य ले लिया था। इनकी अन्य कृतियों में से 'रामनाटकम्' रचना पर जितना अधिक लोकप्रिय रहा है उतना ही समीक्षा में भी रहा। 'सन्तो मुत्तु मूर्तियार' इनके गुरु थे, जिन्होंने नाटक की परीक्षा और उसे समारोह के लिए समिति का आयोजन किया तथा लेखक को बहु पुरस्कार दिए। इस कृति में शास्त्रीय के अनेक राग तथा संगीत छन्दों का निरूपण किया गया है।

तंजौर के मराठा नरेशों के राज्यकाल में लिखे गए नाटकों में तो ...

माला-सी मिलती है जिनका उस समय अभिनय भी होता था। इनमें से 'हरिश्चन्द्र नाडगम्' तथा 'मिरत्तोड नाडगम्' अधिक लोकप्रिय थे और उनका यहाँ विशिष्ट उल्लेख आवश्यक है। इनमें से दूसरा नाटक पेरियपुराणम्' के तिरसठ शैव सन्तो मे से एक सिरत्तोन्दर के जीवन को प्रस्तुत करता है। यह सन्त पल्लव-नरेश नरसिंहवर्मन का प्रधान सेनापति था, उसने चालुक्य नरेश पुलिकेश्यन (६१०—६४४ ईसा उपरान्त) से विरुद्ध युद्ध किया तथा उसकी राजधानी वातापी पर विजय प्राप्त की थी। तजौर सरबोजी महाराज सरस्वती महल पुस्तकालय की पाडुलिपियो में कुछ नाटक भी है जिनका प्रकाशन अभी नही हुआ हैं। इसमें से कुछ ये हैं — मदन सुन्दर पुरादन सनादन विलासम्, पुरुरव चक्रवर्ती नाडगम, शारङ्गधर नाडगम्, पाण्डि केलि विलासम्, सुभद्राकल्याणम् आदि।

पी० सम्वन्द मुदलियार के अनुसार मद्रास राज्य के पाण्डुलिपि पुस्तकालय में लगभग तीस नाटको की पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं। इनमें से कुछ हैं —हिरण्य सहार नाडगम्, राम नाडगम्, उत्तर रामायण नाडगम्, कन्दर नाडगम्, कात्तवराय नाडगम्, कुशलव नाडगम् तथा जामदग्नि नाडगम्।

स्थानीय देवी-देवताओ की पूजा के उत्सव मनाने के लिए लिखे गए नाटक भी पर्याप्त सख्या में मिलते हैं। इन देवी-देवताओं के वार्षिक पर्वो पर इनका अभिनय किए जाने के लिए व्यवस्था भी की जाती थी। इनमें से कुछ तो पाडुलिपि के रूप में अब भी नाटककार के वशजो या इन नाटकों को अभिनीत करने वाले अभिनेताओं के पास मिलते हैं जो कभी अत्यधिक प्रसिद्ध थे।

नाटकों की दो और शैलियाँ काल की गति में अब भी बच रही हैं, इनके नाम हैं—वाञ्जि एव पल्लु अथवा कुरत्ति पाट्टु एव उलत्ति पाट्टु। तिरिकु दरासप्पा कविरायर का 'कुरळ्ळ कोरुवञ्जि' तथा एन्नइन्यिन पुळवर का 'मुक्कूदल-पल्लु' इन नाट्य-रूपों के सुन्दर उदाहरण है। इस शैली में 'अळगर कोरुवञ्जि', 'ज्ञान कोरुवञ्जि', 'शिवशैल पल्लु पुदुवई पल्लु' जैसी अन्य कृतियाँ भी हैं किन्तु ये इतनी लोकप्रिय नही है और कोरी अनुकरण मात्र कही जाती है।

'कोरुवञ्जि या कुरत्ति पाट्टु, 'तेरुकूत्तु' या बाजारू नाटक की शैली साधारण का नाटक है। इसमें परमात्मा तथा स्त्री की खोज करने वाली दो आत्माओ में अन्तर का वर्णन किया गया है। इसका सौन्दर्य इसी वर्णित अन्तर पर आश्रित है। कञ्जर-स्त्री कुरत्ति के चरित्र का समावेश तथा दो प्रेमकथाओ का वर्णन इसी उद्देश्य से किया गया है।

प्रसिद्ध नाटक 'कुट्रल कुरवञ्जि' के कारण तो इसके लेखक तिरिकूड-रासप्पा-कविरायर को विपुल धन तथा उर्वर भूमि मिली थी। जिला तिरुनेल्वेलि में कुट्रालम् के पास तो यह भूमि नाटक के नाम पर 'कुरवञ्जि मेडु' अभिधान ग्रहण कर आज भी मानो उर्वर है।

इसकी नायिका एक आत्मा है जिसे मानव-रूप दिया गया है। वह एक सुन्दर तथा गुणवती महिला है। गेंद से खेलते समय वह जलूस बनाकर आते देवताओं को देखती है तो विस्मयाकुल हो उठती है। चन्द्रिका तथा दक्षिण पवन उसके मन को और भी उद्वेलित कर देता है, वह उनकी भर्त्सना करती है तथा निर्दय काम को कोसती है। उसकी सखियाँ उससे कहती हैं कि वह ईश्वर के प्रेम में पागल हो चुकी है। कुरत्ति नामक पञ्जर स्त्री इसी समय अचानक आ जाती है और उससे परामर्श किया जाता है। वह यथेष्ट यात्राएँ कर चुकी है और मानव-प्रकृति से पूर्णतया परिचित है। वह न केवल इस रहस्यमय प्रेमी का निरूपण करती है वरन् उसके देश एवं वास का चित्रण करती है। अत्यन्त पुरस्कृत होने पर वह चली जाती है। बाद में उसका बहेलिया-पति उसकी खोज में आता है। और जब वह इसके पटवस्त्रों तथा स्वर्ण हीरों को देखता है, वह रुष्ट हो जाता है। और वह उसके रोष को अपनी यात्रा के वृत्तान्त सुना शान्त करती है। "समस्त दक्षिण भारतीय भक्ति साहित्य में सामान्यतः प्राप्य मानव एवं दैवी प्रेम प्रसंग का यहाँ वर्णन किया गया है। स्रष्टा की खोज करता हुई आत्मा ही मानो वह उच्च कुल में पली महिला है जो अपने ईश्वरीय प्रेमी की झाँकी पाकर भी उसे खो देती है, वह व्याकुल हो उसकी प्रतीक्षा करती है, वह आवेगपूर्ण तथा किंकर्तव्यविमूढ है और यह आत्मा तब तक अशान्त है जब तक वह पुनः असीम आत्मा में मिल नहीं जाती।"[1]

'पल्लु' को किसानों का नाटक कहा जा सकता है, इसमें जहाँ उनका जीवन चित्रित है वहाँ इनके द्वारा दो धार्मिक वादों—शैववाद तथा वैष्णववाद—की प्रतिस्पर्धा का भी वर्णन किया गया है। पल्लु (किसान) के दो स्त्रियाँ हैं—एक शैव है, दूसरी वैष्णव। इन दोनों में ईर्ष्या सुलगने लगती है। ज्येष्ठ पत्नी अपने पति पर चोरी तथा अन्य पाप-कर्म का अभियोग लगाती है। भूस्वामी इन अपराधों को सुनता है तथा उसे दण्ड देता है। कनिष्ठा भूस्वामी से प्रार्थना करती है जो निष्फल हो जाती है। ज्येष्ठा अपने पति को आपत्तियों से घिरा देख कर उसे छुड़ाने आती है तथा अपना दोष कर, सफाई दे उसे छुड़ा लेती है। तदुपरान्त ये दोनों स्त्रियाँ परस्पर स्नेह से जीवन

१ एम० एस० पूर्णलिंगम् पिल्लाई, तमिल लिटरेचर पृ० ३६६

यापन करने पर सहमत हो जाती हैं। इनके ईर्ष्या तथा कलह के नाटकीय चित्रण के अतिरिक्त, कृति मे कृषक-जीवन का उत्तम दिग्दर्शन मिलता है।

अरुणाजल कविरायर ने जिस प्रकार रामायण के आधार पर रामनाटक की रचना की, उसी प्रकार राकचन्द्र कविरायर ने 'वरद विलासम्' नाटक का प्रणयन किया है जिसमें महाभारत का वर्णन है। यह रामनाटक की भाँति लोकप्रिय नही है। इन्होने तीन अन्य नाटक भी लिखे हैं—'रड्कून चण्डई नाडगम्', 'शकुन्तलइ विलासम्' एव 'तरुण विलासम्'। 'रड्कून चण्डई नाडगम्' एतिहासिक नाटक है और इसके प्रणयन मे लेखक ने तमिळ मे नाटको की नवीन परम्परा का सूत्रपात किया।

चिरकाल तक नाटककार पुराणो की कथाओ पर ही नाटक लिखते चले आ रहे थे एव अपने चारो ओर का जीवन जिसे वे देखते चले आते थे नाटको के लिए अछूता ही था। इस शताब्दी के मध्य से तमिळ नाटक में अनेकश परिवर्तन हुए यद्यपि वे अनुल्लेख्य तथा मन्द थे तथापि कला अब एक सामाजिक क्रिया बन गई। नाटककार अपनी कृतियो के लिए समकालीन जीवन के उल्लेख्य प्रसगो में से वस्तु-चित्र की कथाओ से सामग्री ग्रहण करने लगे।

तमिळ मे पहला लोकप्रिय सामाजिक नाटक काशि विश्वनाद मुदलियार का लिखा 'डम्बाचारि विलासम्' है। इस लेखक के अन्य नाटक 'ब्रह्मसमाज नाडकम्' तथा 'तासिलदार नाडगम्' हैं। रामस्वामी राजा की नाट्यकला में १८७८ में लिखे गए 'प्रदचन्द्र विलासम्' से सुधार के चिह्न मिलने लगते हैं। एक बार एक पारसी नाटक कम्पनी मदरास आई थी, उसने अपने कुछ नाटक रगमञ्च पर खेले थे जिन से प्रेरित होकर कुछ कलाकारो ने उन्हे ग्रहण कर तमिळ भाषा में लिखा। इस प्रकार के नाटक है जैसे अप्पावु पिल्लइ का 'इन्द्र सभा'।

नाटक का अनेक अको तथा प्रत्येक अक का अनेक दृश्यो में विभाजन प्राचीन तमिल नाटको के लिए अपरिचित था। तमिळ विद्वानो द्वारा जब शेक्सपियर के नाटक पढे जाने लगे तो उनसे एक नवीन धारा का श्रीगणेश हुआ। इनके द्वारा ही उन्होने पाश्चात्य शैली को पूरी तरह समझा तथा उसे ग्रहण भी किया। अको तथा दृश्यों में नाटक की योजना का आरभ तमिळ में सर्वप्रथम १८९१ में तमिळ नाटक 'मनोन्मणीयम् के लेखक पी० सुन्दरम् पिल्लई ने किया। उनके पश्चात् सभी नाटककारो ने इस शैली को सफलतापूर्वक अपनाया। अन्य क्षेत्रो में भी अग्रेजी नाटको के साथ तमिळ के सम्पर्क के कारण जहाँ शैली में यथार्थता तथा सौष्ठव का समावेश हुआ, वहाँ उद्देश्य में भी परिष्कार हुआ।

१८९१ में क्रिश्चियन कालेज में दर्शन के आचार्य पी० सुन्दरम् ने शेक्सपियर की शैली के आधार पर पाँच अंकों में अपना नाटक 'मनोन्मणीयम्' प्रकाशित किया। यह लार्ड लिटन के 'दि सीक्रेट वे' नाटक के आधार पर लिखा गया था तथा अनेक दार्शनिक विचारों के चिन्तन को मानो अपने कलेवर में समेटे हुए था। नाटकीय सौन्दर्य, कल्पना वैभव, चमत्कारिक अन्योक्ति तथा पुनीत उपदेशों के कारण यह गौरव-नाटक कहा जाने लगा और यह पाठक के हृदय तथा मानस पर अमिट छाप छोड़ जाता है। जैसा कि इस कृति की प्रस्तावना में ही नाटककार ने स्वीकार किया है यह अभिनय की अपेक्षा पढ़ने के योग्य अधिक है। यह तमिळ के प्रमुख छन्द 'अगवळ मिश्र' में लिखा गया है।

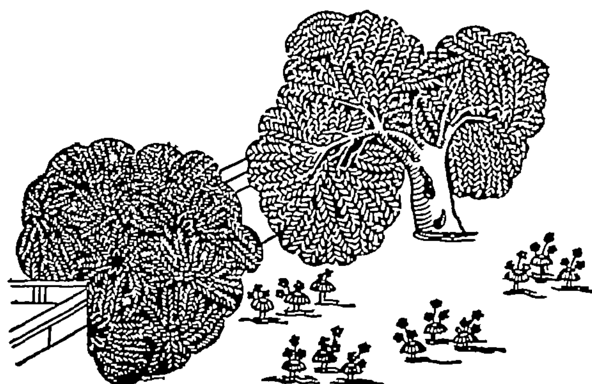
इस कृति के प्रकाशन के उपरान्त तो अनेक विद्वान तथा उत्साही लेखक नाटक लिखने में रुचि लेने लगे। इनमें से एक मद्रास के अवकाश-प्राप्त जज पी० सम्बन्ध मुदलियार एवं दूसरे मद्रास क्रिश्चियन कालेज में तमिळ के आचार्य वी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रियार हैं। मुदलियार ने सरल आधुनिक गद्य में लगभग साठ नाटक लिखे हैं, इनमें से अधिकांशतः अभिनीत भी हो चुके हैं। उनके प्रमुख नाटक 'मनोहरा' 'रत्नावली' 'लीलावती' एवं 'सुलोचना' आदि हैं। इनमें उनकी मौलिकता तथा अभिनवता स्पृहणीय है। उनकी रचना में हास्य के यथार्थ एवं सुखान्तकी की रम्याद्भुतता का नवीन शोभाविधान है जिसमें हास्य-किरण रोमानी वातावरण की ज्योत्स्ना उल्लसित होती दिख पड़ती है। इन्होंने शेक्सपियर के अनेक नाटकों का अनुवाद भी किया यथा—दि मर्चेण्ट ऑफ वेनिस, हेमलेट, मैकबेथ एज यू लाइक इट। इनकी कृतियों के परिमाण तथा नाट्य-कला को देखते हुए कदाचित यह कहना उचित ही होगा कि ये तमिळ के महान नाटककार हैं।

अन्य नाटककारों में जिन्होंने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया अथवा उनसे प्रेरणा ली। एस० नारायणस्वामी अय्यर, ए० माधवैया, के० वेंकटरमन अय्यर, के० रामस्वामी अय्यंगार, वी० एस० दोराइस्वामी आयंगर, नन्दगोपाल मैत्रियार एवं जी० जोसेफ के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों द्वारा तमिळ में अनुवादित अथवा रूपान्तरित किए जाने वाले नाटकों में 'मिड्समर नाइट्स ड्रीम' 'ओथेलो' 'हेमलेट', 'किंगलियर', 'रोमियो एण्ड जूलियट' तथा 'सिम्बेलिन' हैं। एस० ए० के० दत्ताचार्य ने मिल्टन की कहानियों में से एक का 'सुगन्धनिका' शीर्षक से नाट्य-रूपान्तर किया। ए० कृष्णस्वामी अय्यर ने हेनरी वुड के एक उपन्यास का नाट्य-रूपान्तर किया था।

कालिदास की 'शकुन्तला' का मरइमलाई अडिगळ द्वारा सुन्दर तथा सरल

तमिळ में अनुवाद किया गया है। इसका अनुवाद भवानन्दम् पिल्लई तथा पी० सम्बन्द मुदलियार ने भी किया। कालिदास के दो अन्य नाटक 'विक्रमोर्वशी' तथा 'मालविकाग्निमित्र' का अनुवाद भी हुआ, पहले का एम० राजा० शास्त्री तथा एस० रामस्वामी अय्यगार और दूसरे का ए० सुब्रह्मण्य भारती तथा पी० सम्बन्द मुदलियार ने किया था। संस्कृत नाटक 'वेणीसंहार' तथा 'मृच्छकटिक' का अनुवाद एस० राघवाचार्य ने प्रस्तुत किया। पण्डितमणि गदिरेसन चेट्टियर ने 'मृच्छकटिक' का तमिळ छन्दो में अनुवाद किया था।

सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर लिखे गये नाटकों की संख्या कम नहीं है। तमिळमें नाट्य-साहित्य के प्रणेताओं का अब तो एक वर्ग बन गया है तथा उसका भविष्य उज्ज्वल है। प्रो० वी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रियार के पास नाटकीय तथा काव्य-प्रतिभा थी उन्होंने न केवल गद्य तथा छन्दो में अनेक नाटको की सृष्टि की वरन् नाट्य-कला पर शास्त्रीय ग्रंथ का प्रणयन कर तमिळ नाटको के पुनर्जागरण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनके 'रूपावती' तथा 'कलावदी' गद्य तथा पद्य में लिखे नाटक हैं, 'मणिवीजयम्' की रचना छन्दो में हुई है। इनका स्वर्गवास १९०३ में हुआ जब कि उनकी अवस्था तेतीस वर्ष की ही थी। यदि ये और अधिक जीवित रहते तो निश्चय ही और अधिक नाटको की रचना होती जो तमिळ-साहित्य के ऐश्वर्य के कारण बनते। वे महान काव्य-प्रतिभा तथा चिन्तन-शक्ति के धनी थे। उन्होंने अपने अनेक विद्यार्थियो तथा मित्रो को नाट्य-कला की ओर उत्साहित किया तथा उनसे मौलिक नाटक भी लिखवाए। इन्होंने उनकी आशाओं को पूरा भी किया। तमिळ का नाट्य-साहित्य उन उत्साही विद्वानो का आभारी रहा है जिन्होंने वी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रियार तथा वी० सम्बन्द मुदलियार के द्वारा प्रस्तुत किए गए आदर्शों का पालन किया।



तेलुगु नाटक और रंगमंच

—डॉ० जी० वी० सीतापति

सन् १८७० ई० पूर्व से तेलुगु में नाटक का कोई अस्तित्व न था—न तो मौलिक नाटक थे, न अनुवाद ही। इसका यह तात्पर्य नहीं कि तेलुगु लोगों को नाटक का कोई ज्ञान ही न था। तेलुगु-भाषियों में जो संस्कृत के पण्डित थे, उन्हें नाटकों का ज्ञान तो था ही परन्तु उन्होंने संस्कृत नाटकों के अनुकरण पर कभी तेलुगु में नाटक रचने का प्रयास नहीं किया। कई तेलुगु कवि ऐसे हुए जिन्होंने महाभारत, रामायण और भागवत के अनुवाद प्रस्तुत किये परन्तु किसी संस्कृत नाटक का अनुवाद कभी किसी तेलुगु-साहित्यकार ने नहीं किया। १४ वीं शती के एक प्रमुख तेलुगु-कवि पिल्ललमर्रि पीन वीरभद्र ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और महाभारत में शकुन्तला के मूल उपाख्यान से प्रेरणा ग्रहण कर 'शकुन्तला परिणयमु' नाम से एक लम्बी कविता लिखी थी। इसी प्रकार १५ वीं शताब्दी के कवि-युगल नन्दिमल्लय और घण्ट सिंगन ने संस्कृत-नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदयम्' का कविता में रूपान्तर किया। संस्कृत नाटक की तरह के किसी तेलुगु नाटक का १८७० ई० से पूर्व कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता, न तेलुगु देश में किसी रंगमंच के अस्तित्व का ही कोई प्रमाण उपलब्ध होता है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है पर इसका एक समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

नाटक के स्थान पर आन्ध्र देश में भागवत-मण्डलियों द्वारा 'यक्षगान' हुआ करते थे—इन्हें 'वीथिनाटक' भी कहा जाता था। शुरू शुरू में इनका विषय निश्चित रूप से भागवत का कोई उपाख्यान हुआ करता था परन्तु बाद में महाभारत और रामायण की कथाओं को भी उपयुक्त विषय मानकर ग्रहण किया गया। ये गानबद्ध हुआ करते थे—इनमें संगीत, अभिनय एवं नृत्य सभी का समावेश होता था। भरत-नाट्य के अनुसार नृत्य को नृत्य-नाटक का अनिवार्य अंग स्वीकार किया गया था, लेकिन भास-कालिदास आदि की रचनाओं में नाटक का जो रूप मिलता उसमें नृत्य का प्रायः त्याग ही हो गया था—कहीं उपयुक्त स्थिति पाने पर यथोचित रूप से समावेश कर दिया जाये। कालान्तर में गीत का भी महत्त्व घटता गया और संस्कृत नाटकों में केवल श्लोकों का प्रयोग किया जाने लगा। परन्तु तेलुगु-प्रदेश के वीथि-नाटकों में पद्य, गीत, संगीत, अभिनय, नृत्य सभी का समावेश किया जाता रहा।

वे पश्चिम के ऑपेरा की तरह से हुआ करते थे। अतः सस्कृत-नाटको की अपेक्षा जन-साधारण के लिए उनमें अधिक आकर्षण था।

कन्दुकूरि रुद्रकवि का 'सुग्रीव-विजयम्' सब से शुरू के ज्ञात यक्षगानो में से है। कुछ लोगो का कथन है कि यह कृष्णदेव राय (१५०९-२९ ई०) के युग की रचना है पर अन्य विद्वानो का मत है कि इसका रचना-काल १६ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। १६वी शती के उत्तरार्द्ध और १७वी शती में मदुरा एव तजौर के नायक शासको के सरक्षण में अनेक यक्षगानो की रचना हुई। यक्षगान की उपस्थापना में सर्वप्रथम विष्णु अथवा शिव की स्तुति होती थी, फिर विघ्नेश्वर की, तत्पश्चात् पूर्ववर्ती यशस्वी कवियो की प्रशस्ति में कुछ बध होते और फिर आश्रयदाता का—जिसे यक्षगान समर्पित किया जाता था—गुण-गान हुआ करता था। तदनन्तर सूत्रधार कथा का सूत्रपात कर देता, सवादो और गायनो में उसके एक-दो सहयोगी उसका साथ देते, उधर नटी भरत के नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित विधि से समुचित मुद्राओ-भगिमाओ का पुट देकर नृत्य करती थी।

काल-प्रवाह के साथ यक्षगानों के विषय-चयन, पात्र-सख्या और कथोपकथन में कई छोटे-मोटे परिवर्तन हो गये हैं। 'भामाकलापम्' इसका एक विशिष्ट रूप है जिसमें कथा का सम्बन्ध सीधा सत्यभामा से है जो कृष्ण की आठ रानियो में सबसे अधिक ईर्ष्यालु और कलहकारिणी थी। नीचे एक मच रहता था और उस पर एक वितान-सा तान दिया जाता था—यही बस रगमच का स्वरूप था, प्रेक्षक सामने खुले में धरती पर ही बैठ जाया करते थे।

तजौर में नायक-शासको के राजत्व-काल में विषय के चयन में नवीनता का समावेश हुआ। वैसे तो पुराणो से विषय ग्रहण करने की प्रथा थी परन्तु रचनाकार ने सामयिक जीवन से विषय चयन किया। रचनाकार थे तजौर के शासक विजयराघव नायक (१६३४-७३ ई०)। उन्होने 'रघुनाथाभ्युदयम्' नाम से एक यक्षगान रचा जिसमें उनके पिता रघुनाथ नायक (१६००-३४ ई०) के शौर्य एव पराक्रम का निरूपण था। विजयराघव नायक की सस्कृता नर्तकी रगाजम्म ने 'मन्नारुदास विलासम्' नाम से एक यक्षगान का प्रणयन किया जिसके नायक थे विजयराघव।

प्रसिद्ध सगीतज्ञ और तेलुगु-भजनकार त्यागराज ने भी 'प्रह्लाद-चरित्र' और 'नौकाभगम्' के नाम से दो यक्षगानो की रचना की।

२०वीं शती के आरम्भ तक तेलुगु साहित्य का यही ढर्रा चलता रहा। गुन्टूर जिले के धेनुवकोंड वेंकय्य ने पद्य और गीत में कई नृत्य-नाटक लिखे—उन्होंने महा-

भारत से 'उत्तर-गोग्रहणम्' आदि कथाएँ ली और भागवत से 'वामन चरित' आदि उपाख्यान ग्रहण किये। उनकी रचना इस प्रकार की गई थी कि बाल वृन्द के साथ उनका निपाठ हो सके या मंच पर अभिनीत हो सके।

वीथिनाटकों की लोकप्रियता धीरे-धीरे घटती जा रही है लेकिन अब भी कुछ गाँवों में उनका प्रचलन है आधुनिक रुचि-सम्पन्न कुछ आभिजात्य-जन भी पुरानी चीजों में दिलचस्पी रखने के नाते कभी-कभी उन्हें देख लेते हैं। इस प्रकार के साहित्य से ही इनका भी प्रादुर्भाव हुआ: १ हरिकथा—जिसमें एक ही व्यक्ति कथा सुनाता जाता है। कथा में पद्य-गीत और गद्य का मिश्रण रहता है। २ बुर्रकथा—इसमें मुख्य उद्घोषक के दो साथी भी रहते हैं. कथा की रचना प्राय चौपदियों की पद्धति पर होती है। हरिकथा के विषय प्रारम्भ में तो विष्णु (हरि) से ही सम्बद्ध होते थे परन्तु बाद में अन्य देवताओं और वीरों की गाथाओं का भी समावेश उनमें हो गया। आधुनिक युग में तो राष्ट्रीय वीरों की कथाओं पर भी उनकी रचना होने लगी है। यथा—'गान्धी महात्मुनि हरिकथा', हरिकथा' शब्द अब एक विशिष्ट प्रकार के साहित्य के लिए रूढ़ हो गया है। बुर्रकथाओं के विषय यद्यपि वैविध्यपूर्ण रहे हैं—इनमें पौराणिक गाथाओं से लेकर आज की राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं तक का समावेश कर लिया जाता रहा है।

नाटक

तेलुगु कवियों ने बहुत समय तक संस्कृत नाटकों के आदर्श पर नाटक लिखने का प्रयास नहीं किया क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि नाटक दृश्य-काव्य है और अभिनय के लिए उसकी रचना की जाती है, परन्तु उन्हें यह विश्वास न था कि नाटक अगर मंच पर प्रस्तुत किया जाये तो उसे यक्षगान अथवा वीथि-नाटकों जैसी लोकप्रियता प्राप्त हो सकती है। उनका विचार था कि केवल पठित और गँवार जनता को आकर्षित नहीं कर सकते—उसमें गीत और नृत्य का मिश्रण होना चाहिए।

अंग्रेजी नाटकों के अभ्युदय और शेक्सपियर एवं अन्य नाटककारों के अंग्रेजी नाटकों के अभिनय से आम शिक्षित जनता में उनके उत्पादन और अनुवाद की रुचि जागृत हुई। इसके बाद धारवाड़ और पूना से थियेटर कम्पनियों का आना आरम्भ हुआ—ये हिन्दी नाटक प्रस्तुत करतीं, उनके बड़े चित्र-विचित्र पर्दे और आकर्षक दृश्य-विधान हुआ करते थे। तब तेलुगु में भी इसी प्रकार के नाटकों की आवश्यकता का अनुभव किया गया। प्राय इसी समय विजयनगर-महाराज

आनन्द गजपति के मन में सस्कृत नाटक प्रस्तुत करने की इच्छा जागृत हुई। अभिजात-वर्ग में वे बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे, सगीत और साहित्य के सरक्षक थे। उन्होंने एक नाट्य-सस्था का श्रीगणेश किया और पण्डित-वर्ग एव आधुनिक उदार विद्वानो के निमित्त सस्कृत नाटको के उपस्थापन के लिए अपने प्रासाद में एक नाट्य-गृह बनवा दिया।

इन घटनाओ के फलस्वरूप अंग्रेजी और सस्कृत नाटको के अनुवाद शुरू हुए—और बाद में मौलिक नाटको की रचना भी होने लगी। १८७६ में वाथिलाल वासुदेव शास्त्री ने 'जुलियस सीजर' का तेलुगु में एक अनुवाद किया। उन्होने तेलुगु में एक लोकप्रिय छन्द का प्रयोग किया जिसमें शेक्सपियर की रचना के अनुसार ही प्रत्येक पक्ति में पाँच चरण थे। उन्होने तेलुगु-प्रदेश में उसे लोकप्रिय बनाने के लिए अंग्रेजी नाटको को भी तेलुगु-रूप दे दिया और हिन्दू वेश-भूषा और रग-ढग का उसमें समावेश करने का भी प्रयत्न किया। १८८० में विजयनगरम् के श्री राममूर्ति और राजामुन्दरी के वीरेशलिगम् ने 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' के प्रथम दो अको का अनुवाद किया। श्रीराममूर्ति ने कुछ गद्य-पक्तियो का भी उसमें सन्निवेश कर दिया था परन्तु वीरेशलिगम् का अनुवाद आद्यन्त पद्यबद्ध था। इन तीनो अनुवादो के बाद तो अंग्रजी नाटको और बाद में अन्य भाषाओ के नाटको के अनुवादों की बाढ-सी आ गई। शेरिडन, इब्सन एव अन्य सुप्रसिद्ध नाटककारो सभी की कृतियो के अनुवाद किये गये। इनमें शेक्सपियर के अनुवादो को ही सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। कम से कम बारह नाटको का अनुवाद अथवा रूपान्तर किया गया और सबसे अधिक अनुवाद वीरेशलिगम् ने ही किये। किन्तु इनमें शिक्षित-वर्ग के ही लिए आकर्षण था, जनसाधारण को ये नाटक आकर्षित नही कर सके। आज भी विदेशों के सामाजिक अथवा राजनीतिक जीवन की कहानियाँ उन्हें विशेष आकर्षित नही कर पाती।

विदेशी भाषाओ के नाटको के अनुवाद और रूपान्तर के साथ ही सस्कृत नाटको के भी अनुवाद हुए। सर्वप्रथम कोक्कण्ड वेंकटरत्नम् नाम के एक प्रकाण्ड सस्कृत एव तेलुगु विद्वान ने 'नरकासुर विजय व्यायोगम्' का अनुवाद किया—परन्तु अनुवाद की शैली बहुत दुरूह थी, इसीलिए उसका वैसा स्वागत नही हो सका। इसके पश्चात् सस्कृत नाटको के अनुवाद भी वीरेशलिगम् ने ही किये। उन्होने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'रत्नावली' के अनुवाद किये। समसामयिक एव परवर्ती विद्वानो द्वारा अभिदान-शाकुतलम् के कम से कम बारह अनुवाद प्रस्तुत किये गये हैं परन्तु वीरेशलिगम् का तेलुगु अनुवाद ही कदाचित् सर्वश्रेष्ठ है। तदनन्तर भवभूति, भास, शूद्रक, भट्ट

नारायण आदि अनेक यशस्वी संस्कृत नाटककारों की कृतियों के अनुवाद प्रस्तुत किये गये परन्तु मंच पर उनमें से बहुत ही कम अनुवादों को सफलता मिली। वड्डादि सुब्बारायुडु के वेणीसंहार को बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई। १९००-१९१० के बीच संस्कृत नाटकों के अनुवादों की भरमार रही परन्तु उसके बाद यह अनुवाद-धारा प्रायः क्षीण हो गई है।

संस्कृत और अंग्रेजी के अनुवादों के साथ ही मौलिक नाटकों की भी सृष्टि हुई। मौलिक रचनाएँ भी प्रायः उन्हीं संस्थाओं और लेखकों से उद्भूत हुईं जिन्होंने प्रारम्भ में अनुवाद प्रस्तुत किये थे। सर्वप्रथम मौलिक नाटक १८८० में वासुदेव शास्त्री ने लिखा—इसका नाम था 'नन्दक राज्यम्'। यह नाटक आद्यान्त पद्य में रचा गया था अतः रंगमंच पर खेला नहीं जा सका। इसका कारण कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है। तेलुगु-भाषियों को पद्य-गायन का अभ्यास तो है, परन्तु गद्यवत् उसका निपाठ नहीं कर सकते। इसके पश्चात् वीरेशलिंगम् ने 'हरिश्चन्द्र' शीर्षक मौलिक नाटक लिखा और उनकी यह कृति बहुत लोकप्रिय हुई। कारण यह था कि इसकी कथा में सीधा प्रभाव डालने की क्षमता थी, संवादों में गति थी और कथानक का विकास संस्कृत नाटकों के अनुकरण पर किया गया था। मंच पर इसकी लोकप्रियता तब तक बनी रही जब तक कि बलिजेपल्ली लक्ष्मीकान्त के 'हरिश्चन्द्र' ने तेलुगु प्रदेश के कई भागों में अधिकाधिक श्रोताओं को आकर्षित किया। इसमें नाट्य-स्थितियों का आयोजन बड़ा सुन्दर था क्योंकि वे अभिनेता भी थे और रंगमंच का उन्हें अच्छा ज्ञान था।

नियमित और व्यवस्थित नाट्य संस्थाओं के लिए जिन्होंने सबसे पहले नाटक-रचना की उनमें धर्मवरम कृष्णमाचार्य (१८५३-१९१३) और कोलाचलम श्रीनिवास राव प्रमुख हैं। दोनों बेल्लारी के थे — दोनों समसामयिक थे और नाट्य क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्वी थे। दोनों ही अंग्रेजी शिक्षा की उपज थे, दोनों के नाटकों में अंग्रेजी नाटक और पाश्चात्य नाट्य-शास्त्रीय प्रविधि का प्रभाव परिलक्षित होता है। कृष्णमाचार्य ने बेल्लारी की सरसविनोदिनी सभा के लिए नाटक लिखे। उन्होंने विषाद-सारङ्गधर नाम से तेलुगु में प्रथम त्रासदी लिखने का साहस किया। इस देश में सुखान्त नाटक की ही परम्परा रही है, चाहे उनका विषय पौराणिक हो, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक। उन्होंने संस्कृत नाटकों के निम्नलिखित नान्दी और 'प्रस्तावना, अंशों का परित्याग कर दिया और उनके स्थान पर अंग्रेजी नाटकों के सदृश उपक्रम और उपसंहार का समावेश किया। परन्तु भाषा अलंकार और अभिव्यंजना में उन्होंने देश के सामाजिक नैतिक एवं आदर्शों का

मूल्यो की परपरा को अक्षुण्ण रखा । उनके कई नाटक पौराणिक विषयो पर आवृत थ जिनमें 'चित्रनलीयम्', 'प्रह्लाद' और 'पादुका पट्टाभिषेकम्' को सर्वोत्कृष्ट माना गया है । उन्हे आद्योपान्त गद्य में 'अजामिल' शीर्षक नाटक रचने का भी गौरव प्राप्त है । कुल मिला कर उन्होने तीस नाटको का प्रणयन किया है ।

कृष्णमाचाय प्रसिद्ध अभिनेता भी थे । उनके वरदहस्त की छत्र-छाया में रह कर उनके भतीजे ताडिपर्ति राघवाचारी राष्ट्रीय एव अन्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त यशस्वी अभिनेता बन गये । कृष्णमाचार्य को सम्मानवश 'आन्ध्र-नाटक पितामह' कहा जाता है ।

कोलाचलम् श्रीनिवासराव ने कुछ मत-भेदो के कारण वेल्लारी में ही एक प्रतियोगी नाट्य-सस्था का समारम्भ किया । उन्होने भी विपुल नाट्य-साहित्य की सृष्टि की—उनके नाटको की सख्या भी कदाचित् तीस ही है । कृष्णमाचार्य ने तो पौराणिक नाटको में अपनी धाक जमाई थी, श्रीनिवासराव ऐतिहासक नाटको के प्रथम उत्कृष्ट लेखक माने गये । उनका 'विजयनगर-साम्राज्य-पतनम्' उनके नाटको में सर्वोत्कृष्ट है ।

मद्रास की सुगुण-विलास-सभा प्राय उसी समय अस्तित्व में आई जब वेल्लारी की सभा । इस सभा मे तेलुगु के ही नही अन्य भारतीय भाषाओ के नाटक भी खेले गये ।

१९ वी शती के अन्त और २० वीं के आरम्भ में तेलुगु प्रदेश के कई अन्य नगरो में भी नाटय-समाज अस्तित्व में आये । इनमें राजाहमुन्दरी के 'चिन्तामणि नाटक समाज' और विशाखापट्टनम् के 'जगन्मित्र नाटक समाज' ने सब से पहले यश-लाभ किया । तेनालि, गुडिवाड, मसुलीपटनम्, एल्लोर, नेल्लोर और कई अन्य नगरो में भी नाटक-समाजो की स्थापना हुई । कुछ चलती-फिरती व्यावहारिक नाटक-मडलियाँ भी थी; उनके विषय में एक रोचक तथ्य यह है कि हर मडली में प्राय एक ही वृहद परिवार के लोग शामिल हुआ करते थे । स्त्रियो का भी इनमे योग रहता था और प्रयत्न यह किया जाता था कि जहाँ तक सम्भव हो पति-पत्नी को मच पर भी उसी भूमिका में अवतरित होने दिया जाये । उनके पास प्राय दस नाटक थे । इन नाटको मचीय उपस्थापन के लिए जिस सामान की आवश्यकता थी, वह सब वे अपने साथ रखा करते थे । पन्द्रह वष तक ये मडलियाँ सफलतापूर्वक अपना व्यवसाय चलाती रही परन्तु चलचित्र-अभ्युदय के साथ-साथ ये छिन्न-भिन्न हो गई । जो अभिनेता—अभिनेत्रियाँ बच रहे उन्होने इस नये क्षेत्र में पदार्पण किया । उनका एक मुख्य दोष यह था कि उनके नाटककार जो नाटक लिखते, वे अपने स्थायी कलाकारो की प्रतिभा

ध्यान में रख कर लिखा करते थे—यह नहीं कि नाटक लिखे जाने के पश्चात् उसकी भूमिकाओं के लिए उपयुक्त पात्र चुन लें।

राजामुन्दरी में चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम् और वाङ्गरि सुब्बाराव जैसे उच्चकोटि के साहित्यकार थे जिनके नाटक नमूने आन्ध्रप्रदेश में लोकप्रिय हुए। चिलकमर्ति के 'प्रसन्नयादवम्' और 'गयोपाख्यानम्' को विशेष ख्याति प्राप्त हुई।

विशाखापट्टनम् के उच्छापुरपु यज्ञनारायण द्वारा रचित नाटक 'रजपूत विजयम्' को इस शती के पहले चरण में बड़ी सफलता प्राप्त हुई। इसमें राजपूत वीरों के शौर्य पराक्रम और मुसलमान सरदारों और शासकों की निर्ममता का निरूपण किया गया था। कोप्परपु सुब्बाराव का 'रोशनआरा' नाटक भी कुछ वर्षों तक बहुत लोकप्रिय रहा लेकिन उसमें हिन्दुओं के गौरव का पोषण करने के लिए तथ्यों को कुछ इस तरह तोड़ा-मरोड़ा गया था कि जिससे मुसलमानों की भावना को ठेस पहुँचे। फलत इस नाटक पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

तिरुपति वेंकटेश्वर के 'पाण्डव विजयम्' आदि पौराणिक नाटक, मुनगाल सुब्बाराव को 'श्रीकृष्ण तुलाभारम्' गुण्डिमेडु वेंकट सुब्बाराव के 'खिलजी राज्य पतनम्' जैसे ऐतिहासिक नाटक, द्विजेन्द्रलाल राय के बंगला नाटकों के चन्द्रगुप्त, शाहजहाँ और दुर्गादास आदि के श्रीपाद कामेश्वरराव, नण्डूरि शिवराव और जोस्यलगड्डु सत्यनारायण आदि द्वारा कृत अनुवाद मंच पर बहुत ही सफल और लोकप्रिय हुए और कई स्थानों पर आज तक उनके अभिनय होते रहते हैं।

मैं यहाँ दो नाटकों का उल्लेख करूँगा जो बहुत उत्कृष्ट कोटि के हैं और जिन्होंने लोक हृदय की निर्बन्ध प्रशंसा पाई है। एक है वेदम वेंकटराय शास्त्री विरचित 'प्रतापरुद्रम' (१८९६)। वे संस्कृत और तेलुगु के प्रकाण्ड पण्डित थे और उन्हें अंग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान था। यह काकतीय नरेश प्रतापरुद्र के जीवन की एक घटना पर आधृत ऐतिहासिक नाटक है। इन्हें मुसलमान सैनिक बन्दी बनाकर दिल्ली ले आये थे। बाद में उनके मंत्री युगन्धर—जो चाणक्य की तरह के कूटनीतिज्ञ थे—उन्हें कारामुक्त कराके लाये। यह षड्यन्त्र और प्रति-षड्यन्त्रों से पूर्ण एक लम्बा नाटक है। लेखक ने विस्मयावह नाटक-स्थितियाँ उत्पन्न की हैं—प्रहसनात्मक दृश्यों की भी कमी नहीं। लेखक गम्भीर कृति के लिए उच्च वर्ग की भी बोलचाल की भाषा का प्रयोग करने का समर्थक नहीं था, फिर भी उसने अपने नाटकों के पात्रों की भाषा-प्रवृत्तियों के अनुकूल बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है—उच्चतर भूमिकाओं के लिए उन्होंने (राजोचित ग्रान्थिक भाषा का प्रयोग

किया है जिसका साधारण वोलचाल में कहीं प्रयोग नही होता। परन्तु कथानक का विकास स्रष्टा के कौशल का परिचायक है, चरित्र–चित्रण सुन्दर वन पडा है और सवाद जानदार हैं। नाटक के मचीय उपस्थापन में अभिनय-कौशल के प्रदर्शन की अच्छी सम्भावनाएँ रहती हैं। यह नाटक आज भी लोकप्रिय है।

दूसरी उत्कृष्ट रचना है विजयनगरम् के गुरुजाड अप्पाराव का सामाजिक नाटक 'कन्याशुल्कम्' (१८९७)। १९०९ में इसका परिशोधन-परिवर्द्धन हुआ। लेखक अग्रेजी साहित्य का मेधावी अध्येता था और युगीन साहित्य एव समस्याओ मे अवगत रहता था। अपने नाटक भूमिका में उन्होने लिखा "मैंने समाज-सुधार के उद्देश्य को वल देने के लिए और सामान्य आन्ध्र के इस पूर्वाग्रह को दूर करने के लिए लिखा कि तेलुगु भाषा (अर्थात् वोलचाल की तेलुगु) मच के लिए अनुपयुक्त है।

डा० सी० आर रेड्डी ने—जो बोलचाल की भाषा का साहित्य में प्रयोग करने के विरोधी थे-उक्त नाटक के विषय मे लिखा है 'सामाजिक व्यग्य-नाटक लिखना कठिन कार्य होता है। 'कन्याशुल्कम् इस क्षेत्र की एक उत्कृष्ट कोटि की रचना है। उसमें मानवीयता और जीवन की दीप्ति है, उसके स्त्री-पुरुष यथार्थ जीवन के दयालुता-सौकुमार्य, क्रूरता-पाखण्ड, गरिमा-छलछन्द और विचित्रताओ से युक्त हैं। लेखक ने चरित्र-निरूपण में अपने कुछ समसामयिको के चरित्रों से प्रेरणा ली है।

समाज-सुधार अथवा युगीन सामाजिक बुराइयो के मूलोच्छेद के लिए लिखा गया नाटक अपने ही समय में भले लोकप्रिय हो जाये परन्तु भावी पीढियो को उसमें कोई दिलचस्पी नहीं रहती क्योंकि उनकी न वैसी समस्याएँ होती हैं, न वे बुराइयाँ ही उनमें रह जाती हैं। तेलुगु के अन्य सामाजिक नाटको की यही स्थिति रही। आचण्ट सारूयायन शर्मा कृत मनोरमा' (१८९५), वळ्ळूरि बापिराज-विरचित 'सागरिका' और वारेशलिगम् के कई 'प्रहसनम्' (१८८५-१८९०) युगीन सामाजिक बुराइयो पर प्रहार करने और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से लिखे गये थे। वतमान पीढा उन्हें विस्मृत कर चुकी है क्योकि वे युग-विशेष की कृतियाँ हैं युग-युग की नहीं। 'कन्याशुल्कम्' की बात और है। समाज के कुछ अन्य ऐसे तत्त्व हैं जो आज भी यथापूर्व विद्यमान है गिरीशम्, वेंकटेशम् और करटक शास्त्री जैसे अमर चरित्रो का सृजन अपनी विशेषता रखता है।

तेलुगु नाटक के इतिहास में पानुगण्टि लक्ष्मी नरसिंहराव (१८६५-१९४०) का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना आवश्यक है। वे विपुल साहित्य-स्रष्टा थे, उनकी लेखनी का चमत्कार हर क्षेत्र में प्रकट हुआ है। उनके व्यापक साहित्य में

कविता के अतिरिक्त प्रायः सभी साहित्य रूपों का समावेश है। वे कवि के रूप में प्रसिद्ध नहीं यद्यपि अपने नाटकों में उन्होंने पद्य भी रचे हैं। वे समर्थ नाटककार थे और बड़े जानदार गद्यकार। उनके नाटक, रेखाचित्र, निबन्ध आदि उनके गहन अध्ययन, मानव प्रवृत्ति में उनकी अद्भुत पैठ और उनकी सृजनात्मक प्रतिभा के साक्षी हैं। उनकी लेखनी ने कुछ ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है जो युग-युग के प्रतिनिधि हैं। उन्होंने एक विशिष्ट व्यंग्य समन्वित हास्यपूर्ण लेखन-शैली का विकास किया जो कुमार्गी के मन पर गहरी चोट करती है। उनके प्रशंसकों ने उन्हें आन्ध्र शेक्सपियर के नाम से विभूषित किया। उन्होंने कई नाटक लिखे जिनमें गद्य को प्रधानता दी है यत्र-तत्र पद्य का समावेश भी किया है परन्तु समय-कुसमय गीतों का सन्निवेश उन्होंने नहीं होने दिया। उनके नाटकों में पौराणिक नाटक 'पादुकापट्टाभिषेकम्' एवं 'राधाकृष्ण' तथा सामाजिक नाटकों में 'कण्ठाभरणम्' एवं 'वृद्धविवाहम्' साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध रचनाएँ हैं और मंच पर उन्हें लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

कुछ नाटक ऐसे भी हैं जो अपनी सृजनात्मक कला एवं साहित्यिक सौष्ठव के नाते पठनीय हैं--उदाहरणार्थ अब्बूरी रामकृष्ण राव का 'नलसुन्दरी'; कई गेय नाटक भी इस कोटि के हैं, यथा शिवशंकर स्वामी-कृत 'पद्मावती' चरण चारण चक्रवर्ती, तथा 'दीक्षित दुहिता'।

पीठपुरम् के युवराज आर० वी० एम० जी० रामाराव ने 'पानोरगुनुण्डा आह्वानम्' और 'तीरनि कोरिकलु आतवांत' आदि कुछ नाटक लिखे हैं। इन में कल्पना की उन्मुक्त उड़ान है, परम्परा का इन में मोह बिल्कुल नहीं। वे आधुनिक नेवुगु आन्दोलन से प्रभावित थे और उन्होंने आधुनिक युग की प्रवृत्तियों को अंगीकार किया है।

मुद्दु कृष्ण एकदम आधुनिक युग की उपज हैं उन्होंने 'टीकपुल्लो तुपानु' और 'भीमाकलापमुलो भामाकलापम्' आदि कुछ अच्छे छोटे-छोटे सामाजिक नाटक लिखे हैं। ये सफल अभिनेय कामदियाँ हैं।

राघवाचारी और बल्लारि गोविन्दराय के प्रयत्नों से १९२८ में तेनाली में नाट्यकला-परिषद् की संस्थापना हुई। यह संस्था पुरस्कार आदि देकर नाटककारों को प्रोत्साहन देती रही है। फलतः अत्रेय, कोण्डमुदि गोपालराय शर्मा आदि ने आधुनिक रंगमंच के उपयुक्त कई नाटक लिखे हैं। समाजवादी एवं साम्यवादी विचारधारा से पुष्ट इन नाटकों में दलित-पीड़ित श्रमिकों, कृषकों आदि की व्यथाओं को वाणी दी गई है। ये प्रायः बोलचाल की भाषा में लिखे जाते हैं—पात्रों के

अनुसार उनमें थोड़ा भेद रहता है।

तेलुगु में आज प्राय बारह सौ नाटक और पाँच सौ एकांकी हैं। स्थानाभाव के कारण प्रस्तुत लेख में तेलुगु एकाकी का विवेचन नही किया जा सका। ख्याति-प्राप्त अभिनेताओ का भी मै अलग से उल्लेख नहीं कर सका हूँ।



अनुसार उनमें थोड़ा भेद रहता है।

तेलुगु में आज प्राय बारह सौ नाटक और पाँच सौ एकांकी हैं। स्थानाभाव के कारण प्रस्तुत लेख में तेलुगु एकाकी का विवेचन नही किया जा सका। ख्याति-प्राप्त अभिनेताओ का भी मै अलग से उल्लेख नहीं कर सका हूँ।



गद्य में लिखें तो आज भी हम इससे एक सफल नाटक की रचना कर सकते हैं। इसी प्रकार १२ वी, १३वी, शती के कवियो द्वारा लिखित अतुकान्त वर्णनात्मक पद्यो पर नाटको की रचना हो सकती है। कुमार व्यास और लक्ष्मीश जैसे कई कवियो की शैली ही ऐसी है कि उनसे कई नाटकीय प्रसग उपलब्ध होते हैं। यद्यपि लिखित नाटकों का अभाव था परन्तु साहित्य के प्रारम्भिक काल मे ही रगमच की एक शैली बन गयी थी।

कन्नड में लिखित नाटको का सूत्रपात बहुत देर से हुआ। वास्तव मे पहले-पहल सस्कृत-नाटको के अनुकरण पर नाटक लिखे गये। सर्वप्रथम उपलब्ध लिखित नाटक सिगार आर्य नामक किसी कवि द्वारा १७ वीं शती में लिखा गया और यह भी सस्कृत नाटिका 'रत्नावली का (जिसके रचयिता सम्राट श्रीहर्ष बताये जाते हैं) आडम्बरपूर्ण शैलो में रूपातर मात्र है। इसके बाद दो शतियो तक का कोई लिखित नाटक उपलब्ध नही है। उन्नीसवी शती के अन्त में कई सस्कृत नाटको के रूपातर और अनुवाद मिलते हैं जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', वेणीसहार', उत्तर-रामचरितम्' इत्यादि।

इन लिखित नाटको का कन्नड रगमच पर कोई स्थान नही प्रतीत होता। इन्हें अधिक से अधिक दरबारी पडितो का साहित्यिक व्यायाम कहा जा सकता है। रगमच पर अब भी ग्रामीण नाटको की परम्परा का पालन किया जारहा था। उसमे केवल एक परिवर्तन यह हुआ कि कई व्यवसायी दल बन गये, जो एक मेले से दूर मेले में, एक स्थान से दूसरे स्थान पर नाटको को खेलते फिरते थे। इन 'नाटक मडलियो का आविर्भाव, १९वी शती की महान् घटना है। ऐसी ही एक मडली से मराठी रगमच को प्रेरणा मिली थी।

परन्तु इसी समय एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन का आभास मिल रहा था। दरबारी पडितो द्वारा रचित लिपिबद्ध नाटको और लोकप्रिय रगमच के अलिखित नाटको के बीच एक या दो लेखको ने लोकप्रिय रगमच के लिए नाटक लिखने का प्रयास किया। उन आधुनिक लेखको में, जिन्होने ऐसा प्रयास किया, नन्दालिके नारनप्पा सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट थे। वे एक निर्धन अध्यापक थे। उन्होंने कई यक्षगानो की—दक्षिण-कन्नड का एक विशेष प्रकार का ग्रामीण नाटक—रचना की। परन्तु लोकप्रिय रगमच और शिक्षित वर्ग के लिखित नाटको के बीच जो गहरी खाई थी, वह न तो इससे और न बाद में किये गये प्रयासो से पाटी जा सकी।

गद्य में लिखें तो आज भी हम इससे एक सफल नाटक की रचना कर सकते हैं। इसी प्रकार १२ वी, १३वी, शती के कवियो द्वारा लिखित अतुकान्त वर्णनात्मक पद्यो पर नाटको की रचना हो सकती है। कुमार व्यास और लक्ष्मीश जैसे कई कवियो की शैली ही ऐसी है कि उनसे कई नाटकीय प्रसग उपलब्ध होते हैं। यद्यपि लिखित नाटकों का अभाव था परन्तु साहित्य के प्रारम्भिक काल मे ही रगमच की एक शैली बन गयी थी।

कन्नड में लिखित नाटको का सूत्रपात बहुत देर से हुआ। वास्तव में पहले-पहल सस्कृत-नाटको के अनुकरण पर नाटक लिखे गये। सर्वप्रथम उपलब्ध लिखित नाटक सिंगार आर्य नामक किसी कवि द्वारा १७ वीं शती में लिखा गया और यह भी सस्कृत नाटिका 'रत्नावली का (जिसके रचयिता सम्राट श्रीहर्ष बताये जाते हैं) आडम्बरपूर्ण शैलो में रूपातर मात्र है। इसके बाद दो शतियो तक का कोई लिखित नाटक उपलब्ध नही है। उन्नीसवी शती के अन्त में कई सस्कृत नाटको के रूपातर और अनुवाद मिलते हैं जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', वेणीसहार', उत्तर-रामचरितम्' इत्यादि।

इन लिखित नाटको का कन्नड रगमच पर कोई स्थान नही प्रतीत होता। इन्हें अधिक से अधिक दरबारी पडितो का साहित्यिक व्यायाम कहा जा सकता है। रगमच पर अब भी ग्रामीण नाटको की परम्परा का पालन किया जारहा था। उसमे केवल एक परिवर्तन यह हुआ कि कई व्यवसायी दल बन गये, जो एक मेले से दूर मेले में, एक स्थान से दूसरे स्थान पर नाटको को खेलते फिरते थे। इन 'नाटक मडलियो का आविर्भाव, १९वी शती की महान् घटना है। ऐसी ही एक मडली से मराठी रगमच को प्रेरणा मिली थी।

परन्तु इसी समय एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन का आभास मिल रहा था। दरबारी पडितो द्वारा रचित लिपिबद्ध नाटको और लोकप्रिय रगमच के अलिखित नाटको के बीच एक या दो लेखको ने लोकप्रिय रगमच के लिए नाटक लिखने का प्रयास किया। उन आधुनिक लेखको में, जिन्होने ऐसा प्रयास किया, नन्दालिके नारनप्पा सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट थे। वे एक निर्धन अध्यापक थे। उन्होंने कई यक्षगानो की—दक्षिण-कन्नड का एक विशेष प्रकार का ग्रामीण नाटक—रचना की। परन्तु लोकप्रिय रगमच और शिक्षित वर्ग के लिखित नाटको के बीच जो गहरी खाई थी, वह न तो इससे और न बाद में किये गये प्रयासो से पाटी जा सकी।

होने से हमें अपने व्यावसायिक नाटक (हास्यास्पद नही तो) कृत्रिम अवश्य प्रतीत होने लगे। शायद इसी कृत्रिमता के विरोध में, बँगलोर के एक लेखक श्री टी पी. कैलाशम् ने टो'ळ्ळुगट्टी' (भरा और खोखला) नामक एक नाटक लिखा, जिसके पात्र आधुनिक समाज से सम्बन्धित थे और उस नाटक की कथा पौराणिक या उपदेशात्मक नही है बलिक उसका विषय शिक्षा-प्रणाली की आधुनिक समस्या है। इस नाटक के साथ कन्नड नाटक में क्राति का सूत्रपात हुआ। कैलाशम् को आधुनिक कन्नड नाटक का जनक कहा जाना उचित ही है। उनका नाटक 'होमरूलु' एक श्रेण्य आधुनिक कृति है। कैलशम् ने कई हास्य-झलकियाँ लिख कर अपनी निजी शैली की स्थापना की। उन्होने अपना पहला नाटक १९१८ में लिखा था।

इसके पश्चात कन्नड नाटक में बडी द्रुत प्रगति हुई है और कई नये रूपो, नये प्रयोगो के क्षेत्र में सफल प्रयास किये गये। इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम श्री के एस कारन्त का है। कारन्त ने न केवल कई पद्य-नाटक लिखे वल्कि कई गीति-नाटको का भी प्रणयन किया। वह दिग्दर्शक भी हैं और लेखक भी, और उन्होने अपने नाटको का दिग्दर्शन करके यह प्रमाणित कर दिया है कि पद्य-नाटक भी शक्तिमान् और सजीव हो सकते हैं और साधारण श्रोतागण भी उसका आनन्द उठा सकते हैं। कई पद्यात्मक नाटको में कारत ने काल, इतिहास आदि विषयो को चुना है।

एक और नाटककार जिनका नाम उल्लेखनीय है, धारवाड के श्रीरग हैं। उनकी देन एकांकियो के रूप में है। १९३० ई० तक कन्नड में एकाकी जैसी कोई वस्तु नही थी जो बडे नाटको की भाँति जनसाधारण को सफलतापूर्वक आकर्षित कर सके। यह कहना उचित ही है कि एकाकियो को अपने पैरो पर खडा करने में दूसरो की अपेक्षा श्रीरग का योग कही अधिक है। अपने दूसरे नाटको में भी इस लेखक ने नाट्य-विद्या को सामाजिक जागरण और मनोरंजन का प्रबल साधन बनाया है।

ऊपर जो नाम आये हैं, उनका महत्त्व इस बात में है कि उन्होने नाटक-कला के विशेष क्षेत्रो में अपना योग दिया है। इनके अतिरिक्त और कई नाम हैं जो नाटककार के रूप में महान् होने के नाते उल्लेखनीय हैं। ऐसे नाटककारो में से एक बँगलोर के श्री ए एन. कृष्णराव हैं। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में उन्होने सामाजिक तथा ऐतिहासिक विषयो पर कई मौलिक नाटक लिखे हैं। और भी कई नये लेखक हैं जैसे क्षीरसागर, पर्वतवाणी और ऐंके। इनमे से ऐंके एकाकी लिखने में सिद्धहस्त हैं,

एक और दृष्टिकोण से भी, कन्नड में नाटक एक आधुनिक साहित्य-विधा

होने से हमें अपने व्यावसायिक नाटक (हास्यास्पद नही तो) कृत्रिम अवश्य प्रतीत होने लगे। शायद इसी कृत्रिमता के विरोध में, बँगलोर के एक लेखक श्री टी पी. कैलाशम् ने टो'ळ्ळुगट्टी' (भरा और खोखला) नामक एक नाटक लिखा, जिसके पात्र आधुनिक समाज से सम्बन्धित थे और उस नाटक की कथा पौराणिक या उपदेशात्मक नही है बल्कि उसका विषय शिक्षा-प्रणाली की आधुनिक समस्या है। इस नाटक के साथ कन्नड नाटक में क्राति का सूत्रपात हुआ। कैलाशम् को आधुनिक कन्नड नाटक का जनक कहा जाना उचित ही है। उनका नाटक 'होमरूलु' एक श्रेण्य आधुनिक कृति है। कैलाशम् ने कई हास्य-झलकियाँ लिख कर अपनी निजी शैली की स्थापना की। उन्होने अपना पहला नाटक १९१८ में लिखा था।

इसके पश्चात् कन्नड नाटक में बडी द्रुत प्रगति हुई है और कई नये रूपो, नये प्रयोगो के क्षेत्र में सफल प्रयास किये गये। इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम श्री के एस कारन्त का है। कारन्त ने न केवल कई पद्य-नाटक लिखे बल्कि कई गीति-नाटको का भी प्रणयन किया। वह दिग्दर्शक भी हैं और लेखक भी, और उन्होने अपने नाटको का दिग्दर्शन करके यह प्रमाणित कर दिया है कि पद्य-नाटक भी शक्तिमान् और सजीव हो सकते हैं और साधारण श्रोतागण भी उसका आनन्द उठा सकते हैं। कई पद्यात्मक नाटको में कारत ने काल, इतिहास आदि विषयो को चुना है।

एक और नाटककार जिनका नाम उल्लेखनीय है, धारवाड के श्रीरग हैं। उनकी देन एकाकियो के रूप में है। १९३० ई० तक कन्नड में एकाकी जैसी कोई वस्तु नही थी जो बडे नाटको की भाँति जनसाधारण को सफलतापूर्वक आकर्षित कर सके। यह कहना उचित ही है कि एकाकियो को अपने पैरो पर खडा करने में दूसरो की अपेक्षा श्रीरग का योग कही अधिक है। अपने दूसरे नाटको में भी इस लेखक ने नाट्य-विद्या को सामाजिक जागरण और मनोरजन का प्रबल साधन बनाया है।

ऊपर जो नाम आये हैं, उनका महत्त्व इस बात में है कि उन्होने नाटक-कला के विशेष क्षेत्रो में अपना योग दिया है। इनके अतिरिक्त और कई नाम हैं जो नाटककार के रूप में महान् होने के नाते उल्लेखनीय हैं। ऐसे नाटककारो में से एक बँगलोर के श्री ए एन. कृष्णराव हैं। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में उन्होने सामाजिक तथा ऐतिहासिक विषयो पर कई मौलिक नाटक लिखे हैं। और भी कई नये लेखक हैं जैसे क्षीरसागर, पर्वतवाणी और ऐंके। इनमे से ऐंके एकाकी लिखने में सिद्धहस्त हैं,

एक और दृष्टिकोण से भी, कन्नड में नाटक एक आधुनिक साहित्य-विधा

लोर के स्व श्री टी० पी० कैलाशम् पहले लेखक थे जिन्होने ऐसे नाटक लिखे और ये नाटक ४० मिनट से लेकर २ घटे तक की अवधि में अभिनीत हो सकते थे। इन नाटको में गीतो और सगीत का नितात अभाव था। परन्तु कैलाशम् के अधिकाश नाटक इससे कम अवधि में खेले जा सकते थे—लगभग एक घटे से कम समय में। बीसवी शती के तीसरे दशक में सर्वश्री ए० एन० कृष्णराव (बगलोर) और के० एस० कारत नामक दो नाटककारो ने सामाजिक बुराइयो का निर्भीक उद्घाटन करते हुए बडे ज़ोरदार नाटक लिखे और नायक-नायिकाओ की प्रेम-क्रीडाओं के बोझ से दबे हुए नाटको को रगमच से बहिष्कृत कर दिया। ये सभी नाटक गद्य में लिखे गये थे और इनमें सगीत का अभाव था। इसी काल में स्व० श्री० बी० एम० श्रीकण्ठय्य, श्री गोविन्द पाई और श्री के० वी० पुटप्पा प्रभृति कवियो ने पद्य नाटको की रचना की। श्रीकण्ठय्य ने पद्य में 'अश्वत्थामा' शीर्षक एक बहुत सशक्त दु खान्त नाटक लिखा। इसके बाद पद्य-नाटको की सख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई है। इनमें से अधिकाश कृतियाँ विश्वविद्यालय के छात्रो की हैं।

इसके अनन्तर एक और मौलिक नाटककार ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया—उनका उपनाम है 'श्रीरग'। उन्होंने बडे नाटको में 'एक अक में एक दृश्य' की प्रणाली अपनायी और एकाकियो का सूत्रपात करने का मुख्य श्रेय भी इनको ही है—जो शीघ्र ही लोकप्रिय भी हो गये। दूसरे इसी नाटककार ने ऐसे नाटक-प्रणयन के भी प्रयोग किये जिनमें एक प्रकार का दोहरा रगमच प्रयुक्त किया जाता था—या तो दो कार्यो का एक साथ घटित होना दिखाने के लिए अथवा स्मृति-पटल पर आने वाले अतीत-दृश्यों को रगमच पर प्रस्तुत करने के लिये।

श्री के शिवराम कारत पहले नाटककार थे जिन्होने सगीत-नाटक और नृत्य-नाटक लिखे। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि ऐसे अधिकाश नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत किये गये हैं।

नाट्य-विलासी मडलियो को जितने साधन प्राप्त हैं और जितना कौशल उनमें है, कन्नड नाटककार उसके देखे अब बहुत आगे निकल गये हैं। इसके फलस्वरूप अब नाटककारो को साँस लेने का समय मिल गया है। हमारे नाटककार अब केवल शिक्षित मध्यम-वर्ग के बारे में ही नही वरन् समग्र समाज के बारे मे सोचते हैं। उनकी अपनी कृतियो के सम्बन्ध में उनमें जो असन्तोष बद्धमूल है, उसकी झलक कभी-कभी रचनाओ में भी मिल जाती है। ऐतिहासिक नाटको के अभाव में भी यही असन्तोष-भावना परिलक्षित होती है।

लोर के स्व श्री टी० पी० कैलाशम् पहले लेखक थे जिन्होने ऐसे नाटक लिखे और ये नाटक ४० मिनट से लेकर २ घटे तक की अवधि में अभिनीत हो सकते थे। इन नाटको में गीतो और सगीत का नितात अभाव था। परन्तु कैलाशम् के अधिकाश नाटक इससे कम अवधि में खेले जा सकते थे—लगभग एक घटे से कम समय में। बीसवी शती के तीसरे दशक में सर्वश्री ए० एन० कृष्णराव (वगलोर) और के० एस० कारत नामक दो नाटककारो ने सामाजिक बुराइयो का निर्भीक उद्घाटन करते हुए बडे ज़ोरदार नाटक लिखे और नायक-नायिकाओ की प्रेम-क्रीडाओं के वोझ से दबे हुए नाटको को रगमच से वहिष्कृत कर दिया। ये सभी नाटक गद्य में लिखे गये थे और इनमें सगीत का अभाव था। इसी काल में स्व० श्री० वी० एम० श्रीकण्ठय्य, श्री गोविन्द पाई और श्री के० वी० पुटप्पा प्रभृति कवियो ने पद्य नाटको की रचना की। श्रीकण्ठय्य ने पद्य में 'अश्वत्थामा' शीर्षक एक वहुत सशक्त दु खान्त नाटक लिखा। इसके बाद पद्य-नाटको की सख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई है। इनमें से अधिकाश कृतियाँ विश्वविद्यालय के छात्रो की हैं।

इसके अनन्तर एक और मौलिक नाटककार ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया—उनका उपनाम है 'श्रीरग'। उन्होंने वडे नाटको में 'एक अक में एक दृश्य' की प्रणाली अपनायी और एकाकियो का सूत्रपात करने का मुख्य श्रेय भी इनको ही है—जो शीघ्र ही लोकप्रिय भी हो गये। दूसरे इसी नाटककार ने ऐसे नाटक-प्रणयन के भी प्रयोग किये जिनमें एक प्रकार का दोहरा रगमच प्रयुक्त किया जाता था—या तो दो कार्यो का एक साथ घटित होना दिखाने के लिए अथवा स्मृति-पटल पर आने वाले अतीत-दृश्यों को रगमच पर प्रस्तुत करने के लिये।

श्री के शिवराम कारत पहले नाटककार थे जिन्होने सगीत-नाटक और नृत्य-नाटक लिखे। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि ऐसे अधिकाश नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत किये गये हैं।

नाट्य-विलासी मडलियो को जितने साधन प्राप्त हैं और जितना कौशल उनमें है, कन्नड नाटककार उसके देखे अब वहुत आगे निकल गये हैं। इसके फलस्वरूप अब नाटककारो को साँस लेने का समय मिल गया है। हमारे नाटककार अब केवल शिक्षित मध्यम-वर्ग के बारे में ही नही वरन् समग्र समाज के बारे मे सोचते हैं। उनकी अपनी कृतियो के सम्बन्ध में उनमें जो असन्तोष बद्धमूल है, उसकी झलक कभी-कभी रचनाओ में भी मिल जाती है। ऐतिहासिक नाटको के अभाव में भी यही असन्तोष-भावना परिलक्षित होती है।

मलयालम नाटक

—डॉ० के० एम० जॉर्ज

केरल-देशवासियो की भाषा मलयालम कही जाती है । शब्द-शास्त्रियो के अनुसार यह शब्द (मलयालम) दो भागो 'मलय' अर्थात पर्वत एव 'आलम' अर्थात् समुद्र में विभक्त किया जाता है। वास्तव में मलय प्रदेश एक सकीर्ण भू भाग है जो पूर्व में विस्तीर्ण पर्वतमाला एव पश्चिम में समुद्र से घिरा हुआ है। अत यह प्रदेश एक प्रकार से शेष ससार से असलग्न रहा इसी कारण हम आज भी वहाँ अनेक प्राचीन परम्पराएँ, रीतियाँ, आचार-व्यवहार बिना अधिक मिश्रण के व्यवहृत होते देखते हैं। वास्तव मे जो नृवश-शास्त्र, भाषा-विज्ञान एव कला-रूपो के विषय में अनुसन्धान-कार्य करने के इच्छुक हैं उनके लिये यहाँ प्रचुर मात्रा में विविध सामग्री प्राप्य है। इसका अर्थ यह नही कि इस प्रदेश में उन्नति नही हुई। वास्तव में यहाँ पर साक्षरता का प्रतिशत अनुपात भारत में सब प्रदेशो से अधिक है। यहाँ साक्षरता का अनुपात कदाचित ५४ प्रतिशत है और पिछली शताब्दी में अद्भुत उन्नति हुई है। केरल में नाट्य की परम्पराओ का विवेचन करने के लिए हमें सर्वप्रथम मन्दिर एव वहाँ से प्रसारित कला रूपो का विचार करना होगा। 'कूत्तु' जो लोक में 'चक्कियार कूत्तु' के नाम से प्रसिद्ध हैं केरल की मन्दिर-कलाओ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'चक्कियार' नृत्य द्वारा पौराणिक कथाएँ व्यक्त की जाती हैं। जो मन्दिर इसी अभिप्राय से प्रतिष्ठापित किये जाते हैं उनके कक्ष में आज भी 'चक्कियार' अभिनीत होता है। ऐसे मन्दिर को 'कुत्तुम्बलम' कहते में। आज तक किसी ने भी मन्दिर के बाहर 'कूत्तु' का अभिनय करने का साहस नही किया है। यद्यपि अब इस नृत्य के सार्वजनिक प्रदर्शन का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि किसी को नाट्य-शास्त्र की अभिव्यञ्जना शुद्ध और सरल रूप में देखने की अभिलाषा हो तो उसे 'कूत्तु' देखना चाहिये। 'कूत्तु' से कला के अनेक रूपो का उद्भव हुआ है जिसके प्रसिद्धतम उदाहरण 'तुळ्ळल', 'पदक्कम', 'कुत्तीयाट्टम' हैं। 'कुत्तीयाट्टम' वास्तव में प्राचीन प्रकार का नाटक है। इसमें स्त्री एव पुरुष अभिनय करते हैं। कलाका यह रूप कई शताब्दियो पुराना है।

इसके पश्चात् लोक-नाट्य आते हैं जिनमें नियम एव प्रविधि बहुत कम है, अत इनमें लम्बे और कठिन अभ्यास की आवश्यकता नही है। इन लोक-नाट्यो के

मलयालम नाटक

—डॉ० के० एम० जॉर्ज

केरल-देशवासियो की भाषा मलयालम कही जाती है । शब्द-शास्त्रियो के अनुसार यह शब्द (मलयालम) दो भागो 'मलय' अर्थात पर्वत एव 'आलम' अर्थात् समुद्र में विभक्त किया जाता है । वास्तव में मलय प्रदेश एक सकीर्ण भू भाग है जो पूर्व में विस्तीर्ण पर्वतमाला एव पश्चिम में समुद्र से घिरा हुआ है । अत यह प्रदेश एक प्रकार से शेष ससार से असलग्न रहा इसी कारण हम आज भी वहाँ अनेक प्राचीन परम्पराएँ, रीतियाँ, आचार-व्यवहार बिना अधिक मिश्रण के व्यवहृत होते देखते हैं । वास्तव मे जो नृवश-शास्त्र, भाषा-विज्ञान एव कला-रूपो के विषय में अनुसन्धान-कार्य करने के इच्छुक हैं उनके लिये यहाँ प्रचुर मात्रा में विविध सामग्री प्राप्य है । इसका अर्थ यह नही कि इस प्रदेश में उन्नति नही हुई । वास्तव में यहाँ पर साक्षरता का प्रतिशत अनुपात भारत में सब प्रदेशो से अधिक है । यहाँ साक्षरता का अनुपात कदाचित ५४ प्रतिशत है और पिछली शताब्दी में अद्भुत उन्नति हुई है । केरल में नाट्य की परम्पराओ का विवेचन करने के लिए हमें सर्वप्रथम मन्दिर एव वहाँ से प्रसारित कला रूपो का विचार करना होगा । 'कूत्तु' जो लोक में 'चक्कियार कूत्तु' के नाम से प्रसिद्ध हैं केरल की मन्दिर-कलाओ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । 'चक्कियार' नृत्य द्वारा पौराणिक कथाएँ व्यक्त की जाती हैं । जो मन्दिर इसी अभिप्राय से प्रतिष्ठापित किये जाते हैं उनके कक्ष में आज भी 'चक्कियार' अभिनीत होता है । ऐसे मन्दिर को 'कुत्तुम्बलम' कहते में । आज तक किसी ने भी मन्दिर के बाहर 'कूत्तु' का अभिनय करने का साहस नही किया है । यद्यपि अब इस नृत्य के सार्वजनिक प्रदर्शन का प्रयत्न किया जा रहा है । यदि किसी को नाट्य-शास्त्र की अभिव्यञ्जना शुद्ध और सरल रूप में देखने की अभिलाषा हो तो उसे 'कूत्तु' देखना चाहिये । 'कूत्तु' से कला के अनेक रूपो का उद्भव हुआ है जिसके प्रसिद्धतम उदाहरण 'तुळ्ळल', 'पदक्कम', 'कुत्तीयाट्टम' हैं । 'कुत्तीयाट्टम' वास्तव में प्राचीन प्रकार का नाटक है । इसमें स्त्री एव पुरुष अभिनय करते हैं । कलाका यह रूप कई शताब्दियो पुराना है ।

इसके पश्चात् लोक-नाट्य आते हैं जिनमें नियम एव प्रविधि बहुत कम है, अत इनमें लम्बे और कठिन अभ्यास की आवश्यकता नही है । इन लोक-नाट्यो के

कि मै पहले कह चुका हूँ, इससे पूर्व ही केरल में विभिन्न प्रकार के नाटको का अभिनय होता था। दुर्भाग्यवश इन नाटको, विशेषतया लोक-नाटको के साहित्य की रक्षा उचित ढग से नही हुई और न ही यह नाटक उन दिनो विशेष जनप्रिय हुए। हाल ही में दो तीन विद्वानो ने साहित्य की इस शाखा में मूल्यवान अनुसन्धान किये हैं जिन से कई पाण्डुलिपियाँ प्रकाश में आई हैं। डाक्टर ऐस० के० नायर का कार्य इस विषय में विशेष उल्लेखनीय है। केरल-निवासी अभिनय-कला मे निष्णात थे जैसा कि 'सस्त्रकलि', 'कुत्तीयाट्टम', एव अर्वाचीन 'कथाकली' और 'तुळ्ळल' से प्रकट है।

सस्कृत-नाटको का भी अभिनय यत्र-तत्र किया गया। वास्तव में ए० आर० राजवर्मा ने सस्कृत के दो-तीन नाटको का अनुवाद मच पर अभिनय करने के विशेष उद्देश्य से किया। मावेल्लिकरा (तिरुवाकुर) में यह एक प्रकार का वार्षिकोत्सव था जब कि उनके विपश्चित कुटुम्बी नूतन नाटको के अभिनय के निमित्त एकत्रित होते थे। सस्कृत-नाटको के आदर्श पर कतिपय मौलिक नाटक भी मलयालम में लिखे गये किन्तु उनकी सख्या अधिक नही है। इन गद्य-पद्यमय नाटको का अभिनय कठिन होता है। एव इनमे अभिनय-कौशल-प्रदर्शन के लिये बहुत क्षेत्र नही होता इसलिये ये लोकप्रिय न हुए।

इसी समय केरल में तमिल-प्रदेश के सगीत-प्रधान नाटको का प्रादुर्भाव हुआ। इन नाटको में कर्नाटिक ढग के गायनो का बाहुल्य रहता था और जो लोग तमिल भाषा को न समझ पाते थे वे भी सगीत का आनन्द ले सकते थे। नायक और नायिका उच्च कोटि के गायक होते थे, कोई भी उनकी अभिनय-प्रतिभा और कथोपकथन पर ध्यान नहीं देता था, सुन्दर दृश्यो चित्र-विचित्र वेश-भूषा और प्रयत्न-साध्य गायनो की सहायता से तमिल व्यवसाइयो ने ऊँच,-नीच, सभी की रुचि को आकर्षित कर लिया, तत्पश्चात् मलयालम में इस रीति का उपयोग होने लगा जिसके फलस्वरूप इस भाषा में पर्याप्त सगीत प्रधान-नाटक लिखे गये। 'सादरम', 'अनारकली', और 'करुणा' इसके उदारहण हैं। परन्तु इस प्रकार के सगीत प्रधान नाटक अधिक समय तक लोकप्रिय न रह सके। जनसाधारण कालान्तर में, इन लम्बे-लम्बे गायनों से जो मौके-बेमौके गाये जाते थे, ऊब उठे। इस कृत्रिमता को अधिक समय तक जीवित नही रखा जा सका और शिक्षित लोगो ने अकल्पित-वृत्त नाटको का स्वागत सतोष के साथ किया।

इस प्रकार मलय नाटक के विकास का अगला और सबसे अधिक महत्वपूर्ण अवस्थान प्रारम्भ होता है और वह है अंग्रेजी नाटको का प्रभाव। इसका श्रीगणेश बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। वर्गीस मापिल्ले ने १८९३ में शेक्सपियर के

कि मैं पहले कह चुका हूँ, इससे पूर्व ही केरल में विभिन्न प्रकार के नाटको का अभिनय होता था। दुर्भाग्यवश इन नाटको, विशेषतया लोक-नाटको के साहित्य की रक्षा उचित ढग से नही हुई और न ही यह नाटक उन दिनो विशेष जनप्रिय हुए। हाल ही में दो तीन विद्वानो ने साहित्य की इस शाखा में मूल्यवान अनुसन्धान किये हैं जिन से कई पाण्डुलिपियाँ प्रकाश में आई हैं। डाक्टर ऐस० के० नायर का कार्य इस विषय में विशेष उल्लेखनीय है। केरल-निवासी अभिनय-कला मे निष्णात थे जैसा कि 'सस्त्रकलि', 'कुत्तीयाट्टम', एव अर्वाचीन 'कथाकली' और 'तुळ्ळल' से प्रकट है।

सस्कृत-नाटको का भी अभिनय यत्र-तत्र किया गया। वास्तव में ए० आर० राजवर्मा ने सस्कृत के दो-तीन नाटको का अनुवाद मच पर अभिनय करने के विशेष उद्देश्य से किया। मावेल्लिकरा (तिरुवाकुर) में यह एक प्रकार का वार्षिकोत्सव था जब कि उनके विपश्चित कुटुम्बी नूतन नाटको के अभिनय के निमित्त एकत्रित होते थे। सस्कृत-नाटको के आदर्श पर कतिपय मौलिक नाटक भी मलयालम में लिखे गये किन्तु उनकी सख्या अधिक नही है। इन गद्य-पद्यमय नाटको का अभिनय कठिन होता है। एव इनमे अभिनय-कौशल-प्रदर्शन के लिये वहुत क्षेत्र नही होता इसलिये ये लोकप्रिय न हुए।

इसी समय केरल में तमिल-प्रदेश के सगीत-प्रधान नाटको का प्रादुर्भाव हुआ। इन नाटको में कर्नाटिक ढग के गायनो का बाहुल्य रहता था और जो लोग तमिल भाषा को न समझ पाते थे वे भी सगीत का आनन्द ले सकते थे। नायक और नायिका उच्च कोटि के गायक होते थे, कोई भी उनकी अभिनय-प्रतिभा और कथोपकथन पर ध्यान नहीं देता था, सुन्दर दृश्यो चित्र-विचित्र वेश-भूषा और प्रयत्न-साध्य गायनो की सहायता से तमिल व्यवसाइयो ने ऊँच,-नीच, सभी की रुचि को आकर्षित कर लिया, तत्पश्चात् मलयालम में इस रीति का उपयोग होने लगा जिसके फलस्वरूप इस भाषा में पर्याप्त सगीत प्रधान-नाटक लिखे गये। 'सादरम', 'अनार-कली', और 'करुणा' इसके उदारहण हैं। परन्तु इस प्रकार के सगीत प्रधान नाटक अधिक समय तक लोकप्रिय न रह सके। जनसाधारण कालान्तर में, इन लम्बे-लम्बे गायनों से जो मौके-बेमौके गाये जाते थे, ऊब उठे। इस कृत्रिमता को अधिक समय तक जीवित नही रखा जा सका और शिक्षित लोगो ने अकल्पित-वृत्त नाटको का स्वागत सतोष के साथ किया।

इस प्रकार मलय नाटक के विकास का अगला और सबसे अधिक महत्वपूर्ण अवस्थान प्रारम्भ होता है और वह है अग्रेजी नाटको का प्रभाव। इसका श्रीगणेश बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। वर्गीस मापिल्ले ने १८९३ में शेक्सपियर के

प्रकट है। उनके प्रहसनो में 'कुरुपिल्ल कल्लरी' सर्वोत्तम है। उनके अधिकाश नाटक प्रथमत 'नैशनल क्लब ऑफ त्रिवेन्द्रम' द्वारा अभिनीत हुए।

तत्पश्चात् इस क्षेत्र में हास्य-व्यग्यकार ई० वी० कृष्णपिल्ले का नाम उल्लेखनीय है। कृष्णपिल्ले उपन्यास लिखने में रमनपिल्ले से प्रतिस्पर्धा न कर सके। तब वे गद्य-नाटक की ओर मुडे और इस क्षेत्र में उनको बहुत सफलता प्राप्त हुई। 'सीतालक्ष्मी', 'राजा केशवदासन' और 'इरानकुट्टिपिल्लै' उनके प्रारम्भिक प्रयास है। मनोवैज्ञानिक नाटको में कृष्णपिल्ले की अधिक अभिरुचि नही थी। उनके अधिकाश नाटक, विशेषतया हास्य-प्रधान, रगमच पर पूर्ण सफल रहे। उसकी लोक-प्रियता का अधिकाश श्रेय त्रिवेन्द्रम के अभिनेताओ को है। श्री सी० आई० परमेश्वरन् पिल्ले, एन० पी० चेलप्पन नायर और एम० पी० केशवपिल्ले के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। चेलप्पन नायर और केशवपिल्ले ने बाद में कृष्णपिल्ले का अनुकरण किया और कई नाटको की रचना की जिनमें सामाजिक परिस्थितियो का हास्यमय निरूपण किया गया है।

कईनिक्करा पद्मनाभ पिल्ले ने गम्भीर नाटक लिखे हैं। उनमे से एक 'वळु-तम्बि दालव' और दूसरा 'कल्वरिलेकल्पपादम्' जिसमें यीशु के जीवनवृत्त को नाटक रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनके भाई कुमार पिल्ले की ख्याति भी नाटककारो में कम नही। दोनो भाई उच्च कोटि के अभिनेता भी हैं।

अब हम वर्तमान नाटककारो के विवेचन पर आते हैं। केरल में अनेक नवयुवक नाटककार हैं। इनमें ए० के० रामकृष्ण पिल्ले का नाम विशेषत उल्लेखनीय है जिन्होने मलयालम में एकाकी नाटको का उन्नयन किया। टी० ऐन० गोपीनाथ ने कई नाटक लिखे हैं। उनके कथोपकथन सरल एव सजीव हैं। उनकी कृतियो में 'भग्नभवनम्', 'कन्यका' और 'अनुरजनम्' प्रसिद्ध हैं। वे इब्सन के अनुयायी हैं और उन्होंने उनके क्रिया-कल्प का सफल अनुकरण किया है उत्तर केरल में ईळमेरि गोविन्द नायर ने अपने नाटक 'कूत्तु कृषि' के कारण ख्याति पाई है।

यदि हम नाटक की तुलना मलयालम साहित्य के अन्य अङ्गो से कर तो यह अपेक्षाकृत असमृद्ध है। फिर भी पाँच सौ के लगभग पुस्तकें मुद्रित हो चुकी हैं जिनमें अधिकाश नवीन हैं। गत पाँच वर्षों में इस कला का पर्याप्त पुनरुत्थान हुआ है। देश मे सर्वत्र एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक सस्थाएँ एव क्लबें नाटको को रगमच पर प्रस्तुत करने के उद्देश्य से स्थापित हो गई हैं। राजनीतिक दलो ने अपने सिद्धान्तो का प्रचार जनता में करने के लिये नाटक को उत्कृष्ट माध्यम पाया है।

प्रकट है। उनके प्रहसनो में कुरुपिल्ल कल्नरी' सर्वोत्तम है । उनके अधिकाश नाटक प्रथमत 'नैशनल क्लब ऑफ त्रिवेन्द्रम' द्वारा अभिनीत हुए।

तत्पश्चात् इस क्षेत्र में हास्य-व्यग्यकार ई० वी० कृष्णपिल्ले का नाम उल्लेखनीय है। कृष्णपिल्ले उपन्यास लिखने में रमनपिल्ले से प्रतिस्पर्धा न कर सके । तब वे गद्य-नाटक की ओर मुडे और इस क्षेत्र मे उनको वहुत सफलता प्राप्त हुई । 'सीतालक्ष्मी', 'राजा केशवदासन' और 'इरानकुट्टिपिल्लै' उनके प्रारम्भिक प्रयास है। मनोवैज्ञानिक नाटको में कृष्णपिल्ले की अधिक अभिरुचि नही थी। उनके अधिकाश नाटक, विशेषतया हास्य-प्रधान, रगमच पर पूर्ण सफल रहे। उसकी लोकप्रियता का अधिकाश श्रेय त्रिवेन्द्रम के अभिनेताओ को है। श्री सी० आई० परमेश्वरन् पिल्ले, एन० पी० चेलप्पन नायर और एम० पी० केशवपिल्ले के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। चेलप्पन नायर और केशवपिल्ले ने वाद में कृष्णपिल्ले का अनुकरण किया और कइ नाटको की रचना की जिनमें सामाजिक परिस्थितियो का हास्यमय निरूपण किया गया है।

कईनिक्करा पद्मनाभ पिल्ले ने गम्भीर नाटक लिखे हैं। उनमे से एक 'वळुतम्बि दालव' और दूसरा 'कल्वरिलेकल्पपादम्' जिसमें यीशु के जीवनवृत्त को नाटक रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनके भाई कुमार पिल्ले की ख्याति भी नाटककारो में कम नही। दोनो भाई उच्च कोटि के अभिनेता भी हैं।

अब हम वर्तमान नाटककारो के विवेचन पर आते हैं । केरल में अनेक नवयुवक नाटककार हैं। इनमें ए० के० रामकृष्ण पिल्ले का नाम विशेषत उल्लेखनीय है जिन्होने मलयालम में एकाकी नाटको का उन्नयन किया। टी० ऐन० गोपीनाथ ने कई नाटक लिखे हैं। उनके कथोपकथन सरल एव सजीव हैं। उनकी कृतियो में 'भग्नभवनम्', 'कन्यका' और 'अनुरजनम्' प्रसिद्ध हैं । वे इब्सन के अनुयायी हैं और उन्होंने उनके क्रिया-कल्प का सफल अनुकरण किया है उत्तर केरल में ईळमेरि गाविन्द नायर ने अपने नाटक 'कूत्तु कृषि के कारण ख्याति पाई है।

यदि हम नाटक की तुलना मलयालम साहित्य के अन्य अङ्गो से कर तो यह अपेक्षाकृत असमृद्ध है। फिर भी पाँच सौ के लगभग पुस्तकें मुद्रित हो चुकी हैं जिनमें अधिकाश नवीन हैं। गत पाँच वर्षों में इस कला का पर्याप्त पुनरुत्थान हुआ है। देश मे सर्वत्र एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक सस्थाएँ एव क्लबें नाटको को रगमच पर प्रस्तुत करने के उद्देश्य से स्थापित हो गई हैं। राजनीतिक दलो ने अपने सिद्धान्तो का प्रचार जनता में करने के लिये नाटक को उत्कृष्ट माध्यम पाया है ।

विशिष्ट पदावली द्वारा ग्राम्य वातावरण उपस्थित करने में सिद्धहस्त हैं। केरल में इस प्रकार के सगीत लेखको में वे प्रायः सर्वोत्कृष्ट हैं। मलयालम फिल्म 'नीलक्कुयिल' की सफलता का मुख्य आधार वे गीत हैं जो लोक-सगीत की पद्धति पर रचे गये हैं। श्री पी० भास्करन जो निर्देशको में से एक हैं सगीतकार भी हैं। आज मलयालम में सगीत-नाटक भी लोकप्रिय हैं। श्री पलइ नारायण नायर ने कुछ ऑपेरा रचे हैं। नर्तक चन्द्रशेखरन् नायर ने ऑपेरा (सगीत-नाटको) के निर्देशन में ख्याति पाई है।

मलयालम नाटक की प्रगति में आकाशवाणी ने विशेष सहायता पहुँचाई है। यद्यपि उसकी प्रविधि भिन्न है फिर भी उसका साहित्य मूल्यवान है।

अन्तत' हम इस बात पर विचार करें कि केरल में रगशाला और रगमच की क्या स्थिति है ? क्या केरल में वास्तव में कोई रगशाला है ? एक प्रकार से कोई नही। केरल में कला का जन्म मन्दिर से हुआ है और वह अभी रगशाला तक नही पहुँच पाई। विद्यापीठ में उसका प्रवेश फिर भी हो गया है। मेरा तात्पर्य यह है कि हमारी रगशाला उपपन्न नही, जैसे-तैसे उससे काम चलाया जाता है। किसी विद्यापीठ में जाइये, साधारणतया वहाँ पर एक ओर एक-सी ऊँचाई वाले बैञ्चो का मञ्च बनाया होता है। यवनिका-पात की भी समुचित व्यवस्था नही, केरल में एक या दो रगशालाएँ हैं जो काफी बडी हैं जैसे त्रिवेन्द्रम का वी० जे० टाउनहाल। वहाँ पर मच भी है और सज्जा-कक्ष भी। इस टाउनहाल का उपयोग सार्वजनिक उत्सवो के लिये होता है। कम से कम महत्वपूर्ण नगरों में नाटक-अभिनय के लिये पक्की रगशालाएँ बनाई जानी चाहिए, और ग्रामो में खुली रगशालाएँ। ऐसी रगशाला में केवल रगमच और दोनों ओर सज्जा-कक्ष होना काफी है। यह कार्य अधिक व्यय-साध्य नही—विशेषतया केरल में जहाँ श्रम का अधिक मूल्य नही।

फिर भी शिक्षित निर्देशकों एवं अभिनेताओ का होना आवश्यक है। नाटक का उपस्थापन अत्यन्त कठिन कार्य है। किसी अन्य कला की भाँति इसके लिए भी प्रशिक्षण अपेक्षित है।

नाटक-प्रदर्शन में सामान्यत ये त्रुटियाँ पाई जाती हैं —(१) माइक्रोफोन का असयत उपयोग। इससे बचा रहना अच्छा है। तब वास्तव में दर्शको की सख्या अनुमानत पाँच सौ तक सीमित करनी होगी। (२) अभिनेताओ पर अत्यन्त प्रखर श्वेत प्रकाश डाला जाता है। यह अभिनेताओ और दर्शकों दोनों के ही लिये हानिप्रद है। श्वेत, नील और रक्तिम प्रकाश के समुचित अनुपात मे मिश्रण से प्राकृत-प्रकाश उपलब्ध हो सकता है। (३) नेपथ्य में दुर्व्यवस्था एक और सामान्य दोष है।

विशिष्ट पदावली द्वारा ग्राम्य वातावरण उपस्थित करने में सिद्धहस्त हैं। केरल में इस प्रकार के सगीत लेखको में वे प्रायः सर्वोत्कृष्ट हैं। मलयालम फिल्म 'नीलक्कुयिल' की सफलता का मुख्य आधार वे गीत हैं जो लोक-सगीत की पद्धति पर रचे गये हैं। श्री पी० भास्करन जो निर्देशको में से एक हैं सगीतकार भी हैं। आज मलयालम में सगीत-नाटक भी लोकप्रिय हैं। श्री पलइ नारायण नायर ने कुछ ऑपेरा रचे हैं। नर्तक चन्द्रशेखरन् नायर ने ऑपेरा (सगीत-नाटको) के निर्देशन में ख्याति पाई है।

मलयालम नाटक की प्रगति में आकाशवाणी ने विशेप सहायता पहुँचाई है। यद्यपि उसकी प्रविधि भिन्न है फिर भी उसका साहित्य मूल्यवान है।

अन्तत' हम इस बात पर विचार करें कि केरल में रगशाला और रगमच की क्या स्थिति है ? क्या केरल में वास्तव में कोई रगशाला है ? एक प्रकार से कोई नही। केरल में कला का जन्म मन्दिर से हुआ है और वह अभी रगशाला तक नही पहुँच पाई। विद्यापीठ में उसका प्रवेश फिर भी हो गया है। मेरा तात्पर्य यह है कि हमारी रगशाला उपपन्न नही, जैसे-तैसे उससे काम चलाया जाता है। किसी विद्यापीठ में जाइये, साधारणतया वहाँ पर एक ओर एक-सी ऊँचाई वाले बैञ्चो का मञ्च बनाया होता है। यवनिका-पात की भी समुचित व्यवस्था नही, केरल में एक या दो रगशालाएँ हैं जो काफी बडी हैं जैसे त्रिवेन्द्रम का वी० जे० टाउनहाल। वहाँ पर मच भी है और सज्जा-कक्ष भी। इस टाउनहाल का उपयोग सार्वजनिक उत्सवो के लिये होता है। कम से कम महत्वपूर्ण नगरों में नाटक-अभिनय के लिये पक्की रगशालाएँ बनाई जानी चाहिए, और ग्रामो में खुली रगशालाएँ। ऐसी रगशाला में केवल रगमच और दोनों ओर सज्जा-कक्ष होना काफी है। यह कार्य अधिक व्यय-साध्य नही—विशेषतया केरल में जहाँ श्रम का अधिक मूल्य नही।

फिर भी शिक्षित निर्देशकों एवं अभिनेताओ का होना आवश्यक है। नाटक का उपस्थापन अत्यन्त कठिन कार्य है। किसी अन्य कला की भाँति इसके लिए भी प्रशिक्षण अपेक्षित है।

नाटक-प्रदर्शन में सामान्यत ये त्रुटियाँ पाई जाती हैं —(१) माइक्रोफोन का असयत उपयोग। इससे बचा रहना अच्छा है। तब वास्तव में दर्शको की सख्या अनुमानत पाँच सौ तक सीमित करनी होगी। (२) अभिनेताओ पर अत्यन्त प्रखर श्वेत प्रकाश डाला जाता है। यह अभिनेताओ और दर्शकों दोनों के ही लिये हानिप्रद हैं। श्वेत, नील और रक्तिम प्रकाश के समुचित अनुपात मे मिश्रण से प्राकृत-प्रकाश उपलब्ध हो सकता है। (३) नेपथ्य में दुर्व्यवस्था एक और सामान्य दोष है।

बँगला नाटक

—डॉ० श्रीकुमार बैनर्जी

बँगला साहित्य में नाटक का उद्भव आधुनिक काल में हुआ है। संस्कृत नाटक के विषय में निस्सदेह यह कहा जा सकता है कि वह काफी प्राचीन काल से चला आ रहा है, परन्तु यद्यपि बँगला नाटक के निर्माणात्मक काल में उसका कुछ प्रभाव परिलक्षित हुआ, उसका अन्तिम रूप निश्चित करने में संस्कृत नाटक का योग नगण्य ही था। आधुनिक काल से पहले बँगला नाटक का उद्भव कब हुआ और किन टेढ़ी-सीधी गलियो से होकर वह गुजरा, इसका विस्तृत विवरण आवश्यक प्रतीत होता है। नाटकीय तत्त्व जीवन में ही सन्निहित होता है और वह पूर्ण रूप से नाटक बन कर सामने आए, इससे पहले ही उसके प्रति साहित्य के अध्येता की सहज रुचि जागृत रहती है। अत: साहित्य के उन रूपो मे भी, जो नाटकेतर हैं, नाटकीय तत्त्व पाये जाते हैं और साहित्य के प्रारम्भिक काल में तो असाहित्यिक ढग के सार्वजनिक और धार्मिक उत्सवो तक में इन तत्त्वो को देखा जा सकता है। लोकोत्सवो और धार्मिक समारोहादि सम्बन्धी गीतो और नाटको में अपने आरम्भिक, और कभी-कभी अदृश्य, रूप में नाटक सन्निविष्ट होता है। जहाँ कहीं भी सवाद हो वहाँ अन्तर्हित नाटकीयता का सकेत होता है। मत्रोच्चारण और श्लोक-पाठ, अति प्राचीन पद्धति की प्रकृति-पूजा और अदृश्य शक्तियो की पूजा, लोक-गीत और कथाएँ, आशु गीत और गीतात्मक कथाएँ जो सामूहिक रूप से या होड़ा-होडी के तौर पर गाई जायें,—इन सब में नाटकीयता की झलक होती है क्योकि सभी में दो या दो से अधिक व्यक्तियो के मध्य सवाद का समावेश रहता है। स्वगत कथन भी, जब वह सामान्य भाव-भूमि से ऊपर उठता है, नाटकीय रूप ग्रहण कर लेता है और आत्म-निष्ठ नाटकीयता का सकेत-वाहक होता है—ऐसी नाटकीयता, जो उपकथक के अभाव के कारण अर्ध-स्पष्ट भले ही हो, फिर भी कम यथार्थ नही होती।

लेकिन हमें उस सोपान से विचार आरम्भ करना चाहिए जहाँ नाटक साहित्य का स्पर्श करता है। जिन भूगर्भस्थ धारा-उपधाराओ में वह असजग रूप में स्थित है उसकी खोजबीन अनावश्यक ही है। यद्यपि मध्ययुगीन बँगला साहित्य मुख्यत

बँगला नाटक

—डॉ० श्रीकुमार बैनर्जी

बँगला साहित्य में नाटक का उद्भव आधुनिक काल में हुआ है। सस्कृत नाटक के विषय में निस्सदेह यह कहा जा सकता है कि वह काफी प्राचीन काल से चला आ रहा है, परन्तु यद्यपि बँगला नाटक के निर्माणात्मक काल में उसका कुछ प्रभाव परिलक्षित हुआ, उसका अन्तिम रूप निश्चित करने में सस्कृत नाटक का योग नगण्य ही था। आधुनिक काल से पहले बँगला नाटक का उद्भव कब हुआ और किन टेढ़ी-सीधी गलियो से होकर वह गुजरा, इसका विस्तृत विवरण आवश्यक प्रतीत होता है। नाटकीय तत्त्व जीवन में ही सन्निहित होता है और वह पूर्ण रूप से नाटक बन कर सामने आए, इससे पहले ही उसके प्रति साहित्य के अध्येता की सहज रुचि जागृत रहती है। अत' साहित्य के उन रूपो मे भी, जो नाटकेतर हैं, नाटकीय तत्त्व पाये जाते हैं और साहित्य के प्रारम्भिक काल में तो असाहित्यिक ढग के सार्वजनिक और धार्मिक उत्सवो तक में इन तत्त्वो को देखा जा सकता है। लोकोत्सवो और धार्मिक समारोहादि मम्बन्धी गीतो और नाटको में अपने आरम्भिक, और कभी-कभी अदृश्य, रूप में नाटक सन्निविष्ट होता है। जहाँ कहीं भी सवाद हो वहाँ अन्तर्हित नाटकीयता का सकेत होता है। मत्रोच्चारण और श्लोक-पाठ, अति प्राचीन पद्धति की प्रकृति-पूजा और अदृश्य शक्तियो की पूजा, लोक-गीत और कथाएँ, आशु गीत और गीतात्मक कथाएँ जो सामूहिक रूप से या होडा-होडी के तौर पर गाई जायें,—इन सब में नाटकीयता की झलक होती है क्योकि सभी में दो या दो से अधिक व्यक्तियो के मध्य सवाद का समावेश रहता है। स्वगत कथन भी, जब वह सामान्य भाव-भूमि से ऊपर उठता है, नाटकीय रूप ग्रहण कर लेता है और आत्म-निष्ठ नाटकीयता का सकेत-वाहक होता है—ऐसी नाटकीयता, जो उपकथक के अभाव के कारण अर्ध-स्पष्ट भले ही हो, फिर भी कम यथार्थ नही होती।

लेकिन हमें उस सोपान से विचार आरम्भ करना चाहिए जहाँ नाटक साहित्य का स्पर्श करता है। जिन भूगर्भस्थ धारा-उपधाराओ में वह असजग रूप में स्थित है उसकी खोजबीन अनावश्यक ही है। यद्यपि मध्ययुगीन बँगला साहित्य मुख्यत

हनुमान द्वारा मन्दोदरी के पास से घातक अस्त्र की चोरी, महाभारत में विभिन्न घटना-क्रमो के मध्य प्रत्येक सकट का सामना करने में कृष्ण का प्रत्युत्पन्न-मतित्व; कृष्ण की बाल्य और युवावस्था की घटनाएँ और अपनी दोनों पत्नियो—रुक्मिणी और सत्यभामा—के बीच राग-द्वेषजन्य झगडो का निबटारा करने में कृष्ण की वाक्-पटुता—ये सभी ऐसे प्रसग हैं जो बताते हैं कि भक्तिपरक वर्णनो में खोई हुई कवि की दृष्टि नाटकीय प्रसगो को छोडती हुई आगे नही बढ गई थी। समस्त मध्य-युग में यद्यपि साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति गीतो और वर्णनात्मक और सिद्धान्त-निरूपक काव्य की थी, तथापि नाटक रचनाकारो की दृष्टि से ओझल नही था और प्रतीक्षा-रत था कि कब वह अकुरित हो और कब वह स्वतन्त्ररूपेण पनपे।

नाटक के विकास का अगला सोपान तब आया जब श्री चैतन्य का आविर्भाव हुआ और वैष्णव-भक्ति-गीतो से बगाल की धरती मुखरित हो उठी। श्री चैतन्य के अतस्तल में दिव्य प्रेमानुभूति की भावना इतनी तीव्र थी और इतनी एक-निष्ठ कि विशुद्ध रहस्य-चिंतन की क्रिया ने उन्हें अनिवार्य रूप से नाटकीय अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख किया। उनकी जीवन-कथा से हमें मालूम हुआ है कि उन्होने अपने अन्य अनुयायी भक्तो के साथ श्रीकृष्ण के जीवन के नौका विहार प्रसग का अभिनय किया था। यही एक प्रकार से 'यात्रा' का, जो नाटक का एक देशज रूप है, आरम्भ-विन्दु माना जा सकता है। 'यात्रा' के अतर्गत गीतो और भक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले लम्बे अभिभाषणो, पापात्माओ को भक्ति-मार्ग पर उन्मुख करने वाले सैद्धांतिक वाद-विवादो, और भक्तो को उद्धार का आश्वासन दिलाने वाले सवादो का समावेश होता है। श्री चैतन्य का सम्पूर्ण जीवन ही एक ऐसे लगातार चलने वाले नाटक के समान था जो भक्तजनो को आह्लादित करने के लिए खेला जा रहा हो, एक ऐसा जीवन जो आवेशो और दिव्य दर्शनो से युक्त था, जिसमें वे अपने भौतिक अस्तित्व को भूल कर अपने आपको राधा या कृष्ण से एकीकृत अनुभव करने लगते थे और तदनुरूप उनके उद्‌गार भी हो जाते थे। इस प्रकार उनके निकटस्थ अनुयायी और उनके समकालीन भक्तजन, जो उनके ऐन्द्रजालिक प्रभाव से खिंचकर उनके दिव्य भावावेशो का दर्शन करते थे, नाटक को सजीव रूप में देखने में समर्थ हुए, साहित्य में तो वह बाद को आया। यह ऐसा सजीव नाटक था जिसमें अभिनेता जिस चरित्र को व्यक्त करता था उसी के सर्वथा अनुरूप हो जाता था यह ऐसी अनुरूपता थी जो किसी भी रगमचीय या भावनात्मक अनुकरण द्वारा प्राप्त नही की जा सकती थी।

श्री चैतन्य ने न केवल अपनी आह्लादमयी आध्यात्मिक विह्वलता द्वारा अपितु अपने आकर्षक एव प्रिय व्यक्तित्व के प्रभाव द्वारा भी नाटक के विकास को बडा

हनुमान द्वारा मन्दोदरी के पास से घातक अस्त्र की चोरी, महाभारत में विभिन्न घटना-क्रमो के मध्य प्रत्येक सकट का सामना करने में कृष्ण का प्रत्युत्पन्न-मतित्व; कृष्ण की बाल्य और युवावस्था की घटनाएँ और अपनी दोनों पत्नियो—रुक्मिणी और सत्यभामा—के बीच राग-द्वेषजन्य झगडो का निवटारा करने में कृष्ण की वाक्-पटुता—ये सभी ऐसे प्रसग हैं जो वताते हैं कि भक्तिपरक वर्णनो में खोई हुई कवि की दृष्टि नाटकीय प्रसगो को छोडती हुई आगे नही वढ गई थी। समस्त मध्य-युग में यद्यपि साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति गीतो और वर्णनात्मक और सिद्धान्त-निरूपक काव्य की थी, तथापि नाटक रचनाकारो की दृष्टि से ओझल नही था और प्रतीक्षा-रत था कि कब वह अकुरित हो और कब वह स्वतत्ररूपेण पनपे।

नाटक के विकास का अगला सोपान तव आया जब श्री चैतन्य का आविर्भाव हुआ और वैष्णव-भक्ति-गीतो से वगाल की धरती मुखरित हो उठी। श्री चैतन्य के अतस्तल में दिव्य प्रेमानुभूति की भावना इतनी तीव्र थी और इतनी एक-निष्ठ कि विशुद्ध रहस्य-चितन की क्रिया ने उन्हें अनिवार्य रूप से नाटकीय अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख किया। उनकी जीवन-कथा से हमें मालूम हुआ है कि उन्होने अपने अन्य अनुयायी भक्तो के साथ श्रीकृष्ण के जीवन के नौका विहार प्रसग का अभिनय किया था। यही एक प्रकार से 'यात्रा' का, जो नाटक का एक देशज रूप है, आरम्भ-विन्दु माना जा सकता है। 'यात्रा' के अतर्गत गीतो और भक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले लम्बे अभिभाषणो, पापात्माओ को भक्ति-मार्ग पर उन्मुख करने वाले सैद्धा-तिक वाद-विवादो, और भक्तो को उद्धार का आश्वासन दिलाने वाले सवादो का समावेश होता है। श्री चैतन्य का सम्पूर्ण जीवन ही एक ऐसे लगातार चलने वाले नाटक के समान था जो भक्तजनो को आह्लादित करने के लिए खेला जा रहा हो, एक ऐसा जीवन जो आवेशो और दिव्य दर्शनो से युक्त था, जिसमें वे अपने भौतिक अस्तित्व को भूल कर अपने आपको राधा या कृष्ण से एकीकृत अनुभव करने लगते थे और तदनुरूप उनके उद्गार भी हो जाते थे। इस प्रकार उनके निकटस्थ अनुयायी और उनके समकालीन भक्तजन, जो उनके ऐन्द्रजालिक प्रभाव से खिचकर उनके दिव्य भावावेशो का दर्शन करते थे, नाटक को सजीव रूप में देखने में समर्थ हुए, साहित्य में तो वह बाद को आया। यह ऐसा सजीव नाटक था जिसमें अभिनेता जिस चरित्र को व्यक्त करता था उसी के सर्वथा अनुरूप हो जाता था यह ऐसी अनु-रूपता थी जो किसी भी रगमचीय या भावनात्मक अनुकरण द्वारा प्राप्त नही की जा सकती थी।

श्री चैतन्य ने न केवल अपनी आह्लादमयी आध्यात्मिक विह्वलता द्वारा अपितु अपने आकर्षक एव प्रिय व्यक्तित्व के प्रभाव द्वारा भी नाटक के विकास को वडा

यद्यपि कुछ अनिश्चित डगो के साथ हुआ। नाटक के क्षेत्र में प्रवर्त्तन-कार्य का श्रेय एक रूसी, हिरेशिम लेबेडाफ, को है जिसने अपने बगाली शिक्षक गोलोकनाथ दास से दो अग्रेजी प्रहसनो 'छद्म वेष' (डिसगाइज) और "प्रेम ही सर्वोत्तम चिकित्सक है" ('लव इज़ द बेस्ट डाक्टर') का अनुवाद करवाया और उन्हें २७ नवम्बर १७९५ ई० को नव-निर्मित रगमच पर प्रस्तुत किया। इसके बाद एक लम्बे समय तक इस दिशा में कुछ भी काम न हो सका यद्यपि प्रयोग और तैयारियाँ जार-शोर से होती रही। बँगला में नाटक के कारण रगमच की माँग उत्पन्न नही हुईबल्कि रगमच की ओर लोगो की रुचि और उत्साह पहले हुआ और रगमचो की आवश्यकता-पूर्ति के रूप में नाटक लिखे गये। रगमच की भव्य और सजधज-पूर्ण अपील ही बँगला के आरम्भिक नाटको की प्रेरणा-शक्ति थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बँगला नाटक का जन्म समय से पहले ही एक कृत्रिम माँग की पूर्ति के लिए हुआ। यह एक ऐसी माँग थी जो विदेशी नमूनो के अनुकरण पर निर्भर थी। सामाजिक आवश्यकताओ और रचनात्मक प्रेरणा के अनिवार्य विकास ने इसको जन्म नही दिया था।

१८३५ के बाद कई प्रेक्षागृहो का आरम्भ हुआ। इन को आरम्भ करने वाले कलकत्ता के कुछ आत्मन्चेता रईस थे। जिनमें नवीनचन्द्र वसु और कालीप्रसन्न सिन्हा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बेलगछिया स्थित पैकपाडा राज्य-परिवार के लोगो ने भी इस दिशा में कार्य किया। आरम्भिक नाटक मूल सस्कृत या अग्रेजी नाटको के अनुवाद या रूपान्तर थे। १८५२ में पहले-पहल मूल बँगला नाटक लिखे गये। ये थे योगेन्द्रचन्द्र गुप्त लिखित 'कीर्ति विलास' और ताराचरण सिकदर लिखित 'भद्रार्जुन' नाटक। इन दोनो ही नाटको में सस्कृत नाटको की परि-पाटी का साहस-पूर्वक परित्याग कर दिया गया और अग्रेजी की नाट्य-रचना-पद्धति को अपनाया गया। इसके अतिरिक्त इनमें से प्रथम नाटक दुखान्त है जिसमें सस्कृत नाट्य-शास्त्र मे निर्धारित नियमो का खुले तौर पर उल्लघन है। मौलिकता के इस सकेत के अतिरिक्त इन नाटको में और कोई उल्लेखनीय विशेषताएँ नही हैं। जहाँ तक नाटकीय रूप, चरित्र-चित्रण और उपयुक्त शैली का प्रश्न है, बहुत साधारण नाटक हैं। शैली या तो सस्कृत गद्य की कर्ण-कटु और क्लिष्ट शैली है जो कभी सामान्य जन के मुख से नही सुनी जाती या 'पयार' ढग की तुकान्त छन्दात्मक शैली है जो ईश्वरगुप्त का अनुकरण है। नाटकों की दृष्टि से दोनो ही शैलियाँ अनुपयुक्त हैं। वस्तुत ठीक-ठीक नाटकीय भाषा का निर्माण, जिसमें सवादात्मक प्रवाह के साथ-साथ भावावेग का समावेश हो, बगाली नाटक के सामने एक अन्तिम समस्या थी जिसे पूर्णता तक पहुँचने की लम्बी और कष्टप्रद यात्रा के बीच उसे हल करना था।

यद्यपि कुछ अनिश्चित डगो के साथ हुआ। नाटक के क्षेत्र में प्रवर्त्तन-कार्य का श्रेय एक रूसी, हिरेशिम लेबेडाफ, को है जिसने अपने वगाली शिक्षक गोलोकनाथ दास से दो अग्रेजी प्रहसनो 'छद्म वेष' (डिसगाइज़) और "प्रेम ही सर्वोत्तम चिकित्सक है" ('लव इज़ द बेस्ट डाक्टर') का अनुवाद करवाया और उन्हें २७ नवम्बर १७९५ ई० को नव-निर्मित रगमच पर प्रस्तुत किया। इसके वाद एक लम्वे समय तक इस दिशा में कुछ भी काम न हो सका यद्यपि प्रयोग और तैयारियाँ जार-शोर से होती रही। वँगला में नाटक के कारण रगमच की माँग उत्पन्न नही हुईवल्कि रगमच की ओर लोगो की रुचि और उत्साह पहले हुआ और रगमचो की आवश्यकता-पूर्ति के रूप में नाटक लिखे गये। रगमच की भव्य और सजधज-पूर्ण अपील ही वँगला के आरम्भिक नाटको की प्रेरणा-शक्ति थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वँगला नाटक का जन्म समय से पहले ही एक कृत्रिम माँग की पूर्ति के लिए हुआ। यह एक ऐसी माँग थी जो विदेशी नमूनो के अनुकरण पर निर्भर थी। सामाजिक आवश्यकताओ और रचनात्मक प्रेरणा के अनिवार्य विकास ने इसको जन्म नही दिया था।

१८३५ के वाद कई प्रेक्षागृहो का आरम्भ हुआ। इन को आरम्भ करने वाले कलकत्ता के कुछ आत्म-चेता रईस थे। जिनमें नवीनचन्द्र वसु और कालीप्रसन्न सिन्हा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वेलगछिया स्थित पैकपाडा राज्य-परिवार के लोगो ने भी इस दिशा में कार्य किया। आरम्भिक नाटक मूल सस्कृत या अग्रेजी नाटको के अनुवाद या रूपान्तर थे। १८५२ में पहले-पहल मूल वँगला नाटक लिखे गये। ये थे योगेन्द्रचन्द्र गुप्त लिखित 'कीर्ति विलास' और ताराचरण सिकदर लिखित 'भद्रार्जुन' नाटक। इन दोनो ही नाटको में सस्कृत नाटको की परिपाटी का साहस-पूर्वक परित्याग कर दिया गया और अग्रेजी की नाट्य-रचना-पद्धति को अपनाया गया। इसके अतिरिक्त इनमें से प्रथम नाटक दुखान्त है जिसमें सस्कृत नाट्य-शास्त्र मे निर्धारित नियमो का खुले तौर पर उल्लघन है। मौलिकता के इस सकेत के अतिरिक्त इन नाटको में और कोई उल्लेखनीय विशेषताएँ नही हैं। जहाँ तक नाटकीय रूप, चरित्र-चित्रण और उपयुक्त शैली का प्रश्न है, वहुत साधारण नाटक हैं। शैली या तो सस्कृत गद्य की कर्ण-कटु और क्लिष्ट शैली है जो कभी सामान्य जन के मुख से नही सुनी जाती या 'पयार' ढग की तुकान्त छन्दात्मक शैली है जो ईश्वरगुप्त का अनुकरण है। नाटकों की दृष्टि से दोनो ही शैलियाँ अनुपयुक्त हैं। वस्तुत ठीक-ठीक नाटकीय भाषा का निर्माण, जिसमें सवादात्मक प्रवाह के साथ-साथ भावावेग का समावेश हो, वगाली नाटक के सामने एक अन्तिम समस्या थी जिसे पूर्णता तक पहुँचने की लम्बी और कष्टप्रद यात्रा के वीच उसे हल करना था।

का रूप भी ऐसा था जिसने ऐसे नाटको की रचना को प्रेरित किया । इस ढग का पहला नाटक 'कुलीन-कुल सर्वस्व' (१८५४) था । इसके रचयिता थे रामनारायण तर्करत्न, जो पुराने ढग के एक पण्डित थे पर इतनी सामाजिक चेतना उनमें थी कि उन्होंने कुलीनो के अनमेल और वहुविवाह की बुराइयो को दर्शाया । यह नाटक एक व्यगात्मक सुखान्त रचना है जो अशतः प्रतीकात्मक है और अशत यथार्थवादी । यद्यपि शैली की दृष्टि से यह अपरिपक्व है और नाटकीय संकलनो का इसमें अभाव है, फिर भी, शुभ सामाजिक उद्देश्यो के कारण इसका प्रचलन अव तक है । इसके बाद 'नील दर्पण' (१८६०) लिखा गया । इसके लेखक थे दीनवन्धु मित्र। यह अव भी बँगला रगमंच का एक सवसे प्रसिद्ध नाटक है जिसमें वगाल के किसानो पर निलहे गोरो के अत्याचार की कथा प्रभावशाली व्यग्य और करुणा के साथ प्रस्तुत की गई है । इस नाटक का प्रभाव कुछ इतना अधिक पडा कि वगाल के ग्राम-जीवन से धीरे-धीरे उक्त विपत्ति का अन्त हो गया । यह एक विशुद्ध दुखान्त नाटक है जिसमें एक ऐसे परिवार का सम्पूर्ण विनाश दिखाया गया है जिसने नील की खेती की प्रथा के विरुद्ध अपना सर उठाया था । इसमे व्यक्त करुणा अतिशयोक्तिपूर्ण है और अति-नाटकीय भी, लेकिन दूसरी ओर इसकी एक वडी विशेषता भी यह है कि इसमें एक मध्यवित्त वर्ग के परिवार का यथार्थ चित्रण है उसी वर्ग की प्रवाहपूर्ण और जानदार शैली में, उन्हीं के व्यग्य विनोद हैं, जीवन के प्रति उन्ही के आह्लाद हैं जिन्हे किसी भी प्रकार का कोई अत्याचार कभी मिटा नही सकता। अव तक किसी भी अन्य नाटक की अपील इतनी गहरी या सार्वभौम न हुई थी । इसने समस्त जनो के अन्दर विदेशी शासन के प्रति तीव्र और अविस्मरणीय घृणा भर दी और यह व्रिटिश साम्राज्यवाद के ध्वस का अग्रदूत सिद्ध हुआ । 'सधवार एकादशी' (१८६६) में दीनबन्धु ने और भी ऊँची उडान भरी। इस नाटक में उन्होंने अपनी सफल लेखनी द्वारा अग्रेजियत के असर से दवे हुए तरुण वगाल—उसकी शराब-खोरी, वदमाशी, महत्त्वाकाक्षाएँ, शान-शौकत आदि का चित्रण किया । इस नाटक की सवसे प्रमुख सिद्धि नीमचन्द का चरित्र है। वह पश्चिम से प्रभावित एक ऐसा वगाली तरुण है जो भग्न-पंख देवदूत है, जो असाधारण मेधावी भी है और नैतिक दृष्टि से दिवालिया भी, जिसमें भव्य तरुणाई भी है और निदारुण, परोपजीवी अस्तित्त्व की घुटन भी, जिसने मद्यपान की लत डाल ली है जिससे उसकी इच्छा-शक्ति और उसके महान गुणो का सतत ह्रास होता जा रहा है । इस पतनोन्मुख जीवन को देखकर करुणा का सहज उद्रेक होता है। तब वह आत्मालोचन करता है, तो सामान्यत विलास और पतन के बीच वीते जीवन के प्रति हमारा मन एक आर्द्रता से भर जाता है। अंग्रेजी साहित्य से उद्धरण देने की तत्परता, हाज़िर-जवावी, वाद-विवाद में विरोधी को आसानी से परास्त कर देना, अग्रेज़ी ही में न

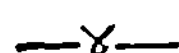
का रूप भी ऐसा था जिसने ऐसे नाटको की रचना को प्रेरित किया । इस ढग का पहला नाटक 'कुलीन-कुल सर्वस्व' (१८५४) था । इसके रचयिता थे रामनारायण तर्करत्न, जो पुराने ढग के एक पण्डित थे पर इतनी सामाजिक चेतना उनमें थी कि उन्होंने कुलीनो के अनमेल और वहुविवाह की बुराइयो को दर्शाया । यह नाटक एक व्यगात्मक सुखान्त रचना है जो अशतः प्रतीकात्मक है और अशत यथार्थवादी । यद्यपि शैली की दृष्टि से यह अपरिपक्व है और नाटकीय संकलनो का इसमें अभाव है, फिर भी, शुभ सामाजिक उद्देश्यो के कारण इसका प्रचलन अव तक है । इसके बाद 'नील दर्पण' (१८६०) लिखा गया। इसके लेखक थे दीनवन्धु मित्र। यह अव भी वँगला रगमंच का एक सवसे प्रसिद्ध नाटक है जिसमें वगाल के किसानो पर निलहे गोरो के अत्याचार की कथा प्रभावशाली व्यग्य और करुणा के साथ प्रस्तुत की गई है। इस नाटक का प्रभाव कुछ इतना अधिक पडा कि वगाल के ग्राम-जीवन से धीरे-धीरे उक्त विपत्ति का अन्त हो गया। यह एक विशुद्ध दुखान्त नाटक है जिसमें एक ऐसे परिवार का सम्पूर्ण विनाश दिखाया गया है जिसने नील की खेती की प्रथा के विरुद्ध अपना सर उठाया था। इसमे व्यक्त करुणा अतिशयोक्तिपूर्ण है और अति-नाटकीय भी, लेकिन दूसरी ओर इसकी एक वडी विशेपता भी यह है कि इसमें एक मध्यवित्त वर्ग के परिवार का यथार्थ चित्रण है उसी वर्ग की प्रवाहपूर्ण और जानदार शैली में, उन्हीं के व्यग्य विनोद हैं, जीवन के प्रति उन्ही के आह्लाद हैं जिन्हे किसी भी प्रकार का कोई अत्याचार कभी मिटा नही सकता। अव तक किसी भी अन्य नाटक की अपील इतनी गहरी या सार्वभौम न हुई थी। इसने समस्त जनो के अन्दर विदेशी शासन के प्रति तीव्र और अविस्मरणीय घृणा भर दी और यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ध्वस का अग्रदूत सिद्ध हुआ । 'सधवार एकादशी' (१८६६) में दीनबन्धु ने और भी ऊँची उडान भरी। इस नाटक में उन्होंने अपनी सफल लेखनी द्वारा अग्रेजियत के असर से दवे हुए तरुण वगाल—उसकी शराब-खोरी, वदमाशी, महत्त्वाकाक्षाएँ, शान-शौकत आदि का चित्रण किया । इस नाटक की सवसे प्रमुख सिद्धि नीमचन्द का चरित्र है। वह पश्चिम से प्रभावित एक ऐसा वगाली तरुण है जो भग्न-पंख देवदूत है, जो असाधारण मेधावी भी है और नैतिक दृष्टि से दिवालिया भी, जिसमें भव्य तरुणाई भी है और निदारुण, परोपजीवी अस्तित्व की घुटन भी, जिसने मद्यपान की लत डाल ली है जिससे उसकी इच्छा-शक्ति और उसके महान गुणो का सतत ह्रास होता जा रहा है । इस पतनोन्मुख जीवन को देखकर करुणा का सहज उद्रेक होता है। तव वह आत्मालोचन करता है, तो सामान्यत विलास और पतन के बीच वीते जीवन के प्रति हमारा मन एक आर्द्रता से भर जाता है। अंग्रेजी साहित्य से उद्धरण देने की तत्परता, हाजिर-जवावी, वाद-विवाद में विरोधी को आसानी से परास्त कर देना, अग्रेज़ी ही में न

के सामाजिक नाटक दीनवन्धु की शैली से कई पग आगे वढे हुए हैं, और उनकी लेखन-पद्धति आधुनिक है तथा उनके अन्तर्गत एक नये युग की सामाजिक समस्याओ को उठाया गया है, तथापि एक आदर्श दु खान्त नाटक के धरातल तक वे नही पहुँच पाए हैं। गिरीशचन्द्र की नाट्य-रचना शैली के अतर्गत अतुकान्त छद का प्रयोग हुआ है जिसमें सवादात्मक लय और भावावेग का समन्वय है और जो उम क्लिष्टता तथा सजावट से मुक्त है जिसे सस्कृत के प्रभाव में आकर परवर्ती नाटककारो ने अपनाया था।

अमृतलाल वसु भी, गिरीशचन्द्र की भाँति, नाटककार भी थे और अभिनेता भी यद्यपि वे अभिनेता अधिक थे और नाटककार कम। उन्होंने कोई गम्भीर नाटक नही लिखा। उन्होंने कुछ हास्यात्मक स्केच अवश्य लिखे जिनमें अँग्रेज़ीदाँ समाज के नये रग-ढग की आलोचना थी और प्राचीन, परम्परागत आदर्शों की परिपुष्टि। इन स्केचो में वाक्पटुता और व्यग्य-विनोद का अच्छा समावेश है और इसमें सवमे महत्त्वपूर्ण 'खास दखल' (१९१२) है।

इसके बाद के महान् नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय हैं जिनकी प्रमुख सफलताएँ ऐतिहासिक नाटक के क्षेत्र में हैं लेकिन उन्होंने दो सामाजिक नाटक भी लिखे जिनमें उन्होंने गिरीशचन्द्र की परम्परा का ही अनुसरण किया और कोई मौलिक वात नही दी। ये नाटक हैं 'पारा पारे' (१९१२) और 'वग-नारी' (१९१६) और इनमें व्यक्त सामाजिक समस्याएँ वे ही हैं जिनका परिचय हमें गिरीशचन्द्र दे चुके थे। इनमें भी लगातार और अतिशयोक्तिपूर्ण कारुणिकता का वैसा ही चित्रण है जैसा गिरीशचन्द्र में था।

क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद इस काल के एक अन्य प्रमुख नाटककार थे पर सामाजिक नाटक के क्षेत्र में उनका योगदान नगण्य है।



रवीन्द्रनाथ के आगमन के साथ हम नाटक के एक नये ही रूप को सँवरते हुए पाते हैं। यह ऐसा रूप है जो सामान्यत स्वीकृत वर्गीकरण से अलग है। रवीन्द्रनाथ एक महान गीतकार हैं जिन्होंने अपनी महान प्रगीतात्मक और काव्यात्मक सवेदना और सामान्य सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत सामान्य मानव-जीवन के प्रति निस्सगता को अपने नाटको में समाविष्ट किया। वे बाह्य घटनाओ की बजाय आत्मानुभूति की अधिक परवाह करते हैं और जब उन्होने कोई ऐतिहासिक प्रसग भी चुना है तव भी इतिहास का रगीन, तीव्र प्रवाह और उसकी बाह्य उत्तेजना या सघर्ष उन्हे आकर्षित

के सामाजिक नाटक दीनवन्धु की शैली से कई पग आगे वढे हुए हैं, और उनकी लेखन-पद्धति आधुनिक है तथा उनके अन्तर्गत एक नये युग की सामाजिक समस्याओ को उठाया गया है, तथापि एक आदर्श दु खान्त नाटक के धरातल तक वे नही पहुँच पाए हैं। गिरीशचन्द्र की नाट्य-रचना शैली के अतर्गत अतुकान्त छद का प्रयोग हुआ है जिसमें सवादात्मक लय और भावावेग का समन्वय है और जो उस क्लिष्टता तथा सजावट से मुक्त है जिसे सस्कृत के प्रभाव में आकर परवर्ती नाटककारो ने अपनाया था।

अमृतलाल वसु भी, गिरीशचन्द्र की भाँति, नाटककार भी थे और अभिनेता भी यद्यपि वे अभिनेता अधिक थे और नाटककार कम। उन्होंने कोई गम्भीर नाटक नही लिखा। उन्होंने कुछ हास्यात्मक स्केच अवश्य लिखे जिनमें अँग्रेज़ीदाँ समाज के नये रग-ढग की आलोचना थी और प्राचीन, परम्परागत आदर्शों की परिपुष्टि। इन स्केचो में वाक्पटुता और व्यग्य-विनोद का अच्छा समावेश है और इसमें सबमे महत्त्वपूर्ण 'खास दखल' (१९१२) है।

इसके बाद के महान् नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय हैं जिनकी प्रमुख सफलताएँ ऐतिहासिक नाटक के क्षेत्र में हैं लेकिन उन्होंने दो सामाजिक नाटक भी लिखे जिनमें उन्होंने गिरीशचन्द्र की परम्परा का ही अनुसरण किया और कोई मौलिक वात नही दी। ये नाटक हैं 'पारा पारे' (१९१२) और 'वग-नारी' (१९१६) और इनमें व्यक्त सामाजिक समस्याएँ वे ही हैं जिनका परिचय हमें गिरीशचन्द्र दे चुके थे। इनमें भी लगातार और अतिशयोक्तिपूर्ण कारुणिकता का वैसा ही चित्रण है जैसा गिरीशचन्द्र में था।

क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद इस काल के एक अन्य प्रमुख नाटककार थे पर सामाजिक नाटक के क्षेत्र में उनका योगदान नगण्य है।

—४—

रवीन्द्रनाथ के आगमन के साथ हम नाटक के एक नये ही रूप को सँवरते हुए पाते हैं। यह ऐसा रूप है जो सामान्यत स्वीकृत वर्गीकरण से अलग है। रवीन्द्रनाथ एक महान गीतकार हैं जिन्होंने अपनी महान प्रगीतात्मक और काव्यात्मक सवेदना और सामान्य सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत सामान्य मानव-जीवन के प्रति निस्सगता को अपने नाटको में समाविष्ट किया। वे बाह्य घटनाओ की बजाय आत्मानुभूति की अधिक परवाह करते हैं और जब उन्होने कोई ऐतिहासिक प्रसग भी चुना है तब भी इतिहास का रगीन, तीव्र प्रवाह और उसकी बाह्य उत्तेजना या सघर्ष उन्हे आकर्षित

गया है और भावना को उभारा गया है, शाश्वत नैतिक सत्यो का गभीर उद्घाटन किया गया है जिसके मध्य नाटकीयता कभी-कभी ही प्रतिध्वनित होती है और वह भी ऐसे मद और सहज भाव से कि सम्पूर्ण प्रभाव में कोई अन्तर नही दृष्टिगोचर होता। इन कृतियो में नाटकीय सस्पर्श के साथ-साथ उच्चकोटि के काव्य का समन्वय मिलता है—यत्र-तत्र भावावेग और अतर्द्वन्द्व के दर्शन होते हैं। परन्तु ये कृतियाँ न तो नाट्य-रचना पद्धति के अनुसार हैं, न इनकी अपील मुख्यत नाटकीय है। इनसे इतना पता चलता है कि कवीन्द्र की चित्तवृत्ति में नाटकीयता थी, उन्होने नाटकीय प्रभावो का अन्वेषण तो किया परन्तु वे किसी प्रकार के कठोर नाटकीय अनुशासन से अपने आपको आवद्ध नही करना चाहते थे या किसी विशुद्ध नाटकीय लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उन साधनो को स्वीकार नही करना चाहते थे जिनमे कठोर नाटकीय सयम अपेक्षित हो।

रवीन्द्रनाथ ने कुछ समय के लिए नाटक के उस रूप का भी प्रयोग किया जिसमें पांच अको में घटना-क्रम अपनी चरम अवस्था तक पहुँचता है। लेकिन इस माध्यम को उन्होने अपने मनोनुकूल नही पाया—यह इस वात से सिद्ध हो जाता है कि वहुत शीघ्र उक्त माध्यम का उन्होंने परित्याग कर दिया और ऐसे माध्यम को अपनाया जो उनका अपना कहा जा सकता है। 'राजा ओ रानी' (१८८७), 'विसर्जन' (१८८९), और 'मालिनी'—ये तीन नाटक ही ऐसे हैं जिनमें रवीन्द्रनाथ ने परम्परागत नाट्य-शैली अपनायी। इनमें भी वे प्रगीतात्मक भावना और आवेगो की नाटकीय अभिव्यक्ति को ठीक ढग से सन्तुलित नही कर पाये हैं और उनका सवाद पात्रो के ठोस और मनोवैज्ञानिक अकन की आवश्यकता से प्रेरित न होकर काल्पनिक और अत्युक्ति-पूर्ण हो गए हैं। ये विचारो के नाटक बन गए हैं, न कि किसी यथार्थ और अनिवार्य प्रसग के।

'राजा ओ रानी' मे विक्रम एक ऐसा राक्षस है जिसमें अहकार कूट-कूट कर भरा है। प्रेम के क्षेत्र में उसकी आकाक्षाएँ विकृति की सीमा तक पहुँच जाती हैं। जब इन आकाक्षाओ का स्वप्न भग होता है तो वह दूसरी सीमा पर जा पहुँचता है और ऐसे उन्माद से ग्रस्त हो जाता है कि अविवेकपूर्ण विनाश ही मे मज़ा लेने लगता है। रानी सुमित्रा सद्विचारो वाली आदर्शोन्मुख नारी है लेकि न तोन उसका कोई व्यक्तित्व है, और न स्त्रियोचित सूक्ष्म आकर्षण जिससे अपने मतिभ्रष्ट पति को सुधारने के लिए वह भौथरे उपायो का अवलम्बन करती है। इस के विरुद्ध कुमार और इला के चरित्र हैं लेकिन ये कुछ घिसे-पिटे और जीवनहीन लगते हैं। उनके उद्गार काव्यात्मक है और व्यक्त भावनाएँ उच्चकोटि की परन्तु उनमें तदनुरूप क्रियात्मक विरोध की क्षमता नही। रक्तपायी विक्रम का चरित्र नाटक के अन्त में एक वार

गया है और भावना को उभारा गया है, शाश्वत नैतिक सत्यो का गभीर उद्घाटन किया गया है जिसके मध्य नाटकीयता कभी-कभी ही प्रतिध्वनित होती है और वह भी ऐसे मद और सहज भाव से कि सम्पूर्ण प्रभाव में कोई अन्तर नही दृष्टिगोचर होता। इन कृतियो में नाटकीय सस्पर्श के साथ-साथ उच्चकोटि के काव्य का समन्वय मिलता है—यत्र-तत्र भावावेग और अतर्द्वन्द्व के दर्शन होते हैं। परन्तु ये कृतियाँ न तो नाट्य-रचना पद्धति के अनुसार हैं, न इनकी अपील मुख्यत नाटकीय है। इनसे इतना पता चलता है कि कवीन्द्र की चित्तवृत्ति में नाटकीयता थी, उन्होने नाटकीय प्रभावो का अन्वेषण तो किया परन्तु वे किसी प्रकार के कठोर नाटकीय अनुशासन से अपने आपको आवद्ध नही करना चाहते थे या किसी विशुद्ध नाटकीय लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उन साधनो को स्वीकार नही करना चाहते थे जिनमे कठोर नाटकीय सयम अपेक्षित हो।

रवीन्द्रनाथ ने कुछ समय के लिए नाटक के उस रूप का भी प्रयोग किया जिसमें पांच अको में घटना-क्रम अपनी चरम अवस्था तक पहुँचता है। लेकिन इस माध्यम को उन्होने अपने मनोनुकूल नही पाया—यह इस वात से सिद्ध हो जाता है कि वहुत शीघ्र उक्त माध्यम का उन्होंने परित्याग कर दिया और ऐसे माध्यम को अपनाया जो उनका अपना कहा जा सकता है। 'राजा ओ रानी' (१८८७), 'विसर्जन' (१८८९), और 'मालिनी'—ये तीन नाटक ही ऐसे हैं जिनमें रवीन्द्रनाथ ने परम्परागत नाट्य-शैली अपनायी। इनमें भी वे प्रगीतात्मक भावना और आवेगो की नाटकीय अभिव्यक्ति को ठीक ढग से सन्तुलित नही कर पाये हैं और उनका सवाद पात्रो के ठोस और मनोवैज्ञानिक अकन की आवश्यकता से प्रेरित न होकर काल्पनिक और अत्युक्ति-पूर्ण हो गए हैं। ये विचारो के नाटक बन गए हैं, न कि किसी यथार्थ और अनिवार्य प्रसग के।

'राजा ओ रानी' मे विक्रम एक ऐसा राक्षस है जिसमें अहकार फूट-फूट कर भरा है। प्रेम के क्षेत्र में उसकी आकाक्षाएँ विकृति की सीमा तक पहुँच जाती हैं। जब इन आकाक्षाओ का स्वप्न भग होता है तो वह दूसरी सीमा पर जा पहुँचता है और ऐसे उन्माद से ग्रस्त हो जाता है कि अविवेकपूर्ण विनाश ही मे मज़ा लेने लगता है। रानी सुमित्रा सद्विचारो वाली आदर्शोन्मुख नारी है लेकि न तोन उसका कोई व्यक्तित्व है, और न स्त्रियोचित सूक्ष्म आकर्षण जिससे अपने मतिभ्रष्ट पति को सुधारने के लिए वह मौथरे उपायो का अवलम्बन करती है। इस के विरुद्ध कुमार और इला के चरित्र हैं लेकिन ये कुछ घिसे-पिटे और जीवनहीन लगते हैं। उनके उद्गार काव्यात्मक है और व्यक्त भावनाएँ उच्चकोटि की परन्तु उनमें तदनुरूप क्रियात्मक विरोध की क्षमता नही। रक्तपायी विक्रम का चरित्र नाटक के अन्त में एक वार

जाता है। दो विरोधी जीवन-दर्शनो के वीच सघर्ष के वजाय वह दम्भ और प्रवचना के विरुद्ध तीव्र और कटु अभियान बन जाता है। इस प्रकार दुखान्त सघर्ष कई दिशाओ में प्रभावित होता है जो नाटकीय सकलन के सिद्धान्त का अतिक्रमण है परतु कुल मिला कर रवीन्द्रनाथ के इससे पहले के नाटको से यह अधिक अच्छा नाटक बन पडा है।

रवीन्द्रनाथ की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय उन अनेक हास्य-स्केचो द्वारा मिलता है जो अपूर्व शब्द-सामर्थ्य और कल्पना तथा वाक्-पटुता के कारण केवल प्रहसन के स्तर से बहुत ऊँचे उठ गये हैं। 'वैकुण्ठेर खाता' (१८९६) में एक ऐसे वृद्ध मनुष्य की मनोरजक कमजोरियो का वर्णन है जो अपने मित्रो और परिचितो को अपने लेखक होने के विषय में बढ-चढ कर बताया करता है। यह मित्र और परिचित-जन उसकी कृतियो की प्रशसा इसलिए किया करते हैं क्योकि उसके द्वारा प्रदत्त धन के सहारे वे मौज करते हैं। उसका भाई अविनाश अपने भाई की कमजोरी की कठोर आलोचना करता है परन्तु वह स्वय एक अन्य दुर्वलता का शिकार हो जाता है—अपनी प्रेमिका के कोमल व्यवहार का काल्पनिक एव विशद वर्णन। उसके भाई के चतुर मित्र अविनाश की भी दुर्वलता का लाभ उठाते हुए उससे पैसे ऐंठते हैं। इस प्रकार उस विचित्र परिवार में विभिन्न हास्यास्पद घटनायें घटती हैं परन्तु इस सम्पूर्ण हँसी-खुशी के तले करुणा की अन्तर्धारा बहती है जो अन्ततोगत्वा हास्यात्मक तत्त्व पर विजयिनी होती है और पारिवारिक जीवन में सामान्य अवस्था पुन ले आती है। 'चिरकुमार सभा' (१९२५) एक अन्य प्रहसन है जिसमें ऐसे तरुणो का वर्णन है जिन्होने ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा है परन्तु जो बहुत शीघ्र नारी के आकर्षण-जाल में उलझ जाते हैं। इस उलझन तक पहुँचाते हुये नाटककार ने मुक्त हास्य और सूक्ष्म वाक्-चातुर्य का परिचय दिया है। साथ ही जीवन के प्रति उत्साह और वार्त्तालाप की चतुरता का भी अच्छा दिग्दर्शन होता है। 'शेष रक्षा' (१९२८) में तीन विवाहो को दिखाया गया है, विवाह होने के पहले विवाहेच्छुको के मार्ग में विभिन्न प्रकार की बाधायें या भ्रम उपस्थित होते हैं, अनेक हास्यास्पद घटनायें घटती हैं जिनके अन्तर्गत छद्मवेश की घटना भी है परन्तु अन्त में सब बाधाओ की समाप्ति प्रसन्नतापूर्वक हो जाती है। इन सभी सुखान्त नाटको की विशेषता चरित्र-चित्रण अथवा जीवन-दर्शन में नही है बल्कि शैली के सौंदर्य, उल्लासपूर्ण व्यग, जीवन के प्रति आस्था और उस वाक्-पटुता में है जो हमें कुछ क्षणो के लिये जीवन के कठोर यथार्थ से दूर ले जाती है।

—५—

परन्तु नाटककार के रूप में रवीद्रनाथ का वास्तविक योगदान प्रतीक—नाटको

जाता है। दो विरोधी जीवन-दर्शनो के बीच सघर्ष के बजाय वह दम्भ और प्रवचना के विरुद्ध तीव्र और कटु अभियान बन जाता है। इस प्रकार दुखान्त सघर्ष कई दिशाओ में प्रभावित होता है जो नाटकीय सकलन के सिद्धान्त का अतिक्रमण है परतु कुल मिला कर रवीन्द्रनाथ के इससे पहले के नाटको से यह अधिक अच्छा नाटक बन पडा है।

रवीन्द्रनाथ की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय उन अनेक हास्य-स्केचो द्वारा मिलता है जो अपूर्व शब्द-सामर्थ्य और कल्पना तथा वाक्-पटुता के कारण केवल प्रहसन के स्तर से बहुत ऊँचे उठ गये हैं। 'वैकुण्ठेर खाता' (१८९६) में एक ऐसे वृद्ध मनुष्य की मनोरजक कमजोरियो का वर्णन है जो अपने मित्रो और परिचितो को अपने लेखक होने के विषय में बढ-चढ कर बताया करता है। यह मित्र और परिचित-जन उसकी कृतियो की प्रशसा इसलिए किया करते हैं क्योकि उसके द्वारा प्रदत्त धन के सहारे वे मौज करते हैं। उसका भाई अविनाश अपने भाई की कमजोरी की कठोर आलोचना करता है परन्तु वह स्वय एक अन्य दुर्बलता का शिकार हो जाता है—अपनी प्रेमिका के कोमल व्यवहार का काल्पनिक एव विशद वर्णन। उसके भाई के चतुर मित्र अविनाश की भी दुर्बलता का लाभ उठाते हुए उससे पैसे ऐंठते हैं। इस प्रकार उस विचित्र परिवार में विभिन्न हास्यास्पद घटनायें घटती हैं परन्तु इस सम्पूर्ण हँसी-खुशी के तले करुणा की अन्तर्धारा बहती है जो अन्ततोगत्वा हास्यात्मक तत्त्व पर विजयिनी होती है और पारिवारिक जीवन में सामान्य अवस्था पुन ले आती है। 'चिरकुमार सभा' (१९२५) एक अन्य प्रहसन है जिसमें ऐसे तरुणो का वर्णन है जिन्होने ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा है परन्तु जो बहुत शीघ्र नारी के आकर्षण-जाल में उलझ जाते हैं। इस उलझन तक पहुँचाते हुये नाटककार ने मुक्त हास्य और सूक्ष्म वाक्-चातुर्य का परिचय दिया है। साथ ही जीवन के प्रति उत्साह और वार्त्तालाप की चतुरता का भी अच्छा दिग्दर्शन होता है। 'शेष रक्षा' (१९२८) में तीन विवाहो को दिखाया गया है, विवाह होने के पहले विवाहेच्छुको के मार्ग में विभिन्न प्रकार की बाधायें या भ्रम उपस्थित होते हैं, अनेक हास्यास्पद घटनायें घटती हैं जिनके अन्तर्गत छद्मवेश की घटना भी है परन्तु अन्त में सब बाधाओ की समाप्ति प्रसन्नतापूर्वक हो जाती है। इन सभी सुखान्त नाटको की विशेषता चरित्र-चित्रण अथवा जीवन-दर्शन में नही है बल्कि शैली के सौंदर्य, उल्लासपूर्ण व्यग, जीवन के प्रति आस्था और उस वाक्-पटुता में है जो हमें कुछ क्षणो के लिये जीवन के कठोर यथार्थ से दूर ले जाती है।

—५—

परन्तु नाटककार के रूप में रवीन्द्रनाथ का वास्तविक योगदान प्रतीक-नाटको

प्रभावशाली है। इसमें वर्णित विषय है दिव्य सत्ता के विचार की गभीर सत्यता एव अनुच्छेदनीय रहस्यात्मकता। उस सत्ता की अनुभूति के लिए मानवात्मा के प्रयास को नाटक में पूरे आवेग और अन्तर्द्वन्द्व के साथ व्यक्त किया गया है, और ऐसे पात्रो द्वारा जो यद्यपि गभीर आध्यात्मिक सत्यो को प्रतिबिंबित करते हैं, तथापि नितात सजीव हैं। नाटक में आध्यात्मिक भावना को सजीव यथार्थ से आच्छादित करके प्रस्तुत किया गया है और आत्मा के द्वन्द्व को अतर्निहित सूक्ष्मता या विचार से पृथक् रूप में विशद नाटकीय अपील के साथ, वाह्य क्रिया-कलाप द्वारा व्यक्त किया गया है। राजा के चरित्र में सौंदर्य और उदात्तता, सुकुमारता और सभ्रम और समय-समय पर भयोत्पादकता, और विभिन्न विरोधी गुणो का सामजस्य दिखाया गया है। रानी सुदर्शना एक विचार मात्र नही हैं जो किसी छाया-चित्रण के पीछे दौड रही हो। वह मनमानी करने वाली हठीली नारी है जो अपनी कमनीय काया के के प्रति सजग है, अपने प्रियतम राजा के प्रति उसकी उदासीनता पर क्षुब्ध है और शान्त, आलोकित अन्तर्दर्शन की स्थिति तक पहुँचने के लिए उसे नर्क और ज्वाला से गुज़रना होता है। काचिराज एक दृढचेता एव आत्म-निर्भर व्यक्ति है जो जीवन में ईश्वर के स्थान की उपेक्षा करता है और जिस वस्तु की भी इच्छा उसके हृदय में जागती है उसे ही प्राप्त करने के लिए कोई भी उपाय करने को तत्पर रहता है। वह अन्ततोगत्वा पराजित होता है, पर अपमानित नही। उसमें प्रतीकात्मक और यथार्थ गुणो का अच्छा समन्वय हुआ है और रवीद्रनाथ के प्रतीक-नाटको में आध्यात्मिक यथार्थ के विरुद्ध युद्ध छेडने वाले चरित्रो में उसका चित्रण सबसे अधिक सुगठित हुआ है। वसत का उल्लास सम्पूर्ण नाटक पर छाया रहता है और आध्यात्मिक आकाक्षाओ को जीवन एव मानवीय उल्लास से अभिषिक्त कर देता है। इसमें वर्णित ठाकुर दा का चरित्र अप्रासगिक नही है। वह दिव्य सत्ता का प्रवक्ता और सन्देशवाहक है और नाटक के गीत नाटकीय उल्लास एव गत्यात्मकता को भी व्यक्त करने वाले हैं।

'अचलायतन' (१९११) प्रतीक-नाटक अधिक न होकर रूपक है और इसमे आध्यात्मिक भावनाओ की गीतात्मक अभिव्यक्ति न होकर इसका स्वर व्यग्यात्मक अधिक है। इसमें हिन्दू धर्म के उन पुराने रीति-रिवाजो और कर्मकाण्ड पर रवीन्द्रनाथ ने व्यग किया है जो अर्थहीन तितिक्षा द्वारा मानवात्मा का पथ रुद्ध कर देते हैं और उसे यथार्थ जीवन प्रवाह के सस्पर्श से प्रथक् कर देते हैं। चरित्रो मे केवल कुछ उन प्रत्यक्ष गुणो और स्पष्ट प्रवृत्तियो का समावेश है जो धार्मिक कट्टरता या अन्धविश्वास अपनाने वालो में पाई जाती हैं, लेकिन ये यथार्थ गुण नही कहे जा सकते। गुरू में, जिसके आगमन की प्रतीक्षा बडी आशा और रहस्यात्मकता के साथ की जाती है, दिव्यत्त्व का कोई अश नही मिलता। विभिन्न लोगो के लिए वह विभिन्न रूपो में सम्मुख

प्रभावशाली है। इसमें वर्णित विषय है दिव्य सत्ता के विचार की गभीर सत्यता एव अनुच्छेदनीय रहस्यात्मकता। उस सत्ता की अनुभूति के लिए मानवात्मा के प्रयास को नाटक में पूरे आवेग और अन्तर्द्वन्द्व के साथ व्यक्त किया गया है, और ऐसे पात्रो द्वारा जो यद्यपि गभीर आध्यात्मिक सत्यो को प्रतिबिंबित करते हैं, तथापि नितात सजीव हैं। नाटक में आध्यात्मिक भावना को सजीव यथार्थ से आच्छादित करके प्रस्तुत किया गया है और आत्मा के द्वन्द्व को अतर्निहित सूक्ष्मता या विचार से पृथक् रूप में विशद नाटकीय अपील के साथ, वाह्य क्रिया-कलाप द्वारा व्यक्त किया गया है। राजा के चरित्र में सौदर्य और उदात्तता, सुकुमारता और सभ्रम और समय-समय पर भयोत्पादकता, और विभिन्न विरोधी गुणो का सामजस्य दिखाया गया है। रानी सुदर्शना एक विचार मात्र नही हैं जो किसी छाया-चित्रण के पीछे दौड रही हो। वह मनमानी करने वाली हठीली नारी है जो अपनी कमनीय काया के के प्रति सजग है, अपने प्रियतम राजा के प्रति उसकी उदासीनता पर क्षुब्ध है और शान्त, आलोकित अन्तर्दर्शन की स्थिति तक पहुँचने के लिए उसे नर्क और ज्वाला से गुज़रना होता है। काचिराज एक दृढचेता एव आत्म-निर्भर व्यक्ति है जो जीवन में ईश्वर के स्थान की उपेक्षा करता है और जिस वस्तु की भी इच्छा उसके हृदय में जागती है उसे ही प्राप्त करने के लिए कोई भी उपाय करने को तत्पर रहता है। वह अन्ततोगत्त्वा पराजित होता है, पर अपमानित नही। उसमें प्रतीकात्मक और यथार्थ गुणो का अच्छा समन्वय हुआ है और रवीद्रनाथ के प्रतीक-नाटको में आध्यात्मिक यथार्थ के विरुद्ध युद्ध छेडने वाले चरित्रो में उसका चित्रण सबसे अधिक सुगठित हुआ है। वसत का उल्लास सम्पूर्ण नाटक पर छाया रहता है और आध्यात्मिक आकाक्षाओ को जीवन एव मानवीय उल्लास से अभिषिक्त कर देता है। इसमें वर्णित ठाकुर दा का चरित्र अप्रासगिक नही है। वह दिव्य सत्ता का प्रवक्ता और सन्देशवाहक है और नाटक के गीत नाटकीय उल्लास एव गत्यात्मकता को भी व्यक्त करने वाले हैं।

'अचलायतन' (१९११) प्रतीक-नाटक अधिक न होकर रूपक है और इसमे आध्यात्मिक भावनाओ की गीतात्मक अभिव्यक्ति न होकर इसका स्वर व्यग्यात्मक अधिक है। इसमें हिन्दू धर्म के उन पुराने रीति-रिवाजो और कर्मकाण्ड पर रवीन्द्रनाथ ने व्यग किया है जो अर्थहीन तितिक्षा द्वारा मानवात्मा का पथ रुद्ध कर देते हैं और उसे यथार्थ जीवन प्रवाह के सस्पर्श से प्रथक् कर देते हैं। चरित्रो मे केवल कुछ उन प्रत्यक्ष गुणो और स्पष्ट प्रवृत्तियो का समावेश है जो धार्मिक कट्टरता या अन्धविश्वास अपनाने वालो में पाई जाती हैं, लेकिन ये यथार्थ गुण नही कहे जा सकते। गुरू में, जिसके आगमन की प्रतीक्षा बडी आशा और रहस्यात्मकता के साथ की जाती है, दिव्यत्त्व का कोई अश नही मिलता। विभिन्न लोगो के लिए वह विभिन्न रूपो में सम्मुख

जिनमें प्रतीको द्वारा कवि ने आज के विश्व की आर्थिक और राजनीतिक अवस्था के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। पहले नाटक मे साम्राज्यवादी शोषण के क्षेत्र को बढाने के लिये विज्ञान और यत्रो के दुरुपयोग को और उस अमानुषिक निर्दयता के विरुद्ध भावना और मानवीयता के स्तर पर मानवात्मा के विरोध को व्यक्त किया गया है। मशीन के अत्याचार को विभूति के चरित्र के माध्यम से व्यक्त किया गया है। विभूति यत्र-वेत्ता है जिसे जनप्रिय शासक के प्रतिस्पर्धी के रूप में राज भी कहा जाता है। मानवात्मा के विरोध को अभिजित के चरित्र द्वारा व्यक्त किया गया है। अभिजित राजकुमार है जो यन्त्र में दोप का पता लगा कर जन-प्रवाह को शिवतराई की जनता के लिए मुक्त कर देता है लेकिन इस क्रम में स्वय डूब जाता है। इसी भावना की अभिव्यक्ति धनंजय वैरागी के चरित्र द्वारा हुई है। वह गांधीवादी है और शोषण के विरुद्ध सविनय अवज्ञा का प्रयोग करता है। पुराने समय की हिन्दू राज्य-व्यवस्था और शासन के वातावरण में प्राय उच्च नैतिक धरातल पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले राष्ट्रीय सघर्ष की प्रतिध्वनि सुनने को मिलती है। नाटक में प्राचीन ढाँचे में आधुनिक भावना सन्निविष्ट की गई है। सन्ध्यावकाश के धूमिल प्रकाश में अशुभ यत्र विशालकाय और भयावह दैत्य के समान स्थापित है। शिव का प्राचीन मदिर उसकी विशालता में दब गया है। शिव की स्तुति के मत्रोच्चारण द्वारा यत्राधिकृत विश्व में धर्म की सत्ता और शक्ति की अपराजेयता सकेतित है। नाटक में मानव की आवाज़ कई रूपो में गूँजती हैं कभी हृदयवेधी क्रन्दन में, कभी मूक नैराश्य और असफल प्रतिरोध में, क्रान्तिकारी भावना के सहसा विस्फोट और भयावह चेतावनियो में, और अततोगत्वा अत्याचार की शान्त स्वीकृति एव भाग्य की आकस्मिकता से ऊँचे उठने के प्रयत्न-स्वरूप निर्वेद, दार्शनिक उडान में। इस नाटक में हम अनेक स्वरो का समवेत गुजन और भावनाओ की बहुविध झकार सुनते हैं जिसके मध्य प्रमुख विचार—अर्थात् मानव की दासता के अत के लिए आत्म-विसर्जन—उतना स्पष्ट नही है जितना होना चाहिए था।

'रक्त करवी' कही अधिक सूक्ष्म नाटक है और जीवन में गहराई तक प्रवेश करता है। इसमें तरुणाई और सौन्दर्य का प्रतिरोध व्यक्त है। यह शैतान की पूजा के विरुद्ध है, यह ऐसे जीवन का चित्रण है जिसे पूँजीवादी स्वार्थ की सिद्धि के लिए अनुशासित और नियमित किया गया है। यह स्वार्थ इतना गहरा और अदम्य है कि प्राय स्वभाव ही वन गया है। नाटक में यान्त्रिक युग के एक राजा का चित्रण है जो अन्ध-कक्ष के राजा के समान ही है। वह एक तहखाने में रहता है, जिसमें जीवन-दायक स्वस्थ वायु का प्रवेश नही होता। वह लोह-जाल से घिरा है जिससे सूर्य के प्रकाश से आलोकित धरती की क्षणिक झलक उसे कभी-कभी मिलती है। राजा के

जिनमें प्रतीको द्वारा कवि ने आज के विश्व की आर्थिक और राजनीतिक अवस्था के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। पहले नाटक मे साम्राज्यवादी शोषण के क्षेत्र को बढाने के लिये विज्ञान और यत्रो के दुरुपयोग को और उस अमानुषिक निर्दयता के विरुद्ध भावना और मानवीयता के स्तर पर मानवात्मा के विरोध को व्यक्त किया गया है। मशीन के अत्याचार को विभूति के चरित्र के माध्यम से व्यक्त किया गया है। विभूति यत्र-वेत्ता है जिसे जनप्रिय शासक के प्रतिस्पर्धी के रूप में राज भी कहा जाता है। मानवात्मा के विरोध को अभिजित के चरित्र द्वारा व्यक्त किया गया है। अभिजित राजकुमार है जो यन्त्र में दोप का पता लगा कर जन-प्रवाह को शिवतराई की जनता के लिए मुक्त कर देता है लेकिन इस क्रम में स्वय डूब जाता है। इसी भावना की अभिव्यक्ति धनंजय वैरागी के चरित्र द्वारा हुई है। वह गांधीवादी है और शोषण के विरुद्ध सविनय अवज्ञा का प्रयोग करता है। पुराने समय की हिन्दू राज्य-व्यवस्था और शासन के वातावरण में प्राय उच्च नैतिक धरातल पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले राष्ट्रीय सघर्ष की प्रतिध्वनि सुनने को मिलती है। नाटक में प्राचीन ढाँचे में आधुनिक भावना सन्निविष्ट की गई है। सन्ध्यावकाश के धूमिल प्रकाश में अशुभ यत्र विशालकाय और भयावह दैत्य के समान स्थापित है। शिव का प्राचीन मदिर उसकी विशालता में दब गया है। शिव की स्तुति के मत्रोच्चारण द्वारा यत्राधिकृत विश्व में धर्म की सत्ता और शक्ति की अपराजेयता सकेतित है। नाटक में मानव की आवाज़ कई रूपो में गूँजती हैं कभी हृदयवेधी क्रन्दन में, कभी मूक नैराश्य और असफल प्रतिरोध में, क्रान्तिकारी भावना के सहसा विस्फोट और भयावह चेतावनियो में, और अततोगत्वा अत्याचार की शान्त स्वीकृति एव भाग्य की आकस्मिकता से ऊँचे उठने के प्रयत्न-स्वरूप निर्वेद, दार्शनिक उडान में। इस नाटक में हम अनेक स्वरो का समवेत गुजन और भावनाओ की बहुविध झकार सुनते हैं जिसके मध्य प्रमुख विचार—अर्थात् मानव की दासता के अत के लिए आत्म-विसर्जन—उतना स्पष्ट नही है जितना होना चाहिए था।

'रक्त करवी' कही अधिक सूक्ष्म नाटक है और जीवन में गहराई तक प्रवेश करता है। इसमें तरुणाई और सौन्दर्य का प्रतिरोध व्यक्त है। यह शैतान की पूजा के विरुद्ध है, यह ऐसे जीवन का चित्रण है जिसे पूँजीवादी स्वार्थ की सिद्धि के लिए अनुशासित और नियमित किया गया है। यह स्वार्थ इतना गहरा और अदम्य है कि प्राय स्वभाव ही वन गया है। नाटक में यान्त्रिक युग के एक राजा का चित्रण है जो अन्ध-कक्ष के राजा के समान ही है। वह एक तहखाने में रहता है, जिसमें जीवन-दायक स्वस्थ वायु का प्रवेश नही होता। वह लौह-जाल से घिरा है जिससे सूर्य के प्रकाश से आलोकित धरती की क्षणिक झलक उसे कभी-कभी मिलती है। राजा के

फिर भी वे वास्तविक और प्राणवान है और उन अपरिभाषित आकाक्षाओ को व्यक्त करते हैं जो मानवता की जीवन-शक्तियाँ हैं।

—६—

(२) रवीन्द्रनाथ का विवेचन करने के बाद हम फिर उसी वर्गीकरण की ओर लौटेंगे जिसका निर्देश आरम्भ में किया गया था। हम उन ऐतिहासिक नाटको पर विचार करेंगे जो १९०५ में वग-भग आन्दोलन के फलस्वरूप वगला साहित्य में आये। मधुसूदन ने सन् (१८६१) मे कृष्णाकुमारी लिखकर ऐतिहासिक दुखान्त नाटकों का सूत्रपात किया। क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद ने प्रतापादित्य (१९०३) लिखकर मार्ग दिखाया। इसके बाद ही पद्मिनी (१९०६), अशोक (१९०७), चाँद वीवी (१९०७), बगलार मसनद (१९१०) और आलमगीर (१९३१) लिखे गए। इन सभी ऐतिहासिक नाटको का उद्देश्य था देशभक्ति की भावना को जागृत करना, अत्याचारी विदेशियो के विरुद्ध घृणा जगाना और राष्ट्रीय सम्मान की रक्षार्थ जिन राष्ट्रनायकों ने प्रतिरोध किया उनका गुण-वर्णन। उक्त उद्देश्य की पूर्ति की नाटककारो में इतनी तीव्र आकाक्षा थी कि उन्होंने ऐतिहामिक तथ्यों की सच्चाई, स्वाभाविकता के तकाज़े और घटना-क्रम के सम्भावित स्वरूप तक की उपेक्षा की। नाटककारो का मुख्य उद्देश्य किसी प्रकार के स्थायी नाटकीय मूल्यो की स्थापना न होकर दर्शको पर तात्कालिक प्रभाव डालना था। अत इस काल के ऐतिहासिक नाटको में आलकारिकता, अति-नाटकीयता, नाटकीय औचित्य की चिन्ता किए बिना देशभक्ति की भावना का उद्रेक करने वाले सम्वाद, भावुकता का अनियन्त्रित प्रवाह आदि बातें पाई जाती हैं। क्षीरोदप्रसाद के नाटक 'प्रतापादित्य' का वडा गहरा असर तत्कालीन बगाली नवयुवको पर पडा लेकिन इस नाटक में न तो चरित्र-चित्रण उत्कृष्ट कोटि का है, न ऐतिहासिक घटना-क्रम की यथार्थ पकड है। प्रतापादित्य में घटना-क्रम एक प्रसग से दूसरे प्रसग तक लडखडाता हुआ निरुद्देश्य वढता है और चरम सीमा तक ऐसी परिस्थितियो द्वारा पहुँचता है जो नायक के चरित्र में बद्धमूल न होकर बाह्य हैं। वह किमी भी रूप में दुखान्त नाटक का नायक नही है क्योकि वह पूर्णतः घटना प्रवाह द्वारा अनुशासित है। उसकी विजया, जो मातृभूमि की प्रतीक है, देवी और मानवी का विचित्र मिश्रण है। नाटक के अन्त में कोई गहरी सम्वेदना जागृत नही होती क्योकि लेखक अपनी सम्पूर्ण लेखन-क्षमता आरम्भिक भाग पर ही समाप्त कर देता है। आलमगीर क्षीरोदप्रसाद का एक बडा सफल नाटक है जिसमें इतिहास का स्थान चरित्रो के मनोवैज्ञानिक चित्रण ने लिया है। यह एक द्विविध व्यक्तित्त्व के विश्लेषण का नाटक है। इसमें आलमगीर और उदयपुरी बेगम के पारस्परिक मन सघर्ष को दिखाया गया है। महान् सम्राट्

फिर भी वे वास्तविक और प्राणवान हैं और उन अपरिभाषित आकाक्षाओ को व्यक्त करते हैं जो मानवता की जीवन-शक्तियाँ हैं।

—६—

(२) रवीन्द्रनाथ का विवेचन करने के बाद हम फिर उसी वर्गीकरण की ओर लौटेंगे जिसका निर्देश आरम्भ में किया गया था। हम उन ऐतिहासिक नाटको पर विचार करेंगे जो १६०५ में वग-भग आन्दोलन के फलस्वरूप वगला साहित्य में आये। मधुसूदन ने सन् (१८६१) मे कृष्णाकुमारी लिखकर ऐतिहासिक दुखान्त नाटकों का सूत्रपात किया। क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद ने प्रतापादित्य (१६०३) लिखकर मार्ग दिखाया। इसके बाद ही पद्मिनी (१६०६), अशोक (१६०७), चाँद बीवी (१६०७), बगलार मसनद (१६१०) और आलमगीर (१६३१) लिखे गए। इन सभी ऐतिहासिक नाटको का उद्देश्य था देशभक्ति की भावना को जागृत करना, अत्याचारी विदेशियो के विरुद्ध घृणा जगाना और राष्ट्रीय सम्मान की रक्षार्थ जिन राष्ट्रनायकों ने प्रतिरोध किया उनका गुण-वर्णन। उक्त उद्देश्य की पूर्ति की नाटककारो में इतनी तीव्र आकाक्षा थी कि उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों की सच्चाई, स्वाभाविकता के तकाजे और घटना-क्रम के सम्भावित स्वरूप तक की उपेक्षा की। नाटककारो का मुख्य उद्देश्य किसी प्रकार के स्थायी नाटकीय मूल्यो की स्थापना न होकर दर्शको पर तात्कालिक प्रभाव डालना था। अत इस काल के ऐतिहासिक नाटको में आलकारिकता, अति-नाटकीयता, नाटकीय औचित्य की चिन्ता किए बिना देशभक्ति की भावना का उद्रेक करने वाले सम्वाद, भावुकता का अनियन्त्रित प्रवाह आदि बातें पाई जाती हैं। क्षीरोदप्रसाद के नाटक 'प्रतापादित्य' का वडा गहरा असर तत्कालीन बगाली नवयुवको पर पडा लेकिन इस नाटक में न तो चरित्र-चित्रण उत्कृष्ट कोटि का है, न ऐतिहासिक घटना-क्रम की यथार्थ पकड है। प्रतापादित्य में घटना-क्रम एक प्रसग से दूसरे प्रसग तक लडखडाता हुआ निरुद्देश्य बढता है और चरम सीमा तक ऐसी परिस्थितियो द्वारा पहुँचता है जो नायक के चरित्र में बद्धमूल न होकर बाह्य हैं। वह किसी भी रूप में दुखान्त नाटक का नायक नही है क्योंकि वह पूर्णतः घटना प्रवाह द्वारा अनुशासित है। उसकीविजया, जो मातृभूमि की प्रतीक है, देवी और मानवी का विचित्र मिश्रण है। नाटक के अन्त में कोई गहरी सम्वेदना जागृत नही होती क्योकि लेखक अपनी सम्पूर्ण लेखन-क्षमता आरम्भिक भाग पर ही समाप्त कर देता है। आलमगीर क्षीरोदप्रसाद का एक बडा सफल नाटक है जिसमें इतिहास का स्थान चरित्रो के मनोवैज्ञानिक चित्रण ने लिया है। यह एक द्विविध व्यक्तित्त्व के विश्लेषण का नाटक है। इसमें आलमगीर और उदयपुरी बेगम के पारस्परिक मन सघर्ष को दिखाया गया है। महान् सम्राट्

क्षरण तक रहती है। वही केन्द्र विन्दु है जिसके इर्द-गिर्द सिराज के सभी शत्रु जुटते हैं और सिराज के विरुद्ध एकत्र होने वाली ऐतिहासिक शक्तियो की सख्या-वृद्धि करते हैं। ये ऐसे घरेलू शत्रु हैं जिनका महत्त्व गहनतर है और प्रतिशोध उचिततर । जवाहरा एक अतिनाटकीय चरित्र है जो ऐसे दुर्वचनो का उच्चारण करती है जिन्हें सुनना बगाली दर्शको को प्रिय लगता है क्योकि शाब्दिक लपट-झपट मे वे खास मज़ा खाते हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण चरित्र करीम चाचा का है, जो प्राय दार्शनिक-सा व्यक्ति है, जो समय रहते सिराज के गले में फदा कसते हुए देखता है और उसे मैत्रीपूर्ण चेतावनी देता है, यद्यपि उसका कोई फल नही होता। नाटक असफल है क्योकि उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है और उसमे इतनी अधिक घटनाओ को एक साथ समोने का यत्न किया गया है कि नाटकीय प्रभाव नष्ट हो गया है इतिहास को भी इसमे झुठलाया गया है। काल्पनिक चरित्रो को ऐतिहासिक चरित्रो से अधिक महत्त्व दिया गया है और नाटकीय औचित्य की कीमत पर देशभक्ति की भावना को उभारा गया है।यह ऐतिहासिक नाटक न होकर अनुक्रम-नाटक अधिक है।

द्विजेन्द्रलाल राय के आगमन के साथ ऐतिहासिक नाटक अपने पूरे गौरव पर पहुँच गया। उन्होंने भी देशभक्ति की भावना का पूरा लाभ उठाया। तत्कालीन सभी नाटककारो में द्विजेन्द्रलाल ही ऐसे थे जो शेक्सपियर से पूर्णत प्रभावित थे और पाश्चात्य नाटक-रचना पद्धति से परिचित थे। यद्यपि उनका नाटकीय ढाँचा शिथिल रहता है और उसमें ठोसपन की कमी रहती है, फिर भी एक भावात्मक और कथात्मक शैली पर उनका पूरा अधिकार है और वे किसी भी भावना को सम्पूर्ण तीव्रता के साथ व्यक्त कर सकते हैं। नाटकीय प्रसगो की उनकी पकड भी सूक्ष्म है। उनके चरित्र भी यद्यपि प्राय नीरस लगते हैं, तथापि उनका अपना व्यक्तित्त्व होता है और वे ऐतिहासिक घटनाओ के प्रवाह में बहने वाले तिनके मात्र नही होते। उनके नाटक रगमच की दृष्टि से बडे प्रभावोत्पादक होते थे और जब वे पहले-पहल अभिनीत हुए थे तो उनकी भावनात्मक अपील अत्यधिक तीव्र थी—उनकी उच्चकोटि की साहित्यिकता और नाटकीय गुणो के कारण आज भी उनका समादर है। ऐतिहासिक नाटको के क्षेत्र में वे सम्भवत अकेले ही नाटककार हैं जिन्होने अनेक सामयिक एव मिट जाने वाली बाते के बावजूद ऐसे स्थायी तत्त्वो का समावेश किया है जिनके कारण भविष्य के लिए उनकी कृतियाँ सुरक्षित हो गई हैं। उन्होने आने वाले नाटककारो के लिए ऐतिहासिक नाटक के रूप और पद्धति का निर्धारण भी कर दिया।

द्विजेन्द्रलाल के ऐतिहासिक नाटक हैं **'राणा प्रताप'** (१९०५), **'दुर्गादास'** (१९०६), **'नूरजहाँ'** और **'मेवाड़ पतन'** (१९०८), **'शाहजहाँ'** (१९०९) और **'चन्द्र-**

क्षण तक रहती है। वही केन्द्र विन्दु है जिसके इर्द-गिर्द सिराज के सभी शत्रु जुटते हैं और सिराज के विरुद्ध एकत्र होने वाली ऐतिहासिक शक्तियो की सख्या-वृद्धि करते हैं। ये ऐसे घरेलू शत्रु हैं जिनका महत्त्व गहनतर है और प्रतिशोध उचिततर। जवाहरा एक अतिनाटकीय चरित्र है जो ऐसे दुर्वचनो का उच्चारण करती है जिन्हें सुनना बगाली दर्शको को प्रिय लगता है क्योकि शाब्दिक लपट-झपट मे वे खास मजा खाते हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण चरित्र करीम चाचा का है, जो प्राय दार्शनिक-सा व्यक्ति है, जो समय रहते सिराज के गले में फदा कसते हुए देखता है और उसे मैत्रीपूर्ण चेतावनी देता है, यद्यपि उसका कोई फल नही होता। नाटक असफल है क्योकि उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है और उसमे इतनी अधिक घटनाओ को एक साथ समोने का यत्न किया गया है कि नाटकीय प्रभाव नष्ट हो गया है इतिहास को भी इसमे झुठलाया गया है। काल्पनिक चरित्रो को ऐतिहासिक चरित्रो से अधिक महत्त्व दिया गया है और नाटकीय औचित्य की कीमत पर देशभक्ति की भावना को उभारा गया है। यह ऐतिहासिक नाटक न होकर अनुक्रम-नाटक अधिक है।

द्विजेन्द्रलाल राय के आगमन के साथ ऐतिहासिक नाटक अपने पूरे गौरव पर पहुँच गया। उन्होंने भी देशभक्ति की भावना का पूरा लाभ उठाया। तत्कालीन सभी नाटककारो में द्विजेन्द्रलाल ही ऐसे थे जो शेक्सपियर से पूर्णत प्रभावित थे और पाश्चात्य नाटक-रचना पद्धति से परिचित थे। यद्यपि उनका नाटकीय ढाँचा शिथिल रहता है और उसमें ठोसपन की कमी रहती है, फिर भी एक भावात्मक और कथात्मक शैली पर उनका पूरा अधिकार है और वे किसी भी भावना को सम्पूर्ण तीव्रता के साथ व्यक्त कर सकते हैं। नाटकीय प्रसगो की उनकी पकड भी सूक्ष्म है। उनके चरित्र भी यद्यपि प्राय नीरस लगते हैं, तथापि उनका अपना व्यक्तित्त्व होता है और वे ऐतिहासिक घटनाओ के प्रवाह में बहने वाले तिनके मात्र नही होते। उनके नाटक रगमच की दृष्टि से बडे प्रभावोत्पादक होते थे और जब वे पहले-पहल अभिनीत हुए थे तो उनकी भावनात्मक अपील अत्यधिक तीव्र थी—उनकी उच्चकोटि की साहित्यिकता और नाटकीय गुणो के कारण आज भी उनका समादर है। ऐतिहासिक नाटको के क्षेत्र में वे सम्भवत अकेले ही नाटककार हैं जिन्होने अनेक सामयिक एव मिट जाने वाली बातो के बावजूद ऐसे स्थायी तत्त्वो का समावेश किया है जिनके कारण भविष्य के लिए उनकी कृतियाँ सुरक्षित हो गई हैं। उन्होने आने वाले नाटककारो के लिए ऐतिहासिक नाटक के रूप और पद्धति का निर्धारण भी कर दिया।

द्विजेन्द्रलाल के ऐतिहासिक नाटक हैं **'राणा प्रताप'** (१९०५), **'दुर्गादास'** (१९०६), **'नूरजहाँ'** और **'मेवाड़ पतन'** (१९०८), **'शाहजहाँ'** (१९०९) और **'चन्द्र-**

नायक है और नैतिक नियमो की उलट-फेर के अनुभव की दृष्टि से शेक्सपियर के 'किंग लियर' का मुकाबला करता है। अन्य चरित्रो में जहाँनारा की महानता औरंगज़ेव का विरोध करने के कारण नही है बल्कि इसलिए कि वह अपने पिता के दुख दर्द में साथ रहती है। औरगजेब का चरित्र भी उत्कृष्ट हुआ है लेकिन ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में उसका चित्रण अधिक उभरता है और उसकी वैयक्तिकता को दबा देता है। जब-तब उसके मन की द्विविधा और अतिम भाग में उसका अपने पिता से क्षमा याचना करना नाटककार की कल्पना से प्रसूत घटनाएँ लगती हैं, चरित्र की स्वाभाविक प्रतिक्रिया नही। यह प्रत्येक शाही खानदान के शाहज़ादो के दुर्भाग्य की घटनाओ का सकलन-सा लगता है, किसी पूर्व-निर्धारित चरम स्थिति तक पहुँचने वाला सुगठित नाटक नही। दारा, शुजा, सुलेमान .. सभी के अपने-अपने दुर्भाग्य हैं लेकिन इन्हे शायद ही महान् दुखान्त प्रसग कहा जाये।

चन्द्रगुप्त में बाह्य सघर्ष का स्थान शीघ्र ही चाणक्य की आत्मा का सघर्ष ले लेता है। वस्तुत नाटक में जो भी उथल-पुथल है वह चाणक्य के कारण होती है, और इतिहास-चक्र उसी के भावावेगो द्वारा निर्धारित मार्ग पर चलता है। पहले ही दृश्य में उत्कृष्ट नाटकीय तनाव का चित्रण है और इसे चाणक्य के अपमान और बदला लेने की प्रतिज्ञा द्वारा कायम रखा गया है। चन्द्रगुप्त कमोवेश चाणक्य की योजनाओ को कार्य रूप देने वाला यत्र मात्र है। वह चन्द्रगुप्त को अपने भाई की हत्या के लिए राजी करने के लिए उसकी माता का सहारा लेता है और राज-सत्ता को मज़बूत बनाने पर सम्राट को भला बुरा कहता है। चाणक्य विशुद्ध बुद्धिवादी है। उसके लिए भावना का कोई स्थान नही। अत उसे कष्टदायक आन्तरिक शून्यता का अनुभव होता है पर वह नही समझ पाता कि कैसे शून्यता को भरा जाय। दीर्घ काल से खोई हुई अपनी पुत्री को पाने पर उसके जीवन का क्रम बदलता है और अवरुद्ध भावावेग उमड कर उसे डुबो देता है। नाटक के प्रेम-प्रसग निर्जीव और पिष्ट-पेषित हैं। चाणक्य का चरित्र नाटक के अन्य चरित्रो को दबा लेता है और हमें ऐसा लगने लगता है कि चरित्रो को सतुलित ढग से नही सजोया गया है। नाटक के जो भी प्रसग चाणक्य का स्पर्श नही करते वे अप्रासगिक लगते हैं और हमें ऐसा लगता है कि यदि वे चाणक्य के इर्द-गिर्द गतिमान होते तभी सार्थक होते।

द्विजेन्द्रलाल के बाद बगाल में ऐतिहासिक नाटक का प्रवाह मद और अनुल्लेखनीय रहा। आधुनिक नाटककारो में सचीन सेनगुप्त के 'सिराजुदौला' 'गैरिक पटक' 'राष्ट्र विप्लव' और 'धात्री पन्ना', महेन्द्र गुप्त के 'टीपू सुलतान' और 'रणजीतसिंह', निशिकान्त वसु के 'बगे बारगी' और योगेश चौधरी के 'दिग्विजयी' का उल्लेख किया जा

नायक है और नैतिक नियमो की उलट-फेर के अनुभव की दृष्टि से शेक्सपियर के 'किंग लियर' का मुकाबला करता है। अन्य चरित्रो में जहाँनारा की महानता औरंगज़ेब का विरोध करने के कारण नही है बल्कि इसलिए कि वह अपने पिता के दुख दर्द में साथ रहती है। औरंगजेब का चरित्र भी उत्कृष्ट हुआ है लेकिन ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में उसका चित्रण अधिक उभरता है और उसकी वैयक्तिकता को दबा देता है। जब-तब उसके मन की द्विविधा और अतिम भाग में उसका अपने पिता से क्षमा याचना करना नाटककार की कल्पना से प्रसूत घटनाएँ लगती हैं, चरित्र की स्वाभाविक प्रतिक्रिया नही। यह प्रत्येक शाही खानदान के शाहज़ादो के दुर्भाग्य की घटनाओ का सकलन-सा लगता है, किसी पूर्व-निर्धारित चरम स्थिति तक पहुँचने वाला सुगठित नाटक नही। दारा, शुजा, सुलेमान .. सभी के अपने-अपने दुर्भाग्य हैं लेकिन इन्हे शायद ही महान् दुखान्त प्रसग कहा जाये।

चन्द्रगुप्त में बाह्य सघर्ष का स्थान शीघ्र ही चाणक्य की आत्मा का सघर्ष ले लेता है। वस्तुत नाटक में जो भी उथल-पुथल है वह चाणक्य के कारण होती है, और इतिहास-चक्र उसी के भावावेगो द्वारा निर्धारित मार्ग पर चलता है। पहले ही दृश्य में उत्कृष्ट नाटकीय तनाव का चित्रण है और इसे चाणक्य के अपमान और बदला लेने की प्रतिज्ञा द्वारा कायम रखा गया है। चन्द्रगुप्त कमोवेश चाणक्य की योजनाओ को कार्य रूप देने वाला यत्र मात्र है। वह चन्द्रगुप्त को अपने भाई की हत्या के लिए राज़ी करने के लिए उसकी माता का सहारा लेता है और राज-सत्ता को मज़बूत बनाने पर सम्राट को भला बुरा कहता है। चाणक्य विशुद्ध बुद्धिवादी है। उसके लिए भावना का कोई स्थान नही। अत उसे कष्टदायक आन्तरिक शून्यता का अनुभव होता है पर वह नही समझ पाता कि कैसे शून्यता को भरा जाय। दी काल से खोई हुई अपनी पुत्री को पाने पर उसके जीवन का क्रम बदलता है और अवरुद्ध भावावेग उमड कर उसे डुबो देता है। नाटक के प्रेम-प्रसग निर्जीव और पिष्ट-पेषित हैं। चाणक्य का चरित्र नाटक के अन्य चरित्रो को दबा लेता है और हमें ऐसा लगने लगता है कि चरित्रो को सतुलित ढग से नही सजोया गया है। नाटक के जो भी प्रसग चाणक्य का स्पर्श नही करते वे अप्रासगिक लगते हैं और हमें ऐसा लगता है कि यदि वे चाणक्य के इर्द-गिर्द गतिमान होते तभी सार्थक होते।

द्विजेन्द्रलाल के बाद बगाल में ऐतिहासिक नाटक का प्रवाह मद और अनुल्लेखनीय रहा। आधुनिक नाटककारो में सचीन सेनगुप्त के 'सिराजुदौला' 'गैरिक पटक' 'राष्ट्र विप्लव' और 'धात्री पन्ना', महेन्द्र गुप्त के 'टीपू सुलतान' और 'रणजीतसिंह', निशिकान्त वसु के 'वगे वारगी' और योगेश चौधरी के 'दिग्विजयी' का उल्लेख किया जा

(१८९४) एक अन्य प्रसिद्ध नाटक है जिसमें एक दुखी माता की मर्मस्पर्शी वेदना है। 'पाण्डव-कौरव' (१९००) मे पुराणो के एक ऐमे प्रसग का चित्रण है जिसमें पाण्डव कृष्ण के विरुद्ध हो जाते हैं क्योंकि उन्होने दण्डी को शरण में ले रखा है। भीम और द्रौपदी के चरित्र श्रीकृष्ण के विरुद्ध पश्चात्तापपूर्ण सकल्प-युक्त हैं वे प्रभु के विरुद्ध कोमल और प्रिय उपालम्भ-युक्त हैं। क्षीरोद विद्याविनोद कृत 'भीष्म' (१९१३) और 'नर-नारायण' (१९१६) महाभारत के युद्ध-प्रसगो के नाटकीय रूपान्तर हैं और आज भी उनमें प्राणवत्ता और अपील है। योगेश चौधरी का नाटक 'सीता' (१९२४) एक अन्य उल्लेखनीय नाटक है जिसमे सीता-परित्याग की नैतिक समस्या को आधुनिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न है। शिशिर भादुडी की महान अभिनय-कला का सहारा पाकर इस नाटक ने गहरा असर छोडा है और इसमें मानव-मनोभावनाओ का हृदय-द्रावक चित्रण है।

आधुनिक काल में बँगला नाटक की कोई विशेष सफलता दृष्टिगोचर नही हुई है। पुराने विषयो पर जो कुछ लिखा जा सकता था लिखा जा चुका है और नये विषयो को नही खोजा गया। जीवन अपनी प्राचीन जडो से विच्छिन्न हो गया है। महान और शाश्वत आदर्श दूर जा चुके हैं। गहन सवेदनाओं का स्रोत सूख चुका है। आज हम इस क्षण से उस क्षण तक लुढकते-लडखडाते हुए वढ रहे हैं। हमारे जीवन की दिशा आर्थिक आवश्यकताओ द्वारा निर्दिष्ट होती है। हमें जीवन के कठोर सघर्ष का सामना करना पडता है। हमारा जीवन अधिकाधिक बिखरता जा रहा है—वह नये विचारो और नई सूचनाओ को ग्रहण करता जा रहा है पर उन्हें एक सुगठित सम्यक स्वरूप नही दे रहा है। निस्सदेह हमारे जीवन में महान्, उल्लासपूर्ण क्षण भी आते हैं। ये ऐसे अनुभूत क्षण हैं जो सामान्यतः नीरस, नियमवद्ध अस्तित्व को सहसा विश्रान्ति देते हैं। पर ये केवल आकस्मिक, असम्वद्ध उल्लास हैं जो जीवन-दर्शन नही बन पाते, एक व्यापक जीवन-व्यवस्था और आदर्श नही बन पाते। हमारे जीवन को विस्तार तो मिला है पर गहराई और भावनात्मक तीव्रता हमने खोई है। कोई समस्या, जिसका सामना हमें आज करना होता है, पाँच अको के नाटक की विस्तृत और सघन परिधि में कस वँध कर नही प्रस्तुत हो पाती। वह एकाकी के छोटे दायरे में ही आती है। यही कारण है कि हम आज छोटे दायरे के नाटको की भरमार देख रहे हैं। ये एक से लेकर तीन अको तक के नाटक होते हैं। मन्मथ राय ने, जो अपेक्षाकृत तरुण नाटककार हैं, एकाकियो का एक सग्रह निकाला है जिसमे उन्हे आश्चर्यजनक सफलता मिली है एव और अधिक आश्चर्यजनक सम्भावनाएँ निहित हैं। ये ऐसे एकाकी हैं जो रग मच की वजाय वद कमरे में खेले जा सकें, लेकिन इस

(१८६४) एक अन्य प्रसिद्ध नाटक है जिसमें एक दुखी माता की मर्मस्पर्शी वेदना है । 'पाण्डव-कौरव'(१६००) मे पुराणो के एक ऐमे प्रसग का चित्रण है जिसमें पाण्डव कृष्ण के विरुद्ध हो जाते हैं क्योंकि उन्होने दण्डी को शरण में ले रखा है। भीम और द्रौपदी के चरित्र श्रीकृष्ण के विरुद्ध पश्चात्तापपूर्ण सकल्प-युक्त हैं वे प्रभु के विरुद्ध कोमल और प्रिय उपालम्भ-युक्त हैं। क्षीरोद विद्याविनोद कृत 'भीष्म' (१६१३) और 'नर-नारायण' (१९१६) महाभारत के युद्ध-प्रसगो के नाटकीय रूपान्तर हैं और आज भी उनमें प्राणवत्ता और अपील है। योगेश चौधरी का नाटक 'सीता' (१६२४) एक अन्य उल्लेखनीय नाटक है जिसमे सीता-परित्याग की नैतिक समस्या को आधुनिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न है। शिशिरा भादुडी की महान अभिनय-कला का सहारा पाकर इस नाटक ने गहरा असर छोडा है और इसमें मानव-मनोभावनाओ का हृदय-द्रावक चित्रण है।

आधुनिक काल में बँगला नाटक की कोई विशेष सफलता दृष्टिगोचर नही हुई है। पुराने विषयो पर जो कुछ लिखा जा सकता था लिखा जा चुका है और नये विषयो को नही खोजा गया। जीवन अपनी प्राचीन जडो से विच्छिन्न हो गया है। महान और शाश्वत आदर्श दूर जा चुके हैं। गहन सवेदनाओं का स्रोत सूख चुका है। आज हम इस क्षण से उस क्षण तक लुढकते-लडखडाते हुए बढ रहे हैं। हमारे जीवन की दिशा आर्थिक आवश्यकताओ द्वारा निर्दिष्ट होती है। हमें जीवन के कठोर सघर्ष का सामना करना पडता है। हमारा जीवन अधिकाधिक बिखरता जा रहा है—वह नये विचारो और नई सूचनाओ को ग्रहण करता जा रहा है पर उन्हें एक सुगठित सम्यक स्वरूप नही दे रहा है। निस्सदेह हमारे जीवन में महान्, उल्लासपूर्ण क्षण भी आते हैं। ये ऐसे अनुभूत क्षण हैं जो सामान्यतः नीरस, नियमबद्ध अस्तित्व को सहसा विश्रान्ति देते हैं। पर ये केवल आकस्मिक, असम्बद्ध उल्लास हैं जो जीवन-दर्शन नही बन पाते, एक व्यापक जीवन-व्यवस्था और आदर्श नही बन पाते। हमारे जीवन को विस्तार तो मिला है पर गहराई और भावनात्मक तीव्रता हमने खोई है। कोई समस्या, जिसका सामना हमें आज करना होता है, पाँच अको के नाटक की विस्तृत और सघन परिधि में कस वँध कर नही प्रस्तुत हो पाती। वह एकाकी के छोटे दायरे में ही आती है। यही कारण है कि हम आज छोटे दायरे के नाटको की भरमार देख रहे हैं। ये एक से लेकर तीन अको तक के नाटक होते हैं। मन्मथ राय ने, जो अपेक्षाकृत तरुण नाटककार हैं, एकाकियो का एक सग्रह निकाला है जिसमे उन्हे आश्चर्यजनक सफलता मिली है एव और अधिक आश्चर्यजनक सम्भावनाएँ निहित हैं। ये ऐसे एकाकी हैं जो रगमच की वजाय बद कमरे में खेले जा सकें, लेकिन इस

असमिया नाटक

—डॉ० प्रफुल्ल गोस्वामी

असमिया नाटक का इतिहास शकरदेव (१४४६-१५५८) के नाम से सम्बद्ध 'अकिया नाट' प्रकार के नाटको से प्रारम्भ होता है। यह ज्ञात नही कि किस कारण शकरदेव ने इस प्रकार-विशेष को अपनाया। चिह्न-जात्रा का निर्माणकाल भी किंचित् विवादास्पद है। इसका कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता कि उन्होंने इसका निर्माण उन्नीस वर्ष की अवस्था में किया अथवा अपनी उस लम्बी तीर्थयात्रा के पश्चात् जिसका समय १६ वी शती का प्रारम्भ माना जाता है।

शकरदेव की इस प्रथम नाट्य-कृति के प्रदर्शन की भी बडी रोचक कथा है। रामचरण ठाकुर (१६००) द्वारा लिखित उनकी जीवनी से पता चलता है कि एक सन्यासी उन्हे चित्रकला की शिक्षा दिया करता था। चिह्न-जात्रा के प्रदर्शन के हेतु शकरदेव ने सातो बैकुण्ठो को पट पर चित्रित किया, नर्तक तैयार किये और दवी चरित्रो के योग्य रथ और मुखौटे बनाये। यह नाटक अभी अप्राप्य है यद्यपि इस सन्त नाटककार द्वारा लिखित कोई भी महत्वपूर्ण रचना नष्ट नही हुई है। यदि कुछ नष्ट भी हुआ है तो भी उसके अस्तित्व के प्रमाण हमें मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाटक लिखा ही नही गया था क्योकि इस नाटक का मुख्य विषय स्वर्ग और देवता थे जिन पर कथन, गीत और नृत्य द्वारा प्रकाश डाला जाता था। 'जात्रा' शब्द भी साभिप्राय है। परन्तु चित्रो का प्रयोग और "पट" शब्द हमें यम-पट्टिकाकारो का स्मरण कराते हैं जो यमपुरी के दृश्यो को पटो पर चित्रित कर आवश्यक टीका सहित प्रदर्शित किया करते थे। इस कलात्मक परम्परा के दर्शन हमें बाणभट्ट के हर्षचरित और विशाखदत्त-रचित मुद्राराक्षस जैसे महान् सस्कृत ग्रन्थो में मिलते हैं।

आगे चलकर यमपुरी के दृश्यो के प्रदर्शन की परम्परा पर राम और कृष्ण की लीलाओ का प्रभाव पडा जिससे राम और कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध दृश्यो का प्राधान्य होने लगा। इस कला के लिये बगाल और उडासा के पटुवे प्रसिद्ध हैं। इनके बनाये सौ वर्ष से भी पुराने चित्र मिले हैं जिनके लिये कपडे का कम और कागज़ का अधिक प्रयोग किया गया है। १० अक्तूबर १९४८ के 'दी इलस्ट्रेटिड

असमिया नाटक

—डॉ० प्रफुल्ल गोस्वामी

असमिया नाटक का इतिहास शकरदेव (१४४६-१५५८) के नाम से सम्बद्ध 'अकिया नाट' प्रकार के नाटको से प्रारम्भ होता है। यह ज्ञात नही कि किस कारण शकरदेव ने इस प्रकार-विशेष को अपनाया। चिह्न-जात्रा का निर्माणकाल भी किंचित् विवादास्पद है। इसका कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता कि उन्होंने इसका निर्माण उन्नीस वर्ष की अवस्था में किया अथवा अपनी उस लम्बी तीर्थयात्रा के पश्चात् जिसका समय १६ वी शती का प्रारम्भ माना जाता है।

शकरदेव की इस प्रथम नाट्य-कृति के प्रदर्शन की भी बडी रोचक कथा है। रामचरण ठाकुर (१६००) द्वारा लिखित उनकी जीवनी से पता चलता है कि एक सन्यासी उन्हे चित्रकला की शिक्षा दिया करता था। चिह्न-जात्रा के प्रदर्शन के हेतु शकरदेव ने सातो बैकुण्ठो को पट पर चित्रित किया, नर्तक तैयार किये और दवी चरित्रो के योग्य रथ और मुखौटे बनाये। यह नाटक अभी अप्राप्य है यद्यपि इस सन्त नाटककार द्वारा लिखित कोई भी महत्वपूर्ण रचना नष्ट नही हुई है। यदि कुछ नष्ट भी हुआ है तो भी उसके अस्तित्व के प्रमाण हमें मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाटक लिखा ही नही गया था क्योंकि इस नाटक का मुख्य विषय स्वर्ग और देवता थे जिन पर कथन, गीत और नृत्य द्वारा प्रकाश डाला जाता था। 'जात्रा' शब्द भी साभिप्राय है। परन्तु चित्रो का प्रयोग और "पट" शब्द हमें यम-पट्टिकाकारो का स्मरण कराते हैं जो यमपुरी के दृश्यो को पटो पर चित्रित कर आवश्यक टीका सहित प्रदर्शित किया करते थे। इस कलात्मक परम्परा के दर्शन हमें बाणभट्ट के हर्षचरित और विशाखदत्त-रचित मुद्राराक्षस जैसे महान् सस्कृत ग्रन्थो में मिलते हैं।

आगे चलकर यमपुरी के दृश्यो के प्रदर्शन की परम्परा पर राम और कृष्ण की लीलाओ का प्रभाव पडा जिससे राम और कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध दृश्यो का प्राधान्य होने लगा। इस कला के लिये बगाल और उडासा के पटुवे प्रसिद्ध हैं। इनके बनाये सौ वर्ष से भी पुराने चित्र मिले हैं जिनके लिये कपडे का कम और कागज़ का अधिक प्रयोग किया गया है। १० अक्तूबर १९४८ के 'दी इलस्ट्रेटिड

सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान होता है। वह सगीत और नृत्य मे भी पटु होता अत यदि कहा जाये कि नाटक उसमे प्रत्यक्ष होता है, तो अतिशयोक्ति न होगी। शकरदेव की मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने न केवल जनता के सम्मुख भाषा में एक नाटक रक्खा वरन सस्कृतेतर भारतीय रगमच पर पहले-पहल गद्य का प्रयोग किया। सभाषण काव्यमय गद्य में होते थे जिनमें उत्तर भारत मे प्रचलित बोली के मुहावरे का पुट रहता था। वाक्य छोटे-छोटे और सुबोध होते थे और कभी तो यथार्थ का बोध कराते थे जैसे पारिजातहरण मे स्त्रियो का कलह।

नाटककार का उद्देश्य वैष्णव-धर्म का प्रचार करना है अत उसमे चरित्र-चित्रण के लिये अधिक स्थान नही फिर भी वह उबाने वाला नही है। रुक्मिणी-हरण (लगभग १५५० ई०) और माधवदेव के पिपरागुचुआ जैसे नाटको में चरित्र-चित्रण और हास्य का अभाव नही है। नाटक की कथा भागवत् और हरिवश से ली गई है किन्तु भावुक पर दृढप्रतिज्ञ रुक्मिणी और ब्राह्मण वेदनिधि के चरित्र-चित्रण का भली-भाँति निर्वाह किया गया है। नाटक में हमें रोमाटिक कृति का सा आनन्द आता है।

ये नाटक नामघर हॉल अथवा खुले पण्डालो में सध्या को खेले जाते थे और प्राय सारी रात चलते थे। रगमच की एक विशेषता 'ओर कापोर' अर्थात् वह पर्दा था जो रगमच पर अभिनेता के आने से पूर्व लटका दिया जाता था। अभिनेता नटुवा कहलाते थे और वे रगमच पर नृत्य करते हुये आते थे। मुखौटो का प्रयोग सदा ही होता था-विशेष रूप से ब्रह्मा, गणेश आदि देवताओ तथा वकासुर, रावण आदि दैत्यो तथा हनुमान और पक्षिराज गरुड़ के लिये। सूत्रधार शरीर पर एक प्रकार का लम्बा चोग़ा-सा और सिर पर पगडी धारण करता था। सूत्रधार का वेष और कार्य किन्ही अ शो में ओजा-पाली नृत्य में ओजा के वेष और कार्य से मिलता-जुलता है। इस नृत्य में ओजा मानस-काव्य अथवा वैष्णव ग्रन्थो से मुद्रा-कविता का पाठ करता है और दाइना अर्थात् मुख्य पाली की सहायता से स्पष्ट करता है। एक मत यह भी प्रकट किया गया है कि सूत्रधार अकिया नाट और ओजापाली के बीच की कडी है। ओजा पाली अकिया नाट से पुराना है।

शकरदेव के प्रमुख शिष्य माधवदेव ने भी कुछ ऐसे नाटको की रचना की जो झुमुरा के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे शकरदेव के नाटको की अपेक्षा सुबोध हैं और गीत-प्रधान हैं। इनमें से कुछ नाटक माधवदेव रचित नही प्रतीत होते। शकरदेव ने दास्य भाव की भक्ति पर बल दिया और माधवदेव ने वात्सल्य भाव पर। अत माधवदेव की रचनाओं में कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन अधिक मिलता है

सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान होता है। वह सगीत और नृत्य मे भी पटु होता अत यदि कहा जाये कि नाटक उसमे प्रत्यक्ष होता है, तो अतिशयोक्ति न होगी। शकरदेव की मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने न केवल जनता के सम्मुख भाषा में एक नाटक रक्खा वरन सस्कृतेतर भारतीय रगमच पर पहले-पहल गद्य का प्रयोग किया। सभाषण काव्यमय गद्य में होते थे जिनमें उत्तर भारत मे प्रचलित बोली के मुहावरे का पुट रहता था। वाक्य छोटे-छोटे और सुबोध होते थे और कभी तो यथार्थ का बोध कराते थे जैसे पारिजातहरण मे स्त्रियों का कलह।

नाटककार का उद्देश्य वैष्णव-धर्म का प्रचार करना है अत उसमे चरित्र-चित्रण के लिये अधिक स्थान नही फिर भी वह उबाने वाला नही है। रुक्मिणी-हरण (लगभग १५५० ई०) और माधवदेव के पिपरागुनुआ जैसे नाटको में चरित्र-चित्रण और हास्य का अभाव नही है। नाटक की कथा भागवत् और हरिवंश से ली गई है किन्तु भावुक पर दृढप्रतिज्ञ रुक्मिणी और ब्राह्मण वेदनिधि के चरित्र-चित्रण का भली-भाँति निर्वाह किया गया है। नाटक में हमें रोमाटिक कृति का सा आनन्द आता है।

ये नाटक नामघर हॉल अथवा खुले पण्डालो में सध्या को खेले जाते थे और प्राय सारी रात चलते थे। रगमच की एक विशेषता 'ग्रॉर कापोर' अर्थात् वह पर्दा था जो रगमच पर अभिनेता के आने से पूर्व लटका दिया जाता था। अभिनेता नटुवा कहलाते थे और वे रगमच पर नृत्य करते हुये आते थे। मुखौटो का प्रयोग सदा ही होता था-विशेष रूप से ब्रह्मा, गणेश आदि देवताओ तथा बकासुर, रावण आदि दैत्यो तथा हनुमान और पक्षिराज गरुड़ के लिये। सूत्रधार शरीर पर एक प्रकार का लम्बा चोग़ा-सा और सिर पर पगडी धारण करता था। सूत्रधार का वेष और कार्य किन्ही अ शो में ओजा-पाली नृत्य में ओजा के वेष और कार्य से मिलता-जुलता है। इस नृत्य में ओजा मानस-काव्य अथवा वैष्णव ग्रन्थो से मुद्रा-कविता का पाठ करता है और दाइना अर्थात् मुख्य पाली की सहायता से स्पष्ट करता है। एक मत यह भी प्रकट किया गया है कि सूत्रधार अकिया नाट और ओजापाली के बीच की कडी है। ओजा पाली अकिया नाट से पुराना है।

शकरदेव के प्रमुख शिष्य माधवदेव ने भी कुछ ऐसे नाटको की रचना की जो झुमुरा के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे शकरदेव के नाटको की अपेक्षा सुबोध ,हैं और गीत-प्रधान हैं। इनमें से कुछ नाटक माधवदेव रचित नही प्रतीत होते। शकरदेव ने दास्य भाव की भक्ति पर बल दिया और माधवदेव ने वात्सल्य भाव पर। अत माधवदेव की रचनाओं में कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन अधिक मिलता है

इसके बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में (१८३६-७३) आसाम के स्कूलो और न्यायालयो पर बँगला भाषा थोप दी गई। अठारहवी शती के मध्य से ही आसाम में घरेलू फूट का सूत्रपात हो गया था। फिर वहाँ विदेशियो का आगमन हुआ और उसने परतन्त्रता की बेडियाँ पहनी। स्थानीय भाषा का ह्रास हुआ। स्वतन्त्रता के अपहरण के कारण लोग मार्ग-भ्रष्ट हुये। उन्हे अफीम की लत पड़ी। इन सब ने मिलकर देश के सास्कृतिक जीवन पर कठोर कुठाराघात किया। १८५७ तक भी असमी अपने लुप्त गौरव को पुन प्राप्त करने के स्वप्न देखते रहे पर वह मणिराम दीवान को फाँसी दे देने के साथ ही छिन्न-भिन्न हो गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वहाँ के जागरूक युवक वर्ग ने यह अनुभव किया कि उन्हे परिवर्तित परिस्थितियो के अनुकूल अपने आपको ढालना चाहिये। इस नई विचारधारा को शिबसागर से अमरीकी बैपटिस्ट मिशन द्वारा प्रकाशित अरुणोदय नामक मासिक पत्र में स्थान मिला। सर्वप्रथम आधुनिक असमिया नाटक की रचना का श्रेय हेमचन्द बरुआ को है जिन्होंने अपनी साहित्य-साधना अरुणोदय के वातावरण मे की।

यह सत्य है कि अकिया प्रकार के नाटको को वैष्णव मठो ने जीवित रक्खा परन्तु आधुनिकता की दृष्टि से जिसे हम नाटक कह सकते हैं, उसकी नीव हेमचन्द बरुआ के कानियार कीर्तन (अफीमची के लटके) से ही पडी। नाटक मे नान्दी और प्रस्तावना नही है। यह पूर्णरूप से सामाजिक नाटक है और इसमे अफीम की लत से होने वाले नैतिक ह्रास का चित्र है। सक्षेप में कथा इस प्रकार है एक भले और अच्छे घराने के युवा को अफीम की लत पड़ जाती है। उसका स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। वह अपनी सारी सम्पत्ति गँवा बैठता है और अपनी गृहिणी के ज़ेवर बेच कर खर्च चलाता है। इतना ही नही, वह अपनी पत्नी से अफीम का औषधि की भाँति प्रयोग करने को कहता है ताकि लत पड जाने के बाद वह अपनी पत्नी के ज़ेवर और आसानी से हड़प सके। अन्त मे दुर्गत हो कर वह एक जेल के अस्पताल में मर जाता है। नाटक के चार अङ्क हैं और प्रत्येक अङ्क के लगभग चार दृश्य। इसमें चरम विन्दु नाम की कोई वस्तु तो नही है पर उस दृश्य में जिसमें चन्द्रप्रभा अपने पति कीर्तिकान्त को अफीम की लत डालने के लिये धिक्कारती है, अवश्य कुछ तीखापन है। नाटककार हास्य तथा चरित्र के चित्रण में सफल रहा है। उनका गद्य यदि पैना नही तो अलकार विहीन तथा स्वाभाविक अवश्य है। हेमचन्द बरूआ के शब्दो में, 'इस छोटे नाटक' की रचना अफीम की लत के उन कुप्रभावो पर प्रकाश डालने के लिये की गई जिन्होंने आसाम के पौरुष को खोखला कर डाला था।'

इन आधुनिक नाटको में से अधिकाश हस्तलिखित रूप में प्रचारित किये गये। अत इनका इतिहास बहुत स्पष्ट नही है। गौहाटी नगर में एक सार्वजनिक रगमच की

इसके बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में (१८३६-७३) आसाम के स्कूलो और न्यायालयो पर बँगला भाषा थोप दी गई। अठारहवी शती के मध्य से ही आसाम में घरेलू फूट का सूत्रपात हो गया था। फिर वहाँ विदेशियो का आगमन हुआ और उसने परतन्त्रता की बेडियाँ पहनी। स्थानीय भाषा का ह्रास हुआ। स्वतन्त्रता के अपहरण के कारण लोग मार्ग-भ्रष्ट हुये। उन्हे अफीम की लत पड़ी। इन सब ने मिलकर देश के सास्कृतिक जीवन पर कठोर कुठाराघात किया। १८५७ तक भी असमी अपने लुप्त गौरव को पुन प्राप्त करने के स्वप्न देखते रहे पर वह मणिराम दीवान को फाँसी दे देने के साथ ही छिन्न-भिन्न हो गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वहाँ के जागरूक युवक वर्ग ने यह अनुभव किया कि उन्हे परिवर्तित परिस्थितियो के अनुकूल अपने आपको ढालना चाहिये। इस नई विचारधारा को शिबसागर से अमरीकी वैपटिस्ट मिशन द्वारा प्रकाशित अरुणोदय नामक मासिक पत्र में स्थान मिला। सर्वप्रथम आधुनिक असमिया नाटक की रचना का श्रेय हेमचन्द बरुआ को है जिन्होंने अपनी साहित्य-साधना अरुणोदय के वातावरण मे की।

यह सत्य है कि अकिया प्रकार के नाटको को वैष्णव मठो ने जीवित रक्खा परन्तु आधुनिकता की दृष्टि से जिसे हम नाटक कह सकते हैं, उसकी नीव हेमचन्द बरुआ के कानियार कीर्तन (अफीमची के लटके) से ही पडी। नाटक मे नान्दी और प्रस्तावना नही है। यह पूर्णरूप से सामाजिक नाटक है और इसमे अफीम की लत से होने वाले नैतिक ह्रास का चित्र है। सक्षेप में कथा इस प्रकार है एक भले और अच्छे घराने के युवा को अफीम की लत पड़ जाती है। उसका स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। वह अपनी सारी सम्पत्ति गँवा वैठता है और अपनी गृहिणी के जेवर वेच कर खर्च चलाता है। इतना ही नही, वह अपनी पत्नी से अफीम का औषधि की भाँति प्रयोग करने को कहता है ताकि लत पड जाने के बाद वह अपनी पत्नी के जेवर और आसानी से हडप सके। अन्त मे दुर्गत हो कर वह एक जेल के अस्पताल में मर जाता है। नाटक के चार अङ्क हैं और प्रत्येक अङ्क के लगभग चार दृश्य। इसमें चरम विन्दु नाम की कोई वस्तु तो नही है पर उस दृश्य में जिसमें चन्द्रप्रभा अपने पति कीर्तिकान्त को अफीम की लत डालने के लिये धिक्कारती है, अवश्य कुछ तीखापन है। नाटककार हास्य तथा चरित्र के चित्रण में सफल रहा है। उनका गद्य यदि पैना नही तो अलकार विहीन तथा स्वाभाविक अवश्य है। हेमचन्द बरूआ के शब्दो में, 'इस छोटे नाटक ' की रचना अफीम की लत के उन कुप्रभावो पर प्रकाश डालने के लिये की गई जिन्होंने आसाम के पौरुष को खोखला कर डाला था।'

इन आधुनिक नाटको में से अधिकाश हस्तलिखित रूप में प्रचारित किये गये। अत इनका इतिहास बहुत स्पष्ट नही है। गौहाटी नगर में एक सार्वजनिक रगमच की

लम्बे हो गये हैं। भाषा नाटक के उपयुक्त हैं और उसमें गाभीर्य तथा हास्य दोनो का पुट हैं।

इस हास्य रूप के अतिरिक्त बेजबरुआ का एक गभीर रूप भी है जो उनके ऐतिहासिक नाटको मे मिलता है। 'चक्रध्वजसिह' (१९१५) का विषय सत्रहवी शती के मध्य में असमी-मुगल सघर्ष तथा गोहाटी के निकट सरायघाट के जलपोत-युद्ध में मुगल सेनानायक राजा रामसिह की अन्तिम पराजय है। नाटक के प्रमुख पात्र जैसे आसाम-नरेश चक्रध्वजसिह, महान असम योद्धा लाचित वरफुकन, राजा रामसिह, शहशाह औरगजेब ऐतिहासिक हैं परन्तु घटनाक्रम प्रस्तुत करने मे नाटककार ने काफी स्वतत्रता का परिचय दिया है और कुछ सहायक पात्रों का निर्माण किया है। इनमे से एक पात्र लाचित वरफुकन का पुत्र प्रिय राम है जो हेनरी चतुर्थ के विनोद प्रिय राजकुमार हॉल के सदृश ही है। गजपूरीय फॉलस्टाफ का असमिया सस्करण ही है। समग्र रूप से नाटक मनोरजक है। गजपूरीय वाले दृश्य वहुत सजीव वन पडे हैं।

जयमती की रचना से बेज़वरुआ और अधिक लोकप्रिय हो गये। यह सत्रहवी शती की एक राजकुमारी की जीवनी पर आधारित है। इस राजकुमारी को सत्ताधारी नरेश ने यत्रणा दे-देकर मार डाला था क्योकि उसने अपने फरार पति गदाधर के सवध में सूचना देने से इकार कर दिया था। नाटक वडे ही शात वातावरण में प्रारभ होता है लेकिन शीघ्र ही भावी घटनाओ का आभास मिलने लगता है। नरेश अपने अत्याचारी और दूरदर्शी प्रधान मत्री की सलाह से राजकुमारी को यत्रणा देता है। गदाधर जो नगा पहाडियों में छिपा हुआ था, यह जानकर बेचैन हो जाता है कि उसकी पत्नी उसकी खातिर कष्ट पा रही है। नरेश भय और आशका से त्रस्त हो जाता है। गदाधर छद्मवेष मे जयमती के पास जाता है। परन्तु वह उसे गिरफ्तार नही होने देना चाहती क्योकि वह इस कार्य को देश के हित में नही समझती। विषय नितान्त दुखान्त है। नाटक के विशेष पात्रो में नगा कन्या डालिमी है जो गदाधर की सहायता करती है। प्रथम दृदय मे शेक्सपीयर की तकनीक का प्रभाव मिलता है। इस दृश्य में दो सेवक अपने स्वामी और स्वामिनी के बारे में लम्बे स्वागत भाषणो द्वारा सूचना प्रदान करते हैं। इस पात्र के निर्माण में 'दि फूल' से प्रेरणा ली गई है। कथोपकथन प्राय लम्बा और कुछ अनाटकीय है।

पद्मनाथ गोहाई बरुआ ने भी देशप्रेम-विषयक नाटको की रचना की। उनका 'लचित बरफुकन' (१९१५) मुगलो की पराजय पर आधारित है। बेज़बरुआ के चक्रध्वजसिह की अपेक्षा यह ऐतिहासिक अभिलेखो के अधिक निकट है और असमी सेनानी की उन गतविधियो पर आधारित है जिनके कारण आक्रमणकारियो

लम्बे हो गये हैं। भाषा नाटक के उपयुक्त हैं और उसमें गाभीर्य तथा हास्य दोनो का पुट हैं।

इस हास्य रूप के अतिरिक्त बेजबरुआ का एक गभीर रूप भी है जो उनके ऐतिहासिक नाटको मे मिलता है। 'चक्रध्वजसिंह' (१९१५) का विषय सत्रहवी शती के मध्य में असमी-मुगल सघर्ष तथा गोहाटी के निकट सरायघाट के जलपोत-युद्ध में मुगल सेनानायक राजा रामसिंह की अन्तिम पराजय है। नाटक के प्रमुख पात्र जैसे आसाम-नरेश चक्रध्वजसिंह, महान असम योद्धा लाचित बरफुकन, राजा रामसिंह, शहशाह औरगजेब ऐतिहासिक हैं परन्तु घटनाक्रम प्रस्तुत करने मे नाटककार ने काफी स्वतत्रता का परिचय दिया है और कुछ सहायक पात्रों का निर्माण किया है। इनमे से एक पात्र लाचित बरफुकन का पुत्र प्रिय राम है जो हेनरी चतुर्थ के विनोद प्रिय राजकुमार हॉल के सदृश ही है। गजपूरीय फॉलस्टाफ का असमिया सस्करण ही है। समग्र रूप से नाटक मनोरजक है। गजपूरीय वाले दृश्य बहुत सजीव बन पडे हैं।

जयमती की रचना से बेज़बरुआ और अधिक लोकप्रिय हो गये। यह सत्रहवी शती की एक राजकुमारी की जीवनी पर आधारित है। इस राजकुमारी को सत्ताधारी नरेश ने यत्रणा दे-देकर मार डाला था क्योकि उसने अपने फरार पति गदाधर के सबध में सूचना देने से इकार कर दिया था। नाटक बडे ही शात वातावरण में प्रारभ होता है लेकिन शीघ्र ही भावी घटनाओ का आभास मिलने लगता है। नरेश अपने अत्याचारी और दूरदर्शी प्रधान मत्री की सलाह से राजकुमारी को यत्रणा देता है। गदाधर जो नगा पहाडियों में छिपा हुआ था, यह जानकर बेचैन हो जाता है कि उसकी पत्नी उसकी खातिर कष्ट पा रही है। नरेश भय और आशका से त्रस्त हो जाता है। गदाधर छद्मवेष मे जयमती के पास जाता है। परन्तु वह उसे गिरफ्तार नही होने देना चाहती क्योकि वह इस कार्य को देश के हित में नही समझती। विषय नितान्त दुखान्त है। नाटक के विशेष पात्रो में नगा कन्या डालिमी है जो गदाधर की सहायता करती है। प्रथम दृश्य मे शेक्सपीयर की तकनीक का प्रभाव मिलता है। इस दृश्य में दो सेवक अपने स्वामी और स्वामिनी के बारे में लम्बे स्वागत भाषणो द्वारा सूचना प्रदान करते हैं। इस पात्र के निर्माण में 'दि फूल' से प्रेरणा ली गई है। कथोपकथन प्राय लम्बा और कुछ अनाटकीय है।

पद्मनाथ गोहाई बरुआ ने भी देशप्रेम-विषयक नाटको की रचना की। उनका 'लचित बरफुकन' (१९१५) मुगलो की पराजय पर आधारित है। बेज़बरुआ के चक्रध्वजसिंह की अपेक्षा यह ऐतिहासिक अभिलेखो के अधिक निकट है और असमी सेनानी की उन गतविधियो पर आधारित है जिनके कारण आक्रमणकारियो

महरि की परम्परा को आगे बढाती हैं। नाटक-रचना का प्रथम प्रयास राजखोआ ने दो दशाब्दी पूर्व ही कर लिया था। महरि की रचना दुर्गाप्रसाद दत्त मजूमदार वरुआ ने १६०८ में की थी।

चन्द्रधर वरुआ के 'मेघनाद वध' (१६०४) में और अधिक लोचदार अतुकात छन्द के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से यह गोहाईं वरुआ के 'गदाधरसिंह' से भी बढकर है। बरुआ की कृति '**भाग्य परीक्षा**' गद्य-पद्यमय एक मनोरजक सुखात नाटक है। इन्ही के समकालीन दुर्गेश्वर शर्मा हैं जिन्होंने दो पौराणिक नाटको के अतिरिक्त शेक्सपियर के 'एज यू लाइक इट' का चन्द्रावली (१६१०) नाम से रूपान्तर किया।

इस शती की तृतीय दशाब्दी में नाटकों की परम्परा तो अक्षुण्ण रही परन्तु सामाजिक नाटको का स्थान पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटक लेने लगे। इस अवधि में ग्रामजनो के लिये वीर रस के बँगला नाटको का पर्याप्त रूपान्तर हुआ। इनमें से कुछ नाटको से—जैसे राणा प्रताप, वाजीराव, सग्रामसिंह, कालापहाड—पता चलता है कि इस प्रकार के नाटको का असमिया के शान्त रस के नाटको की अपेक्षा अधिक स्वागत हुआ। भाग्यवश इस थियेटरवाजी का असमिया नाटक की मूल धारा पर कोई प्रभाव नही पडा। असमिया नाटककारो को काफी पहले से नाटक की बारीकियो का ज्ञान था—इसका सकेत मजूमदार वरुआ की 'गुरु-दक्षिणा' की भूमिका से मिल जाता है जिसमें नाटककार अगरेजी शब्दो के असमिया और बँगला पर्यायो पर अपने विचार प्रकट करता है। उदाहरणार्थ एक्ट और सीन के लिये वह बँगला के गर्भांक की अपेक्षा दरसन को पसन्द करते हैं।

बँगला में नव राष्ट्रवादी आन्दोलन का—जिसका आरम १६०५ से माना जाता है—प्रभाव रगमच पर काफी पडा है। फलत राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत कई ऐतिहासिक नाटको की रचना की गई। यह सभव है कि स्वदेशी आन्दोलन और बकिमचन्द्र तथा द्विजेन्द्रलाल राय की प्रेरणा का प्रभाव असमिया नाटककारो की चेतना पर भी पडा हो। लेकिन असमिया के बुरजी जो ब्रिटिश आधिपत्य के बाद लिखे जाते रहे—न केवल नाटको की कथावस्तु के लिये बल्कि देशभक्ति के लिए भी प्रेरणा के स्रोत सिद्ध हुए। गाँधी जी के आन्दोलन ने भी राष्ट्रवादी भावनाओ को बल दिया होगा। अत तीसरी शताब्दी में राधाकान्त सन्दिकाइ के 'मुला-गाभारु' (१६२४ अतुकान्त), नकुलचन्द्र भुइयन के 'चन्द्रकान्तसिंह' और 'वदन बरफुकन' (१६२६), देवाचन्द्र तालुकदार के 'असम-प्रतिभा' (१६२५), गणेशलाल चौधरी के 'नीलाम्बर' (दुखान्त) जैसे नटको की रचना होने लगी। गाभीर्य-रहित नाटको में मित्रदेव महन्त के प्रहसन, पौराणिक

महरि की परम्परा को आगे बढाती हैं। नाटक-रचना का प्रथम प्रयास राजखोआ ने दो दशाब्दी पूर्व ही कर लिया था। महरि की रचना दुर्गाप्रसाद दत्त मजूमदार वरुआ ने १६०८ में की थी।

चन्द्रधर वरुआ के 'मेघनाद बध' (१६०४) में और अधिक लोचदार अतुकात छन्द के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से यह गोहाईं वरुआ के 'गदाधरसिंह' से भी बढकर है। बरुआ की कृति **'भाग्य परीक्षा'** गद्य-पद्यमय एक मनोरजक सुखात नाटक है। इन्ही के समकालीन दुर्गेश्वर शर्मा हैं जिन्होंने दो पौराणिक नाटको के अतिरिक्त शेक्सपियर के 'एज यू लाइक इट' का चन्द्रावली (१६१०) नाम से रूपान्तर किया।

इस शती की तृतीय दशाब्दी में नाटकों की परम्परा तो अक्षुण्ण रही परन्तु सामाजिक नाटको का स्थान पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटक लेने लगे। इस अवधि में ग्रामजनो के लिये वीर रस के बँगला नाटको का पर्याप्त रूपान्तर हुआ। इनमें से कुछ नाटको से—जैसे राणा प्रताप, वाजीराव, सग्रामसिंह, कालापहाड—पता चलता है कि इस प्रकार के नाटको का असमिया के शान्त रस के नाटको की अपेक्षा अधिक स्वागत हुआ। भाग्यवश इस थियेटरवाजी का असमिया नाटक की मूल धारा पर कोई प्रभाव नही पडा। असमिया नाटककारो को काफी पहले से नाटक की वारीकियो का ज्ञान था—इसका सकेत मजूमदार वरुआ की 'गुरु-दक्षिणा' की भूमिका से मिल जाता है जिसमें नाटककार अगरेजी शब्दो के असमिया और बँगला पर्यायो पर अपने विचार प्रकट करता है। उदाहरणार्थ एक्ट और सीन के लिये वह बँगला के गर्भांक की अपेक्षा दरसन को पसन्द करते हैं।

बँगला में नव राष्ट्रवादी आन्दोलन का—जिसका आरभ १६०५ से माना जाता है—प्रभाव रगमच पर काफी पडा है। फलत राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत कई ऐतिहासिक नाटको की रचना की गई। यह सभव है कि स्वदेशी आन्दोलन और वकिमचन्द्र तथा द्विजेन्द्रलाल राय की प्रेरणा का प्रभाव असमिया नाटककारो की चेतना पर भी पडा हो। लेकिन असमिया के बुरजी जो ब्रिटिश आधिपत्य के बाद लिखे जाते रहे—न केवल नाटको की कथावस्तु के लिये बल्कि देशभक्ति के लिए भी प्रेरणा के स्रोत सिद्ध हुए। गांधी जी के आन्दोलन ने भी राष्ट्रवादी भावनाओ को वल दिया होगा। अत तीसरी शताब्दी में राधाकान्त सन्दिकाइ के 'मुला-गाभारु' (१६२४ अतुकान्त), नकुलचन्द्र भुइयन के 'चन्द्रकान्तसिंह' और 'वदन बरफुकन' (१६२६), देवाचन्द्र तालुकदार के 'असम-प्रतिभा' (१६२५), गरोशलाल चौधरी के 'नीलाम्बर' (दुखान्त) जैसे नटको की रचना होने लगी। गाभीर्य-रहित नाटको में मित्रदेव महन्त के प्रहसन, पौराणिक

में कुछ अनावश्यक दृश्य न रक्खे गये होते तो नाटक काफी संतुलित और सफल रहता। इसके अतिरिक्त अग्रवाल माने हुए सगीतकार थे। 'कारेगार लिगिरी' के उनके गीत भाषा के सर्वोत्तम गीतो में से हैं।

अग्रवाल ने 'लमिता' अपनी अकाल मृत्यु से कुछ समय पूर्व प्रकाशित की थी। इसमें उनकी रचना-शक्ति का और अधिक परिचय प्राप्त होता है। नाटक का घटनाक्रम १९४२ में आसाम की राजनैतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है जैसे सैनिक आधिपत्य, जापानियो द्वारा बम-वर्षा, कांग्रेस आन्दोलन, कोहिमा मोर्चे पर आई०-एन० ए० का आगे बढाने और जनता की कठिनाइयाँ। 'लमिता' एक ग्राम-बालिका है। उसकी शिक्षा-दीक्षा अधिक नही हुई जब वह बालिकाओ को पुलिस द्वारा यत्रणा देते हुये देखती है तो वह एक पुलिस इस्पेक्टर के हाथ से रिवाल्वर छीन लेती है। जापानी अचानक बमवर्षा करते हैं, उसमें उसका पिता मारा जाता है और सैनिक उसका गाँव उजाड देते हैं। एक दिन शाम को दो सैनिक उसे गिरफ्तार कर लेते हैं लेकिन एक साहसी अफसर यथासमय उसकी रक्षा कर लेता है। इस आशका से कि कही उसका भावी पति उसे भ्रष्टा समझकर शरण न दे, उसे एक मौजेदार के घर शरण लेनी पडती है पर वहाँ भी उसका जीवन दूभर हो जाता है। असहाय अवस्था में उसके पास मृत्यु के अतिरिक्त और कोई चारा नही रह जाता। एक दयालु मुसलमान उसे मिल जाता है और उससे अपने पास रहने का आग्रह करता है। वह एक नर्स बनकर कोहिमा मोर्चे पर जाती है जहाँ जापानी उसे गिरफतार कर लेते हैं। वह किसी प्रकार आई० एन० ए० में मिल जाती है और जब आई० एन० ए० आगे बढती है तो वह स्वय आगे बढकर झडा सँभालती है। उसे गोली का निशाना बना दिया जाता है। इस प्रकार वह सहर्ष देश सेवा में अपने प्राण गँवा देती है।

'लमिता' में चरित्र-चित्रण खूब बन पडा है। नाटककार का उद्देश्य यह दिखाना है, कि एक मामूली लडकी जो बिल्कुल आदर्शवादिनी नही है, कहाँ तक कष्टो का सामना कर सकती है और परिस्थितियो की प्रतिकूलता मे भी अपनी आत्म-शक्ति का प्रदर्शन करके असमिया जाति के सुप्त साहस और शक्ति का परिचय दे सकती है।

इसी प्रकार के दो अन्य नाटक लक्ष्मीकान्त दत्त का मुक्ति 'आभिजान'(१९५३) और सुरेन सैकिया का 'कुशल कुँवर' (१९४९) हैं। 'मुक्ति आभिजान' मे १९४२ से १९४७ तक की घटनाओ का सिंहावलोकन किया गया है। दूसरे नाटक का सबध एक कांग्रेस-कार्यकर्ता से है जिसे १९४२ में विध्वसात्मक कार्यवाहियों के झूठे

अधिक दिन नही टिक सके। कुछ कला-प्रेमियो ने नाटक लिखवाये और तीन-चार नाटक खेले भी पर यह सब व्यर्थ ही रहा। इस नाट्य-शैली ने अनेक दृश्यो वाली परम्परा को उखाड फेंका।

'नाट्य-निकेतन' ने सोद्देश्य स्त्री पात्रो का अभिनय स्त्रियो से ही कराया। अभिनेता अधिकाधिक इसकी ओर आकर्षित हुये और वे स्त्री पात्रो के अभिनय के लिये स्त्रियो को रगमच पर लाये। स्त्रियो की भूमिका करने वाले कुछ पुरुष आज भी हैं पर उस परम्परा के अवशेष-रूप में। उन्हें उनकी पुरानी सेवाओ के बदले में ही सरक्षण दिया जाता है।

१९४३ में मराठी रगमच का शताब्दी समारोह बडी धूमधाम से मनाया गया। सागली में इस अवसर पर महाराष्ट्र के कोने-कोने से कोई बीस हज़ार व्यक्ति एकत्र हुये। इस स्थल को इस समारोह के लिये इसलिये चुना गया कि वही से नाटक की परम्परा शुरू हुई थी। इस स्थान पर पुराने और नये कलाकारो का परस्पर सम्पर्क हुआ। महाराष्ट्र के बम्बई, कोल्हापुर, अमरावती, हैदराबाद और पूना जैसे प्रमुख नगरो में भी यह समारोह मनाया गया। इसमे बम्बई का समारोह विशेष उल्लेखनीय है। विभिन्न मण्डलियो ने चौदह दिन तक नाटक खेले। हाल खचाखच भरे रहे। औसत से प्रत्येक दिन कोई १० हज़ार व्यक्ति आये। इस अवसर पर एक विशाल खुली नाट्यशाला तैयार की गई थी। कई नाटक दुबारा-तिबारा खेले गये।

यह एक उत्साहवर्धक अनुभव था। दर्शको में एक नया उत्साह भर गया। इस समारोह के बाद प्रतिवर्ष इसकी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा की जाती है। प्रति वर्ष नाटक-प्रेमियो ने नवीन उत्साह का परिचय दिया है। एक प्रकार से इन समारोहो ने मराठो रगमच के विकास में बाधा डाली क्योकि आधुनिक ढग के नये नाटको में रुचि उत्पन्न करने के बजाय उन्होने केवल पुरानो का ही उद्धार किया। यह सच है कि कुछ नये नाटक प्रस्तुत किये गये लेकिन उनमें से अधिकाश अगरेज़ी से रूपान्तरित किये गये थे। यदि कोई मौलिक नाटक रचा भी गया तो उसमें नाटकीयता का अभाव रहा।

नये नाटको का प्रयोग बहुत क्षीण रहा। जिन पेशेवर नाटक कम्पनियो में लगन वाले अभिनेता थे, वे ही ऐसा सफल दुस्साहस कर सकते थे। महाराष्ट्र में सम्भवत 'नाट्य-निकेतन' ही एक ऐसी मण्डली थी जो व्यावसायिक रूप से काम कर रही थी लेकिन नाट्यशालाओं के अभाव में वह भी आर्थिक स्थिरता प्राप्त नही कर सकी। दूसरी ओर नाटक प्रेमी भद्दी रुचि के शिकार हो रहे थे। छिन्न-भिन्न

राज्य को ओर से लगाये गये प्रतिबन्ध और करो के कारण देहातो में भी तमाशे और लोक-नाट्य के अन्य रूपो का अस्तित्व दूभर हो रहा है। कभी इन सस्थाओ ने जन-जागृति मे महत्वपूर्ण योग दिया था। मनोरजन के बहाने वे अब भी पुरानी परम्परा को बनाये हुये हैं। उच्च वर्ग ने इसे कभी पसन्द नही किया लेकिन रगमच के अलिखित इतिहास में जनता के हृदय-परिवर्तन में उनका एक विशिष्ट स्थान था और है। उसके लिये वे प्रशसा के पात्र हैं। यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि राज्य सरकार इसके प्रति भी उदासीन है। केन्द्रीय सरकार भी यथोचित ध्यान नही दे रही है। वास्तव में उच्चवर्ग इसे मिटाना चाहता है। यह स्थिति वास्तव मे शोचनीय है।

यह स्थिति केवल लोकनाट्य की ही नही बल्कि समूचे मराठी रगमच की भी है। प्रतिभा का तो कोई अभाव नही। अभिनेता, अभिनेत्रियाँ, शिल्पविद् नाटककार सभी हैं। केवल देर है एक नाट्यशाला की जो उन्हे स्थान दे सके। आखिर व्यावसायिक रगमच—जो महाराष्ट्र की वर्तमान आवश्यकता है—जादू के जोर से तो नही आ सकता।

जो भी हो, मराठी रगमच को व्यावसायिक आधार की आवश्यकता है ताकि वह प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके और जमाने का सामना कर सके। एक और कमी है जिसकी मैं चर्चा करना ही चाहूँगा। मराठी नाटककार देश की स्वाधीनता के प्रति जागरूक नही है। भावी इतिहासकार इस बात का उल्लेख किये बिना नही रहेंगे कि हमारे स्वाधीनता-सग्राम में नाटक ने राजनीतिक आन्दोलन को बढाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। लेकिन नये नाटककारो ने बदली हुई परिस्थितियों के प्रति वैसी ही जागरूकता का परिचय नही दिया है।

लेकिन एक बात है कि शॅल्पिक उन्नति चाहे कितनी भी प्रशसनीय क्यो न हो, नाटक की आत्मा का स्थान तो ग्रहण नही ही कर सकती। आज आवश्यकता है ऐसे नाटकों की जो युग-भावना के दर्शन करा सकें। क्या हम टेक्नीक पर आवश्यकता से अधिक बल नही दे रहे हैं ? ऐसा क्यो ? इसलिये कि भावना का अभाव है। यह रोग केवल मराठी रगमच को हो—ऐसी बात नही। यह एक आम बीमारी है। केवल नई पीढी के उदारमना लेखक ही इसे ठीक कर सकते हैं। क्या वे स्वाधीनता को पहचानते हैं ? ज्योही यह जागरूकता हमारे अन्दर आ जायेगी, रगमच के पुनरुत्थान का महत्वपूर्ण क्षण भी दूर नही होगा।

———

राज्य की ओर से लगाये गये प्रतिबन्ध और करो के कारण देहातो मे भी तमाशे और लोक-नाट्य के अन्य रूपो का अस्तित्व दूभर हो रहा है। कभी इन सस्थाओ ने जन-जागृति मे महत्वपूर्ण योग दिया था। मनोरजन के बहाने वे अब भी पुरानी परम्परा को बनाये हुये हैं। उच्च वर्ग ने इसे कभी पसन्द नही किया लेकिन रगमच के अलिखित इतिहास में जनता के हृदय-परिवर्तन में उनका एक विशिष्ट स्थान था और है। उसके लिये वे प्रशसा के पात्र हैं। यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि राज्य सरकार इसके प्रति भी उदासीन है। केन्द्रीय सरकार भी यथोचित ध्यान नही दे रही है। वास्तव में उच्चवर्ग इसे मिटाना चाहता है। यह स्थिति वास्तव मे शोचनीय है।

यह स्थिति केवल लोकनाट्य की ही नही बल्कि समूचे मराठी रगमच की भी है। प्रतिमा का तो कोई अभाव नही। अभिनेता, अभिनेत्रियाँ, शिल्पविद् नाटककार सभी हैं। केवल देर है एक नाट्यशाला की जो उन्हे स्थान दे सके। आखिर व्यावसायिक रगमच—जो महाराष्ट्र की वर्तमान आवश्यकता है—जादू के जोर से तो नही आ सकता।

जो भी हो, मराठी रगमच को व्यावसायिक आधार की आवश्यकता है ताकि वह प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके और जमाने का सामना कर सके। एक और कमी है जिसकी मैं चर्चा करना ही चाहूँगा। मराठी नाटककार देश की स्वाधीनता के प्रति जागरूक नही है। भावी इतिहासकार इस बात का उल्लेख किये बिना नही रहेंगे कि हमारे स्वाधीनता-सग्राम में नाटक ने राजनीतिक आन्दोलन को बढाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। लेकिन नये नाटककारो ने बदली हुई परिस्थितियों के प्रति वैसी ही जागरूकता का परिचय नही दिया है।

लेकिन एक बात है कि शॅलिपक उन्नति चाहे कितनी भी प्रशसनीय क्यो न हो, नाटक की आत्मा का स्थान तो ग्रहण नही ही कर सकती। आज आवश्यकता है ऐसे नाटकों की जो युग-भावना के दर्शन करा सकें। क्या हम टेक्नीक पर आवश्यकता से अधिक बल नही दे रहे हैं? ऐसा क्यो? इसलिये कि भावना का अभाव है। यह रोग केवल मराठी रगमच को हो—ऐसी बात नही। यह एक आम बीमारी है। केवल नई पीढी के उदारमना लेखक ही इसे ठीक कर सकते हैं। क्या वे स्वाधीनता को पहचानते हैं? ज्योही यह जागरूकता हमारे अन्दर आ जायेगी, रगमच के पुनरुत्थान का महत्वपूर्ण क्षण भी दूर नही होगा।

———

जब मुसलमान विजेता के रूप मे भारत आये तो आरम्भ में वे देश के प्रशासन-कार्यो में व्यस्त रहे। शान्ति की स्थापना के उपरान्त उन्होने भारतीय साहित्य, कला और सस्कृति के अध्ययन की ओर ध्यान दिया। 'नाटक सागर' में लेखको ने लिखा है

हमें इस से सरोकार नही कि उनका यह कार्य विद्या का सरक्षण करने की भावना से प्रेरित था या केवल मनोरजन की अभिलाषा से। परन्तु इस में कोई सदेह नही कि उन्होने भारतीय साहित्य और कला के प्रति उदार दृष्टिकोण से काम लिया और अपने सिद्धान्तो तथा प्रशासन-नीति की रक्षा करते हुए यथासम्भव उन्होने भारतीय सस्कृति और कला के विकास में कोई बाधा नही डाली। उस समय जैसा हम ऊपर कह चुके हैं भारतीय नाटक अवनति की अवस्था में था मुसलमानो को सस्कृत का ज्ञान नही था और कोई ऐसा व्यक्ति भी नही था जो उन्हे कला के रहस्य की जानकारी कराता। इसलिए निकृष्ट को उत्कृष्ट समझते हुए उन्होने जनता का अनुसरण करने मे ही अपना श्रेय समझा। उन्होंने अपनी उदारता से अयोग्य अभिनेताओ को मालामाल कर दिया। नकद इनाम देने के अतिरिक्त उन्हे गाँव और जागीरें भी दी गई। इन जागीरो में से कुछ एक अभी तक उन की सतानों के पास हैं।

शाह फरूखसियर के युग में नवाज नामक एक कवि ने उर्दू में शकुन्तला का अनुवाद किया था, परन्तु इस का अब कोई निशान नही मिलता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह अनुवाद नाटक के रूप में था या किसी और रूप मे।

बहुत समय तक नाटक की यही स्थिति रही। वाजिद अली शाह के शासन-काल में 'इन्दर-सभा' के प्रचलन ने उर्दू नाटक में एक नये युग का आरम्भ किया।

वाजिद अली शाह साहित्य एवं सौंदर्य का प्रेमी और विलास-प्रिय राजा था। उसका दरबार प्रत्येक प्रकार के सुख-विलास का केन्द्र था। उसके दरबारी सदा इस धुन लगे रहते थे कि रगीले पिया के लिए मनोरजन का कोई नया साधन प्रस्तुत करें। दरबारियो ने नयी बोतलो में पुरानी शराब भरनी शुरू कर दी। एक फ्रासीसी ने 'आपेरा' की रूपरेखा प्रस्तुत की। वाजिद अली शाह के आदेशनुसार मीर अमानत ने 'इन्दर-सभा' की रचना की।

उर्दू नाटक के प्रवर्तन का श्रेय सैयद में आगाहसन अमानत को ही है। इन्दर सभा की रचना १८५० ई० में हुई थी, इस के लिए कैसर बाग में रगमच बनाया गया था और यह एक फ्रासीसी निदशक की देखरेख में अभिनीत हुआ था। इस में

जब मुसलमान विजेता के रूप मे भारत आये तो आरम्भ में वे देश के प्रशासन-कार्यो में व्यस्त रहे। शान्ति की स्थापना के उपरान्त उन्होने भारतीय साहित्य, कला और सस्कृति के अध्ययन की ओर ध्यान दिया। 'नाटक सागर' में लेखको ने लिखा है

हमें इस से सरोकार नही कि उनका यह कार्य विद्या का सरक्षण करने की भावना से प्रेरित था या केवल मनोरजन की अभिलाषा से। परन्तु इस में कोई सदेह नही कि उन्होने भारतीय साहित्य और कला के प्रति उदार दृष्टिकोण से काम लिया और अपने सिद्धान्तो तथा प्रशासन-नीति की रक्षा करते हुए यथासम्भव उन्होने भारतीय सस्कृति और कला के विकास में कोई वाधा नही डाली। उस समय जैसा हम ऊपर कह चुके हैं भारतीय नाटक अवनति की अवस्था में था मुसलमानो को सस्कृत का ज्ञान नही था और कोई ऐसा व्यक्ति भी नही था जो उन्हे कला के रहस्य की जानकारी कराता। इसलिए निकृष्ट को उत्कृष्ट समझते हुए उन्होने जनता का अनुसरण करने मे ही अपना श्रेय समझा। उन्होंने अपनी उदारता से अयोग्य अभिनेताओ को मालामाल कर दिया। नकद इनाम देने के अतिरिक्त उन्हे गाँव और जागीरें भी दी गई। इन जागीरो में से कुछ एक अभी तक उन की सतानों के पास हैं।

शाह फरूखसियर के युग में नवाज नामक एक कवि ने उर्दू में शकुन्तला का अनुवाद किया था, परन्तु इस का अब कोई निशान नही मिलता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह अनुवाद नाटक के रूप में था या किसी और रूप मे।

वहुत समय तक नाटक की यही स्थिति रही। वाजिद अली शाह के शासन-काल में 'इन्दर-सभा' के प्रचलन ने उर्दू नाटक में एक नये युग का आरम्भ किया।

वाजिद अली शाह साहित्य एव सौंदर्य का प्रेमी और विलास-प्रिय राजा था। उसका दरबार प्रत्येक प्रकार के सुख-विलास का केन्द्र था। उसके दरबारी सदा इस धुन लगे रहते थे कि रगीले पिया के लिए मनोरजन का कोई नया साधन प्रस्तुत करें। दरबारियो ने नयी बोतलो में पुरानी शराब भरनी शुरू कर दी। एक फ्रासीसी ने 'आपेरा' की रूपरेखा प्रस्तुत की। वाजिद अली शाह के आदेशनुसार मीर अमानत ने 'इन्दर-सभा' की रचना की।

उर्दू नाटक के प्रवर्तन का श्रेय सैयद में आगाहसन अमानत को ही है। इन्दर सभा की रचना १८५० ई० में हुई थी, इस के लिए कैसर बाग में रगमच बनाया गया था और यह एक फ्रासीसी निदशक की देखरेख में अभिनीत हुआ था। इस में

पुरस्कार देने की इच्छा प्रकट की परन्तु वह पहले राजी नही हुई। जब इन्द्र ने मुँह माँगा पुरस्कार देने का वचन दिया तब कही उसने अपनी और गुलफाम की प्रेम-कथा सुनाई। इस पर इन्द्र ने गुलफाम को मुक्त कर दिया। नाटक का अन्त इन्ही दोनो के मिलन से होता है।

'इन्दर सभा' की कहानी तो ऐसी नही कि प्रगतिशील विचार के लोग मान्यता दें, फिर भी इसमें वाजिद अली शाह के दरबार और अवध के तत्कालीन रास-रग का चित्र तो मुखर हो ही उठता है। इस दृष्टि से अमानत अवश्य सफल रहे हैं।

'इन्दर सभा' और उस के बाद के उर्दू नाटको की विशेषतायें कुछ विस्तृत रूप से नीचे बताई जा रही हैं।

पहली विशेषता उर्दू नाटक के नामो की है। नामो की एक किस्म वह है जिस में प्रेमी और प्रेमिका के नामो को मिला कर प्रेम की कहानी प्रस्तुत की जाती है जैसे शीरी फरहाद, लैला मजनूँ, नल दमन, हीर राँझा, सोहनी महीवाल आदि। दूसरे प्रकार के नाटक वे हैं जिन के नामो में ससार की अस्थिरता और इसकी दोरगी नीति व्यक्त की गई है जैसे 'चलती दुनिया' 'काया, पलट', 'दोरगी दुनिया' और 'हुस्न का बाजार'। तीसरे प्रकार के नाटक वे हैं जिनको 'खूनी कातिल', 'बाप का गुनाह,' 'गुनाह की दीवार' जैसे नाम दिये गये हैं।

प्राचीन उर्दू नाटक की दूसरी विशेपता यह है कि उस के कथानक सामान्य रूप से विदेशी परम्परा पर आधारित हैं जैसे लैला मजनू, शीरी फरहाद। केवल इरान और अरब की ही नही बल्कि मिस्र, रोम, चीन, और अफगानिस्तान की परम्परागत कथायें भी उर्दू नाटक का विषय रही हैं। मजे की बात यह कि इन लेखको ने न तो इन देशो को देखा ही था और न इन में से अधिकतर को इन देशो के भूगोल और इतिहास की ही जानकारी थी।

उर्दू के प्राचीन नाटको की तीसरी विशेषता यह है कि प्रेम-कथाओ को छोड कर उन में किसी और बात का वर्णन नही होता। नायक को नायिका से प्रेम होगा और नायिका को नायक से। परिस्थितियाँ कभी अनुकूल होगीं और कभी प्रतिकूल इसलिए नाटक कभी कामदी होगा और कभी त्रासदी। एकाध 'रकीब' (प्रतिद्वन्द्वी) भी होगा जो सामान्य रूप से प्रेमी और प्रेमिका के रास्ते मे रोडे अटकायेगा। इन नाटको की चौथी विशेषता गीत और तुकान्त भाषा है। सामान्य रूप से नाटक में सहेलियों को गीत गाते और सगीत तथा नृत्य की सभा होते दिखाया जायेगा। तुकान्त सवादो के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

पुरस्कार देने की इच्छा प्रकट की परन्तु वह पहले राज़ी नही हुई। जब इन्द्र ने मुँह माँगा पुरस्कार देने का वचन दिया तब कही उसने अपनी और गुलफाम की प्रेम-कथा सुनाई। इस पर इन्द्र ने गुलफाम को मुक्त कर दिया। नाटक का अन्त इन्ही दोनो के मिलन से होता है।

'इन्दर सभा' की कहानी तो ऐसी नही कि प्रगतिशील विचार के लोग मान्यता दें, फिर भी इसमें वाजिद अली शाह के दरबार और अवध के तत्कालीन रास-रग का चित्र तो मुखर हो ही उठता है। इस दृष्टि से अमानत अवश्य सफल रहे हैं।

'इन्दर सभा' और उस के बाद के उर्दू नाटको की विशेषताये कुछ विस्तृत रूप से नीचे बताई जा रही हैं।

पहली विशेषता उर्दू नाटक के नामो की है। नामो की एक किस्म वह है जिस में प्रेमी और प्रेमिका के नामो को मिला कर प्रेम की कहानी प्रस्तुत की जाती है जैसे शीरी फरहाद, लैला मजनूँ, नल दमन, हीर राँझा, सोहनी महीवाल आदि। दूसरे प्रकार के नाटक वे हैं जिन के नामो में ससार की अस्थिरता और इसकी दोरगी नीति व्यक्त की गई है जैसे 'चलती दुनिया' 'काया, पलट', 'दोरगी दुनिया' और 'हुस्न का बाजार'। तीसरे प्रकार के नाटक वे हैं जिनको 'ख़ूनी कातिल', 'बाप का गुनाह,' 'गुनाह की दीवार' जैसे नाम दिये गये हैं।

प्राचीन उर्दू नाटक की दूसरी विशेषता यह है कि उस के कथानक सामान्य रूप से विदेशी परम्परा पर आधारित हैं जैसे लैला मजनू, शीरी फरहाद। केवल इरान और अरब की ही नही बल्कि मिस्र, रोम, चीन, और अफगानिस्तान की परम्परागत कथायें भी उर्दू नाटक का विषय रही हैं। मज़े की बात यह कि इन लेखको ने न तो इन देशो को देखा ही था और न इन में से अधिकतर को इन देशो के भूगोल और इतिहास की ही जानकारी थी।

उर्दू के प्राचीन नाटको की तीसरी विशेषता यह है कि प्रेम-कथाओ को छोड कर उन में किसी और बात का वर्णन नही होता। नायक को नायिका से प्रेम होगा और नायिका को नायक से। परिस्थितियाँ कभी अनुकूल होगीं और कभी प्रतिकूल इसलिए नाटक कभी कामदी होगा और कभी त्रासदी। एकाध 'रकीब' (प्रतिद्वन्द्वी) भी होगा जो सामान्य रूप से प्रेमी और प्रेमिका के रास्ते मे रोडे अटकायेगा। इन नाटको की चौथी विशेषता गीत और तुकान्त भाषा है। सामान्य रूप से नाटक में सहेलियों को गीत गाते और सगीत तथा नृत्य की सभा होते दिखाया जायेगा। तुकान्त सवादो के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

हीला साज़—ले उडेगा कोई क्षम मे बुलबुली को बुलबुला। मेडकी को खूब मेडक चाहने वाला मिला।

तोबा तल्ला —यारो दुनिया से उठ गई क्या लडकियो से हया ?

नऊज़ बिल्लाह—डाक्टरों के हाथ से शफा।

तोबा तल्ला—शरीफो से तकदीर।

नऊज़—दवाओ से तासीर

तोबा—मुहब्बत किन में है

नऊज़—मुर्ग़ी मुर्गी में। इत्यादि।

इन उदाहरणो से ज्ञात हो जायेगा कि दर्शको की रूचि क्या थी। ये नाटककार इन्ही दर्शको का मनोरजन करते थे। नवीनता या प्रगतिशीलता उनके लिए निरर्थक शब्द थे। वे लकीर के फकीर थे। उस काल में निम्न कोटि के साहित्य की रचना होती थी। और यही साहित्य लोकप्रिय था। नाटक इन त्रुटियो से कैसे बच सकता था।

अब कुछ नाटककारो और उसकी रचनाओ के नाम सुनिये —

रौनक बनारसी —ओरिजनल थियेटर कम्पनी, बम्बई के मालिक सेठ पिस्टन जी फ्राम जी स्वय भी नाटक लिखते थे, परन्तु उन्होने रौनक बनारसी को इस काम के लिए चुन लिया था। उन के नाटक उर्दू मे प्रकाशित नही हुए केवल एक नाटक 'इनसाफ महमूदशाह', १८८२ ई० में गुजराती में छपा था।

ज़रीफ .—हुसैन मियाँ ज़रीफ। इनकी रचनाओ के नाम नीचे दिये जाते हैं खुदादोस्त, चान्द बीबी, तोहफाए दिलकुश, बुलबुले बीमार, तोहफाए दिल पज़ीर, शीरीफरहाद, अली बाबा, नक्शे सुलेमानी, अकबरे आज़म, लैला मजनू, इश्रत सभा, फर्रुख सभा, गुलबकावली, हुस्न अफरोज, गुल या सनोबर, नैरगे इश्क, हातिम नाई, नासिरो हुमायूँ, मातमे जाफर, बज्मे सुलेमान, अलादीन, लाल गौहर, खुदा दाद इत्यादि।

मिर्जा नज़ीर बेग —'गुलशने पाक दामन मारूफ व चन्द्रावली' के प्रथम पृष्ठ पर ये शब्द लिखे हुए हैं —

"मुअल्लिफा मिर्जा नज़ीर बेग, डायरेक्टर, दि पारस जुबली

हीला साज़—ले उडेगा कोई दम मे बुलबुली को बुलबुला। मेडकी को खूब मेडक चाहने वाला मिला।

तोबा तल्ला —यारो दुनिया से उठ गई क्या लडकियो से हया ?

नऊज़ बिल्लाह्—डाक्टरों के हाथ से शफा।

तोबा तल्ला—शरीफो से तकदीर।

नऊज़—दवाग्रो से तासीर

तोवा—मुहब्बत किन में है

नऊज़—मुर्गी मुर्गी में। इत्यादि।

इन उदाहरणो से ज्ञात हो जायेगा कि दर्शको की रुचि क्या थी। ये नाटककार इन्ही दर्शको का मनोरजन करते थे। नवीनता या प्रगतिशीलता उनके लिए निरर्थक शब्द थे। वे लकीर के फकीर थे। उस काल में निम्न कोटि के साहित्य की रचना होती थी। और यही साहित्य लोकप्रिय था। नाटक इन त्रुटियो से कैसे वच सकता था।

अब कुछ नाटककारो और उसकी रचनाग्रो के नाम सुनिये —

रौनक बनारसी —ओरिजनल थियेटर कम्पनी, वम्बई के मालिक सेठ पिस्टन जी फ्राम जी स्वय भी नाटक लिखते थे, परन्तु उन्होने रौनक वनारसी को इस काम के लिए चुन लिया था। उन के नाटक उर्दू मे प्रकाशित नही हुए केवल एक नाटक 'इनसाफ महमूदशाह', १८८२ ई० में गुजराती में छपा था।

ज़रीफ .—हुसैन मियाँ ज़रीफ। इनकी रचनाग्रो के नाम नीचे दिये जाते हैं खुदादोस्त, चान्द बीबी, तोहफाए दिलकुश, बुलबुले बीमार, तोहफाए दिल पज़ीर, शीरीफरहाद, अली बाबा, नक्शे सुलेमानी, अकबरे आज़म, लैला मजनू, इश्रत सभा, फरुख सभा, गुलबकावली, हुस्न अफरोज, गुल या सनोबर, नैरगे इश्क, हातिम नाई, नासिरो हुमायूँ, मातमे ज़फर, वज़्मे सुलेमान, अलादीन, लाल गौहर, खुदा दाद इत्यादि।

मिर्ज़ा नज़ीर बेग —'गुलशने पाक दामन मारूफ व चन्द्रावली' के प्रथम पृष्ठ पर ये शब्द लिखे हुए हैं —

"मुअल्लिफा मिर्ज़ा नज़ीर बेग, डायरेक्टर, दि पारस जुबली

आरम्भ में हश्र पुरानी शैली का अनुसरण करते रहे। आगे चल कर उन्होने शेक्सपियर के नाटको को उर्दू में रूपान्तरित किया। उन्होंने उर्दू में शेक्सपियर के इतने नाटकों का अनुवाद किया है कि लोग उनको भारत का शेक्सपियर कहने लगे।

हश्र ने उर्दू नाटको को लोकप्रिय बनाया, परन्तु वह पुरानी परम्परागत शैली को नही छोड सके। उनकी भाषा प्रभावशाली तो है परन्तु बहुत आलकारिक भी है। यदि वह बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करते और सरल तथा स्वाभाविक शैली को अपनाते तो निस्सन्देह वह उर्दू के अद्वितीय नाटककार होते। फिर भी उन्होंने कथानक, कलात्मक तत्वो आदि की दृष्टि से उर्दू नाटक को बहुत सम्पन्न किया है। हश्र के युग में कुछ दूसरे नाटककारो ने भी उर्दू नाटक में नवीन प्रयोग किये।

हश्र के बाद जो नाटककार हुए, उनमें महशर अबाल्वी, मास्टर रहमत, इशरत हुसैन मुनीर, मुन्शी नाज़ा, मिर्ज़ा अब्बास, आग़ा शायिर, आरज़ लखनवी, मायल देहलवी आदि बहुत प्रसिद्ध नाटककार थे।

नाटक और रगशाला की यह शोभा १६२७-२८ तक रही। उस के बाद इस में कमी होती गई और १६२८ के अन्त से तो इस साहित्य रूप की अवनति होने लगी। उस समय से लेकर अब तक उर्दू नाटक ने कोई विशेष प्रगति नही की है। जिस प्रकार उर्दू के अन्य साहित्य रूपो की उन्नति हुई है, उस प्रकार नाटक की नही हो सकी है। इसका मुख्य कारण रगमच का अभाव है। फिल्म और रेडियो के प्रचलन ने नये नाट्य-रूपो को जन्म दिया और रगमचीय नाटक लुप्त हो गया।

आधुनिक युग के आरम्भ में जिन नाटककारो ने उर्दू नाटक की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, उनमें अल्लामा कैफी, रायबहादुर कुवर सेन, मौलाना अब्दुलमाजिद दरियाबादी, शौक किदवाई, ज़फर अली खाँ, हकीम अहमद शुजा, और मिर्ज़ा हादी रुसवा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ज़फर अली खाँ के नाटक 'जगे रूसो जापान' प्रगतिशील तत्वो का समावेश हुआ है यह उर्दू के पुराने नाटको से सर्वथा भिन्न है। कुँवर सेन का नाटक 'ब्रह्मा हुड' अपने प्रकार का पहला नाटक है। इस नाटक में ग्रहो को पात्रो के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। अब्दुल माजिद का नाटक 'ज़ुदे पशेमाँ' भी बहुत सफल रहा। कैफी के 'राजदुलारी' और 'मुरारी दादा' को बहुत लोकप्रियता मिली। कैफी के इन नाटको में आधुनिक सभ्यता का स्पष्ट रूप से चित्रण किया है। डा० आबिद हुसैन का 'पर्दाए गफलत' भी बहुत

आरम्भ में हश्र पुरानी शैली का अनुसरण करते रहे। आगे चल कर उन्होंने शेक्सपियर के नाटको को उर्दू में रूपान्तरित किया। उन्होंने उर्दू में शेक्सपियर के इतने नाटकों का अनुवाद किया है कि लोग उनको भारत का शेक्सपियर कहने लगे।

हश्र ने उर्दू नाटको को लोकप्रिय वनाया, परन्तु वह पुरानी परम्परागत शैली को नही छोड सके। उनकी भाषा प्रभावशाली तो है परन्तु वहुत आलकारिक भी है। यदि वह बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करते और सरल तथा स्वाभाविक शैली को अपनाते तो निस्सन्देह वह उर्दू के अद्वितीय नाटककार होते। फिर भी उन्होंने कथानक, कलात्मक तत्वो आदि की दृष्टि से उर्दू नाटक को वहुत सम्पन्न किया है। हश्र के युग में कुछ दूसरे नाटककारो ने भी उर्दू नाटक में नवीन प्रयोग किये।

हश्र के वाद जो नाटककार हुए, उनमें महशर अवाल्वी, मास्टर रहमत, इशरत हुसैन मुनीर, मुन्शी नाज़ा, मिर्ज़ा अव्वास, आग़ा शायिर, आरज़ लखनवी, मायल देहलवी आदि वहुत प्रसिद्ध नाटककार थे।

नाटक और रगशाला की यह शोभा १९२७-२८ तक रही। उस के वाद इस में कमी होती गई और १९२८ के अन्त से तो इस साहित्य रूप की अवनति होने लगी। उस समय से लेकर अव तक उर्दू नाटक ने कोई विशेप प्रगति नही की है। जिस प्रकार उर्दू के अन्य साहित्य रूपो की उन्नति हुई है, उस प्रकार नाटक की नही हो सकी है। इसका मुख्य कारण रगमच का अभाव है। फिल्म और रेडियो के प्रचलन ने नये नाट्य-रूपो को जन्म दिया और रगमचीय नाटक लुप्त हो गया।

आधुनिक युग के आरम्भ में जिन नाटककारो ने उर्दू नाटक की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, उनमें अल्लामा कैफी, रायवहादुर कुवर सेन, मौलाना अब्दुलमाजिद दरियावादी, शौक किदवाई, ज़फर अली खाँ, हकीम अहमद शुजा, और मिर्ज़ा हादी रुसवा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ज़फर अली खाँ के नाटक 'जगे रूसो जापान' प्रगतिशील तत्वो का समावेश हुआ है यह उर्दू के पुराने नाटको से सर्वथा भिन्न है। कुँवर सेन का नाटक 'अह्या हुड' अपने प्रकार का पहला नाटक है। इस नाटक में ग्रहो को पात्रो के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। अब्दुल माजिद् का नाटक 'ज़ुदे पशेमाँ' भी वहुत सफल रहा। कैफी के 'राजदुलारी' और 'मुरारी दादा' को वहुत लोकप्रियता मिली। कैफी के इन नाटको में आधुनिक सभ्यता का स्पष्ट रूप से चित्रण किया है। डा० आबिद हुसैन का 'पर्दाए गफलत' भी बहुत

होते हैं और दोनो में कोई कथा का क्रमिक विकास लगभग एक-सा होता है परन्तु पात्रो के चित्रण और नाट्य-विधि की दृष्टि से इन दोनो में वडा अन्तर है। एकाकी नाटको की रचना पाठको और दर्शको के लिए की जाती है। इसके विपरित रेडियो-नाटक केवल सुनने के लिए लिखे जाते हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि दोनो गति और व्यापार एक दूसरे से भिन्न होगे। प्रत्येक एकाकी नाटक प्रसार की आवश्यकताओ को पूरा नही कर सकता। इसी प्रकार एक रेडियो नाटक के पठन से वह प्रसन्नता और हर्ष नही होता जो उसे रेडियो पर सुनकर होता है।

तेरह-चौदह वर्ष पूर्व भारत में प्रगतिशील आदोलन के परिणामस्वरूप 'जन नाट्य सघ' की स्थापना हुई थी। वम्वई में ख्वाजा अहमद अब्बास, पृथ्वीराज और उन के साथियो ने इस रगशाला के कार्यो का श्रीगणेश नये ढग से किया। उन्होने राजनीतिक और सामाजिक विषयो से सम्वद्ध नाटक प्रस्तुत किए। इनमें 'पठान' को विशेष रूप से वहुत लोकप्रियता मिली। लखनऊ में डाक्टर नसीन सुवही, डा० रशीद जहाँ, सिब्ते हसन, साहिवजादा रशीदुज्जफर और उनके साथियो ने लोक-रगशाला की स्थापना की। इसके रगमच पर भी कुछ नवीन नाटक अभिनीत हुए। इन में प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'कफन' का नाटकीय रूप और रशीद जहाँ का नाटक 'औरत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परन्तु लखनऊ में इस आदोलन ने कुछ अधिक प्रगति नही की। इस की अपेक्षा वम्वई में 'पृथ्वी थियेटर' को अधिक सफलता मिली। लखनऊ में कलाकार और पूँजी दोनो की कमी थी। वम्वई में ये दोनों ही साधन सुलभ थे। इसलिए पृथ्वी थियेटर ने वहुत प्रगति की। १९४७ के वाद उसने भारत के वडे-वडे नगरो का पर्यटन भी किया। रगमच के पुनर्निर्माण का आदोलन अब वहुत लोकप्रिय और सफल हो रहा है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि भारत सरकार ने लाखो रुपये खर्च करके राष्ट्रीय रगशाला के लिए नई दिल्ली में एक वहुत वडे रगमच की स्थापना की योजना वनाई है।

पिछले पच्चीस वर्षों मे फिल्म ने वहुत प्रगति की है। फिल्म की इस प्रगति देखते हुए कुछ लोगों का विचार है कि नाट्य की अवनति और नाटक की मन्द गति का कारण फिल्म ही है। परन्तु यह सही नही है क्योकि सभी सभ्य देशो में फिल्म की लोकप्रियता भारत की अपेक्षा कही अधिक है। फिर भी वहाँ रगमच उन्नति की अवस्था में है। फिल्म और रगमच दोनो की ही प्रगति हो रही है। दोनों ही जनता के मनोरजन के साधन हैं।

होते हैं और दोनो में कोई कथा का क्रमिक विकास लगभग एक-सा होता है परन्तु पात्रो के चित्रण और नाट्य-विधि की दृष्टि से इन दोनो में वडा अन्तर है। एकाकी नाटको की रचना पाठको और दर्शको के लिए की जाती है। इसके विपरित रेडियो-नाटक केवल सुनने के लिए लिखे जाते हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि दोनो गति और व्यापार एक दूसरे से भिन्न होगे। प्रत्येक एकाकी नाटक प्रसार की आवश्यकताओ को पूरा नही कर सकता। इसी प्रकार एक रेडियो नाटक के पठन से वह प्रसन्नता और हर्ष नही होता जो उसे रेडियो पर सुनकर होता है।

तेरह-चौदह वर्ष पूर्व भारत में प्रगतिशील आदोलन के परिणामस्वरूप 'जन नाट्य सघ' की स्थापना हुई थी। वम्वई में ख्वाजा अहमद अव्वास, पृथ्वीराज और उन के साथियो ने इस रगशाला के कार्यो का श्रीगणेश नये ढग से किया। उन्होने राजनीतिक और सामाजिक विपयो से सम्वद्ध नाटक प्रस्तुत किए। इनमें 'पठान' को विशेष रूप से वहुत लोकप्रियता मिली। लखनऊ में डाक्टर नसीन सुवही, डा० रशीद जहाँ, सिव्ते हसन, साहिवजादा रशीदुज्जफर और उनके साथियो ने लोक-रगशाला की स्थापना की। इसके रगमच पर भी कुछ नवीन नाटक अभिनीत हुए। इन में प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'कफन' का नाटकीय रूप और रशीद जहाँ का नाटक 'औरत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परन्तु लखनऊ में इस आदोलन ने कुछ अधिक प्रगति नही की। इस की अपेक्षा वम्वई में 'पृथ्वी थियेटर' को अधिक सफलता मिली। लखनऊ में कलाकार और पूँजी दोनो की कमी थी। वम्वई में ये दोनों ही साधन सुलभ थे। इसलिए पृथ्वी थियेटर ने वहुत प्रगति की। १९४७ के वाद उसने भारत के वडे-वडे नगरो का पयर्टन भी किया। रगमच के पुनर्निर्माण का आदोलन अव वहुत लोकप्रिय और सफल हो रहा है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि भारत सरकार ने लाखो रुपये खर्च करके राष्ट्रीय रगशाला के लिए नई दिल्ली में एक वहुत वडे रगमच की स्थापना की योजना वनाई है।

पिछले पच्चीस वर्षो मे फिल्म ने वहुत प्रगति की है। फिल्म की इस प्रगति देखते हुए कुछ लोगों का विचार है कि नाट्य की अवनति और नाटक की मन्द गति का कारण फिल्म ही है। परन्तु यह सही नही है क्योकि सभी सभ्य देशो में फिल्म की लोकप्रियता भारत की अपेक्षा कही अधिक है। फिर भी वहाँ रगमच उन्नति की अवस्था में है। फिल्म और रगमच दोनो की ही प्रगति हो रही है। दोनों ही जनता के मनोरजन के साधन हैं।

पंजाबी नाटक

—श्री कर्तारसिंह दुग्गल

पजाबी नाटक के विषय में प्रथम बात जो मुझे कहनी है वह यह है कि पजाबी में नाटक कोई नही हैं। विगत तीन-चार दशको में अँग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर कुछेक पढ़ने योग्य नाटक अवश्य लिखे गये हैं और इनमें से कुछ नाटक सफलता के साथ खेले भी गये हैं, किन्तु अभी तक इस क्षेत्र में वैसा कार्य नही हुआ है, जैसा पजाबी साहित्य के अन्य क्षेत्रो में हुआ है। पजाबी मे वारिस शाह जैसा कोई नाटक-कार नही हुआ। जहाँ पीलू, बुल्लेशाह, हाशिम और शाह मुहम्मद अपने अपने समय में पजाबी काव्य को कही का कही ले गये, वहाँ नाटक लिखने या खेलने वाला ढूंढने से भी नही मिलता।

आखिर क्यो ?

इसका कारण यह है कि नाटक की कुछ अपनी विशेष अपेक्षायें होती हैं। नाटक को केवल लिखना ही पर्याप्त नही, नाटक को खिलाने वाला चाहिये, उसे खेलने वाला चाहिये, रगमच की आवश्यकता है और आवश्यकता है अभिरुचि रखने वाले दर्शको की वैसी श्रेणी की, जिससे नाटक देखने का अवकाश प्राप्त हो और नाटक को वह हृदयगम कर सके। और पजाब में यह स्थिति कई शताब्दियो तक उपलब्ध नहीं हो पाई। जिन लोगों को नित्य सघर्ष का सामना करना पडता हो, जहाँ प्रति वर्ष बाहरी आक्रमणो का भय हो, जहाँ प्रति चौथे वर्ष लोगो की छातियो को लताडते हुए हमलावर आते रहें, उन लोगों की नाटक प्रवृत्ति कहाँ से हो ?

यह बात आश्चर्यजनक है कि जिस देश मे भरत जैसा नाट्य-शास्त्र का पडित पैदा हुआ, जहाँ भास, कालिदास जैसे नाटककारो का जन्म हुआ, वहाँ नाटक की परम्परा इस तरह लुप्त हो गयी। पजाब में नाटक के अभाव का मुख्य कारण इस प्रदेश का सीमा प्रान्त होना है।

यो नाटक खेलना मनुष्य की स्वभावजन्य प्रवृत्ति है। शिशु नकलें उतारते हैं, बालक कभी कुछ बन कर प्रसन्न होते हैं। हर समाज मे लोक-गीतो, लोक-कथाओ, लोक-नृत्यो के साथ लोक-नाट्य भी चले आते हैं। कही इनका प्रचलन अधिक है और कही कम। स्वाभाविक रूप में मनुष्य मिल-जुलकर खेलना पसन्द करता है।

पंजाबी नाटक

—श्री कर्तारसिंह दुग्गल

पजाबी नाटक के विषय में प्रथम बात जो मुझे कहनी है वह यह है कि पजाबी में नाटक कोई नही हैं। विगत तीन-चार दशको में अँग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर कुछेक पढ़ने योग्य नाटक अवश्य लिखे गये हैं और इनमें से कुछ नाटक सफलता के साथ खेले भी गये हैं, किन्तु अभी तक इस क्षेत्र में वैसा कार्य नही हुआ है, जैसा पजाबी साहित्य के अन्य क्षेत्रो में हुआ है। पजाबी मे वारिस शाह जैसा कोई नाटक-कार नही हुआ। जहाँ पीलू, बुल्लेशाह, हाशिम और शाह मुहम्मद अपने अपने समय में पजाबी काव्य को कही का कही ले गये, वहाँ नाटक लिखने या खेलने वाला ढूंढने से भी नही मिलता।

आखिर क्यो ?

इसका कारण यह है कि नाटक की कुछ अपनी विशेष अपेक्षायें होती हैं। नाटक को केवल लिखना ही पर्याप्त नही, नाटक को खिलाने वाला चाहिये, उसे खेलने वाला चाहिये, रगमच की आवश्यकता है और आवश्यकता है अभिरुचि रखने वाले दर्शको की वैसी श्रेणी की, जिससे नाटक देखने का अवकाश प्राप्त हो और नाटक को वह हृदयगम कर सके। और पजाब में यह स्थिति कई शताब्दियो तक उपलब्ध नहीं हो पाई। जिन लोगों को नित्य सघर्ष का सामना करना पडता हो, जहाँ प्रति वर्ष बाहरी आक्रमणो का भय हो, जहाँ प्रति चौथे वर्ष लोगो की छातियो को लताडते हुए हमलावर आते रहें, उन लोगों की नाटक प्रवृत्ति कहाँ से हो ?

यह बात आश्चर्यजनक है कि जिस देश मे भरत जैसा नाट्य-शास्त्र का पडित पैदा हुआ, जहाँ भास, कालिदास जैसे नाटककारो का जन्म हुआ, वहाँ नाटक की परम्परा इस तरह लुप्त हो गयी। पजाब में नाटक के अभाव का मुख्य कारण इस प्रदेश का सीमा प्रान्त होना है।

यो नाटक खेलना मनुष्य की स्वभावजन्य प्रवृत्ति है। शिशु नकलें उतारते हैं, बालक कभी कुछ बन कर प्रसन्न होते हैं। हर समाज मे लोक-गीतो, लोक-कथाओ, लोक-नृत्यो के साथ लोक-नाट्य भी चले आते हैं। कही इनका प्रचलन अधिक है और कही कम। स्वाभाविक रूप में मनुष्य मिल-जुलकर खेलना पसन्द करता है।

स्त्रियो का अभिनय पुरुष ही करते हैं और कहानी का आनन्द तथा प्रवाह इतना तीक्ष्ण होता है कि दर्शको की कल्पना उडी-उडी सी रहती है, नायिका के दु.खो में दुखित होती रहती है, उसके हर आँसू के साथ आँसू वहाती रहती है।

आधुनिक पजावी नाटक की उत्पत्ति अन्य भापाओ की भाँति अनायास की सी स्थिति मे हुई। इसकी जडें, देश के नाटक की प्राचीन परम्परा तक नही जाती। इसका कारण शताब्दियो तक हमारे देश की पराधीनता और विदेशी सभ्यता का प्रावल्य है।

जहाँ रगमच ही नही वहाँ नाटक कैसे लिखे जा सकते हैं ? जो लोग रगमच अनुभव के विना नाटक लिखते हैं, उन लोगो की कृतियाँ शिथिल, अनुपयुक्त और अरुचिकर-सी, वातचीत के ढग से कही हुई कहानी-मात्र होकर रह जाती हैं। उनमें नाटकीयता नही होती। यही हाल पजावी में कई लिखित नाटको का है। भाई वीरसिंह लिखित 'राजा लखदाता सिंह' सिक्खो में सुधार के दृष्टिकोण से लिखा गया, अपने मतव्य में सभवत वह सफल भी हुआ, किन्तु नाटक के रूप में न इसे कभी खेला गया और न यह खेला जा सकता है। इस नाटक की कथाभूमि सतोषप्रद नही, पात्र-चित्रण नाटकीय आधार पर नही है। कहानी की गति अधिक से अधिक कथा जैसी है, नाटक जैसी विल्कुल नहीं। लेखक का मतव्य सिक्ख सिद्धान्तों का प्रचार है, यह वात पुस्तक में सर्वत्र प्रकट होती है। वीसवी शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया एक और नाटक 'सुक्का समुन्दर' है। इसका लेखक अरूढ सिंह 'ताइव' था। इस नाटक में हास-परिहास अधिक है। हास्य साधारण-सा है। समाज की अनेक कुरीतियों का उपहास किया गया है। अच्छे पात्र विल्कुल अच्छे हैं और वुरे पात्र विल्कुल वुरे। जिस रूप में पात्र नाटक में प्रवेश करते हैं, उसी रूप में नाटक के अन्त तक चले जाते हैं, जैसे पत्थर की मूर्तियाँ हैं। कही वह वदलते नही, कहीं उनका रूप परिवर्तन नही होता। हर रग पक्का है। काले स्याह काले हैं और सफेद दूध से सफेद है।

आश्चर्यजनक यह वात है कि इन कृतियो से पहले भाई वीरसिंह के पिता डा० चरनसिंह जी ने कालिदास के नाटक "शकुतला" का पजावी में वहुत वढिया अनुवाद किया था और उन्ही दिनों सरदार मानसिंह ने कालिदास के एक अन्य नाटक "विक्रमोर्वशीय" का भी अनुवाद किया। किन्तु पजावी में मौलिक नाटक लिखने वालो ने इन महान् कृतियो का कोई असर स्वीकार नही किया। भाई वीरसिंह के नाटक "राजालखदाता सिंह" से यह अनुभव होता है कि लेखक अंग्रेजी नाटय-शैली से प्रभावित है। विशाखदत्त का "मुद्राराक्षस" भी कुछ समय वाद पजावी में अनुवाद किय गया।

स्त्रियो का अभिनय पुरुष ही करते हैं और कहानी का आनन्द तथा प्रवाह इतना तीक्ष्ण होता है कि दर्शको की कल्पना उडी-उडी सी रहती है, नायिका के दु.खो मे दुखित होती रहती है, उसके हर आँसू के साथ आँसू वहाती रहती है।

आधुनिक पजावी नाटक की उत्पत्ति अन्य भाषाओ की भाँति अनायास की सी स्थिति मे हुई। इसकी जडें, देश के नाटक की प्राचीन परम्परा तक नही जाती। इसका कारण शताब्दियो तक हमारे देश की पराधीनता और विदेशी सभ्यता का प्रावल्य है।

जहाँ रगमच ही नही वहाँ नाटक कैसे लिखे जा सकते हैं ? जो लोग रगमच अनुभव के विना नाटक लिखते हैं, उन लोगो की कृतियाँ शिथिल, अनुपयुक्त और अरुचिकर-सी, वातचीत के ढग से कही हुई कहानी-मात्र होकर रह जाती हैं। उनमें नाटकीयता नही होती। यही हाल पजावी में कई लिखित नाटको का है। भाई वीरसिंह लिखित 'राजा लखदाता सिंह' सिक्खो में सुधार के दृष्टिकोण से लिखा गया, अपने मतव्य में सभवत वह सफल भी हुआ, किन्तु नाटक के रूप में न इसे कभी खेला गया और न यह खेला जा सकता है। इस नाटक की कथाभूमि सतोषप्रद नही, पात्र-चित्रण नाटकीय आधार पर नही है। कहानी की गति अधिक से अधिक कथा जैसी है, नाटक जैसी विल्कुल नहीं। लेखक का मतव्य सिक्ख सिद्धान्तों का प्रचार है, यह वात पुस्तक में सर्वत्र प्रकट होती है। वीसवी शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया एक और नाटक 'सुक्का समुन्दर' है। इसका लेखक अरूढ सिंह 'ताइव' था। इस नाटक में हास-परिहास अधिक है। हास्य साधारण-सा है। समाज की अनेक कुरीतियों का उपहास किया गया है। अच्छे पात्र विल्कुल अच्छे हैं और बुरे पात्र विल्कुल वुरे। जिस रूप में पात्र नाटक में प्रवेश करते हैं, उसी रूप में नाटक के अन्त तक चले जाते हैं, जैसे पत्थर की मूर्तियाँ हैं। कही वह वदलते नही, कहीं उनका रूप परिवर्तन नही होता। हर रग पक्का है। काले स्याह काले हैं और सफेद दूध से सफेद है।

आश्चर्यजनक यह वात है कि इन कृतियो से पहले भाई वीरसिंह के पिता डा० चरनसिंह जी ने कालिदास के नाटक "शकुतला" का पजावी में वहुत वढिया अनुवाद किया था और उन्ही दिनों सरदार मानसिंह ने कालिदास के एक अन्य नाटक "विक्रमोर्वशीय" का भी अनुवाद किया। किन्तु पजावी में मौलिक नाटक लिखने वालो ने इन महान् कृतियो का कोई असर स्वीकार नही किया। भाई वीरसिंह के नाटक "राजालखदाता सिंह" से यह अनुभव होता है कि लेखक अंग्रेजी नाटय-शैली से प्रभावित है। विशाखदत्त का "मुद्राराक्षस" भी कुछ समय वाद पजावी में अनुवाद किय गया।

है। जो पात्र बोलता है, जहाँ तक छन्द की सीमा में उसका बोलना सम्भव होता है, वह बोलता जाता है। इनमें से कोई नाटक कभी रगमच पर नही खेला जा सकता। फिरोजदीन "शारफ" पजाबी का एक लोकप्रिय कवि हुआ है। आरम्भ म उसने "हीरस्याल" के किस्से को फिल्म के लिये रूपान्तर किया। फिल्म तो न बन सकी पर अपनी रचना को उन्होंने प्रकाशित करा दिया। नाटक के दृष्टिकोण से यह रचना अत्यन्त निर्बल है। "शारफ" की भाषा मुहावरेदार और बहुत आकर्षक है। कही-कही उसके भीतर का कवि अत्यन्त सुन्दर शैली का आभास दे जाता है।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशको में पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो के नाटक पजाब तक पहुँच गये और उनकी चर्चा आम हो गयी। ये कम्पनियाँ भारत और ईरान के पुराने किस्सो, महाभारत और रामायण की पुरानी कहानियो, शेक्स-पीयर की रचनाओ को रूपान्तर करके प्रस्तुत करती थी। इनमें जन-सामान्य के मनोरजन का ख्याल ही रखा जाता था। इन कम्पनियो के लिये कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये। इस समय पजाब में शिक्षा का आन्दोलन बडे जोर पर था। गाँव-गाँव में स्कूल, शहर-शहर में कॉलेज खुल रहे थे। इसका परिणाम यह निकला कि रगमच की ओर लोगो का अधिक ध्यान आकृष्ट होने लगा। कॉलेजो, स्कूलो, शहरो और गाँवो में नाटक-मण्डलियों ने जहाँ-कहाँ से भी नाटक लेकर खेलने शुरू कर दिये। हमारे गाँव के "तकिये" में शहर से कनातें और पर्दे मगवा कर गैसो की रोशनी में "बिल्व मगल" खेला गया। काले नाग का गहरी अँधेरी रात में दीवार के साथ लटकना और किपी का उसको पकड कर ऊपर की मजिल में चढ जाना मुझे अभी तक याद है। और इस सब कुछ पर दर्शको की सासो का रुक जाना इस नाटक की सफलता की निशानी थी, जिसे मैं कभी भी नही भूल सकता। फिर हमारे गाँव के बाहर एक हवेली में "वन देवी" नाटक खेला गया। नायिका का अभिनय खालसा स्कूल के एक नवयुवक सिक्ख अध्यापक ने किया। गज-गज अपने बालो को नायक के पाँवो में गिरा कर जब नायिका ने निरपराधी होने का अभिनय किया तो सैकडो दर्शको की आँखों में आँसू अविरलता से बह उठे थे। नाटक अत्यन्त सफल रहा। पर अगले दिन खालसा स्कूल के उस अध्यापक की नौकरी सकट में सुनाई पडी।

पारसी कम्पनियो से प्रभावित होकर पजाबी में रगमच का प्रचलन अवश्य हुआ। मगर शिक्षा का माध्यम उर्दू होने के कारण, नाटक उर्दू में ही होते थे। इसी पके हुए वातावरण में गवर्नमेंट कालेज लाहौर के एक अध्यापक ईश्वर-चन्दर नन्दा ने पजाबी में नाटक लिखने शुरू किये और उन्हें रगमच पर खेला। पहले उन्होने शेक्सपीयर के "मर्चेण्ट-ऑफ वेनिस" के आधार पर "शामूशाह"

है। जो पात्र बोलता है, जहाँ तक छन्द की सीमा में उसका बोलना सम्भव होता है, वह बोलता जाता है। इनमें से कोई नाटक कभी रंगमंच पर नहीं खेला जा सकता। फिरोजदीन "शारफ" पंजाबी का एक लोकप्रिय कवि हुआ है। आरम्भ में उसने "हीरस्याल" के किस्से को फिल्म के लिये रूपान्तर किया। फिल्म तो न बन सकी पर अपनी रचना को उन्होंने प्रकाशित करा दिया। नाटक के दृष्टिकोण से यह रचना अत्यन्त निर्बल है। "शारफ" की भाषा मुहावरेदार और बहुत आकर्षक है। कहीं-कहीं उसके भीतर का कवि अत्यन्त सुन्दर शैली का आभास दे जाता है।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशकों में पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटक पंजाब तक पहुँच गये और उनकी चर्चा आम हो गयी। ये कम्पनियाँ भारत और ईरान के पुराने किस्सों, महाभारत और रामायण की पुरानी कहानियों, शेक्सपीयर की रचनाओं को रूपान्तर करके प्रस्तुत करती थीं। इनमें जन-सामान्य के मनोरंजन का ख्याल ही रखा जाता था। इन कम्पनियों के लिये कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये। इस समय पंजाब में शिक्षा का आन्दोलन बड़े ज़ोर पर था। गाँव-गाँव में स्कूल, शहर-शहर में कॉलेज खुल रहे थे। इसका परिणाम यह निकला कि रंगमंच की ओर लोगों का अधिक ध्यान आकृष्ट होने लगा। कॉलेजों, स्कूलों, शहरों और गाँवों में नाटक-मण्डलियों ने जहाँ-कहाँ से भी नाटक लेकर खेलने शुरू कर दिये। हमारे गाँव के "तकिये" में शहर से कनातें और पर्दे मंगवा कर गैसों की रोशनी में "बिल्व मंगल" खेला गया। काले नाग का गहरी अँधेरी रात में दीवार के साथ लटकना और चिंतामणि का उसको पकड़ कर ऊपर की मंजिल में चढ़ जाना मुझे अभी तक याद है। और इस सब कुछ पर दर्शकों की साँसों का रुक जाना इस नाटक की सफलता की निशानी थी, जिसे मैं कभी भी नहीं भूल सकता। फिर हमारे गाँव के बाहर एक हवेली में "वन देवी" नाटक खेला गया। नायिका का अभिनय खालसा स्कूल के एक नवयुवक सिक्ख अध्यापक ने किया। गंज-गंज अपने बालों को नायक के पाँवों में गिरा कर जब नायिका ने निरपराधी होने का अभिनय किया तो सैंकड़ों दर्शकों की आँखों में आँसू अविरलता से बह उठे थे। नाटक अत्यन्त सफल रहा। पर अगले दिन खालसा स्कूल के उस अध्यापक की नौकरी संकट में सुनाई पड़ी।

पारसी कम्पनियों से प्रभावित होकर पंजाबी में रंगमंच का प्रचलन अवश्य हुआ। मगर शिक्षा का माध्यम उर्दू होने के कारण, नाटक उर्दू में ही होते थे। इसी पके हुए वातावरण में गवर्नमेंट कालेज लाहौर के एक अध्यापक ईश्वर-चन्दर नन्दा ने पंजाबी में नाटक लिखने शुरू किये और उन्हें रंगमंच पर खेला। पहले उन्होंने शेक्सपीयर के "मर्चेण्ट-ऑफ वेनिस" के आधार पर "शामूशाह"

सरदार हरचरनसिंह को प्रो० ईश्वरचन्दर नन्दा का उत्तराधिकारी कहा जाता है। यह कहना यहा तक तो ठीक है कि नन्दा के बाद हरचरनसिंह ने ही नाटक की ओर अधिक ध्यान दिया। और आज के पजाबी नाटककारों में सम्भवत सब से ज्यादा नाटक उसी ने ही लिखे हैं। हरचरन सिंह के नाटको में जीवन का विस्तार बहुत है। नन्दा के नाटक हरचरनसिंह से ज्यादा प्रशस्त होते हैं। अध्यापक होने के नाते नन्दा अपनी रचनाओ को खूब अच्छी तरह मांज के पेश करता है। उसके नाटको के पात्र गिने-चुने हैं, जाने-पहचाने हैं, उनमे वह कोई उलझने नही डालता। कहानी साधारण और अपनी गति मे चलती निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच जाती है। हरचरन सिंह ने जीवन के अधिक उलझे हुये अगो को प्रस्तुत किया है। पात्रो के मनोविश्लेषण को सम्मुख रख कर उनकी गतिविधि के विस्तार को श्रम से दर्शाने का प्रयास किया है। हरचरनसिंह को समाज की विषमताओ का अधिक अनुभव है, नये समाज में उत्पन्न नयी समस्याओ को वह ढूंढ-ढूंढ कर पात्रो में देखता है और हर कठिनाई को कई दृष्टिकोणो से दर्शाने की कोशिश करता है। हरचरनसिंह का उद्देश्य ऊँचा है, क्या वह इसमें सफल भी हुआ है, इसका निर्णय समय करेगा। प्रो० गुरुचरनसिंह का विचार हैं कि हरचरनसिंह के नाटक "रास्ता दिखाने की बजाय रास्ते की तगी का अधिक जिक्र करते हैं।" सरदार हरचरनसिंह ने आधा दर्जन से अधिक नाटक और कुछ एकाकी लिखे। इनके नाटक विभाजन से पूर्व लाहौर में कई बार खेले गये और दिल्ली, पटियाला, अमृतसर आदि कालेजो और स्कूलो में प्रस्तुत किये जा रहे हैं। 'अनजोड', 'राजा पोरस', 'दोप', 'खेडण दे दिन चार', 'दूर दुरोड शहरो' और 'कमला कुमारी' इस नाटककार के कुछ बडे नाटक हैं।

गुरुदयाल सिंह खोसला ने 'बूए बैठी थी' और 'वे घरे ते होर' एकाकी नाटक लिखे। यह नाटककार नन्दा और हरचरन सिंह दोनो से अधिक सजग, अधिक सुलझा हुआ और कुशल नाटककार है। खोसला ने आधुनिक रगमच की आवश्यकताओ को सम्मुख रख कर नाटक लिखे हैं और उनको दिल्ली के रगमच पर कई बार बडी सफलता से खेला है। उसके नाटक साधारणत मध्य श्रेणी के पात्रो के आस-पास घूमते हैं और इस नाटककार की व्यग-शक्ति विशेष प्रबल मानी जाती है।

नाटककारो की अगली पीढी में चार नाम अधिक उल्लेखनीय हैं सन्त सिंह सेखो, शीला भाटिया, बलवन्त गार्गी और अमरीक सिंह। ये चारो नाटककार प्रगतिशील है। साहित्य और कला की मानवतावादी विचारधाराओ से अधिक प्रभावित जान पडते हैं। प्रो० सन्तसिंह सेखो बहुमुखी लेखक हैं—उन्होने कहानी, आलोचना, नाटक और किसी सीमा तक कविता में नये-नये प्रयोग किये हैं। नाटककार के रूप

सरदार हरचरनसिंह को प्रो० ईश्वरचन्दर नन्दा का उत्तराधिकारी कहा जाता है। यह कहना यहा तक तो ठीक है कि नन्दा के बाद हरचरनसिंह ने ही नाटक की ओर अधिक ध्यान दिया। और आज के पजाबी नाटककारों में सम्भवत सब से ज्यादा नाटक उसी ने ही लिखे हैं। हरचरन सिंह के नाटको में जीवन का विस्तार बहुत है। नन्दा के नाटक हरचरनसिंह से ज्यादा प्रशस्त होते हैं। अध्यापक होने के नाते नन्दा अपनी रचनाओ को खूब अच्छी तरह मांज के पेश करता है। उसके नाटको के पात्र गिने-चुने हैं, जाने-पहचाने हैं, उनमे वह कोई उलझने नही डालता। कहानी साधारण और अपनी गति मे चलती निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच जाती है। हरचरन सिंह ने जीवन के अधिक उलझे हुये अगो को प्रस्तुत किया है। पात्रो के मनोविश्लेषण को सम्मुख रख कर उनकी गतिविधि के विस्तार को श्रम से दर्शाने का प्रयास किया है। हरचरनसिंह को समाज की विषमताओ का अधिक अनुभव है, नये समाज में उत्पन्न नयी समस्याओ को वह ढूंढ-ढूंढ कर पात्रो में देखता है और हर कठिनाई को कई दृष्टिकोणो से दर्शाने की कोशिश करता है। हरचरनसिंह का उद्देश्य ऊँचा है, क्या वह इसमें सफल भी हुआ है, इसका निर्णय समय करेगा। प्रो० गुरुचरनसिंह का विचार हैं कि हरचरनसिंह के नाटक "रास्ता दिखाने की वजाय रास्ते की तगी का अधिक जिक्र करते हैं।" सरदार हरचरनसिंह ने आधा दर्जन से अधिक नाटक और कुछ एकाकी लिखे। इनके नाटक विभाजन से पूर्व लाहौर में कई वार खेले गये और दिल्ली, पटियाला, अमृतसर आदि कालेजो और स्कूलो में प्रस्तुत किये जा रहे हैं। 'अनजोड', 'राजा पोरस', 'दोप', 'खेडण दे दिन चार', 'दूर दुरोड शहरो' और 'कमला कुमारी' इस नाटककार के कुछ बडे नाटक हैं।

गुरुदयाल सिंह खोसला ने 'बूए बैठी थी' और 'वे घरे ते होर' एकाकी नाटक लिखे। यह नाटककार नन्दा और हरचरन सिंह दोनो से अधिक सजग, अधिक सुलझा हुआ और कुशल नाटककार है। खोसला ने आधुनिक रगमच की आवश्यकताओ को सम्मुख रख कर नाटक लिखे हैं और उनको दिल्ली के रगमच पर कई बार बडी सफलता से खेला है। उसके नाटक साधारणत मध्य श्रेणी के पात्रो के आस-पास घूमते हैं और इस नाटककार की व्यग-शक्ति विशेप प्रवल मानी जाती है।

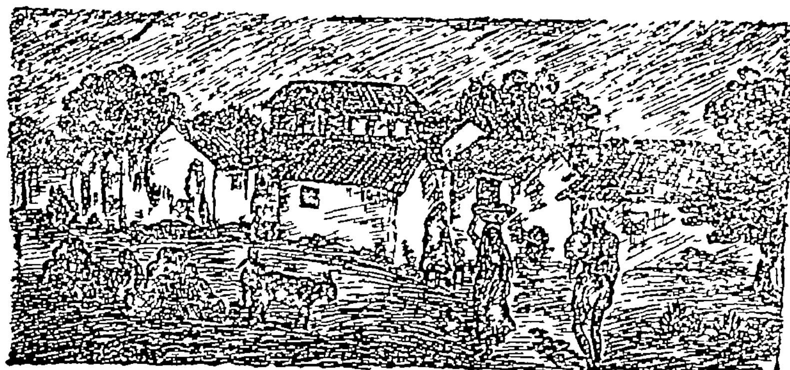
नाटककारो की अगली पीढी में चार नाम अधिक उल्लेखनीय हैं सन्त सिंह सेखो, शीला भाटिया, बलवन्त गार्गी और अमरीक सिंह। ये चारो नाटककार प्रगतिशील है। साहित्य और कला की मानवतावादी विचारधाराओ से अधिक प्रभावित जान पडते हैं। प्रो० सन्तसिंह सेखो बहुमुखी लेखक हैं—उन्होने कहानी, आलोचना, नाटक और किसी सीमा तक कविता में नये-नये प्रयोग किये हैं। नाटककार के रूप

ने अग्रेजी के कुछ नाटको को पजाबी में रूपान्तर किया है। रूपान्तर मूल नाटकों जितने सफल और सजीव हैं। इस तरह के रूपान्तर एक तीक्ष्ण बुद्धि का प्रतिभाशाली कलाकर ही कर सकता है। अपनी कला के विपय मे एक स्थान पर लिखते हुए नाटककार ने कहा है . "साधारण-सी घटना को तोड-फोड कर इतिवृत्त गढ लेता हूँ, जो जरा से कल्पित रग से विल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होता है ' 'कई साथियो ने मेरी भापा को वडा श्लाघ्य माना है। मेरे पात्रो की अक्खड ग्रामीण भाषा की स्वस्थता को ' 'मैंने अपने नाटको में उसी भापा का प्रयोग किया है, जो हम प्रतिदिन साधारणत बोलते हैं। मेरे शब्दो का भण्डार किसी साधारण ग्रामीण से अधिक नही। मेरी भापा पर अधिक प्रभाव हमारे मुहल्ले के किसानो का, मिरासी का, मित्थू वढई का और मेरी माँ का है——मैं वडी-वडी घटनाओ और तर्कों को नही अपनाता। मैं एक छोटी सी साधारण बात को लेकर उसमें नाटकीय नवीनता को ढूँढने की कोशिश करता हूँ ···ये सारे नाटक हमारे समाज पर व्यग्य करते हैं ? इनके पात्र इर्द-गिर्द के अधेरे में झाकते हैं। हमारे समाज की मध्यम श्रेणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका जीवन अस्वस्थ मूल्यो का केन्द्र बन गया है।" मेरी दृष्टि में जिस वात में गार्गी को कोई पा नही सकता, वह उसके पात्र हैं, और इन पात्रो की परस्पर वातचीत है। कही वह अपनी कृतियो को भापा के सहारे ही उडाकर ले जाता है। भाषा के सहारे और छोटी-छोटी वातो के सहारे जो हमारे आस-पास प्रतिदिन होती रहती हैं, किन्तु जिसको सुनने और समझने के लिए उनका रगमच पर आना आवश्यक होता है। गार्गी का हर पात्र जैसे जीवन में से वैसे का वैसा उठकर चला आया हो। उनमें से उनके व्यवहार का हमें आभास मिलता है। उनके पावो की बिवाइयाँ, हाथो के गट्ठे, उनकी कांटो से फटी हुई चुनरियाँ, कीचड से लिपटी हुई तलवारें, कितनी-कितनी देर हमारी आँखो के सामने घूमती रहती है। ईश्वरचन्द्र नन्दा आदि पजाबी के दूसरे नाटककारो की तरह बलवन्त गार्गी कही भी सुधार करने या उपदेश देने की कोशिश नही करता मगर उसका हर नाटक एक चिरस्थायी प्रभाव छोड कर समाप्त होता है। बहुधा वह हमारी मध्य श्रेणी पर व्यग्य करता है, वह व्यग्य जहाँ-जहाँ लगता है, वहाँ-वहाँ कितनी ही देर मीठा-मीठा दर्द होता रहता है। बलवन्त गार्गी ने पजाबी में पहली बार जन साधारण के बारे में नाटक लिखे हैं, ऐसे नाटक जिनको खेला जा रहा देख कर हज़ारो की गिनती में दर्शक उनमें शामिल हो जाते हैं। किसी नाटककार का इस प्रकार लोकप्रिय होना कही भी गर्व का कारण हो सकता है। "लोहा कुट" बलवन्त गार्गी का सर्वप्रथम नाटक है। पलेठी के बेटे की तरह ऐसा लगता है, जैसे इस नाटककार ने अपनी सारी शक्ति इस नाटक में लगा दी है। मेरी दृष्टि में "लोहा कुट" से अच्छा

ने अग्रेजी के कुछ नाटको को पजाबी में रूपान्तर किया है। रूपान्तर मूल नाटकों जितने सफल और सजीव हैं। इस तरह के रूपान्तर एक तीक्ष्ण बुद्धि का प्रतिभाशाली कलाकर ही कर सकता है। अपनी कला के विषय मे एक स्थान पर लिखते हुए नाटककार ने कहा है . "साधारण-सी घटना को तोड-फोड कर इतिवृत्त गढ लेता हूँ, जो जरा से कल्पित रग से विल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होता है ' 'कई साथियो ने मेरी भाषा को बडा श्लाघ्य माना है। मेरे पात्रो की अक्खड ग्रामीण भाषा की स्वस्थता को ' 'मैंने अपने नाटको में उसी भाषा का प्रयोग किया है, जो हम प्रतिदिन साधारणत बोलते हैं। मेरे शब्दो का भण्डार किसी साधारण ग्रामीण से अधिक नही। मेरी भाषा पर अधिक प्रभाव हमारे मुहल्ले के किसानो का, मिरासी का, मित्यू वढई का और मेरी मां का है———मैं बडी-बडी घटनाओ और तर्कों को नही अपनाता। मैं एक छोटी सी साधारण बात को लेकर उसमें नाटकीय नवीनता को ढूंढने की कोशिश करता हूँ ···ये सारे नाटक हमारे समाज पर व्यग्य करते हैं ? इनके पात्र इर्द-गिर्द के अधेरे में झाकते हैं। हमारे समाज की मध्यम श्रेणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका जीवन अस्वस्थ मूल्यो का केन्द्र बन गया है।" मेरी दृष्टि में जिस बात में गार्गी को कोई पा नही सकता, वह उसके पात्र हैं, और इन पात्रो की परस्पर बातचीत है। कही वह अपनी कृतियो को भाषा के सहारे ही उडाकर ले जाता है। भाषा के सहारे और छोटी-छोटी बातो के सहारे जो हमारे आस-पास प्रतिदिन होती रहती हैं, किन्तु जिसको सुनने और समझने के लिए उनका रगमच पर आना आवश्यक होता है। गार्गी का हर पात्र जैसे जीवन में से वैसे का वैसा उठकर चला आया हो। उनमें से उनके व्यवहार का हमें आभास मिलता है। उनके पावो की बिवाइयाँ, हाथो के गट्ठे, उनकी कांटो से फटी हुई चुनरियाँ, कीचड से लिपटी हुई तलवारें, कितनी-कितनी देर हमारी आंखो के सामने घूमती रहती है। ईश्वरचन्द्र नन्दा आदि पजाबी के दूसरे नाटककारो की तरह बलवन्त गार्गी कही भी सुधार करने या उपदेश देने की कोशिश नही करता मगर उसका हर नाटक एक चिरस्थायी प्रभाव छोड कर समाप्त होता है। बहुधा वह हमारी मध्य श्रेणी पर व्यग्य करता है, वह व्यग्य जहाँ-जहाँ लगता है, वहाँ-वहाँ कितनी ही देर मीठा-मीठा दर्द होता रहता है। बलवन्त गार्गी ने पजाबी में पहली बार जन साधारण के बारे में नाटक लिखे हैं, ऐसे नाटक जिनको खेला जा रहा देख कर हज़ारो की गिनती में दर्शक उनमें शामिल हो जाते हैं। किसी नाटककार का इस प्रकार लोकप्रिय होना कही भी गर्व का कारण हो सकता है। "लोहा कुट" बलवन्त गार्गी का सर्वप्रथम नाटक है। पलेठी के बेटे की तरह ऐसा लगता है, जैसे इस नाटककार ने अपनी सारी शक्ति इस नाटक में लगा दी है। मेरी दृष्टि में "लोहा कुट" से अच्छा

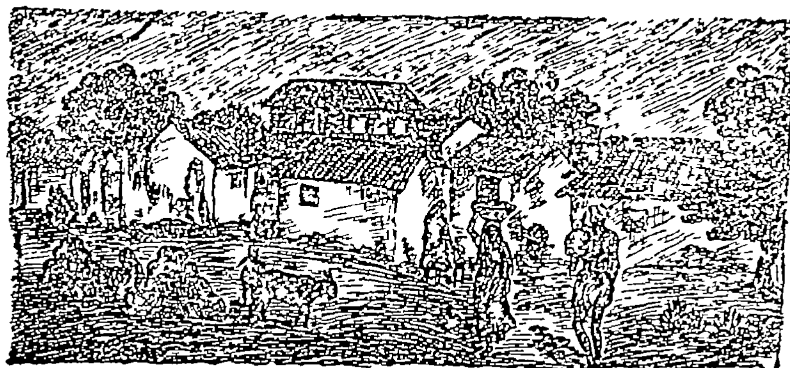
नाट्य-कला की ओर ध्यान दे रहे हैं। इनके कुछ नाटको को अमृतसर आदि शहरो में खेला गया है।

अब जब कि अधिकतर पजाबी बोलने वालो ने अपनी भाषा को अपना लिया है कोई कारण नहीं कि इस प्रदेश की नाट्य-कला और अधिक विकसित न हो। पजाबी नाटक पजाब के गाँवो में लोक-नाटको के रूप में अभी तक दम तोड रहा है। यदि शहर की ओर से कोई स्वस्थ प्रयास किया जाये तो इस परस्पर सामजस्य से पजाबी रगमच का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल हो सकता है। कुछ हम अपने ग्रामीण भाइयो को सिखायें और कुछ उनसे भी सीखें—ऊँचा साहित्य केवल इन्ही परिस्थितियो मे उत्पन्न हुआ करता है। महान् कला के लिये धरती का स्पर्श बहुत बहुत आवश्यक है।



नाट्य-कला की ओर ध्यान दे रहे हैं। इनके कुछ नाटको को अमृतसर आदि शहरो में खेला गया है।

अब जब कि अधिकतर पजाबी बोलने वालो ने अपनी भाषा को अपना लिया है कोई कारण नहीं कि इस प्रदेश की नाट्य-कला और अधिक विकसित न हो। पजाबी नाटक पजाब के गाँवो में लोक-नाटको के रूप में अभी तक दम तोड रहा है। यदि शहर की ओर से कोई स्वस्थ प्रयास किया जाये तो इस परस्पर सामजस्य से पजाबी रगमच का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल हो सकता है। कुछ हम अपने ग्रामीण भाइयो को सिखायें और कुछ उनसे भी सीखें—ऊँचा साहित्य केवल इन्ही परिस्थितियो मे उत्पन्न हुआ करता है। महान् कला के लिये धरती का स्पर्श बहुत बहुत आवश्यक है।



"यह नाटक केवल तुम्हारे और देवताओ के सुख के लिए ही नही है, इसमें तीनो लोको के लिए भाव का प्रदर्शन है। मैंने इस नाटक की रचना लोक की गति-विधि का अनुकरण करते हुए की है, चाहे धर्म हो चाहे क्रीडा, या अर्थ, शाति, हास, युद्ध, वासना या फिर सहार, और इससे धर्मपालन करने वालो को धर्म का फल, काम के सेवियो को काम, दुर्विनीतो को निग्रह, विधि का पालन करने वालो को तप, महाजनो को वल, योद्धाओ को उत्साह, अज्ञानियो को ज्ञान, पण्डितो को विद्या, महीपो को क्रीडा, दुःखदग्धो को सहनशीलता, लाभापेक्षियो को लाभ, हत-सकल्प को साहस प्राप्त होगा। यह नाना भावो से पूर्ण है, हृदय की कामनाओ से रजित है, समस्त मानवता से सम्वद्ध है, चाहे वह श्रेष्ठ हो, मध्यम हो या अधम, और शिक्षा, मनोविनोद, सुख आदि का दाता है।

"रस-भावादि के विषय में यह नाटक समस्त ज्ञान का स्रोत है, जो दुखी हैं, थकित हैं, या कठिन तप में लीन हैं, उनके लिए यह भव्य आराम है, यह उन्हें पुण्य, ख्याति, दीर्घायु, सौभाग्य और वृद्धि प्रदान करेगा और समस्त ससार को शिक्षा देगा। यह न तो ज्ञान ही है, न कला ही, न कर्म और न योग । इस नाटक की सृष्टि सप्तभुवनो के अनुसार है, जो कि मानो देवो-दानवो, दिग्पालो और ब्रह्मर्षियो के कृत्यो का अवलोकन कर रहे हैं। नाटक वह है जो स्वभावानुकूल है। रगमच ससार के लिए मनोविनोद का साधन है, और वेद, दर्शन, इतिहास और अन्य विषया के श्रवण का स्थल है।"

—२—

भारतीय नाटक की आत्मा कल्पना

रस-स्रोत के रूप मे नाटक एक सोद्देश्य सृष्टि है, अर्थात् यह मात्र विषय की अनुकृति न होकर एक कल्पनात्मक सृष्टि है। जैसा कि भरत ने आगे कहा है ·

"मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप सकल्प की सचेतन क्रियाशीलता के फल हैं। अतएव अभिनय के विभिन्न अगों का विचारपूर्वक विधान होना चाहिए।"

इस प्रकार, रस की तीव्रता के अतिरिक्त, यह सृष्टि किसी भी अन्य तत्व के अधीन नहीं रह जाती। और जैसा कि काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित है, यह रस की तीव्रता निर्भर है लेखक अथवा अभिनेता की क्षमता पर, जिसके द्वारा वह मानवीय पदार्थ में भावो और विचारो का सचार करके उन्हें एक ऐसे स्तर पर ला खड़ा करता है जहाँ वे वैयक्तिकता से ऊपर उठ कर निर्वैयक्तिकता की भूमि में प्रवेश करते हैं।

"यह नाटक केवल तुम्हारे और देवताओ के सुख के लिए ही नही है, इसमें तीनो लोको के लिए भाव का प्रदर्शन है। मैंने इस नाटक की रचना लोक की गति-विधि का अनुकरण करते हुए की है, चाहे धर्म हो चाहे क्रीडा, या अर्थ, शाति, हास, युद्ध, वासना या फिर सहार, और इससे धर्मपालन करने वालो को धर्म का फल, काम के सेवियो को काम, दुर्विनीतो को निग्रह, विधि का पालन करने वालो को तप, महाजनो को बल, योद्धाओ को उत्साह, अज्ञानियो को ज्ञान, पण्डितो को विद्या, महीपो को क्रीडा, दुःखदग्धो को सहनशीलता, लाभापेक्षियो को लाभ, हत-सकल्प को साहस प्राप्त होगा। यह नाना भावो से पूर्ण है, हृदय की कामनाओ से रजित है, समस्त मानवता से सम्बद्ध है, चाहे वह श्रेष्ठ हो, मध्यम हो या अधम, और शिक्षा, मनोविनोद, सुख आदि का दाता है।

"रस-भावादि के विषय में यह नाटक समस्त ज्ञान का स्रोत है, जो दुखी हैं, थकित हैं, या कठिन तप में लीन हैं, उनके लिए यह भव्य आराम है, यह उन्हें पुण्य, ख्याति, दीर्घायु, सौभाग्य और वृद्धि प्रदान करेगा और समस्त ससार को शिक्षा देगा। यह न तो ज्ञान ही है, न कला ही, न कर्म और न योग। इस नाटक की सृष्टि सप्तभुवनो के अनुसार है, जो कि मानो देवो-दानवो, दिग्पालो और ब्रह्मर्षियो के कृत्यो का अवलोकन कर रहे हैं। नाटक वह है जो स्वभावानुकूल है। रगमच ससार के लिए मनोविनोद का साधन है, और वेद, दर्शन, इतिहास और अन्य विषया के श्रवण का स्थल है।"

—२—

भारतीय नाटक की आत्मा कल्पना

रस-स्रोत के रूप मे नाटक एक सोद्देश्य सृष्टि है, अर्थात् यह मात्र विषय की अनुकृति न होकर एक कल्पनात्मक सृष्टि है। जैसा कि भरत ने आगे कहा है·

"मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप सकल्प की सचेतन क्रियाशीलता के फल हैं। अतएव अभिनय के विभिन्न अगों का विचारपूर्वक विधान होना चाहिए।"

इस प्रकार, रस की तीव्रता के अतिरिक्त, यह सृष्टि किसी भी अन्य तत्व के अधीन नहीं रह जाती। और जैसा कि काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित है, यह रस की तीव्रता निर्भर है लेखक अथवा अभिनेता की क्षमता पर, जिसके द्वारा वह मानवीय पदार्थ में भावो और विचारो का सचार करके उन्हें एक ऐसे स्तर पर ला खडा करता है जहाँ वे वैयक्तिकता से ऊपर उठ कर निर्वैयक्तिकता की भूमि में प्रवेश करते हैं।

आ जाता था। इस सब में देवदूत के रूप में ब्राह्मण की गरिमा एक महत्वपूर्ण तत्व थी। मंत्रो और स्तवों में श्रोतृ-समाज की श्रद्धा भी इससे कम महत्वपूर्ण नही थी।

पुरोहित (धर्माधिकारी) और श्रोतृ-समाज का यह अभेद, जो कि आराधना के लिए आवश्यक था, सामूहिक धार्मिक नाटको का प्रमुख आदर्श था। यही रूप रामायण और महाभारत की कथाओ का भी है, जिनका अभिनय युग-युग से गाँवो मे होता चला आया है। धर्म के मूल्यो की जड़ें इतनी गहरी थी और दार्शनिक विश्वास की धाराएँ इतनी विस्तृत और सर्वज्ञात थी, विशेष रूप से इतिहास और पुराण के नाटकीकरण के द्वारा, कि अभिनेताओ—जो कि स्वय पुरोहित होते थे या उसके द्वारा प्रशिक्षित कलाकार—और अशिक्षित जनता के बीच समनुयोग (या आदान-प्रदान) स्थापित होने मे कदाचित् ही कोई कठिनाई होती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक-कथा काल में कर्मकाडीय उपासना के जटिल और बहुरगी विकास से एक ऐसी नृत्य-कला का जन्म हुआ जिसमें अभिनय-मुद्रा, भाव और अन्य नाटकीय तत्वो को पूर्ण विकास हो चुका था, और जो भरत के नाट्य-शास्त्र के रूप में आज उपलब्ध है।

कर्मकाडीय उपासना का उद्देश्य सौंदर्यानुभूति को जन्म देना नही अपितु आध्यात्मिक अनुभूति का स्फुरण था, अतएव, प्रारम्भ में सौंदर्य का आदर्श अपने आधुनिक आत्मसविद् रूप में उदय नही हो पाया था, और आध्यात्मिक आनन्द को रस का सहोदर माना गया। इस प्रकार ब्रह्मानन्द रस या सौंदर्यानुभूति का पर्याय माना गया जो कि नृत्यकार या अभिनेता द्वारा भाव या अनुभूति की अभिव्यक्ति करते समय उत्पन्न होता है।

—४—

ललित कला की सकल्पना का विकास

कामशास्त्र के समान काम-विषयक ग्रन्थों और भरत नाट्य-शास्त्र से ज्ञात होता है कि भारत की बौद्ध और जैन-परम्पराओ मे ही नृत्यकार और अभिनेता का व्यवसाय स्वतन्त्र रूप धारण कर चुका था, और प्रविधि (टेकनीक) को प्रधानता देने के कारण कला का मूल्याकन करते समय कर्मकाड के ज्ञान के साथ साथ निपुणता पर भी विचार किया जाता था। फलस्वरूप प्रविधि का अधिक ज्ञान होने पर नाट्य-रूपो की अभिव्यक्ति मे नर्तक और अभिनेता दूसरो से श्रेष्ठ माने गये।

आ जाता था। इस सब में देवदूत के रूप में ब्राह्मण की गरिमा एक महत्वपूर्ण तत्व थी। मत्रो और स्तवों में श्रोतृ-समाज की श्रद्धा भी इससे कम महत्वपूर्ण नही थी।

पुरोहित (धर्माधिकारी) और श्रोतृ-समाज का यह अभेद, जो कि आराधना के लिए आवश्यक था, सामूहिक धार्मिक नाटको का प्रमुख आदर्श था। यही रूप रामायण और महाभारत की कथाओ का भी है, जिनका अभिनय युग-युग से गाँवो मे होता चला आया है। धर्म के मूल्यो की जड़ें इतनी गहरी थी और दार्शनिक विश्वास की धाराएँ इतनी विस्तृत और सर्वज्ञात थी, विशेष रूप से इतिहास और पुराण के नाटकीकरण के द्वारा, कि अभिनेताओ—जो कि स्वय पुरोहित होते थे या उसके द्वारा प्रशिक्षित कलाकार—और अशिक्षित जनता के बीच समनुयोग (या आदान-प्रदान) स्थापित होने मे कदाचित् ही कोई कठिनाई होती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक-कथा काल में कर्मकाडीय उपासना के जटिल और बहुरगी विकास से एक ऐसी नृत्य-कला का जन्म हुआ जिसमें अभिनय-मुद्रा, भाव और अन्य नाटकीय तत्वो को पूर्ण विकास हो चुका था, और जो भरत के नाट्य-शास्त्र के रूप में आज उपलब्ध है।

कर्मकाडीय उपासना का उद्देश्य सौंदर्यानुभूति को जन्म देना नही अपितु आध्यात्मिक अनुभूति का स्फुरण था, अतएव, प्रारम्भ में सौंदर्य का आदर्श अपने आधुनिक आत्मसविद् रूप में उदय नही हो पाया था, और आध्यात्मिक आनन्द को रस का सहोदर माना गया। इस प्रकार ब्रह्मानन्द रस या सौंदर्यानुभूति का पर्याय माना गया जो कि नृत्यकार या अभिनेता द्वारा भाव या अनुभूति की अभिव्यक्ति करते समय उत्पन्न होता है।

—४—

ललित कला की सकल्पना का विकास

कामशास्त्र के समान काम-विषयक ग्रन्थों और भरत नाट्य-शास्त्र से ज्ञात होता है कि भारत की बौद्ध और जैन-परम्पराओ मे ही नृत्यकार और अभिनेता का व्यवसाय स्वतन्त्र रूप धारण कर चुका था, और प्रविधि (टेकनीक) को प्रधानता देने के कारण कला का मूल्याकन करते समय कर्मकाड के ज्ञान के साथ साथ निपुणता पर भी विचार किया जाता था। फलस्वरूप प्रविधि का अधिक ज्ञान होने पर नाट्य-रूपो की अभिव्यक्ति मे नर्तक और अभिनेता दूसरो से श्रेष्ठ माने गये।

है कि जैसे रगमच अधिकतर श्रोताओ के हृदय मे निवास करता था और नाटक की अवतारणा खुले स्थान मे ही की जाती थी।

साथ ही नाटक अब भी ऐसे वातावरण में खेला जाता था, जहाँ कि अभिनेता और श्रोतृ-समाज का ऐक्य सर्वथा सम्भव था। मच पर अथवा श्रोतृ-समाज के मध्य में जिस सादी यवनिका के पीछे अभिनेतागण एकत्र होते थे, वह विवस्त्वाभास उत्पन्न करने का एक मात्र साधन होता था। किन्तु समस्त नाट्य प्रदर्शन को पूर्ण इकाई में सकलित करने के लिए, एक भाव से दूसरे भाव में अथवा एक दृश्य से दूसरे दृश्य में या नाटक की ही रचना से सक्रमण उपस्थित करने के लिए सूत्रधार की सृष्टि की गयी। आधुनिक भाषा में उसे आप प्रवन्धक या दिग्दर्शक या प्रस्तावक जो भी कहना चाहें कह सकते हैं।

समस्त श्रेण्य नाटक की कुजी सूत्रधार के हाथ में रहती है क्योकि वैदिक युग के पुरोहितो और मदिरो के एकाग्र श्रोतृ-समाज के अभाव में, वह ही एक ऐसा सयोजक होता था जिससे नाटक परस्पर जुडा रहता था और जिसके द्वारा नाटककार अपनी रचना को श्रोताओ के समक्ष उद्घाटित करता था, और जो श्रोताओ का प्रतिनिधित्व भी करता था।

सूत्रधार—जोकि आधुनिक दिग्दर्शक का ही पूर्वाभास है—का विकास श्रेण्य-युग के रगमच के अगो की प्रगति में प्रविधि की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुछ लोगो की यह भी धारणा है कि प्राचीन भारतीय नाटको में सूत्रधार की प्रेरणा यूनानी नाटको के 'कोरस' (वृन्द-गायन) से प्राप्त हुई, अत यह एक विदेशी प्रभाव है। यह अनुमान एक अतिरजना मात्र है, और मान्य नही हो सकता क्योकि सूत्रधार यद्यपि व्याख्याकार का कार्य करता है पर यूनानी 'कोरस' का रूप शायद ही कभी ग्रहण करता हो।

—६—

अभिनेताओ और श्रोतृ-समाज का ऐक्य · भारतीय नाटको की दूसरी निजी विशेषता

अत. हम देखते हैं कि मिरासियो और भाडो की टोलियो में, जो कि गाँव-गाँव में घूमते थे, और सस्कृत से उद्भूत अनेक प्राकृतो में अनुकरण, गीत, नृत्य और तमाशे करते थे, सूत्रधार का स्थान सदा प्रमुख होता था। वह अभिनेताओ और श्रोताओ के

है कि जैसे रगमच अधिकतर श्रोताओ के हृदय मे निवास करता था और नाटक की अवतारणा खुले स्थान मे ही की जाती थी ।

साथ ही नाटक अब भी ऐसे वातावरण में खेला जाता था, जहाँ कि अभिनेता और श्रोतृ-समाज का ऐक्य सर्वथा सम्भव था । मच पर अथवा श्रोतृ-समाज के मध्य में जिस सादी यवनिका के पीछे अभिनेतागण एकत्र होते थे, वह विवस्त्वाभास उत्पन्न करने का एक मात्र साधन होता था । किन्तु समस्त नाट्य प्रदर्शन को पूर्ण इकाई में सकलित करने के लिए, एक भाव से दूसरे भाव में अथवा एक दृश्य से दूसरे दृश्य में या नाटक की ही रचना से सक्रमण उपस्थित करने के लिए सूत्रधार की सृष्टि की गयी । आधुनिक भाषा में उसे आप प्रवन्धक या दिग्दर्शक या प्रस्तावक जो भी कहना चाहें कह सकते हैं ।

समस्त श्रेण्य नाटक की कुजी सूत्रधार के हाथ में रहती है क्योकि वैदिक युग के पुरोहितो और मदिरो के एकाग्र श्रोतृ-समाज के अभाव में, वह ही एक ऐसा सयोजक होता था जिससे नाटक परस्पर जुडा रहता था और जिसके द्वारा नाटककार अपनी रचना को श्रोताओ के समक्ष उद्घाटित करता था, और जो श्रोताओ का प्रतिनिधित्व भी करता था ।

सूत्रधार—जोकि आधुनिक दिग्दर्शक का ही पूर्वाभास है—का विकास श्रेण्य-युग के रगमच के अगो की प्रगति में प्रविधि की दृष्टि से सवसे महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।

कुछ लोगो की यह भी धारणा है कि प्राचीन भारतीय नाटको में सूत्रधार की प्रेरणा यूनानी नाटको के 'कोरस' (वृन्द-गायन) से प्राप्त हुई, अत यह एक विदेशी प्रभाव है । यह अनुमान एक अतिरजना मात्र है, और मान्य नही हो सकता क्योकि सूत्रधार यद्यपि व्याख्याकार का कार्य करता है पर यूनानी 'कोरस' का रूप शायद ही कभी ग्रहण करता हो ।

—६—

अभिनेताओ और श्रोतृ-समाज का ऐक्य · भारतीय नाटको की दूसरी निजी विशेषता

अत. हम देखते हैं कि मिरासियो और भाडो की टोलियो में, जो कि गाँव-गाँव में घूमते थे, और सस्कृत से उद्भूत अनेक प्राकृतो में अनुकरण, गीत, नृत्य और तमाशे करते थे, सूत्रधार का स्थान सदा प्रमुख होता था । वह अभिनेताओ और श्रोताओ के

हो गयी थी, हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था में अभिनेताओ और नर्तको को स्तर निम्न होने के कारण पतित होती गयी। मुस्लिम आक्रमणकारियो ने कलाओ की स्थिति और भी कठिन कर दी क्योकि हिन्दुओ के धार्मिक समारोहो में बहुधा उनकी मान्यताओ की ही व्याख्या की जाती थी।

और फिर, यूरोपवासियो के आगमन पर रगमच के त्रि-आयामिक स्वरूप ने, जिसमे रग-मुख का एक चौखटे के रूप में विधान था, भारतीय रगमच को सबसे प्रबल आघात पहुँचाया। इस आघात से अनेक जटिलतायें पैदा हो गयी, जिनका अभी तक पूर्ण विश्लेषण नही हो पाया है, और जिसके सर्वोत्तम तत्वो को देशी परम्परा आत्मसात् नही कर पायी है।

—८—

हमारी शेष परम्परा रूप और विषय मे पश्चिमी प्रभावों को कहाँ तक आत्मसात कर पायी है ?

वर्तमान युग में रगमच की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है नाटक की भारतीय परम्परा का प्रतीकवाद और उसके काव्यमय यथार्थवाद तथा पश्चिमी रगमच के स्वाभाविकतावाद (अनुकृति-कलावाद) के भारतीय सस्करण के बीच विरोध। क्योकि पश्चिमी स्वाभाविकता का यह भारतीय सस्करण अपनी स्वाभाविक सवेदनशीलता, काव्यमयता और प्रविधि की पूर्णता से रिक्त है। प्रतीत होता है कि स्वय अपनी परम्परा के मूल तथ्यो का स्मरण किये बिना ही हमने पश्चिम से सभी कुछ ग्रहण कर लिया है। साथ ही यूरोपीय रगमच के विकास के पीछे जो सामाजिक और मानवीय परिस्थितियाँ थी उनकी हमें अत्यन्त स्वल्प जानकारी है। हमारे आधुनिक रगमच में यत्र-तत्र कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं जहाँ कुछ अग्रयायियो ने पश्चिमी रगमच के उन तत्वो को आत्मसात कर पाया है जिनका स्वरूप और विषय-वस्तु की दृष्टि से थोडा-बहुत महत्व है। परन्तु हमारा रगमच अधिकतर वह समन्वय नही कर पाया है जिसके बिना हमारी सर्वागपूर्ण परम्परा का नवीयन या नाट्य-कला की नयी परम्परा की सृष्टि सम्भव नही है।

—९—

हमारी अवशिष्ट प्राचीन परम्परा और नवीन यूरोपीय रगमच के परस्पर विरोध का स्वरूप क्या है और हम विदश के सुप्रभावो को क्यो ग्रहण नही कर सके ?

हो गयी थी, हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था में अभिनेताओ और नर्तको को स्तर निम्न होने के कारण पतित होती गयी। मुस्लिम आक्रमणकारियो ने कलाओ की स्थिति और भी कठिन कर दी क्योकि हिन्दुओ के धार्मिक समारोहो में बहुधा उनकी मान्यताओ की ही व्याख्या की जाती थी।

और फिर, यूरोपवासियो के आगमन पर रगमच के त्रि-आयामिक स्वरूप ने, जिसमे रग-मुख का एक चौखटे के रूप में विधान था, भारतीय रगमच को सबसे प्रवल आघात पहुँचाया। इस आघात से अनेक जटिलतायें पैदा हो गयी, जिनका अभी तक पूर्ण विश्लेषण नही हो पाया है, और जिसके सर्वोत्तम तत्वो को देशी परम्परा आत्मसात् नही कर पायी है।

—८—

हमारी शेष परम्परा रूप और विषय मे पश्चिमी प्रभावों को कहाँ तक आत्मसात कर पायी है?

वर्तमान युग में रगमच की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है नाटक की भारतीय परम्परा का प्रतीकवाद और उसके काव्यमय यथार्थवाद तथा पश्चिमी रगमच के स्वाभाविकतावाद (अनुकृति-कलावाद) के भारतीय सस्करण के बीच विरोध। क्योकि पश्चिमी स्वाभाविकता का यह भारतीय सस्करण अपनी स्वाभाविक सवेदनशीलता, काव्यमयता और प्रविधि की पूर्णता से रिक्त है। प्रतीत होता है कि स्वय अपनी परम्परा के मूल तथ्यो का स्मरण किये विना ही हमने पश्चिम से सभी कुछ ग्रहण कर लिया है। साथ ही यूरोपीय रगमच के विकास के पीछे जो सामाजिक और मानवीय परिस्थितियाँ थी उनकी हमें अत्यन्त स्वल्प जानकारी है। हमारे आधुनिक रगमच में यत्र-तत्र कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं जहाँ कुछ अग्रयायियो ने पश्चिमी रगमच के उन तत्वो को आत्मसात कर पाया है जिनका स्वरूप और विषय-वस्तु की दृष्टि से थोड़ा-बहुत महत्व है। परन्तु हमारा रगमच अधिकतर वह समन्वय नही कर पाया है जिसके बिना हमारी सर्वा गपूर्ण परम्परा का नवीयन या नाट्य-कला की नयी परम्परा की सृष्टि सम्भव नही है।

—९—

हमारी अवशिष्ट प्राचीन परम्परा और नवीन यूरोपीय रगमच के परस्पर विरोध का स्वरूप क्या है और हम विदश के सुप्रभावो को क्यो ग्रहण नही कर सके?

लगे और वे निमित रगमच के चौखटे के भीतर से यूरोपवासियो के जीवन की झाँकी प्राप्त करने लगे। और उन्हे स्वय अपने जीवन को इस रग-मुख के भीतर अभिनीत करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। धीरे-धीरे नाटकीय सगठनो का रहस्य भारतीय बुद्धिजीवी-वर्ग को ज्ञात होने लगा : कवनेन्ट गार्डन के ढक के 'ओपेरा हाउस' और फ्राँसीसी ढग के, जो मखमली कुर्सियो, सुनहरी सजावट, झाडफानूस आदि से परिपूर्ण थे, बडे-बडे शहरो में बनाये जाने लगे। और इनमें कभी-कभी यूरोपियन शौकिया अभिनेताओ द्वारा नाट्य-प्रदर्शन के साथ ही शेक्सपियर के नाटको के अनुवाद रामायण तथा महाभारत पर आधारित धार्मिक नाटक और सामाजिक नाटक भी प्रस्तुत किये जाते थे, जिनमें प्रेम, ईर्ष्या, घृणा, लोभ आदि मूल भावो का यूरोपीय अभिनेताओ की शैली पर प्रदर्शन किया जाता था।

—१०—

यूरोपीय रगमच और प्रचीन भारतीय रगमच का समन्वय न हो सकने का कारण भारत के लेखको और कलाकारो की असमर्थता है या कोई अन्य सैद्धान्तिक मनोवैज्ञानिक या भौतिक कारण भी है ?

भारत की प्रमुख भाषाओ के ख्यात लेखको की सद्‌हृदयता में कोई सदेह नही है। यत्र-तत्र वे अपनी स्वतन्त्र नाटक-शैली का सृजन करने मे कुछ हद तक सफल भी हुए हैं, क्योकि ये बुद्धिजीवी समन्वय की आवश्यकता के प्रति जागरुक थे—विशेष करके बगाल और महाराष्ट्र में।

उदाहरणार्थ, ठाकुर परिवार ने नाटक-लेखन की एक स्वतन्त्र शैली का विकास किया। उन्होने नाटक के मूल तत्वो को लोक-कथाओ और प्रतीक कथाओ से ग्रहण किया और एक ऐसे गीत-नाट्य का परिपाक हुआ जो रवीन्द्रनाथ के नाटको में सरलता और तीव्रता की चरम सीमा को छू सका।

बगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और माइकेल मधुसूदनदत्त के नाटक, 'नील दर्पण' के समान इक्के-दुक्के राजनीतिक नाटक, या सचिनसेन गुप्त के समसामयिक सामाजिक नाटक, दक्षिण भारतीय भाषाओं के नाटककार कैलासम् और टी० के० बन्धु, मराठी में अत्रे तथा दूसरे कई लेखक, गुजराती मे मुन्शी और मेहता और हिन्दुस्तानी में पृथ्वीराज कपूर की रचनाएँ अवश्य देखने को मिल जाती हैं, पर भारत के प्रमुख लेखक अभिनय के योग्य नाटको की रचना करने में असफल रहे हैं।

इसका कारण यह नही है कि हमारे लेखको मे लेखन-कला या हमारे अभि नेताओ मे अभिनय-प्रतिभा का अभाव है। इसके लिए उत्तरदायी है ब्रिटिश साम्राज्य-

लगे और वे निमित रगमच के चौखटे के भीतर से यूरोपवासियो के जीवन की झाँकी प्राप्त करने लगे। और उन्हे स्वय अपने जीवन को इस रग-मुख के भीतर अभिनीत करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। धीरे-धीरे नाटकीय सगठनो का रहस्य भारतीय बुद्धिजीवी-वर्ग को ज्ञात होने लगा : सवनेन्ट गार्डन के ढक के 'ओपेरा हाउस' और फ्राँसीसी ढग के, जो मखमली कुर्सियो, सुनहरी सजावट, झाडफानूस आदि से परिपूर्ण थे, बडे-बडे शहरो में बनाये जाने लगे। और इनमें कभी-कभी यूरोपियन शौकिया अभिनेताओ द्वारा नाट्य-प्रदर्शन के साथ ही शेक्सपियर के नाटको के अनुवाद रामायण तथा महाभारत पर आधारित धार्मिक नाटक और सामाजिक नाटक भी प्रस्तुत किये जाते थे, जिनमें प्रेम, ईर्ष्या, घृणा, लोभ आदि मूल भावो का यूरोपीय अभिनेताओ की शैली पर प्रदर्शन किया जाता था।

—१०—

यूरोपीय रगमच और प्रचीन भारतीय रगमच का समन्वय न हो सकने का कारण भारत के लेखको और कलाकारो की असमर्थता है या कोई अन्य सैद्धान्तिक मनोवैज्ञानिक या भौतिक कारण भी है ?

भारत की प्रमुख भाषाओ के ख्यात लेखको की सद्हृदयता में कोई सदेह नही है। यत्र-तत्र वे अपनी स्वतन्त्र नाटक-शैली का सृजन करने मे कुछ हद तक सफल भी हुए हैं, क्योकि ये बुद्धिजीवी समन्वय की आवश्यकता के प्रति जागरुक थे—विशेष करके बगाल और महाराष्ट्र में।

उदाहरणार्थ, ठाकुर परिवार ने नाटक-लेखन की एक स्वतन्त्र शैली का विकास किया। उन्होने नाटक के मूल तत्वो को लोक-कथाओ और प्रतीक कथाओ से ग्रहण किया और एक ऐसे गीत-नाट्य का परिपाक हुआ जो रवीन्द्रनाथ के नाटको में सरलता और तीव्रता की चरम सीमा को छू सका।

बगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और माइकेल मधुसूदनदत्त के नाटक, 'नील दर्पण' के समान इक्के-दुक्के राजनीतिक नाटक, या सचिनसेन गुप्त के समसामयिक सामाजिक नाटक, दक्षिण भारतीय भाषाओं के नाटककार कैलासम् और टी० के० बन्धु, मराठी में अत्रे तथा दूसरे कई लेखक, गुजराती मे मुन्शी और मेहता और हिन्दुस्तानी में पृथ्वीराज कपूर की रचनाएँ अवश्य देखने को मिल जाती हैं, पर भारत के प्रमुख लेखक अभिनय के योग्य नाटको की रचना करने में असफल रहे हैं।

इसका कारण यह नही है कि हमारे लेखको मे लेखन-कला या हमारे अभिनेताओ मे अभिनय-प्रतिभा का अभाव है। इसके लिए उत्तरदायी है ब्रिटिश साम्राज्य-

प्रेरणाएँ उदय हुई । इसका विशेप कारण यह था कि देश मे राष्ट्रीय चेतना की प्राप्ति के लवे सघर्प से जो सच्ची सृजन-क्षमता उत्पन्न हुई थी वह राजसत्ता ब्रिटेन के हाथ से भारतीयो के हाथ मे आ जाने से फलीभूत हो रही थी ।

—११—

पाश्चात्य शैली से कैसे लाभ उठाया जाय ?

अब प्रश्न यह उठता है कि पाश्चात्य शैली, प्रणाली या प्रविधि से भारतीय नाटक कहाँ तक लाभान्वित हो सकता है ?

मुझे लगता है कि शौकिया कलाकारो या पेशेवरो द्वारा यूरोपीय प्रभाव के अधीन रह कर यूरोपीय अथवा भारतीय नाटको को रगमच पर केवल दुहराते जाने का अनुभव हमें प्राप्त है, उससे निकट भविष्य में इस दिशा में कोई आशा नही है ।

हमारे देश के शौकिया कलाकारो ने औसत स्तर के कालेज नाटक समाज, या रेलवे कर्मचारी नाट्य क्लब, या शिमला, मसूरी अथवा दार्जीलिंग के व्यक्तिक अभिनेता सघो द्वारा नाटकीय प्रेरणा से जीवित रखा है और आग्ल-प्रेमियो के पथदर्शन में समरसेट मौहम या नौएल कावर्ड या फिर टी० एस० इलियट के नाटक ही सब कुछ बन गये । ये आग्लप्रेमी उन लोगों मे से थे जो या तो विलायत के अपने स्कूली दिनो मे एकाध बार शार्टसबरी एवेन्यू हो आये थे, और जो उपनागरिक क्षेत्र के अच्छे नागरिक की भाति स्थानीय कस्बे मे फैशनपरस्त अग्रेजी रगमच का उदाहरण उपस्थित करना चाहते हैं, और इस प्रकार अध निम्नवर्ग को विदेश की उच्च शिक्षा के महत्व से परिचित करना चाहते हैं ।

२०वी शती के प्रारम्भिक वर्षों में कुछ अधिक चतुर विद्यार्थी अपने प्राध्यापको से शेक्सपियर और शॉ के नाटको की अवतरणा करने पर जोर देते थे । और इनमें से कोई एक पुस्तक प्रेमी इब्सन, बिजोर्सन और स्ट्रिडबर्ग की बात भी करता था । कुछेक अग्रगामी विद्यार्थी टाल्सटाय, चेखाव और गोर्की का नाम भी जानते थे और प्रविधि के प्रेमी जानकारो की तरह दबी आवाज में स्टेनिस्लाविस्की, गार्डनक्रेग मैक्स राइन्डहर्ट, नोमीरिपोविच डान्टशेको, टेरेन्स ग्रे और पीटर गाडफ्राइ के नाम भी लेते थे ।

भारत की नाट्य-कला के सामान्य वातावरण को अनुकूल बनाने मे इस अभिजात-वृत्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा । परन्तु हमारे देश की अभिजात-वृत्ति का जो

प्रेरणाएँ उदय हुई। इसका विशेप कारण यह था कि देश मे राष्ट्रीय चेतना की प्राप्ति के लवे सघर्ष से जो सच्ची सृजन-क्षमता उत्पन्न हुई थी वह राजसत्ता ब्रिटेन के हाथ से भारतीयो के हाथ मे आ जाने से फलीभूत हो रही थी।

—११—

पाश्चात्य शैली से कैसे लाभ उठाया जाय ?

अब प्रश्न यह उठता है कि पाश्चात्य शैली, प्रणाली या प्रविधि से भारतीय नाटक कहाँ तक लाभान्वित हो सकता है ?

मुझे लगता है कि शौकिया कलाकारो या पेशेवरो द्वारा यूरोपीय प्रभाव के अधीन रह कर यूरोपीय अथवा भारतीय नाटको को रगमच पर केवल दुहराते जाने का अनुभव हमें प्राप्त है, उससे निकट भविष्य में इस दिशा में कोई आशा नही है।

हमारे देश के शौकिया कलाकारो ने औसत स्तर के कालेज नाटक समाज, या रेलवे कर्मचारी नाट्य क्लब, या शिमला, मसूरी अथवा दार्जीलिंग के व्यक्तिक अभिनेता सघो द्वारा नाटकीय प्रेरणा से जीवित रखा है और आग्ल-प्रेमियो के पथदर्शन में समरसेट मौहम या नौएल कावर्ड या फिर टी० एस० इलियट के नाटक ही सब कुछ बन गये। ये आग्लप्रेमी उन लोगों मे से थे जो या तो विलायत के अपने स्कूली दिनो मे एकाध बार शार्टसबरी एवेन्यू हो आये थे, और जो उपनागरिक क्षेत्र के अच्छे नागरिक की भाति स्थानीय कस्बे मे फैशनपरस्त अग्रेजी रगमच का उदाहरण उपस्थित करना चाहते हैं, और इस प्रकार अध निम्नवर्ग को विदेश की उच्च शिक्षा के महत्व से परिचित करना चाहते हैं।

२०वी शती के प्रारम्भिक वर्षों में कुछ अधिक चतुर विद्यार्थी अपने प्राध्यापको से शेक्सपियर और शॉ के नाटको की अवतरणा करने पर जोर देते थे। और इनमें से कोई एक पुस्तक प्रेमी इब्सन, बिजोर्सन और स्ट्रिडवर्ग की बात भी करता था। कुछेक अग्रगामी विद्यार्थी टाल्सटाय, चेखाव और गोर्की का नाम भी जानते थे और प्रविधि के प्रेमी जानकारो की तरह दबी आवाज में स्टेनिस्लाविस्की, गार्डनक्रेग मैक्स राइन्डहर्ट, नोमीरिपोविच डान्टशेको, टेरेन्स ग्रे और पीटर गाडफ्राइ के नाम भी लेते थे।

भारत की नाट्य-कला के सामान्य वातावरण को अनुकूल बनाने मे इस अभिजात-वृत्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा। परन्तु हमारे देश की अभिजात-वृत्ति का जो

रगमचीय समुदाय का सामाजिक स्तर निम्न होने के कारण वे छोटी-छोटी रगशालाओ में एक साथ रहने लगे। और यहां रगमुख के आविष्कार के बाद वे शारीरिक दृष्टि से अपने श्रोतृ-वर्ग से विलग हो गये। अभिनेता आते थे और रगमच पर अभिनय आरम्भ करते थे, जब कि श्रोतागण उनसे दस गज़ की दूरी पर एक अर्धवृत्त बना कर बैठते थे। वे दिन बीत चुके थे जब जनता खुली या बन्द रगशालाओ में गोलाकार रगमच के चारो ओर बैठते थे।

गत अर्धशताब्दी के सभी महान् निर्माताओ के मन में अभिनेताओ और श्रोताओं के इस विभाजन का प्रश्न उठा है। इनमें से महानतम निर्माताओ, इगलैड में गार्डन क्रेग, रूस मे स्टेनिस्लाविस्की और मेरहोल्ड, जर्मनी में रेनाहार्ट और ब्रेश्ट, सभी ने अभिनेताओ और श्रोताओ के बीच आन्तरिक आदान-प्रदान के अभाव के विरुद्ध आवाज़ उठायी। वे आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न व्यक्तिवाद के विरुद्ध विद्रोही थे। धन अर्जित करने की लालसा से उन्हे घृणा थी। वे इस बात की भर्त्सना करते थे कि रगमच समुदाय के दैनिक जीवन का भिन्न अग नही रह गया है। और उन्होने रगमच को समुदाय के जीवन सेपुन अभिन्न करने का प्रयत्न किया।

उन्होने जिस तरीक़े की खोज की वह अलग ही था।

गार्डन क्रेग का विश्वास था कि प्रविधि स्वय ही अभिनेताओ और श्रोताओ में ऐक्य स्थापित करने में समर्थहै। यह प्रकाश को बदलने से या अभिनेताओ को अलग-अलग समूहो में खडा करके किया जा सकता है, जिससे ज्ञात हो कि अभिनेता रगमुख से बाहर निकल कर श्रोताओ के बीच चले आ रहे हैं।

इन प्राविधिक आविष्कारो का उपभोग रेनहार्ट ने और जर्मन अभिव्यजनावादियो ने किया जो कि नयी-नयी वैज्ञानिक कलो द्वारा क्रेग के प्राविधिक कौशल को आगे बढा ले गये।

परन्तु सब से महत्वपूर्ण नवीयन स्टेनिसलाविस्की ने किया। उन्होने क्रेग और अभिव्यजनावादियो द्वारा विकसित टेकनिकल कौशल को सर्वथा अस्वीकार नही किया, वह समस्या में गहरे पैठे उनका विचार था कि अभिनेता और श्रोता के बीच एक सच्चे सम्बन्ध को फिर से स्थापित करने से ही रगमच में ये दो पहलू मिल सकते हैं। यह तभी किया जा सकता है जब कि रगमच से अस्वाभाविकता और अति-नाटकीय अभिनय का बहिष्कार किया जाय और रगमच को मानव-जीवन और उसकी समस्याओ का एक जीवित और प्राणवत प्रतिबिम्ब बनाया जाय। इस प्रकार दर्शकगण नाट्य-कला द्वारा अपने ही जीवन का अभिनय और उसका रूपान्तरण

रगमचीय समुदाय का सामाजिक स्तर निम्न होने के कारण वे छोटी-छोटी गशालाओं में एक साथ रहने लगे। और यहां रगमुख के आविष्कार के बाद वे ारीरिक दृष्टि से अपने श्रोतृ-वर्ग से विलग हो गये। अभिनेता आते थे और रगमच ार अभिनय आरम्भ करते थे, जब कि श्रोतागण उनसे दस गज़ की दूरी पर एक ार्धवृत्त बना कर बैठते थे। वे दिन बीत चुके थे जब जनता खुली या बन्द रगशालाओं । गोलाकार रगमच के चारो ओर बैठते थे।

गत अर्धशताब्दी के सभी महान् निर्माताओं के मन में अभिनेताओं और ्रोताओं के इस विभाजन का प्रश्न उठा है। इनमें से महानतम निर्माताओं, ़गलैड में गार्डन क्रेग, रूस मे स्टेनिस्लाविस्की और मेरहोल्ड, जर्मनी में रेनाहार्ट ्रौर ब्रेश्ट, सभी ने अभिनेताओं और श्रोताओं के बीच आन्तरिक आदान-प्रदान के ्रभाव के विरुद्ध आवाज़ उठायी। वे आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न व्यक्तिवाद े विरुद्ध विद्रोही थे। धन अर्जित करने की लालसा से उन्हे घृणा थी। वे इस ात की भर्त्सना करते थे कि रगमच समुदाय के दैनिक जीवन का भिन्न अग नही ह गया है। और उन्होने रगमच को समुदाय के जीवन सेपुन अभिन्न करने का ्रयत्न किया।

उन्होने जिस तरीक़े की खोज की वह अलग ही था।

गार्डन क्रेग का विश्वास था कि प्रविधि स्वय ही अभिनेताओं और श्रोताओं ा ऐक्य स्थापित करने में समर्थ है। यह प्रकाश को बदलने से या अभिनेताओं को अलग-्रलग समूहों में खड़ा करके किया जा सकता है, जिससे ज्ञात हो कि अभिनेता रगमुख ा बाहर निकल कर श्रोताओं के बीच चले आ रहे हैं।

इन प्राविधिक आविष्कारों का उपभोग रेनहार्ट ने और जर्मन अभिव्यजना-ादियो ने किया जो कि नयी-नयी वैज्ञानिक कलो द्वारा क्रेग के प्राविधिक कौशल को ्रागे बढा ले गये।

परन्तु सब से महत्वपूर्ण नवीयन स्टेनिसलाविस्की ने किया। उन्होने क्रेग ्रौर अभिव्यजनावादियो द्वारा विकसित टेकनिकल कौशल को सर्वथा अस्वीकार नही ि‍कया, वह समस्या में गहरे पैठे उनका विचार था कि अभिनेता और श्रोता के बीच ्क सच्चे सम्बन्ध को फिर से स्थापित करने से ही रगमच में ये दो पहलू मिल सकते ैं। यह तभी किया जा सकता है जब कि रगमच से अस्वाभाविकता और अति-ाटकीय अभिनय का बहिष्कार किया जाय और रगमच को मानव-जीवन और ्सकी समस्याओं का एक जीवित और प्राणवत प्रतिबिम्ब बनाया जाय। इस ्रकार दर्शकगण नाट्य-कला द्वारा अपने ही जीवन का अभिनय और उसका रूपान्तरण

लेकर नाटको का अवतारण करना आरम्भ कर दें, जिन प्रविधियो को यूरोप के अत्यन्त प्रगतिशील विशेषज्ञ अस्वीकार कर चुके हैं।

चूँकि हमारी प्राचीन सास्कृतिक परम्परा में सच्चा रगमच कल्पना पर निर्भर करता था, और चूँकि यूरोप का सबसे प्रगतिशील रगमच भी उसी कल्पनाशील सृजन-प्रतिभा पर बल देता है, अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमें अपनी परम्परा के केन्द्रगत तत्वो और पश्चिम के उन विशेषज्ञो के अभिनवशिल्प और टेकनीक के बीच समन्वय उत्पन्न करना चाहिये जो कि स्वय भी इस महत्वपूर्ण कल्पना तत्व को अपने रगमच में लाना चाहते हैं और अभिनेताओ और श्रोताओ के बीच ऐक्य स्थापित करना चाहते हैं।

यह स्पष्ट है कि हम प्राचीन और मध्यकालीन भारत के सामती समाज में नही रह रहे हैं, कि हम आज एक धर्म-निरपेक्ष, लोकतन्त्रीय, समाजवादी समाज की ओर बढ रहे हैं, और इस समाज को हम यूरोप अमरीका की औद्योगिक क्रान्तिया और रूस की नवीन सभ्यता के अनुभवो को सजो कर विकसित कर रहे हैं।

अतएव, जो समन्वय हम कर रहे हैं वह कई बातो पर निर्भर करता है जिन पर हम यहाँ विस्तारपूर्वक नही कह सकते।

स्पष्टत, यह सभव नही है कि पश्चिम का अनुकरण हम उनके नाटक-लेखन तथा प्रस्तुतीकरण के स्वरूपो को ग्रहण करके करें, क्योकि भारत के सात हजार गाँवों में आज भी कल्पना का महत्व छाया हुआ है। हाँ, यह अवश्य जरूरी है कि नाटक-लेखन और प्रस्तुतीकरण के अनुभव से हम कस्वो और नगरो की अपनी आवश्यकताओ के लिये लाभ उठाएँ, क्योंकि ये स्थान ससार के दूसरे औद्योगिक केन्द्रो के ही समान हो जायेंगे।

यदि हम विषय-वस्तु की दृष्टि से लोक-नाट्य को बदलने का प्रयत्न न भी करें, तब भी यह सम्भव है कि हमें गाँवो के परम्परागत रगमच को जो कि हमारे जन-श्रोताओ के निकटतम हैं, प्रस्तुतीकरण आधुनिक मूल्यो के अनुसार सगठित करने में अधिक परिश्रम नही करना पडेगा। उदाहरणार्थ, इसका कोई कारण नही दीखता कि दशहरे पर रामायण की कथा को नाटक की शैली पर पौराणिक उत्सव के रूप में क्यों न करें।

नये औद्योगिक समाज का रगमच नवीकृत लोक-रगमच से बहुत भिन्न हो

लेकर नाटको का अवतारण करना आरम्भ कर दें, जिन प्रविधियो को यूरोप के अत्यन्त प्रगतिशील विशेषज्ञ अस्वीकार कर चुके हैं।

चूँकि हमारी प्राचीन सास्कृतिक परम्परा में सच्चा रगमच कल्पना पर निर्भर करता था, और चूँकि यूरोप का सबसे प्रगतिशील रगमच भी उसी कल्पनाशील सृजन-प्रतिभा पर बल देता है, अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमें अपनी परम्परा के केन्द्रगत तत्वो और पश्चिम के उन विशेषज्ञो के अभिनवशिल्प और टेकनीक के बीच समन्वय उत्पन्न करना चाहिये जो कि स्वय भी इस महत्वपूर्ण कल्पना तत्व को अपने रगमच में लाना चाहते हैं और अभिनेताओ और श्रोताओ के बीच ऐक्य स्थापित करना चाहते हैं।

यह स्पष्ट है कि हम प्राचीन और मध्यकालीन भारत के सामती समाज में नही रह रहे हैं, कि हम आज एक धर्म-निरपेक्ष, लोकतन्त्रीय, समाजवादी समाज की ओर बढ रहे हैं, और इस समाज को हम यूरोप अमरीका की औद्योगिक क्रान्तिया और रूस की नवीन सभ्यता के अनुभवो को सजो कर विकसित कर रहे हैं।

अतएव, जो समन्वय हम कर रहे हैं वह कई बातो पर निर्भर करता है जिन पर हम यहाँ विस्तारपूर्वक नही कह सकते।

स्पष्टत, यह सभव नही है कि पश्चिम का अनुकरण हम उनके नाटक-लेखन तथा प्रस्तुतीकरण के स्वरूपो को ग्रहण करके करें, क्योकि भारत के सात हजार गाँवों में आज भी कल्पना का महत्व छाया हुआ है। हाँ, यह अवश्य जरूरी है कि नाटक-लेखन और प्रस्तुतीकरण के अनुभव से हम कस्वो और नगरो की अपनी आवश्यकताओ के लिये लाभ उठाएँ, क्योकि ये स्थान ससार के दूसरे औद्योगिक केन्द्रो के ही समान हो जायेंगे।

यदि हम विषय-वस्तु की दृष्टि से लोक-नाट्य को बदलने का प्रयत्न न भी करें, तब भी यह सम्भव है कि हमें गाँवो के परम्परागत रगमच को जो कि हमारे जन-श्रोताओ के निकटतम हैं, प्रस्तुतीकरण आधुनिक मूल्यो के अनुसार सगठित करने में अधिक परिश्रम नही करना पडेगा। उदाहरणार्थ, इसका कोई कारण नही दीखता कि दशहरे पर रामायण की कथा को नाटक की शैली पर पौराणिक उत्सव के रूप में क्यों न करें।

नये औद्योगिक समाज का रगमच नवीकृत लोक-रगमच से बहुत भिन्न हो

पश्चिमी व्यावसायिक रगमच की झूठी अभिनय-कला के प्रभाव से हमारे रगमच व्यवसाय में जो रगमचीय कृत्रिमता और नाटकीयता आ गयी है, उसे जाना ही होगा, हमें जीवन के निकट जाना होगा, जिसकी आवश्यकता चेखव ने अपने एक पत्र में समझायी थी "देखो. वहुसख्यक लोग स्नायविक तनाव का अनुभव करते हैं, अधिकतर लोग दुख झेलते हैं और कुछ लोग तीव्र वेदना का अनुभव करते हैं पर क्या कभी तुमने लोगों को—चाहे सडकों पर हो, चाहे घर पर हगामा मचाते हुए, उछलकूद करते और सर पकडते हुए देखा है ? वेदना की अभिव्यक्ति वैसी ही होनी चाहिये जैसे कि जीवन में—वह हाथ-पैर नचा कर नहीं होती, उसके लिए शालीनता चाहिये। शिक्षित व्यक्तियो में हृदय की भावना की जो स्वाभाविक सूक्ष्मता होती है उसकी अभिव्यक्ति भी सूक्ष्म होनी चाहिये। तुम कहोगी—रगमच की स्थिति उत्तरदायी है। स्थिति वैसी ही क्यों न हो, झूठ का पक्ष नहीं लिया जा सकता।"

जिस झूठ की बात चेखव ने कही हैं, वह रगमच के लिए सब से बडा खतरा है, चाहे वह रूसी रगमच, ओल्ड विक, अथवा जा लुई वोराल के रगमच की महानता और पूर्णता भी क्यो न प्राप्त कर ले। क्योकि हम यदि जीवन के प्रति ईमानदारी के आदर्श को दृष्टि में रखें तो अधिकतर व्यावसायिक अभिनय गतिहीन जान पडेगा, जिसका गतिमान सवेदनशीलता की दृष्टि से पुनर्नियोजन करने की आयश्यकता होगी। और, यह सच भी है कि शौकिया रगमच को प्रभावी रूप मे ऐसी दिशा में ले जाना होगा जिससे अपक्व उत्साह—जिसका परिणाम गँवारूपन होता है—और जीवन की मृदुल सचेतनता में सतुलन रखा जा सके।

—१५—

रगमच की प्रविधि सीखने की आवश्यकता

कल्पना को रगमच की प्रमुख विशेपता स्वीकार करने का अर्थ यह नही है कि प्रविधि की समस्या को भुला दिया जाय। हमें रगमच के अधिक प्रगतिशील प्रयोगो के द्वारा अपनी सैकडो-हज़ारो प्रतिभाओ को प्रशिक्षित करना होगा।

सामान्य जीवन में बोलचाल की आवाज़ "फुटलाइट" को पार करके श्रोताओ तक नहीं पहुँच पाती है। और अभिनेता की आवाज सुनी जा सके इसलिए उसका स्वर उचित रूप से ऊँचा करना पडता है। तारत्व, उच्चारण और शब्द-कथन, और साथ ही साथ छोटी-छोटी बातो मे कठिनाइयो उपस्थित होती हैं, जिनको अधिकतर शौकिया कलाकार पार नही कर सकते। परन्तु एक समझदार युवा

पश्चिमी व्यावसायिक रगमच की झूठी अभिनय-कला के प्रभाव से हमारे रगमच व्यवसाय में जो रगमचीय कृत्रिमता और नाटकीयता आ गयी है, उसे जाना ही होगा, हमें जीवन के निकट जाना होगा, जिसकी आवश्यकता चेखव ने अपने एक पत्र में समझायी थी "देखो. बहुसख्यक लोग स्नायविक तनाव का अनुभव करते हैं, अधिकतर लोग दुख झेलते हैं और कुछ लोग तीव्र वेदना का अनुभव करते हैं पर क्या कभी तुमने लोगों को—चाहे सडकों पर हो, चाहे घर पर हगामा मचाते हुए, उछलकूद करते और सर पकडते हुए देखा है ? वेदना की अभिव्यक्ति वैसी ही होनी चाहिये जैसे कि जीवन में—वह हाथ-पैर नचा कर नहीं होती, उसके लिए शालीनता चाहिये। शिक्षित व्यक्तियो में हृदय की भावना की जो स्वाभाविक सूक्ष्मता होती है उसकी अभिव्यक्ति भी सूक्ष्म होनी चाहिये। तुम कहोगी—रगमच की स्थिति उत्तरदायी है। स्थिति वैसी ही क्यों न हो, झूठ का पक्ष नहीं लिया जा सकता।"

जिस झूठ की बात चेखव ने कही हैं, वह रगमच के लिए सब से बडा खतरा है, चाहे वह रूसी रगमच, ओल्ड विक, अथवा जा लुई बोराल के रगमच की महानता और पूर्णता भी क्यो न प्राप्त कर ले। क्योंकि हम यदि जीवन के प्रति ईमानदारी के आदर्श को दृष्टि में रखें तो अधिकतर व्यावसायिक अभिनय गतिहीन जान पडेगा, जिसका गतिमान सवेदनशीलता की दृष्टि से पुनर्नियोजन करने की आवश्यकता होगी। और, यह सच भी है कि शौकिया रगमच को प्रभावी रूप मे ऐसी दिशा में ले जाना होगा जिससे अपक्व उत्साह–जिसका परिणाम गँवारूपन होता है–और जीवन की मृदुल सचेतनता में सतुलन रखा जा सके।

—१५—

रगमच की प्रविधि सीखने की आवश्यकता

कल्पना को रगमच की प्रमुख विशेपता स्वीकार करने का अर्थ यह नही है कि प्रविधि की समस्या को भुला दिया जाय। हमें रगमच के अधिक प्रगतिशील प्रयोगो के द्वारा अपनी सैकडो-हज़ारो प्रतिभाओ को प्रशिक्षित करना होगा।

सामान्य जीवन में बोलचाल की आवाज़ "फुटलाइट" को पार करके श्रोताओ तक नहीं पहुँच पाती है। और अभिनेता की आवाज़ सुनी जा सके इसलिए उसका स्वर उचित रूप से ऊँचा करना पडता है। तारत्व, उच्चारण और शब्द-कथन, और साथ ही साथ छोटी-छोटी बातो मे कठिनाइयो उपस्थित होती हैं, जिनको अधिकतर शौकिया कलाकार पार नही कर सकते। परन्तु एक समझदार युवा

है—जो 'आत्मा" भारतीय नाटक का जीवन-रस है, जिसके द्वारा श्रोतागण उस आत्मरेचन का अनुभव कर सकेंगे जिसे रस कहते हैं। रंगमंच की कला प्राणहीन सिनेमा और टेलिविजन से अधिक जीवन्त होने के कारण जीवन के सन्निकट है।



है—जो 'आत्मा" भारतीय नाटक का जीवन-रस है, जिसके द्वारा श्रोतागण उस आत्मरेचन का अनुभव कर सकेंगे जिसे रस कहते हैं। रंगमंच की कला प्राणहीन सिनेमा और टेलिविजन से अधिक जीवन्त होने के कारण जीवन के सन्निकट है।

